प्रकाशक :
वसन्त श्रीपाद सातवळेकर, बी ए ,
स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय मंडल (पारडी) ' पारडी [जि. सूरत]

संवत् २०१९ शक १८८३ . सन् १९६२

प्रथम बार

मुद्रक :
वसन्त श्रीपाद सातवळेकर, बी ए.,
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय मंडल (पारडी) ' पारडी [जि. सूरत]



अथर्ववेद-

ब्रह्मविद्या-प्रकरण

भूमिका

अथर्ववेदमें २० काण्ड हैं। उनमें तेरहसे अठारहवें काण्डतक विषयवार मंत्र संग्रह है, जैसा देखिये—

प्रकरणानुसार सात काण्ड

१३ वें काण्डमें अध्यात्म प्रकरण है।
१४ ,, ,, विवाह ,, ,,
१५ ,, ,, व्रात्य ,, ,,
१६ ,, ,, दुःखविमोचन ,, ,,
१७ ,, ,, अभ्युदय ,, ,,
१८ ,, ,, पितृमेध ,, ,,
२० ,, ,, इन्द्रसूक्त ,, ,,

इस तरह ये सात काण्ड व्यवस्थित और प्रकरण-बद्ध हैं। परंतु १२ वें काण्डतक तथा उन्नीसवें काण्डमें विषयवार सूक्त संग्रह नहीं है। देखिये—

१ प्रथम काण्डमें ४ मंत्रोंके सूक्त अधिक हैं—
२ द्वितीय ,, ५ ,, ,, ,, ,,
३ तृतीय ,, ६ ,, ,, ,, ,,
४ चतुर्थ ,, ७ ,, ,, ,, ,,
५ पञ्चम ,, ११ ,, ,, ,, ,,
६ षष्ठ ,, ३ ,, ,, ,, ,,
७ सप्तम ,, १-२ ,, ,, ,, ,,

इस तरह सूक्तोंमें मंत्र संख्याके अनुसार ये सात काण्ड संग्रहित किये हैं। अर्थात् ये काण्ड विषयक्रमानुसार नहीं हैं। इन काण्डोंमें सूक्तोंमें विषय कौन-कौनसे आये हैं यह अब देखिये—

अथर्ववेद काण्डोंमें सूक्त

प्रथम काण्ड

सूक्त	नाम	मंत्र
१	मेधाजननं	४
२	रोगोपशमनं	४
३	मूत्रमोचन	९
४	अपां भेषज	४
५	अपां भेषज	४
६	अपां भेषज	४
७	यातुधाननाशन	७
८	यातुधाननाशन	४
९	विजय॰	४
१०	पाशविमोचन	४
११	प्रसूति॰	६
१२	यक्ष्मनाशनं	४
१३	विद्युत्	४

सूक्त	नाम	मंत्र
१४	कन्या	४
१५	पुष्टिकर्म	४
१६	शत्रुबाधन	४
१७	धमनीबंधन	४
१८	अलक्ष्मीनाशन	४
१९	शत्रुनिवारण	४
२०	शत्रुनिवारणं	४
२१	शत्रुनिवारणं	४
२२	हृद्रोगकामिलानाशन	४
२३	श्वेतकुष्ठनाशनं	४
२४	श्वेतकुष्ठनाशनं	४
२५	ज्वरनाशनं	४
२६	शर्मप्राप्तिः	४
२७	स्वस्त्ययन	४
२८	रक्षोघ्न	४
२९	राष्ट्राभिवर्धन सपत्नक्षयणं	६
३०	दीर्घायु	४
३१	पाशमोचनं	४
३२	महद्ब्रह्म	४
३३	आप.	४
३४	मधुविद्या	५
३५	दीर्घायु	४
		१५३

४	मन्त्रोंके	सूक्त	३०	मंत्र	१२०
५	,,	,,	१	,,	५
६	,,	,,	२	,,	१२
७	,,	,,	१	,,	७
९	,,	,,	१	,,	९
			३५		१५३

प्रथम काण्डमें ४ मन्त्रोंके सूक्त अधिक हैं ।

× ×

द्वितीय काण्ड

सूक्त	नाम	मंत्र
१	परमं धाम	५
२	भुवनपति.	५
३	आस्रावभेषज	६
४	दीर्घायु	६
५	इन्द्रस्य वीर्याणि	७
६	सपत्नहा अग्नि	५
७	शापमोचनं	५
८	क्षेत्रियरोगनाशनं	५
९	दीर्घायु	५
१०	पाशमोचनं	८
११	श्रेयःप्राप्तिः	५
१२	शत्रुनाशनं	८
१३	दीर्घायुः	५
१४	दस्युनाशनं	६
१५	अभयप्राप्ति	६
१६	सुरक्षा	५
१७	बलप्राप्तिः	७
१८	शत्रुनाशनं	५
१९	शत्रुनाशनं	५
२०	शत्रुनाशन	५
२१	शत्रुनाशनं	५
२२	शत्रुनाशनं	५
२३	शत्रुनाशनं	५
२४	शत्रुनाशनं	८
२५	पृश्निपर्णी	५
२६	पशुसंवर्धनं	५
२७	शत्रुपराजय.	७
२८	दीर्घायु	५
२९	दीर्घायु·	७
३०	कामिनीमनोऽभिमुखीकरण	५
३१	कृमिजंभनं	५
३२	कृमिजंभनं	६
३३	यक्ष्मविबर्हण	७
३४	पशव	५
३५	विश्वकर्मा	५
३६	पतिवेदनं	८
		२०७

५	मंत्रोंके	सूक्त	११	मंत्र	११०
६	,,	,,	५	,,	३०
७	,,	,,	५	,,	३५
८	,,	,,	४	,,	३२
			३६		२०७

द्वितीय काण्डमें ५ मंत्रोंके सूक्त अधिक हैं।

सूक्त	नाम	मंत्र
२७	शत्रुनिवारण	६
२८	पशुपोषण	६
२९	अवि	८
३०	सांमनस्य	७
३१	यक्ष्मनाशन	११
		१३०

× × ×

तृतीयं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	शत्रुसेनासंमोहन	६
२	शत्रुसेनासंमोहन	६
३	स्वराज्ये राज्ञः स्थापना	६
४	राज्ञः संवरण	७
५	राष्ट्रस्य राजा	८
६	शत्रुनाशन	८
७	यक्ष्मनाशन	७
८	राष्ट्रधारण	६
९	दु:खनाशन	६
१०	रायस्पोषप्राप्ति	१३
११	दीर्घायु	८
१२	शालानिर्माण	९
१३	आप.	७
१४	गोष्ठः	६
१५	वाणिज्य	८
१६	स्वस्तये प्रार्थना	७
१७	कृषि	९
१८	वनस्पति	६
१९	क्षत्र	८
२०	रयिसंवर्धन	१०
२१	शान्तिः	१०
२२	वर्च प्राप्ति	६
२३	वीरप्रसूतिः	६
२४	समृद्धिप्राप्ति	७
२५	कामस्य इषु	६
२६	आत्मरक्षा	६

६	मंत्रोंवाले	सूक्त	१३	मंत्र	७८
७	,,	,,	६	,,	४२
८	,,	,,	६	,,	४८
९	,,	,,	२	,,	१८
१०	,,	,,	२	,,	२०
११	,,	,,	१	,,	११
१३	,,	,,	१	,,	१३
			३१		२३०

तृतीय काण्डमें ६ मंत्रोंके सूक्त अधिक हैं।

× × ×

चतुर्थं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	ब्रह्मविद्या	७
२	आत्मविद्या	८
३	शत्रुनाशन	७
४	वाजीकरण	८
५	स्वापन	७
६	विषघ्न	८
७	विषघ्न	७
८	राज्याभिषेक	७
९	आंजन	१०
१०	शंखमणिः	७
११	अनड्वान्	१२
१२	रोहिणी	७
१३	रोगनिवारण	७
१४	स्वर्ज्योति	९
१५	वृष्टि	१६
१६	सत्य-अनृत	९

सूक्त	नाम	मन्त्र
१३२	स्मर	५
१३३	मेखलाबंधन	५
१३४	शत्रुनाशन	३
१३५	बलप्राप्तिः	३
१३६	केशदृहण	३
१३७	केशवर्धन	३
१३८	क्लीबत्व	५
१३९	सौभाग्यवर्धन	५
१४०	सुमगलौ दन्तौ	३
१४१	गोकर्णयोर्लक्ष्मकरण	३
१४२	अन्नसमृद्धि	३
		४५४

३	मन्त्रोंके	सूक्त	१२२	मन्त्र	३६६
४	,,	,,	१२	,,	४८
५	,	,	८	,,	४०
			१४२		४५४

षष्ठ काण्डमें ३ मन्त्रोंके सूक्त अधिक हैं।

× ×

सप्तमं काण्डं

सूक्त	नाम	मन्त्र
१	आत्मा	२
२	आत्मा	१
३	आत्मा	१
४	विश्वप्राण	१
५	आत्मा	५
६	अदितिः	४
७	आदित्या	१
८	शत्रुनाशनं	१
९	स्वस्तिदा पूषा	४
१०	सरस्वती	१
११	सरस्वता	१
१२	राष्ट्रसभा	४
१३	शत्रुनाशन	२
१४	सविता	४
१५	सविता	१
१६	सविता	१
१७	द्रविण	४
१८	वृष्टि	२
१९	प्रजा	१
२०	अनुमति	६
२१	एको विभु	१
२२	ज्योतिः	२
२३	दुःस्वप्ननाशन	१
२४	सविता	१
२५	विष्णुः	१
२६	विष्णु	८
२७	इडा	१
२८	स्वस्ति	१
२९	अग्नाविष्णू	२
३०	अञ्जन	१
३१	शत्रुनाशन	१
३२	दीर्घायुः	१
३३	दीर्घायुः	१
३४	शत्रुनाशनं	१
३५	सपत्नीनाशन	३
३६	अञ्जन	१
३७	वास	१
३८	केवल पति	५
३९	आपः	१
४०	सरस्वान्	२
४१	सुपर्णः	२
४२	पापमोचन	२
४३	वाक्	१
४४	इन्द्राविष्णू	१
४५	ईर्ष्यानिवारणं	२
४६	सिनीवाली	३
४७	कुहू	२
४८	राका	२
४९	देवपत्न्य	२
५०	विजयः	९
५१	परिपाण	१

३	,,	,,	१०	,,	३०
४	,,	,,	११	,,	४४
५	,,	,,	३	,,	१५
६	,,	,,	४	,,	२४
७	,,	,,	३	,,	२१
८	,,	,,	३	,,	२४
९	,,	,,	१	,,	९
११	,,	,,	१	,,	११
			११८		२८६

इस सप्तम काण्डमें १।२ मंत्रोंके सूक्त अधिक हैं।

× × ×

अष्टमं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	दीर्घायुः	२१
२	दीर्घायुः	२८
३	शत्रुनाशनं	२६
४	शत्रुदमनं	२५
५	प्रतिसरमणिः	२२
६	गर्भदोषनिवारणं	२६
७	ओषधयः	२८
८	शत्रुपराजयः	२४
९	विराट्	२६
१०	विराट्	६७
		२९३

× × ×

नवमं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	मधुविद्या	२४
२	कामः	२५
३	शाला	३१
४	ऋषभः	२४
५	अजः	३८
६	अतिथिसत्कारः	७३
७	गौः	२६
८	यक्ष्मनाशनं	२२
९	आत्मा	२२
१०	आत्मा	२८
		३१३

\+ + +

दशमं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	कृत्यादूषणं	३२
२	ब्रह्म.	३३
३	वरणमणि.	२५
४	सर्पविषदूरीकरणं	२६
५	विजयः	५०
६	मणिबंधनं	३५
७	सर्वाधारः	४४
८	ज्येष्ठब्रह्म	४४
९	शतौदना गौः	२७
१०	वशा गौः	३४
		३५०

\+ + +

एकादशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	ब्रह्मौदन	३७
२	रुद्रः	३१
३	ओदनः	५६
४	प्राणः	२६
५	ब्रह्मचर्यं	२६
६	पापमोचनं	२३
७	उच्छिष्टं ब्रह्म	२७
८	अध्यात्मं	३४
९	शत्रुनिवारण	२६
१०	शत्रुनिवारणं	२७
		३१३

\+ + +

द्वादशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	मातृभूमिः	६३
२	यक्ष्मनाशनं	५५
३	स्वर्ग-ओदनः	६०
४	वशा गौः	५३
५	ब्रह्मगवी	७३
		३०४

\+ + +

त्रयोदशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	अध्यात्मं	६०
२	अध्यात्मं	४६
३	अध्यात्मं	२६
४	अध्यात्मं	५६
		१८८

\+ + +

चतुर्दशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	विवाह प्रकरणं	६४
२	विवाह प्रकरणं	७५
		१३९

\+ + +

पंचदशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	अध्यात्म प्रकरणं व्रात्य प्रकरण १८ पर्यायाः	२२०

\+ + +

षोडशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	दुःखमोचनं ९ पर्यायाः	१०३

\+ + +

सप्तदशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	अभ्युदयाय प्रार्थना	३०

× × ×

अष्टादशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	पितृमेधः	६१
२	पितृमेधः	६०
३	पितृमेधः	७३
४	पितृमेधः	८९
		२८३

× × ×

एकोनविंशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१	यज्ञः	३
२	आपः	५
३	जातवेदाः	४
४	आकूतिः	४
५	जगतो राजा	१
६	जगद्बीजः पुरुषः	१६
७	नक्षत्राणि	५
८	नक्षत्राणि	७
९	शान्तिः	१४
१०	शांतिः	१०
११	शांतिः	६
१२	दीर्घायु	१
१३	एकवीरः	११
१४	अभयं	१
१५	अभयं	६
१६	अभयं	२
१७	सुरक्षा	१०
१८	सुरक्षा	१०
१९	शर्म	११
२०	सुरक्षा	४
२१	छंदांसि	१

सूक्त	नाम	मन्त्र	सूक्त	नाम	मन्त्र
२२	ब्रह्मा	२२	५८	यज्ञ	६
२३	अथर्वाण	३०	५९	यज्ञ	३
२४	राष्ट्रं	८	६०	अगानि	०
२५	अश्व	१	६१	पूर्णायु	१
२६	हिरण्यधारण	४	६२	सर्वप्रियत्व	१
२७	सुरक्षा	१५	६३	आयुर्वर्धन	१
२८	दर्भमणि	१०	६४	दीर्घायुत्व	४
२९	दर्भमणि	९	६५	अवन	१
३०	दर्भमणि	५	६६	असुरक्षयण	१
३१	औदुंबरमणि	१४	६७	दीर्घायुत्व	८
३२	दर्भ	१०	६८	वेदोक्त	१
३३	दर्भ	५	६९	आपः	४
३४	जंगिडमणि	१०	७०	पूर्णायु	१
३५	जंगिडमणि	५	७१	वेदमाता	१
३६	शतवारो मणि	६	७२	परमात्मा वेदाश्च	१
३७	बलप्राप्ति	४			४५३
३८	यक्ष्मनाशन	३			
३९	कुष्ठनाशन	१०			
४०	मेधा	४			
४१	राष्ट्र बलमोजश्च	१			
४२	ब्रह्मयज्ञ	४			
४३	ब्रह्मा	८			
४४	भैषज्य	१०			
४५	आंजन	१०			
४६	अस्तृतमणि	७			
४७	रात्रिः	९			
४८	रात्रि	६			
४९	रात्रि	१०			
५०	रात्रि	७			
५१	आत्मा	२			
५२	काम	५			
५३	काल	१०			
५४	कालः	५			
५५	रायस्पोषप्राप्ति	६			
५६	दुःष्वप्ननाशन	६			
५७	दुःष्वप्ननाशन	५			

× × ×

विंशं काण्डं

सूक्त	नाम	मंत्र
१४३	इन्द्रसूक्तानि	९५८
	कुल मंत्र	५९७७

× × ×

अर्थात् इन १३–१८,२० सात काण्डोंमें सात प्रकरण हैं। प्रथमके १२ काण्डोंमें तथा उन्नीसवें काण्डमें प्रकरण नहीं हैं। इनमें प्रकरणानुसार सूक्त एकत्रित किये जांय, तो अध्ययनका अपूर्व सुविधा हो सकती है। इसका विचार सबको करना चाहिये।

पूर्व स्थानमें क्षात्र प्रकरण (पृ ९, १०) चिकित्सा प्रकरण (पृ ११,१२) दिये हैं। इन सूक्तोंका परस्पर सम्बन्ध देखकर इन सूक्तोंको एकत्रित किया जायगा तो अध्ययनके लिये कितना अच्छा होगा। आजके सूक्त विषयानुसार संग्रहित किये नहीं हैं। उन सबको विषयानुसार संग्रहित करनेसे अध्ययन करनेवालोंको अर्थका अनुसंधान सहज हो सकता है।

विषयवार संग्रह

ब्रह्मज्ञान, ईश्वर, राज्यशासन, मातृभूमि, चिकित्सा, युद्ध, शत्रुपराजय ऐसे ४०।५० विषयोंके नीचे उस उस विषयके

सूक्त क्रमसे रखे जांय तो वेदकी दुर्बोधता स्वयं दूर होगी। और संस्कृतज्ञ पाठकोंको वेदका नित्य पाठ करना और उससे लाभ प्राप्त करना सहज होगा।

देवतावार मंत्रोंके प्रकरण

ऋग्वेदकी आजकी व्यवस्था ऋषिक्रमानुसार है। केवल नवम मंडल '**सोम देवता**' का है। अत वह बनी बनाई '**दैवत संहिता**' है। '**अग्नि, इन्द्र, मरुत्, सोम, अश्विनौ, औषधि**' आदि देवताओंके मन्त्र एकत्रित किये जाय और चारों वेदोंके मन्त्र देवतानुसार रखे जांय तो एक एक देवताके मन्त्र इकट्ठे अध्ययनके लिये मिलेंगे और प्रकरणानुसार मन्त्र रहनेसे अर्थज्ञान होनेके लिये बडी सुविधा होगी।

आजकी संहिताएं वैसी ही रहेंगी। उनमें कुछ न्यून वा अधिक करना नहीं है। परन्तु दैवत-संहिता बनाकर विषयानुसार मन्त्र इसलिये इकट्ठे करने हैं, कि पाठकोंको एक विषयका ज्ञान सहज हो जाय, जैसा—

१ इन्द्र सूक्तोंसे युद्धव्यवस्थाका ज्ञान
२ मरुत् सूक्तोंसे सैन्यव्यवस्थाका ज्ञान
३ अश्विनौ सूक्तोंसे आरोग्य व्यवस्थाका ज्ञान

इस तरह अन्यान्य देवताओंके सूक्तोंसे अन्यान्य विषयोंका ज्ञान होना सहज है। आज एकत्रित मंत्र न होनेके कारण किसीको अर्थका अनुसंधान ही नहीं रहता। इसलिये इस तरह विषयवार तथा देवतावार मन्त्रसंग्रह करनेकी आज बडी आवश्यकता है।

अध्ययनकी सुविधाके लिये यह दैवत संहिता मुद्रित की जायगी। इसमें वैदिक संहिताओंके सर्व मंत्र प्रकरणके अनुसार रहेंगे। एक भी मन्त्र छोडा नहीं जायगा। यह 'वेद' ग्रंथ आठ नौ सौ पृष्ठोंका सदासर्वदा पास रखने योग्य होगा। विशेष बडा भी नहीं होगा। मूल्य भी स्वल्प ही होगा।

सब वेद धर्मको माननेवाले विद्वान् इस विषयका विचार करें और आजकी कठिनताको दूर करनेके लिये स्वकीय संमति प्रदर्शित करके सहायता करें।

इन अथर्ववेदीय सूक्तोंके नाम देखनेसे सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है कि अथर्ववेदके प्रथमके १२ काण्डोंमें और उन्नीसवें काण्डमें सूक्त संग्रह विषयानुसार नहीं है। काण्ड १३ से १८ तक और बीसवां काण्ड ये सात काण्ड प्रकरणानुसार हैं। वैसे अन्य काण्ड भी विषयानुसार किये जाय, तो विषय समझनेके लिये कितना सुगम होगा, यह पाठक विचार करके देख सकते हैं।

इस '**ब्रह्मज्ञान प्रकरण**' में करीब करीब ७५ सूक्त ब्रह्मज्ञानसे संबंध रखनेवाले एकत्रित रखे हैं। पाठक इनका विचार करेंगे तो ब्रह्मके विषयमें अथर्ववेदके मंत्रोंका क्या कहना है, वह ठीक तरह समझमें आ सकता है। यहां काण्डवार जो सूक्त लिये हैं वे ये हैं—

१ प्रथम	काण्ड	सूक्त	१३, ३०; ३२	— ३ सूक्त
२ द्वितीय	,,	,,	१; २; ११;१६;३४	— ५ ,,
३ तृतीय	,,	,,	१६	— १ ,,
४ चतुर्थ	,,	,,	१; २; ११,१४; १६; २०	— ६ ,,
५ पंचम	,,	,,	१;२; ६;९;१०; ११	— ६ ,,
६ षष्ठ	,,	,,	१;२; ३१; ३३; ३४; ३५; ३६, ८०; १११; १२३	— १० ,,
७ सप्तम	,,	,,	१;२,३;४,५;९; १४; १५;१७;२१,२२,२४; २५;२६,४०;४१;४४; ६३;६६;६७;७१,८३, ८७;१०२;१०५;१०६	— २६ ,,
८ अष्टम	,,	,,	९	— १ ,,
९ नवम	,,	,,	९, १०	— २ ,,
१० दशम	,,	,,	२; ७; ८	— ३ ,,
११ एकादश	,,	,,	७	— १ ,,
१२ द्वादश	,,	—		— ० —
१३ त्रयोदश	,,	,,	१-९	— ९ ,,
१४ चतुर्दश	,,	—		— —
१५ पंचदश	,,	,,	१, १८	— १८ ,,
१६ षोडश	,,	,,	१-९	— ९ ,,
१७ सप्तदश	,,	—		— ० —
१८ अष्टादश	,,	—		— ० —
१९ एकोनविंश	,,	,,	३;५;६;४३;५१;७२	— ६ ,,
२० विंश	,,	—		— ० —
			कुल सूक्त	१०६

इस तरह ब्रह्मज्ञानसे संबंध रखनेवाले सूक्त इस ग्रंथमें संगृहित किये हैं। अब देखना है कि इनसे ब्रह्मके कौनसे गुण प्रकट हो रहे हैं।

कमलमें ब्रह्म

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षं आत्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(१०।८।४३)

नौ द्वारोंवाला कमल तीन गुणोंसे वेष्टित है, उसमें जो आत्मवान् यक्ष रहता है, उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

यह हृदयकमल है। इसमें आत्मवान् यक्ष रहता है, यही मनुष्योंके लिये जानने योग्य विषय है। इसके यथावत् जाननेसे ही मनुष्यका जीवन कृतकृत्य हो सकता है और इसको न जाननेसे मनुष्यका जीवन निरर्थक होता है। अतः ब्रह्मज्ञानके विषयको यथावत् जाननेका यत्न मनुष्योंको करना चाहिये, इसीलिये ब्रह्मज्ञानके साथ संबंध रखनेवाले ये सूक्त यहां इकट्ठे किये हैं।

जनक

१ त्वं विश्वेषां जनिता यथासः (४।१।७)— तू सबका उत्पन्नकर्ता है।

२ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी, त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः (१०।८।२७)— तू स्त्री, तू पुरुष, तू कुमार और कुमारी है, तू वृद्ध होकर दण्डके साथ चलता है, पर तू चारों ओर मुखवाला है।

३ उतैषां पिता, उत वा पुत्र एषां, उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः (१०।८।२८)— तू इनका पिता, और इनका पुत्र, इनसे श्रेष्ठ और कनिष्ठ है।

४ एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः— एक देव मनमें प्रविष्ट हुआ है, वह प्रथम जन्मा, फिर वह गर्भमें आया है।

५ एषा पुराणी परि सर्वं बभूव (१०।८।३०)— यह पुराणी है, सब होगई है।

६ अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति (१०।८।३२)— पास होनेपर छोडता नहीं, समीप होनेपर भी दीखता नहीं।

७ पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति— देवका काव्य देखो, जो मरता नहीं और न जीर्ण होता है।

८ यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः, सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद्ब्राह्मणं महत् (१०।८।३७)— जो फैले हुए सूत्रको जानता है जिसमें सब प्रजाएं पिरोयी हैं, सूत्रका सूत्र जो जानता है वह बडे ब्रह्मको जानता है।

९ स्तुहि देवं सवितारं (६।१।१)— सबके उत्पादक देवकी स्तुति कर। (सविता— अपनेमेंसे सबका प्रसव करनेवाला देव)

१० अहं जजान पृथिवीमुत द्यां, अहं ऋतूंरजनयं सप्त सिन्धून् (६।६१।३)— मैंने पृथिवी और द्यु बनायी, मैंने ऋतु बनाये और सात सागर भी मैंने बनाये।

सर्वव्यापक और सर्वाधार

१ स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं (४।१।५)— वह प्रकट होते ही चारों ओर फैला है।

२ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति (१०।८।१)— जो भूत भविष्य सबका अधिष्ठाता है।

३ स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः (१०।८।२)— सर्वाधार परमेश्वरने आधार दिये ये द्यु और भूमि रह रहे हैं।

४ स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वत् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्— सर्वाधार ईश्वरके आधार पर ही सब आत्मावाला, प्राणवाला तथा आंखें झपकनेवाला रहता है।

५ आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम्, तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत् प्रतिष्ठितम् (१०।८।६)— पास ही हृदयगुफामें वह बडा पद है, उसमें हिलनेवाला, प्राणवाला जो है वह सब आधारित हुआ है।

६ तदाधार पृथिवीं विश्वरूपं, तत्संभूय भवत्येकमेव (१०।८।११)— वह विश्वरूप पृथिवीको धारण करता है, वह सब मिलकर एक ही होता है।

७ अनन्तं विततं पुरुत्रा (१०।८।१२)— अनन्त चारों ओर फैला है।

८ अनन्तं अन्तवच्च समन्ते— अनन्त और अन्तवाला ये दोनों परस्पर मिले हैं।

९ ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्, विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य— भूत और भव्य जानता हुआ स्वर्गपालक विवेक करता हुआ चलता है।

१० ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया (१०।८।२६)— जो सबको आलिंगन देनेवाली देवता है वह मुझे प्रिय है।

११ इयं कल्याणी अजरा मर्त्यस्य अमृता गृहे

(१०।८।२६)— यह कल्याण करनेवाली देवता मर्त्यके घर अमर है।

१२ *न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः* (१।३२।१)— जिससे वनस्पतियां आदि जीवित रहती हैं वह पृथिवीमें या द्युलोकमें ही नहीं है, वह सर्वत्र है।

१३ तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः (६।१।२)- सब समुद्रके अन्दर जो सत्यकी प्रेरणा करनेवाला है उसकी स्तुति कर।

१४ युवान अद्रोघवाचं सुशेवं (स्तुहि)- जो सदा तरुण, द्रोहरहित वाणीसे युक्त है और सेवा करने योग्य है, उसकी स्तुति कर।

१५ अनड्वान् दाधार पृथिवीं उत द्यां (४।११।१)- संचालकने पृथिवी और द्योको धारण किया है। (अनड्वान्- बैल, विश्वशकटका चलानेवाला ईश्वर)

१६ अनड्वान् दाधार उर्वन्तरिक्षम्— विश्वशकटके संचालकने इस बडे अन्तरिक्षको धारण किया है।

१७ अनड्वान् दाधार प्रदिशः षड् उर्वीः, अनड्वान् विश्वं भुवनमाविवेश— उस संचालकने विस्तृत छः दिशाओंमें रहनेवाले विश्वका धारण किया है और वही उसमें प्रविष्ट होकर रह रहा है।

१८ इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तः (४।११।३)— प्रभु मनुष्योंके अन्दर रहता है।

१९ *अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोके* (४।११।४)- यह विश्वशकटका चालक पुण्यलोकमें दुहकर देता है।

२० *यो विश्वजित् विश्वभृद् विश्वकर्मा* (४।११।५)- जो विश्वको जीतनेवाला, विश्वका भरण करनेवाला और सब कर्मोंका कर्ता है।

२१ *येन देवाः स्वरारुरुहुः* (४।११।६)— जिसके आधारसे देव स्वर्गको प्राप्त हुए।

२२ तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः— उससे हम पुण्यलोकमें जायगे, यज्ञके व्रतसे और तपसे यशस्वी होंगे।

२३ इन्द्रो रूपेण अग्निः वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् (४।११।७)— इन्द्र स्वरूपसे अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी और विराट् है।

२४ यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (७।२६।२)— जिसके तीन विक्रमोंमें सब भुवन रहते हैं।

२५ *उरु क्षयाय नस्कृधि*— हमारे निवासके लिये स्थान कर।

२६ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम् (७।२६।७)— आकाशमें जैसा सूर्य दीखता है उस तरह विष्णुका परम स्थान ज्ञानी देखते हैं।

२७ यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश (७।८७।१)- जो अग्निमें, जलोंमें और जो ओषधीवनस्पतियोंमें रुद्र देव है। (अर्थात् जो सर्व व्यापक है)

२८ य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै *रुद्राय नमो अस्त्वग्नये*— जो इन सब भुवनोंकी रचना करता है उस तेजस्वी रुद्रको नमस्कार है।

२९ *त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः* (९।१०।१९)— त्रिपाद् ब्रह्म अनेक रूप होकर रहा है उससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं।

३० तस्य भूतं भव्यं वशे (९।१०।२४)- उसके वशमें भूत भविष्य है।

३१ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (९।१०।२८)- एक ही सत् है उसको ज्ञानी अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

३२ *यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता-* यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः स्कंभं तं ब्रूहि (१०।७।१२)— भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु तथा अग्नि, चन्द्र, सूर्य, वायु जिसमें रहते हैं वह सर्वाधार है।

३३ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः स्कंभं तं ब्रूहि (१०।७।१३)— सब तैतीस देव जिसके अंगमें रह रहे हैं वह सर्वाधार देव है।

३४ ये पुरुषे *ब्रह्मविदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्* (१०।७।१७)- जो मानव शरीरमें ब्रह्म जानते हैं वे परमेष्ठीको जानते हैं।

३५ यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षमुतोदरं, दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३२)- भूमि जिसके पांव, अन्तरिक्ष जिसका पेट और द्यु जिसका सिर है उस श्रेष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।

३६ पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः, सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् (७।९।२)— पूषा ये सब दिशाएं जानता है, वह हमें निर्भय मार्गसे ले जाता है।

३७ स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् (७।९।२)— वह कल्याण करनेवाला तेजस्वी, सब प्रकारका वीर, जानता हुआ, प्रमाद न करके हमारा अगुवा बने।

३८ विश्वंभर विश्वेन मा भरसा पाहि (२।१६।५) हे विश्वका भरण करनेवाले देव ! संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरा रक्षण कर।

३९ य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (४।२।१)— जो आत्मशक्ति और बल देता है और सब देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं।

४० योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः - जो द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है।

४१ य प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव (४।२।२)— जो प्राण धारण करने और निमेष करने वाले सब जगत्‌का अपने महत्त्वसे एक राजा हुआ है।

४२ यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः — जिसकी छायामें रहना अमर होना है और जिसकी छायासे दूर रहना मृत्यु है।

४३ स दाधार पृथिवीमुत द्यां (४।२।७)- उसने पृथिवी और द्युको धारण किया है।

४४ ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता, ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितं (१०।२।२५)- भूमि, द्यु और ऊपर नीचे फैला अन्तरिक्ष ठीक तरह ब्रह्मने रखा है।

४५ रोहितो द्यावा पृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान (१३।१।६)- रोहितने द्यु और पृथिवी उत्पन्न की और परमेष्ठीने उसमें एक धागा फैलाया।

४६ य इमे द्यावा पृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते (१३।३।१)- ये द्यु और पृथिवी जिसने बनाये और भुवनोंका कवच बनाकर जो धारण करता है।

४७ यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (१३।३।३)- जो मारता है और जीवित करता है, जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं।

४८ भूतो भविष्यत् भुवनस्य यस्पतिः (१३।३।७)- जो भूत भविष्य भुवनका पति है।

४९ तमिदं निगतं सहः, स एष एक एकवृदेक एव, एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति (१३।४। १२-१३)- वह इकट्ठा सामर्थ्य है, वह एक है अकेला एक है। सब देव इसमें एक रूप होते हैं।

५० सोऽवर्धत, स महानभवत्, स महादेवोऽभवत् (१५।१।४)- वह बढा, वह महान् हुआ, वह महादेव हुआ।

सर्वाधार ईश्वरका वर्णन करनेवाले ये वचन देखनेसे ईश्वरके सबको आधार देनेके गुणका बोध होता है। इन वचनोंका विचार इस दृष्टिसे पाठक करें और विचार करके जानें कि संपूर्ण विश्वको आधार देनेवाला प्रभु कैसा है।

सबसे श्रेष्ठ देव

१ तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः (५।२।१)- वह सब भुवनोंमें श्रेष्ठ तत्त्व था जहांसे उग्र तेजोबलसे युक्त प्रकाश उत्पन्न हुआ।

२ यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः- इसको प्राप्त करके सब संरक्षक आनंदित होते हैं।

३ अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि (५।२।३)- प्राणरहित और प्राणवाला साथ साथ रहता है (जड और चेतन साथ रहते हैं)

४ महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वं अर्णवत् तपस्वान् (५।२।८)- बडे गोरक्षक राष्ट्रका स्वराजा होकर वह रहता है और वेगवान् तपस्वी निःसंदेह विश्वमें भ्रमण करता है। (वह सर्व व्यापक है)

५ सत्यमहं गभीरः, काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः (५।११।३)- यह सत्य है कि मैं गंभीर हूं यह सत्य है कि काव्य प्रकट होनेसे मैं जात-वेदा (जिससे वेद हुए ऐसा) मैं हूं।

६ न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये- जो नियम मैं धरता हूं उसका पालन करता हूं, वह मेरे नियमको दास या आर्य कोई तोड नहीं सकता।

७ न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावान् (५।११।४)- हे वरुण ! तुझसे भिन्न कोई अधिक धैर्यवान् नहीं है तथा अपनी धारक शक्तिसे युक्त भी नहीं है।

८ त्वं, त्वा विश्वा भुवनानि वेत्थ- तू सब भुवनोंको जानता है।

९ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय- वह कपटी मनुष्य तुझसे डरता है।

१० त्वं ह्यंग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते (५।११।५)- हे प्रिय वरुण ! तू सामर्थ्यवान् है, हे सबके चलानेवाले देव ! तू सबके जन्म जानता है।

११ युज्यो मे सप्तपदः सखासि (५।११।८)- तू योग्य और मेरा सप्तपद मित्र है।

१२ तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्त सखा नो असि परमं च बन्धुः (५।११।११)- तू हमारा मित्र और भाई है, इसलिये हमें प्रशस्त धन दे।

१३ वयं देवानां सुमतौ स्याम (३।१६।४)- हम देवोंकी उत्तम बुद्धिमें रहें।

१४ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३३) सूर्य जिसकी एक आंख है, फिरसे नवीन बननेवाला चन्द्र जिसकी दूसरी आंख है, अग्निको जिसने अपना मुख बनाया उस श्रेष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।

१५ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१०।७।३४)- वायु जिसके प्राण और अपान हैं, आंगिरस (अग्नि) जिसकी आंख हैं, दिशाएं जिसके कान हैं उस श्रेष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।

१६ स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्। स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश (१०।७।३५)- द्यावापृथिवी, बडा अन्तरिक्ष, छः दिशाएं आधारस्तंभने धारण की और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है।

१७ महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः (१०।७।३८)- इस भुवनके मध्यमें बडा पूजनीय देव है, उसके आश्रयसे सब देव रहते हैं जैसे वृक्षकी शाखाएं होती हैं।

इस रीतिसे सबसे बडे देव अर्थात् परमेश्वरका वर्णन हुआ है। पाठक मनन पूर्वक इसको देखें और सबसे बडे देवको अपने हृदयमें धारण करें।

सबका पिता

१ इयं पित्र्या राष्ट्री (४।१।२)- यह पितृस्थानीय तेजस्विनी शक्ति है।

२ अर्धेन विश्वं भुवनं जजान (१०।८।७)- आधेसे सब भुवन उत्पन्न हुआ है।

३ प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर् अदृश्यमानो बहुधा विजायते (१०।८।१३)- प्रजापति गर्भके अन्दर चलता है, न दीखनेवाला अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है।

४ अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यदस्यार्धं कतमः सकेतुः (१०।८।१३)- आधे भागसे सब भुवन उत्पन्न किया, जो आधा भाग रहा उसका चिन्ह क्या है?

५ स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा (२।१।३)- वह हमारा पिता जनक और भाई है, वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है।

६ यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा- वह देवोंके नाम धारण करनेवाला एक ही प्रभु है, उस प्रश्न पूछने योग्य परमात्माके पास सब भुवन जाते हैं।

७ दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः विक्ष्वीड्यः (२।२।१)- जो सबका दिव्य आधार और भुवनोंका एक ही स्वामी वह नमनके योग्य प्रजाजनोंमें स्तुत्य है।

सबका पिता-परमपिता-परमेश्वर है, वह जैसा पिता है, वैसा भाई है, सखा है, मित्र है। वह सब कुछ है। यह जानकर मनुष्य अपने मनमें '**मैं उसका अमृत पुत्र हूं**' और '**वह हमारा परमपिता है**' ऐसा भाव सदा धारण करे।

विश्वका सम्राट्

१ सम्राट् देवता बृहस्पतिः (४।१।५)- सबका सम्राट् बृहस्पति देवता है।

२ ऋतावानं वैश्वानरं ऋतस्य ज्योतिषस्पतिं अजस्रं घर्मं ईमहे (६।३६।१)- सत्य, सत्यप्रकाशी विश्वके नेता, तेजके स्वामी, निरंतर प्रकाशनेवाले विश्वके चालक ईश्वरको हम प्राप्त करते हैं।

३ अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य सम्राडेको विराजति (६।३६।३)- अग्निके समान तेजस्वी, जो श्रेष्ठ स्थानमें रहता है, जो भूत भविष्यका एक सम्राट् है, वह विराजता है।

४ बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति (४।१६।१)- इनका बडा अधिष्ठाता पाससे सबको देखता है।

५ *यः तायन् मन्यते चरन् सर्वं देवा इदं विदुः*- जो फैलाता, विचरता है और जानता है, देव यह सब जानते हैं।

६ यः तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्, द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुण स्तृतीयः (४।१६।२)- जो खडा रहता है, जो चलता है, जो ठगता है, जो गुप्त अथवा खुला व्यवहार करता है, दो एकत्र बैठकर जो कुछ विचार करते हैं वह सब तीसरा श्रेष्ठ राजा परमेश्वर जानता है।

७ उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः उतासौ द्यौर्बृहती *दूरे अन्ता, उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी, उतास्मिन्* अल्प उदके निलीनः (४।१६।३)- यह भूमि वरुण राजाकी है, जो दूरमें बडा द्यु है वह भी उसीकी है, ये समुद्र उसकी कोखें हैं, पर वह इस अल्प उदकमें विलीन हुआ है।

८ उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः (४।१६।४)- जो कोई द्युके परे भी चले

जाय तो भी वह वरुण राजाके शासनसे छूटेगा नहीं।

९ सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात् (४।१६।५)- जो इस द्यावापृथिवीमें है जो परे है वह सब राजा वरुण देखता है।

१० संख्याता अस्य निमिषो जनानां- लोगोंके आयुके निमेष इसके गिने रहते हैं।

सब विश्वके सम्राट्का यह वर्णन देखने योग्य है। यह सबका शासक है। इसके पाश सर्वत्र फैले हैं। कोई किधर भी जाए तो भी उससे छूट नहीं सकता अतः कहा है—

विश्वशासकके पाश

१ तस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णयः (५।६।३)- उस प्रभुके पाश लिये दूत कभी आंखें बंद नहीं करते। वे सदा देखते रहते हैं।

२ पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवे- बांधनेके लिये पद पदमें वे दूत खडे हैं।

३ दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् (४।१६।४)- इस दिव्य देवके दूत इस विश्वमें संचार करते हैं, वे हजारों आंखोंसे भूमिको देखते हैं।

४ ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं, यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु (४।१६।६)- हे वरुण! जो तेरे विनाशके पाश सात सात तीन जगह बांधे हैं, वे असत्यवादीको बांध दें और जो सत्यवादी है उसको छोड दें।

५ शतेन पाशैरभि धेहि वरुण एनं मा ते मोचि अनृतवाङ् नृचक्षः (४।१६।७)- सैकडों पाशोंसे हे वरुण! इनको बांध, हे मानवोंको देखनेवाले वरुण! असत्य भाषी तेरेसे न छूटे।

६ आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः (४।१६।७)- दुष्ट मनुष्य अपने पेटको गिराकर, न बंधे थैलीके समान, कटा हुआ पडा रहे।

इस तरह उसके पाश चारों ओर फैले हैं। अधार्मिक मनुष्य उनसे बांधा जाता है। यह जानकर मनुष्य धर्मके नियमोंके अनुसार चलें और बंधनसे विमुक्त रहें।

पापसे बचाव

१ मुमुक्तमस्मान् दुरितादवद्यात् (५।६।८)— इस पापसे हमें बचाओ।

२ योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात्, त्वं तानग्ने मेन्याऽमेनान् कृणु (५।६।१०)— जो पापी हमें आंख, मन, चित्त, संकल्पसे दास बनाना चाहता है, उसे तू अपने शस्त्रसे शस्त्रहीन कर।

३ अभयाता हरसो दैव्यस्य (२।२।२)— दिव्य आपत्तियोंको दूर करनेवाला तू है।

४ अदारसृद् भवतु देव (१।२०।१)— हे देव! आपसमें फूट न हो।

५ मा नो विददभिभा, मो अशस्तिः, मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या (१।२०।१)— पराभव हमारे पास न आवे, अकीर्ति हमें न प्राप्त हो और द्वेष बढानेवाले कुटिल कृत्य हमारे पास न आवें।

६ वरीयो यावया वधं (१।२०।३)— वध या शस्त्र हमसे दूर हों।

पापसे बचना मनुष्यका कर्तव्य है। यही उच्च होनेका अनुष्ठान है।

प्रभुकी प्राप्ति

१ तं त्वा प्रपद्ये, तं त्वा प्रविशामि, सर्वगुः, सर्वपूरुषः, सर्वात्मा, सर्वतनूः, सह यन्मेऽस्ति तेन (६।६।११)— हे प्रभु! तुझको प्राप्त होता हूं, तुझमें प्रविष्ट होता हूं, सब गतियों या गौवोंके साथ, सब पुरुषोंके साथ, सब आत्म बलके साथ, सब शरीरोंके साथ, जो मेरा है उसके साथ तुझमें प्रविष्ट होता हूं।

२ अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः, तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः आत्मानं धीरं अजरं युवानम् (१०।८।४४)— निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू, रससे तृप्त, कहीं भी न्यून नहीं, इसे जानकर मृत्युसे दूर होता है। यही आत्मा धीर जरारहित और युवा है।

३ शास इत्था महाँ असि, अमित्रसाहो अस्तृतः, न यस्य हन्यते सखा, न जीयते कदाचन (१।२०।४)- तू इस तरह महान् शासक है, तू शत्रुका पराजय करनेवाला परंतु स्वयं सदा अपराजित है। जिसका मित्र मारा नहीं जाता जो कभी पराजित नहीं होता ऐसा तू है।

महान् शासक प्रभु है, उसका जो मित्र होकर रहता है, उसका नाश कभी नहीं होता। इसलिये स्वार्थकी कामना बढाकर दुष्ट आचरण कोई मनुष्य कभी न करे और सदाचारसे अपना जीवन चलावे, जिससे मनुष्य ठीक मार्गसे उन्नतिके पथपर चलकर अपना जीवन सफल कर सकता है।

दर्शन और अदर्शन

१ अयातमस्य ददृशे न यातं (१०।८।८)— इसका न चलना दीखता है, परंतु चलना नहीं दीखता।

२ पर नेदीय अवरं दवीय — दूरका समीप है, और जो समीप है वह बडा दूर है।

३ दूरे पूर्णेन वसति, दूर ऊनेन हीयते, महद्यक्ष भुवनस्य मध्ये, तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति (१०।८।१५)— पूर्ण होनेपर भी वह दूर है, न्यून होनेपर भी वह दूर ही है। भुवनके मध्यमें बडा पूजनीय देव है, उसके लिये राष्ट्र सेवक अपना बलि अर्पण करते हैं।

४ तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन (१०।८।१६)— उसको मैं श्रेष्ठ मानता हूं जिसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता।

५ स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत, स विद्याद्ब्राह्मणं महत् (१०।८।२०)— वह ज्येष्ठ ब्रह्मको जानता है, वह बडे ब्रह्मको जानता है।

वह प्रभु अतिसमीप होनेपर भी दीखता नहीं, वैसा वह अति दूर है इसलिए भी दीखता नहीं। वह सर्वत्र है, केवल विचार करनेसे ही 'यह है' ऐसा पता लगता है।

सत् और असत्का उत्पत्ति स्थान

१ सतश्च योनिं असतश्च (४।१।१)— सत् असत् जिससे उत्पन्न होता है।

२ स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्थाः (४।१।४)- वह द्यु और पृथिवीपर ऋत-सत्य नियम चलानेवाला है।

'सत्' आत्माका संकेत है और 'असत्' प्रकृतिका संकेत है। 'असत्' का अर्थ (अस्यति) अपने अन्दरसे वस्तु मात्रके आकारोंको बाहर फेंकनेवाला प्रकृति ऐसा भी हो सकता है। सत् और असत्में सचालन करनेवाला वह है।

सबसे प्रथम उत्पन्न

१ ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् (४।१।१)— सबसे प्रथम ब्रह्म प्रकट हुआ।

२ तस्मै प्रथमाय धास्यवे (४।१।२)— वह सबका पहिला आधार है।

३ ब्रह्मण ब्रह्म उज्जभार (४।१।३)— ब्रह्मसे ब्रह्म प्रथम प्रकट हुआ।

४ को ददर्श प्रथमं जायमानं अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति (९।५।४)— कौन देखता है प्रथम उत्पन्न होनेवालेको, जो अस्थिरहित होता हुआ अस्थिवालेको धारण करता है। चेतन जडको धारण करता है।

५ पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः— आंखवाला ही देखता है, अन्धा नहीं।

६ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते (९।९।२०)— दो पक्षी एक साथ रहनेवाले मित्र एक वृक्षपर पास पास बैठे हैं।

सबसे प्रथम उत्पन्न अर्थात् प्रकट होनेवाला परमात्मा है, ईश्वर है। अनेक रीतियोंसे इसके प्रथम प्रकट होनेका वर्णन मन्त्रोंमें किया है। वह इन मन्त्रोंमें पाठक देख सकते हैं।

देवोंके जन्म

१ देवानां जनिमा विवक्ति (४।१।३)— ज्ञानी देवोंके जन्म कहता है।

२ स देवान् त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा (१०।८।१८)— वह सब देवोंको अपनी छातीपर लेकर सब भुवनोंको देखता हुआ जाता है।

३ सर्वा देवानां चरति व्रतानि (४।११।२)— सब देवोंके व्रतोंको वह चलाता है।

४ बृहन्तो नाम ते देवा ये असतः परि जज्ञिरे, एकं तदंगं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः (१०।७।२५)- जो असत्से उत्पन्न हुए वे बडे देव हैं। सर्वाधारका एक अंग असत् है ऐसा श्रेष्ठ लोग कहते हैं।

५ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे (१०।७।२७)— तैंतीस देव जिसके अंगमें गात्र-अवयव बने हुए हैं।

परमेश्वर एक है, पर सूर्य चन्द्र आदि देव अनेक हैं और वे इस विश्वके नाना प्रकारके कार्य कर रहे हैं। सूर्य प्रकाश दे रहा है, वायु जीवन दे रहा है, चन्द्रमा शान्ति दे रहा है, भूमि अन्न देती है, जल तृषा शान्त करता है। इस तरह अनेक देव अनेक कार्यमें परमेश्वरकी योजनानुसार लगे हैं। इन देवोंका जन्म होता है और विविध कार्य वे करते हैं। यह सब परमात्माकी योजना है।

बडा घर

१ मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् (४।१।४)— पृथिवीसे द्युलोकतक एक ही घर उसने स्थिर किया है।

२ महान् मही अस्कभायद्वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः (४।१।४)— प्रकट होते ही उसने द्यु, अन्तरिक्ष और पृथिवीको मिलाकर एक घर बनाया।

३ अस्य काव्य हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम (४।१।६)— ज्ञानी इस प्राचीन महान् देवके स्थानका वर्णन कर सकता है।

परमात्मा और सब देव एक विशाल घरमें रहते हैं। पृथिवी नीचे और आकाश ऊपर ऐसा यह विशाल घर है। इसमें नाना प्रकारके देव रहते हैं। इन देवोंमें परस्पर विरोध भी रहता है जैसा अग्नि और जल इनका विरोध प्रसिद्ध है। पर ये सब देव विश्वरूपी घरमें रहते हैं और परमेश्वरके आदेशानुसार कार्य करते हैं। उस परमेश्वरकी आज्ञा सब मानते हैं।

स्वयं प्रकाश

१ **स्वर्यस्य च केवलं** (१०।८।१)— जिस प्रभुका केवल स्वयं प्रकाश है।

२ **तस्मात् देवो रोचते एष एतत्** (१०।८।२४)— यह देव इसको प्रकाशित करता है।

३ **दोषो गाय, बृहद् गाय, द्युमद्धेहि** (६।१।१)— रात्रीके समय भजन कर, बहुत भजन कर, तेजस्वी देवको धारण कर।

४ **तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापति अनुमतिर्नि यच्छात्** (७।२४।१)— वह सुख हमें सबका प्रसविता सत्यधर्मवाला प्रजाका पति अनुकूल मतिसे देवे।

वह परमेश्वर स्वयं प्रकाश है। उसके प्रकाशसे सब देव प्रकाशित होते हैं।

विश्वरूप यश

१ **तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं** (१०।८।९)— तिरछा मुखवाला और ऊपर पृष्ठ भाग है ऐसा लोटा–सिर–धडपर रखा है, उसमें विश्वरूप यश रखा है।

२ **तदासत ऋषय सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः**— उसमें सात ऋषि साथ साथ बैठे हैं ये इस महान्‌के रक्षक हुए हैं।

३ **यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत्** (१०।८।११)— जो चलता है, गिरता है, ठहरता है, प्राण धारण करता और जो नहीं करता। जो निमेष उन्मेष करता है, ऐसा वह होता है।

४ **शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं असंख्येयं स्वं अस्मिन्निविष्टम्** (१०।८।२४)— सौ, हजार, दस हजार, लाख अथवा असंख्य स्वशक्तियां इसमें हैं।

सब विश्व यह परमेश्वरके सामर्थ्यसे शक्तिसे, यशसे उत्पन्न हुआ है। जो भी यहां है वह उसका सामर्थ्य ही है। ऐसा समझ कर सब पदार्थोंमें उसका सामर्थ्य देखना चाहिये। हर एक वस्तुको देखकर परमेश्वरके अद्भुत सामर्थ्यको जानना चाहिये।

नमन

१ **यः अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्** (४।१।७)— जो शान्त, सबका पिता, देवोंका भाई ज्ञानी देवको नमस्कार करता है।

२ **तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः** (१०।८।१)— उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है।

३ **यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्** (१०।८।२२)— जो सनातन श्रेष्ठ देवकी उपासना करता है।

४ **सनातनमेनमाहु॰ उताद्य स्यात् पुनर्णव** (१०।८।२३)— जिसको सनातन कहते हैं वह आज नयासा होता है।

५ **तं त्वा योमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्** (२।२।१)— उस तुझको उपासनासे मैं प्राप्त करता हूं, हे दिव्य देव ! तुझे नमस्कार हो, तेरा स्थान द्युलोकमें है।

६ **मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः** (२।२।२)— वह विश्वका आधार हमें सुखी कर, वह भुवनोंका एक ही पालक है, नमनके योग्य है, और सेवा करने योग्य है।

७ **अभित्य देवं सवितारं ओण्योः कविक्रतुं, अर्चामि सत्यसवं रत्नधां अभि प्रियं मतिं** (७।१४।१)॰ उस सबके प्रसविता, रक्षकोंके ज्ञानी कर्ता सत्य और रमणीयताके धारक रत्न धारक प्रिय और मननीय देवकी मैं पूजा करता हूं।

वह परमेश्वर नमन करने योग्य, उपास्य, पूजनीय देव है। मनुष्य उसकी सदा उपासना करें।

ज्ञानी भक्त

१ **वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यत्, यत्र विश्वं भवत्येकरूपं** (२।१।१)— ज्ञानी ही उसको देखता है, जो गुहामें रहता है और जहां विश्व एकरूप हो जाता है।

२ **प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्** (२।१।२)— जो गुहामें है उस अमृतके धामको ज्ञानी जानता है।

३ **त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्**— तीन पद इसकी गुहामें रखे हैं, जो उनको जानता है वह पिताका पिता होता है। वह बडा ज्ञानी होता है।

४ ब्रह्मैनद्विद्यात्तपसा विपश्चित् (८।९।३)— ज्ञानी तपसे इस ब्रह्मको जाने।

५ माया ह जज्ञे मायायाः (८।९।५)— मायासे माया (कपटसे कपट) उत्पन्न होती है।

६ य इत तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः (९।१०।१)- जो उस ब्रह्मको जानते हैं वे अमरत्व प्राप्त करते हैं।

७ विद्म ते धाम परमं गुहा यत् (११।१२।३)— बुद्धिमें जो तेरा स्थान है वह हमें पता है।

८ अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः (१०।२।३१)- आठ चक्र और नौ द्वारोंवाली यह शरीररूपी देवोंकी अयोध्या *नगरी है, उसमें तेजसे घिरा सुवर्णमय कोश स्वर्ग ही है।*

९ पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहं, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् (४।१४।३)- मैं पृथ्वीसे अन्तरिक्षमें, अन्तरिक्षसे द्यु और द्युलोकसे स्वर्ग ज्योतिको पहुंचा हूं।

ज्ञानी भक्त वह है कि जो परमेश्वरको जानता है और ज्ञान पूर्वक उसकी उपासना करता है।

यज्ञ

१ जुषेथां यज्ञं (६।६।८)— यज्ञका सेवन करो।

२ अमृतमस्मासु धत्तम्— हमें अमृत दो।

३ यज्ञं ये विश्वतो धारं सुविद्वांसो वितेनिरे (४।१४।४)— उत्तम विद्वान् विश्वके धारक यज्ञको करते हैं।

४ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं महिमानः सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (७।५।१)— पहिले देव यज्ञसे यज्ञ करते थे, वे पहिले समयके धर्म थे। ये यज्ञकर्ता महान् होकर उस स्वर्गमें गये जहां पहिले साधक आदर रहे थे।

५ स देवानामधिपतिर्बभूव (७।५।२)— वह यज्ञ देवोंका स्वामी हुआ।

यज्ञ मनुष्यों द्वारा करने योग्य कर्म है। यज्ञमें ज्ञानियोंका सत्कार, संगठन और दान ये तीन कार्य होते हैं। ये कार्य जनताकी उन्नति करनेवाले हैं।

शस्त्रधारी देव

१ तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्रौ इह सुमृडतं नः (६।६।५)— *तीक्ष्ण शस्त्र धारण करनेवाले,* तीक्ष्ण अस्त्रवाले, उत्तम सेवा करने योग्य सोम और रुद्र यहां हमें सुखी करें। सोम- शान्त, रुद्र- तीक्ष्ण, रयि- प्राण।

जो शस्त्र धारण करते हैं वे अपने शस्त्रोंको तीक्ष्ण करके रखें। जिससे शत्रुकी पराजय हो और अपनी जय हो।

जीव

१ जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना स योनिः (९।१०।८)- अमर जीव मर्त्य देहके साथ समान योनिमें उत्पन्न होकर विचरता है।

२ अद्या ममार स ह्यः समान (९।१०।९)- आज वह मर गया जो कल प्राण धारण करता रहा।

जीव इस जगतमें है। शरीर छोडता और फिर धारण करता है। इसकी उन्नतिके लिये ही यज्ञ, कर्म, ज्ञान आदि हैं।

विशेष कर परमात्माके गुण इन वेदमंत्रोंमें देखने थे वे देखे। पाठक इनका वारंवार विचार करें और परमेश्वर, परमात्मा आदि शब्दोंसे जिस अतर्क्य शक्तिका बोध होता है उसका वेदोक्त स्वरूप जानें। यही उद्देश्य है इस मंत्रोंके संग्रह करनेका।

पाठक यह न समझें कि यहां दिया हुआ सूक्तोंके आनुपूर्वीका क्रम ठीक ही है। इसमें आगे पीछे भी हो सकता है। कोई विद्वान दूसरा क्रम सुझावे, वह उत्तम प्रतीत हुआ तो हम उस क्रमको स्वीकार करेंगे। इसमें हमें कोई अहंकार नहीं है। परमेश्वर विषयक सब अथर्व सूक्त एक स्थानपर आजांय, यह इच्छा थी। उस इच्छासे यह संग्रह किया है जो पाठकोंके सामने है। इससे परमात्म-विषयक एक निश्चित वैदिक कल्पना पाठकोंके सामने अवश्य आ सकेगी ऐसी हमें आशा है।

स्वाध्याय-मण्डल,
पारडी (जि. सूरत)

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर



अथर्ववेद

प्रथम भाग

ब्रह्म-विद्या-प्रकरण

ब्रह्म-विद्या।

काण्ड ४, सूक्त १

(ऋषि — वेनः । देवता — बृहस्पतिः, आदित्यः)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥
इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥ २ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सु-रुचः सीमतः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है। (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको भी (वि वः) विवृत करता है ॥ १ ॥

(इयं भुवने-स्थाः पित्र्या राष्ट्री) यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त चमकनेवाली बुद्धि (प्रथमाय जनुषे अग्रे एतु) मुख्य जीवनके लिए आगे होवे। (तस्मै प्रथमाय धास्यवे) उस पहले धारण करनेवालेको अर्पण करनेवालेके लिये (एतं सुरुचं ह्वारं अह्यं घर्मं श्रीणन्तु) इस तेजस्वी, कुटिलता दूर करनेवाले *हिंसासे रहित*, यज्ञको सिद्ध करें ॥ २ ॥

भावार्थ— सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उसका [illegible] बीच आकाशमें ठहरे सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देख कर सत् और असत्के मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें ज्ञान वर्णन करता है ॥ १ ॥

यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई तेजस्वी बुद्धि श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेको [illegible] आगे बढे। तथा यह बुद्धि उत्तम मुख्य धारण कर्ता परमात्माके लिये समर्पण करनेके हेतु तेजस्वी, कुटिलताको दूर करनेवाले, श्रेष्ठ और श्रेष्ठ यज्ञको सिद्ध करे ॥ २ ॥

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥
स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
महान्मही अस्कभायद्वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥ ४ ॥
स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥
नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ॥ ६ ॥

अर्थ— (य विद्वान्) जो विद्वान् (अस्य बन्धुः प्रजज्ञे) इसका बंधु होता है, वह (देवानां जनिमा विवक्ति) सब देवोंके जन्मोंको कहता है । (ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार) ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट हुआ है । उसके (मध्यात् नीचैः उच्चैः) मध्य तथा निम्न भागसे (स्व-धाः अभि प्रतस्थौ) उसकी निज धारक शक्तियां फैली हैं ॥ ३ ॥

(सः हि दिवः) वह ही द्युलोकका और (सः पृथिव्याः ऋत-स्थाः) वही पृथिवीका सत्य नियमसे ठहरानेवाला है । उसीने (मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्) बडे द्युलोक और पृथिवी लोकको घरके समान स्थिर किया है। (महान् जातः) वह बडा देव प्रकट होता हुआ (द्यां पार्थिवं सद्म रजः च) द्युलोक, पृथिवीके निवास स्थानको और अंतरिक्षलोकको (मही अस्कभायत्) विस्तृतरूप देकर स्थिर करता है ॥ ४ ॥

(तस्य सम्राट देवता बृहस्पतिः) उस जगत्का सम्राट् बृहस्पति देव है और (सः बुध्न्यात् जनुषः अग्रं अभि आष्ट्र) वह पहिले जन्मसे भी पूर्वकालसे चारों ओर व्याप्त है । (अथ यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः जनिष्ट) अब जो ज्योतिसे शुद्ध दिन उत्पन्न हुआ, उससे (द्युमन्तः विप्राः विवसन्तु) प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे निवास करें ॥ ५ ॥

(काव्यः नूनं) ज्ञानी निश्चयसे (अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम) इस प्राचीन देवका वह महान् धाम (हिनोति) प्राप्त करता है । (इत्था बहुभिः साकं एष जज्ञे) इस प्रकार बहुतोंके साथ यह ज्ञानी उत्पन्न हुआ था, परंतु जिस समय (पूर्वे अर्धे वि-सिते) पूर्व दिशाका आधा द्वार खुला, तब उनमेंसे प्रत्येक (ससन् नु) सोता ही रहा ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी इस परमात्माका बन्धु बनता है वही देवोंके देवत्वके विषयमें सत्यज्ञान कहता है। परब्रह्मसे ज्ञानका प्रकाश हुआ है और उसके निम्न, मध्य और उच्च अर्थात् सब अंगोंसे धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं ॥ ३ ॥

वही एक देव द्युलोक और पृथ्वीलोक आदियोंको सत्य नियमोंसे अपने अपने स्थानमें स्थिर करनेवाला है । उसीने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको घर जैसा बनाया है । उसी प्रकट हुए महान् देवने द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, और इस हमारे घरके समान भूलोकको विस्तृत और महान् बनाकर अपने अपने स्थानमें सुदृढ किया है ॥ ४ ॥

इस जगत्का एक सम्राट् बृहस्पति देव है, वह आदिकालसे चारों ओर पूर्ण रीतिसे फैला हुआ है । उसकी ज्योतिसे जो पवित्र दिनका प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे जीवन व्यतीत करें ॥ ५ ॥

ज्ञानी निश्चयसे इस प्राचीन देवका वह प्रसिद्ध महान् धाम प्राप्त करता है । वस्तुत ज्ञानीका जन्म अनेक मनुष्योंके जन्मोंके साथ हुआ होता है, परन्तु प्रयत्नसे ज्ञानीके लिये जिस समय वह पूर्व महाद्वार थोडासा खुल जाता है, उस समय जाग्रत रहनेके कारण उसमें ज्ञानी प्रविष्ट होता है परन्तु अन्य लोग बाहरही सोये पडे रहते हैं ॥ ६ ॥

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात् ।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत्स्वधावान् ॥ ७ ॥

अर्थ— (यः) जो (अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं) निश्चल पिता देवोंके भाई (बृहस्पतिं नमसा च अव गच्छात्) बृहस्पतिदेवको नमस्कारके साथ ऐसे जानें । ' (त्वं विश्वेषां जनिता असः) तू सबका उत्पादक हो, (यथा कविः स्वधावान् देवः न दभायत्) और ज्ञानी, स्वकीय सामर्थ्य युक्त देव कभी दबाया नहीं जाता ' ॥ ७ ॥

भावार्थ— मनुष्य, देवोंके भाई, परमपिता निश्चल बृहस्पतिकी नम्रताके साथही हुई उपासनाद्वारा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है कि ' हे देव ! तू सबका उत्पादक है, तू ही ज्ञानी और स्वकीय सामर्थ्यसे युक्त है और तू ही कभी न दबनेवाला है ' ॥७॥

ब्रह्मकी विद्या ।

इस सूक्तमें ' ब्रह्मकी विद्या ' बडी मनोहर रीतिसे कही है। जो ब्रह्मविद्याका मनन करते हैं, उनके लिये यह सूक्त बडा बोधप्रद होगा । इसका पहिला कथन यह है—

प्राचीन देव ।

पुरस्तात् प्रथमं ब्रह्म जज्ञानम् । (मं १)

" सबसे अति प्राचीन कालकी जो भी कल्पनाकी जा सकती है उससे भी अत्यन्त प्राचीन कालसे वह परब्रह्म अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है । ' जिस समय अन्य कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ था, उस समयसे स्वयं प्रकाशी ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है । इसका तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है, प्रकाशित होनेके लिये इसको किसी अन्यकी सहायता नहीं लेनी पडती है । इसके अतिप्राचीन होनके विषयमें इसी सूक्तमें निम्नलिखित वचन देखने योग्य हैं—

१ प्रथमाय तस्मै धास्यये । (मं. २)
२ अग्र स बुध्न्यात् अनुपः अभि आहू । (मं. ५)
३ पूर्वस्य अस्य देवस्य तत् धाम । (मं ६)

" (१) सबसे पहिला यह धारक है । (२) सबसे प्रथम जिसकी उत्पत्ति हुई है उससे भी पहिले वह चारों ओर व्याप्त है । (३) सबसे पुराने इस देवका यह स्थान है । "

इन मन्त्रोंमें इस देवके अति प्राचीन होनेके विषयमें निश्चयात्मक वर्णन है । इससे सिद्ध होता है कि यह देव स्वयंसिद्ध अथवा स्वयंभू, सर्वाधार और सब जन्तुकी उत्पत्ति होनेके पूर्वकालसे भी विद्यमान है ।

इसका ज्ञान ।

इसका ज्ञान किस रीतिसे हो सकता है, इस विषयमें विचार करनेके लिये निम्न लिखित मन्त्र बडी सहायता देता है—

सुरुच सीमत: वेनः वि आवः । (मं. १)

" (सु-रुचः) उत्तम प्रकाशमान (सीम-तः) सीमाओंसे ही (वेनः) ज्ञानी मनुष्य उसको देखता है । " जिस प्रकार बादलोंमें छिपा हुआ सूर्य बादलोंके चमकनेवाले किनारोंसे ही जाना जाता है, उसी प्रकार सूर्यचन्द्रादिकोंके पीछे रहकर सूर्यादिकोंको चमकानेवाला यह देव इन गोलोंकी चमकाहटसे ही जाना जाता है । " जिसको सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते, परन्तु जिसके तेजसे सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं, वह ब्रह्म है । " अर्थात् सूर्यादिकोंकी सुप्रकाशित सीमाओंको देखनेसे और विचार करनेसे परमात्म का ज्ञान होता है । सृष्टिमें उसका कार्य देखनेसे ही उस परमात्माका ज्ञान हो सकता है । उसके ज्ञानके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

इसके लिये उपमा ।

यह परमात्मा प्रत्यक्ष दीखता नहीं है, सृष्टिमें उसका कार्य देखकर उसका अनुमान होता है, अथवा उपमाओंसे भी उसका वर्णन किया जाता है जैसे—

उस्य उपमा: बुध्न्याः वि-स्थाः । (मं. ३)

" इसके लिये उपमाएं (बुध्न्याः) आकाशमें (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रहनेवाले जो सूर्यादि गोल हैं वेही हैं । " अर्थात् उस परमात्माका यदि वर्णन करना हो तो ' वह सूर्यका भी सूर्य है " " वह चन्द्रका भी चन्द्रमा है " इस प्रकार

किया जाता है। अर्थात् सूर्यादिकोंकी उपमा उसको देकर ही उसके विषयमें ज्ञान दिया जाता है। या तो मनुष्य सृष्टिमें उसका कार्य देखकर उसके विषयमें अनुमान करे अथवा सूर्यादि गोलोंका भी वह प्रकाशक है इसलिये वह सूर्यका भी सूर्य है ऐसा जाने। यह रीति है जिससे उसके विषयमें कुछ अनुमान हो सकता है।

आदि कारण।

सबका आदिकारण वह परमात्मा ही है। सत् और असत्, बहुत समय ठहरनेवाले और क्षणभंगुर ऐसे जो पदार्थ हैं, उनका मूल आदि कारण वह है। देखिये—

सत असत· च योनिं सा विच। (मं १)

' सत् और असत्का आदि कारण वह है इस विषयमें यथायोग्य विवरण ज्ञानी ही करता है। " अन्य मनुष्योंको उसके विषयमें पता नहीं होता। वे उसके विषयमें पूर्ण अज्ञानी रहते हैं।

श्रेष्ठ जीवन।

ज्ञानी अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता है यह एक बडे महत्त्वका विषय है, इसका विवेचन द्वितीय मंत्रमें किया है वह इस समय देखिये—

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥ २ ॥ (मं २)

" मनुष्योंके अंदर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई मनुष्यकी बुद्धि प्रथम श्रेणीका श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्सुक होकर आगे बढे और सर्वाधार परमात्माकी संतुष्टिके लिये इस सुंदर श्रेष्ठ यज्ञ कर्मको करे।" इस मंत्रके कुछ शब्द मनन करने योग्य हैं—

१ भुवनेष्ठाः (भुवने-स्थाः) भुवनमें रहनेवाली। " भुवन " शब्दका अर्थ है। " मनुष्य, मानवजाति प्राणी, जगत्, उत्पन्न हुए हुए पदार्थ, पृथिवी, घर, स्थान, और अभ्युदयकी प्राप्त स्थिति।' इनमेंसे यहां ' मनुष्य अथवा मानवजाति ' यह अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इनमें रहनेवाली शक्ति (प्रथमाय जनुषे) प्रथम श्रेणीका जीवन व्यतीत करनेके लिये (अग्रे एतु) आगे बढे अर्थात् उत्साहसे अपने जीवनका सुधार करे, ऐसा कहा है। मानवेतर प्राणी या पदार्थोंमें इसकी संभावना नहीं है इसलिये मनुष्य विषयक अर्थ ही यहां अपेक्षित है।

१ पित्र्या राष्ट्री= (पित्र्या) पितासे आनुवंशिक शुभ संस्कारोंसे सुसंस्कृत (राष्ट्री) तेजस्वी सुप्रकाशिका बुद्धि।

इस प्रकारकी बुद्धि मनुष्यके अंदर शुभ संकल्प सुदृढ करे और इस संकल्पके बलसे मनुष्य बलवान बनकर (प्रथमाय जनुषे) प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ दर्जेका जीवन व्यतीत करनेका उत्साह अपने मनमें बढावे। उत्साहसे वह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करे। बीचमें कोई प्रलोभन आवे तो उसमें न फसे और कोई विघ्न उत्पन्न हो जावे तो हताश न होवे। अर्थात् शुभाशुभ अवस्थाएं प्राप्त होने पर भी अपना श्रेष्ठ मार्ग न छोडे। इसके पश्चात्–

प्रथमाय धास्यवे घर्मं श्रीणन्तु। (मं० २)

" सबके मुख्य आधार भूत परमात्माके लिये यज्ञ सिद्ध करें। अर्थात् यज्ञ करें और वह उसको समर्पण करनेकी बुद्धिसे ही करें, क्योंकि यज्ञका पुरुष वही है और सभी यज्ञ उसीके लिये किये जाते हैं।

यज्ञका लक्षण।

इसी मन्त्रमें यज्ञका लक्षण तीन शब्दों द्वारा बताया है, इसलिये यज्ञका स्वरूप देखनेके लिये इन तीन शब्दोंका मनन करना चाहिये—

१ अ—ह्य— (अहीन) = जिसमें हीनता नहीं है, जिसमें हीन या त्याज्य भाव बिलकुल नहीं है, अर्थात् जो उच्च भावसे युक्त है।

२ सुरुचं = अत्यंत तेजस्वी। तेजस्विता बढानेवाला।

३ ह्वारं = दबानेवाला, बुराइयोंको और दुष्टताको दबाकर टेढा करनेवाला, दुष्टताको ऊपर सिर चढानेके लिये अवसर न देनेवाला।

" घर्म " यह यज्ञ वाचक शब्द यहां है, इसका अर्थ " उष्णता, सूर्यप्रकाश, यज्ञ " ऐसा है। यहां उष्णताका तात्पर्य मनुष्यके मनकी उष्णता, अर्थात् उत्साह शक्ति है। जिस श्रेष्ठ कर्मसे मनुष्यका पुरुषार्थ प्राप्ति विषयक उत्साह बढता है उस यज्ञ धर्मका नाम " घर्म " है। पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य इस प्रकारके श्रेष्ठ यज्ञ करे और अपने जीवनको सार्थक करे।

परमात्माका सामर्थ्य।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि वही सबका आधार है, जिसने इस संपूर्ण जगत्को ठहरा रखा है—

१ स हि दिवः पृथिव्याः च ऋतस्याः । (मं० ४)
२ सः मही रोदसी क्षेम अस्कभायत् । (मं० ४)
३ द्यां पार्थिवं सद्म रज च स जातः मही अस्कभायत् । (मं० ४)

" (१) उसने द्युलोक और पृथ्वीलोकको सत्य नियमोंसे धारण किया है। (२) बडी द्यावापृथिवीको उसीने सुखपूर्ण किया है, और (३) द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्षको उसी सुप्रसिद्ध परमात्माने विस्तृत और सुदृढ बनाया है। "

इस संपूर्ण जगत्का रचयिता वही परमात्मा है और वह इसको *अपने सत्यनियमोंसे रचता है, चलाता है और सुदृढ* करता है। इसी विषयमें सप्तम मन्त्रका कथन यहां देखिये—

त्वं विश्वेषां जनिता असः । (मं० ७)

" तू सबका उत्पन्न कर्ता है " इसमें असंदिग्ध रीतिसे कहा है कि वही सबका उत्पादक है। यही बात भिन्न शब्दोंद्वारा *तृतीय मन्त्रमें भी कही है—*

ब्रह्म ब्रह्मणः उज्जभार । (मं० ३)
मध्यात् नीचैः उच्चैः स्वधा अभिप्रतस्थौ । (मं० ३)

" ब्रह्म ब्रह्मसे प्रकट हुआ है, उसीके मध्यसे, निम्न भागसे उसकी अपनी धारक शक्तियां चारों ओर फैली हैं। " ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट होता है, और उसीसे अनंत धारक शक्तियां उत्पन्न होती हैं और उनसे इस विश्वका धारण होता है।

" ब्रह्म " शब्दके अर्थ— ' परब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ज्ञान, मन्त्र, वेद, ब्राह्मण, भक्त, तप, पवित्राचरण, धन, अन्न, सूर्य, बुद्धि, प्रजापति " ये हैं। यहां एक ' ब्रह्म ' शब्दका अर्थ परमात्मा है और दूसरे ' ब्रह्म ' शब्दके अर्थ ' आत्मा ज्ञान, बुद्धि, तप ' आदि हैं। ब्रह्मके अंदर " स्व—धा " निज धारक शक्ति है वही सबको धारण करती है। इसमें निज शक्ति होनेसे किसी अन्यकी शक्तिकी अपेक्षा यह नहीं करता। यही दूसरोंको शक्ति देता है, यही इसका परम सामर्थ्य है। इसीसे ये सूर्य चन्द्रादि तेजके गोले बने हैं और उसीकी शक्तिसे अपने अपने स्थानमें स्थित हैं।

ज्ञानी।

इस परमात्माका जो बंधु होता है अर्थात् जो भाई जैसा इसके साथ व्यवहार करता है वही इसके सामर्थ्यका वर्णन कर सकता है—

यः विद्वान् अस्य बन्धुः जज्ञे,
सः देवानां जनिमा विवक्ति ॥ (मं० ३)

" जो ज्ञानी इसका भाई करके प्रसिद्ध होता है वही इस परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सूर्यादि देवोंकी उत्पत्त्यादिके विषयमें यथायोग्य विवरण कर सकता है। " क्योंकि वही मनुष्य ठीक रीतिसे उस परमात्माकी शक्तिको जानता है। उसका भाई बननेका तात्पर्य उच्चाधिकारसे संपन्न होना है। जीवात्मा उस परमात्माका जैसा " अमृतपुत्र " है वैसा ही उसका " बंधु " भी है। ये शब्द जीवात्माका उन्नतिके दर्जे बताते हैं। वस्तुतः भाई आदि संबंध यहां लाक्षणिक ही हैं, ये संबंधवाचक शब्द मनुष्यकी उन्नतिकी अवस्था बतानेवाले हैं।

यह मनुष्यकी योग्यता किस रीतिसे बढती है इस विषयमें पञ्चम मन्त्रका एक वचन बडा मनोरंजक है, वह अब देखिये —

अध यत् ज्योतिषा शुक्र अह्नः जनिष्ट
(तेन) द्युमन्तः विप्राः वि वसन्तु । (मं० ५)

" जो परमात्माकी ज्योतिका प्रकाशपूर्ण दिन होता है, उसके *प्रकाशसे प्रकाशित हुए हुए ज्ञानी विशेष प्रकारसे रहें,* " अर्थात् उनका रहना सहना विशेष नियमोंसे बंधा होना चाहिये। विशेष परिशुद्ध रीतिसे जीवन व्यतीत करनेसे उनकी योग्यता बढती है। इनको परमात्माके प्रकाशसे प्रज्वलित हुए हुए दिनका सर्वत्र अनुभव होना चाहिये। जहां वे विचरें वहां *परमात्माकी अखंड ज्योति उनको दिखाई देनी चाहिये।* उसीके उजालेसे उसके व्यवहारका मार्ग प्रकाशित होना चाहिये, तभी उन्नतिकी संभावना है।

सूर्यके प्रकाशसे जो ' दिन ' होता है उसकी उस परमात्माके प्रकाशसे होनेवाले ' दिन ' के साथ तुलना करनेसे वह दिन *कहलानेके भी योग्य नहीं है। क्योंकि सूर्य परमात्माके* प्रकाशसे प्रकाशित होता है, इसलिये परमात्माके प्रकाशका महत्त्व सब अन्य प्रकाशोंसे विशेष ही है।

ज्ञानकी जाग्रति।

जो विद्वान् इस प्रकारके मार्गसे अपनी उन्नति करनेका इच्छुक है उसको उचित है कि वह जाग्रत रहे, प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेता जाय। ऐसा करनेसे ही उसकी निःसन्देह उन्नति होती है। यदि अवसर आनेपर वह सो जावे तो वह पीछे रहेगा, इस विषयमें छठा मन्त्र बडा महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है—

१ एष बहुभिः साकं इत्था जज्ञे । (मं० ६)
२ (परन्तु) अस्य पूर्व्यस्य देवस्य तत् महः धाम काव्यः नूनं हिनोति । (मं० ६)
(अन्ये) पूर्वे अर्धे विसिते ससन् नु । (मं० ६)

" (१) यह ज्ञानी बहुतसे अन्य मनुष्योंके साथ साथ उत्पन्न हुआ था। (२) परंतु प्राचीन देवका वह श्रेष्ठ धाम यही अकेला ज्ञानी ही प्राप्त करता है, (३) इसके साथ जन्मे हुए *अन्य साधारण लोग पूर्वका महाद्वार जिस समय खुल गया* था उस समय सोये पडे थे। " द्वार खुल जानेके समय ज्ञानी जागता था इस कारण ज्ञानीका प्रवेश देवताके स्थानमें हुआ, अन्य लोग सोये पडे थे इस कारण वे अंदर प्रविष्ट न हो सके। यह मंत्र अवसरके महत्त्वका वर्णन कर रहा है।

जिस दिन ज्ञानी जन्मा था उसी दिन इस पृथ्वीपर सहस्रों मनुष्य जन्मे थे, परंतु योग्य अवसरको गवां देनेसे अन्य मनुष्य *पीछे रह गए और जागता हुआ ज्ञानी प्राप्त अवसरसे योग्य* लाभ लेनेके कारण आगे बढ गया। मनुष्य केवल जन्मके कारण उच्च नहीं होता उसको जागते हुए अपनी उन्नतिका प्रयत्न करना चाहिये, तभी उसकी उन्नतिकी संभावना है। जो पाठक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेके इच्छुक हैं वे इस मंत्रका योग्य मनन करके उचित बोध प्राप्त करें।

नमन और गुणचिंतन।

इस सूक्तके अंतिम सप्तम मंत्रमें ज्ञानी बननेके मुख्य दो साधन कहे हैं, एक परमात्माको भक्तिसे नमन करना और दूसरा उसके गुणोंका चिन्तन करना। इन दोनों साधनोंका अब विचार कीजिये—

यः अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसा अवगच्छात्। (मं० ७)

" निश्चल परमपिता संपूर्ण देवोंका बन्धु, जो सर्वज्ञ देव है, उसको जो मनुष्य नमन करता है वही उसको जानता है। " भक्तिसे परमात्माकी शरण जाना, उसको प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रणाम करना, उसके सामने नम्र होना, ये मार्ग हैं जिससे कि मनुष्य उच्च होता रहता है। *आध्यात्मिक उन्नतिके लिये*, तथा आत्मिक शक्तिका विकास करनेके लिये नम्र होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। नम्र होनेके बिना आत्माकी शक्ति विकसित नहीं हो सकती। नम्रतापूर्ण अंत:करणसे परमात्माका गुणचिंतन करना चाहिये, वह इस प्रकार किया जाता है—

१ त्वं विश्वेषां जनिता यथासः। (मं० ७)

२ कविः स्वधावान् देवः न दभायत्॥ (मं० ७)

" हे देवाधिदेव! तू ही सबका एक उत्पादक है। हे देव! तू ज्ञानी तथा निज सामर्थ्यसे युक्त है, इसलिये तुझे कोई भी दबा नहीं सकता।" इत्यादि प्रकारसे उस प्रभुका गुणगान करना चाहिये। इसी प्रकार—

तस्य सम्राट् देवता बृहस्पतिः। (मं० ५)

" इस जगत्का सच्चा एक सम्राट् बृहस्पति देव है। " यही बृहस्पतिदेव परमात्माही है। ' बृहस्पति ' का अर्थ ' ज्ञानका स्वामी, बडे विश्वका प्रभु ' ऐसा होता है। इस सूक्तका यही देवता है। जो परब्रह्म परमात्माकी सर्वज्ञताका वर्णन कर रहा है।

इस सूक्तमें परब्रह्मका स्वरूप, उसका सामर्थ्य, उसकी प्राप्तिका उपाय इत्यादि महत्त्व पूर्ण बातें कही हैं, जो पाठक ब्रह्मविद्याके अभ्यासी हैं, उनको इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

ब्रह्म विद्या।

काण्ड ५, सूक्त ६

(ऋषि:— अथर्वा। देवता— सोमारुद्रौ।)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सुरुचः सीमतः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानीने देखा है। (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आधार रूप संबन्धी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनिं) सत् और असत्के उत्पत्ति स्थानको भी (वि वः) विवृत करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आधाररूपवाले सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देख कर सत् और असत्के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् वः एतत् पुरो दधे ॥ २ ॥
सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥ ३ ॥
पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥
न्वे ३ तेनारात्सीरसौ स्वाहा ।
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥

अर्थ—(**ये प्रथमाः अनाप्ताः**) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (**वः यानि कर्माणि चक्रिरे**) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (**नः वीरान् अत्र मा दभन्**) हमारे वीरोंको यहां कष्ट न दें। (**तत् एतत् वः पुरः दधे**) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख धर देता हूं ॥ २ ॥

(**दिवः सहस्रधारे नाके एव**) द्युलोकके सहस्रों धाराओंसे युक्त सुखपूर्ण स्थानमें ही (**ते असश्चतः मधुजिह्वाः समस्वरन्**) वे निश्चल शांत स्वभाववाले और मधुरभाषी लोग सब मिलकर एक स्वरसे कहते हैं, कि (**तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति**) उसके पकडनेवाले पाश लिये दूत कभी आंख नहीं बंद करते हैं। (**सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति**) बांधनेके लिये पद पद पर पाश लिये खडे हैं ॥ ३ ॥

(**वाजसातये वृत्राणि सक्षणिः**) अन्नदानके लिये प्रतिबंध करनेवाले शत्रुवोंको दूर करनेवाला बन कर (**उपरि सु प्र धन्व**) उनको सब ओरसे भगा दे। क्योंकि (**तत् द्विषः अर्णवेन अधि ईयसे**) तू शत्रुओंपर समुद्रकी ओरसे भी चढाई करता है। इस कारण तेरा (**सनि-स्रस नाम असि**) सनिस्रस अर्थात चढाई करनेमें कुशल इस अर्थका नाम है। (**त्रयोदशः मास इन्द्रस्य गृह**) तेरहवां महिना इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

(**नु एतेन असौ अरात्सीः**) निश्चयसे इस प्रकार उस तूने सिद्धि प्राप्तकी है। (**स्वा-हा**) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही सिद्धिका मार्ग है। (**तिग्मायुधौ तिग्महेती**) तीक्ष्ण हथियारवाले और तीक्ष्ण अस्त्रवाले (**सुसेवौ सोमारुद्रौ**) उत्तम सेवा करने योग्य सोम और रुद्र (**इह नः मृडतं**) यहां हमें सुखी करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— पहिले ज्ञानी पुरुषोंने जो जो प्रशस्त कर्म किये थे, उनका स्मरण करके वैसे कर्म तुम करो, और बालबच्चों और वीरोंको बचाओ, यही तुम्हारे लिये कहना है ॥ २ ॥

प्रकाशपूर्ण स्वर्ग धाममें रहनेवाले शांत और मधुर स्वभाववाले ज्ञानी लोग एक स्वरसे कहते हैं उस प्रभुके दूत कभी आंख बंद नहीं करते, अपनी आंख सदा खुले रखकर हाथमें पाश लिये हुए पापियोंको बांधनेके लिये पद पद पर तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥

जो लोग अन्नदान आदि परोपकारके कार्योंमें विघ्न उत्पन्न करते हैं, उनको दूर करो। जिस प्रकार शत्रुपर भूमिसे चढाई की जाती है, उस प्रकार समुद्रकी ओरसे शत्रुपर चढाई करनेमें भी तू कुशल बन। तेरहवां महिना भी अन्य मासोंके समान इन्द्रका घर है ॥ ४ ॥

इस मार्गसे हरएकको सिद्धि मिल सकती है। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करना ही सिद्धिका मूल है। उत्तम शस्त्रास्त्रधारी सेवा करने योग्य और उक्त प्रकार यहां सबको सुखी करें ॥ ५ ॥

अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा ।
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ६ ॥
अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा ।
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ७ ॥
मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥
चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥
योऽस्माँश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात् ।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥ १० ॥

अर्थ— (एतेन असौ अप अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है, (स्वाहा) त्याग ही सिद्धिका मूल है । (तिग्मायुधौ०) उत्तम शस्त्रास्त्रवाले वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

(एतेन असौ अप अरात्सीः) इसी रीतिसे यह तू सिद्धि प्राप्त करता है । (स्वाहा) त्याग ही सिद्धिका मूल है । (तिग्मा०) उत्तम शस्त्रास्त्रधारी वीर यहां सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

(अस्मान् अवद्यात् दुरितात् मुमुक्तं) हम सबको निंदनीय पापसे छुडावो (यज्ञं जुषेथां) यज्ञका सेवन करो और (अस्मासु अमृतं धत्तं) हममें अमृत धारण कराओ ॥ ८ ॥

हे (चक्षुषः हेते) आंखके आयुध ! (मनसः हेते) हे मनके शस्त्र ! (ब्रह्मणः हेते) हे ज्ञानके आयुध ! और (तपसः च हेते) तपके आयुध ! तू (मेन्याः मेनिः असि) शस्त्रका शस्त्र है । (ये अस्मान् अभ्यघायन्ति) जो हमें सताते हैं (ते अमेनयः सन्तु) वे शस्त्ररहितसे बनें ॥ ९ ॥

(यः यः अघायुः अस्मान्) जो कोई पापाचरण करनेवाला हमें (चक्षुषा मनसा चित्त्या) आंख, मन, चित्त, (च आकूत्या अभिदासात्) और संकल्पसे दास बनानेका यत्न करे, हे अग्ने ! (त्वं तान् मेन्या अमेनीन् कृणु) तू उनको शस्त्रसे शस्त्रहीन कर । (स्वा—हा) आत्मसर्वस्वका समर्पण ही मुक्तिका हेतु है ॥ १० ॥

भावार्थ— इसी रीतिसे हरएक मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है । त्याग भाव ही सिद्धिका मूल है । सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥ ६ ॥

इसी प्रकार सिद्धि मिलती है । त्यागभाव ही सिद्धिका मूल है । सब वीर इसी मार्गसे सबको सुखी करें ॥ ७ ॥

पापसे दूर रहो । प्रशस्त सत्कर्म करो और अमरत्व प्राप्त करो ॥ ८ ॥

आंख, मन, ज्ञान और तप ये बडे शस्त्रास्त्र हैं ये शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं । इनसे उन दुष्टोंको शस्त्रहीन कर, कि जो अपने बलसे दूसरोंको सताते हैं ॥ ९ ॥

जो कोई पापी आततायी चक्षु, मन, चित्त अथवा संकल्पसे दूसरोंको दास बनानेका यत्न करे, उसको तू उन शस्त्रोंसे शस्त्रहीन कर । इस मार्गमें आत्मसर्वस्वका समर्पण ही बंधमुक्त होनेका उपाय है ॥ १० ॥

इन्द्र॑स्य गृ॒होऽसि ।
तं त्वा॒ प्र प॑द्ये तं त्वा॒ प्र वि॑शामि॒ सर्व॑गुः सर्व॑पूरुषः
सर्वा॑त्मा॒ सर्व॑तनूः स॒ह यन्मेऽस्ति॒ तेन॑ ॥ ११ ॥
इन्द्र॑स्य॒ शर्मा॑सि ।
तं त्वा॒ प्र प॑द्ये तं त्वा॒ प्र वि॑शामि॒ सर्व॑गुः सर्व॑पूरुषः
सर्वा॑त्मा॒ सर्व॑तनूः स॒ह यन्मेऽस्ति॒ तेन॑ ॥ १२ ॥
इन्द्र॑स्य॒ वर्मा॑सि ।
तं त्वा॒ प्र प॑द्ये तं त्वा॒ प्र वि॑शामि॒ सर्व॑गुः सर्व॑पूरुषः
सर्वा॑त्मा॒ सर्व॑तनूः स॒ह यन्मेऽस्ति॒ तेन॑ ॥ १३ ॥
इन्द्र॑स्य॒ वरू॑थमसि ।
तं त्वा॒ प्र प॑द्ये तं त्वा॒ प्र वि॑शामि॒ सर्व॑गुः सर्व॑पूरुषः
सर्वा॑त्मा॒ सर्व॑तनूः स॒ह यन्मेऽस्ति॒ तेन॑ ॥ १४ ॥

अर्थ— (*इन्द्रस्य गृहः असि*) तू इन्द्रका घर है । मैं (*सर्व-गुः*) सर्व प्रकारकी गतिसे युक्त, (*सर्व-पूरुषः*) सब पुरुषार्थ शक्तिसे युक्त, (*सर्व-आत्मा*) सर्व आत्मबलसे युक्त, (*सर्व-तनूः*) सब शारीरिक शक्तियोंसे युक्त (*यत् मे अस्ति तेन सह*) जो कुछ मेरा है, उसके साथ (*तं त्वा प्रपद्ये*) उस तुझको प्राप्त करता हूं और (*तं त्वा प्रविशामि*) उस तुझमें प्रविष्ट होता हूं ॥ ११ ॥

(**इन्द्रस्य शर्म असि**) इन्द्रका तू आश्रयस्थान है । मैं (**सर्व—गु०**) सब गति, पुरुषार्थशक्ति, आत्मिकबल और शारीरिकशक्तिसे युक्त होकर तथा जो भी कुछ मेरे पास है उसके साथ तुझे प्राप्त होता हू, और तुझमें आश्रय लेता हूं ॥ १२ ॥

(**इन्द्रस्य वर्म असि**) इन्द्रका कवच तू है । मैं सब गति, पौरुषशक्ति, आत्मिक और शारीरिक बलसे युक्त होकर तथा जो कुछ मेरे पास है उसको लेकर तुझे प्राप्त होता हू और तेरे आश्रयसे रहता हू ॥ १३ ॥

(**इन्द्रस्य वरूथं असि**) इन्द्रकी ढाल तू है । मैं सब गति, पौरुषशक्ति, तथा आत्मिक और शारीरिक बलके साथ तथा जो कुछ मेरा है, उस सबके साथ तुझे प्राप्त होता हूं और तेरे आश्रयसे रहता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ— सब गति, सब पुरुषार्थशक्ति, सब आत्मिकबल और संपूर्ण शारीरिकबलोंके साथ तथा और भी जो कुछ मेरा कहने योग्य है उसको साथ लेकर, प्रभुके शरणमें आता हूं, उसके घरमें प्रविष्ट होता हूं और वहां ही रहता हू ॥ *वही हम सबका* सच्चा घर और सबके लिये सुरक्षित स्थान है ॥ ११—१४ ॥

ब्रह्म-प्राप्तिका मार्ग।

इस सूक्तका पहिला मंत्र (कां० ४।१।१) चतुर्थ काण्डके प्रथम सूक्तका पहिला मंत्र है, तथा इस सूक्तका द्वितीय मंत्र चतुर्थ (कां० ४।७।७) काण्डमें सप्तम सूक्तका सप्तम मंत्र है। इन मंत्रोंके अर्थ, भावार्थ और स्पष्टीकरण पाठक वहां देखें।

यद्यपि द्वितीय मंत्र कां० ४।७।७ में है, तथापि यह मंत्र वहां विष दूर करनेके औषधि प्रकरणमें है। इसलिये प्रकरणानुसार वहां औषधि प्रकरणका सामान्य अर्थ बता रहा है। परन्तु यहां ब्रह्मविद्या और आत्मोन्नतिका प्रकरण है, इस प्रकरणमें इसका अर्थ इसी प्रकरणके अनुकूल होगा और ऐसा करनेके लिये शब्दोंके वेहां अर्थ लेकर अर्थ देखा जायगा। क्योंकि यह सामान्य अर्थवाला मंत्र है और ऐसे मंत्र भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें भी आकर वहांके योग्य अर्थ बता सकते हैं। जैसा किसीने अपने अनुयायियोंसे कहा कि " तुम तैयार हो जाओ " तो यह सामान्य निर्देश होनेसे हरएक शाखाके कार्यकर्ता अपने अपने कर्तव्यकर्ममें तैयार होनेका आशय ले सकते हैं, और इस आदेशानुसार ब्राह्मण अपने ज्ञानकर्ममें, क्षत्रिय अपने युद्धकर्ममें, वैश्य अपने व्यापारव्यवहारके कार्यमें तथा शूद्र अपनी कारीगरीके कार्यमें अपनी सिद्धता कर सकता है। एक ही सामान्य आज्ञा भिन्न भिन्न श्रोताओंमें भिन्न भिन्न कार्यके लिये प्रेरणा कर सकती है। इसी प्रकार इस मंत्रकी सामान्य आज्ञा पूर्वोक्त स्थान (कां० ४।७।७) पर औषधिप्रयोगके कर्मकी प्रेरणा देती है और यहां उपासनायोगकी प्रेरणा देती है। पाठक इसका विचार करके इस सामान्य मंत्रका महत्व जान सकते हैं।

प्रथम मंत्रका स्पष्टीकरण चतुर्थ काण्डके सू. १ मं. १ की व्याख्यामें पाठक देख सकते हैं। इस प्रथम मंत्रका यह आशय है— " **ब्रह्म सबसे पहिले प्रकट हुआ है, उसके प्रकाशकी जहां मर्यादा होती है, वहां देखकर ज्ञानी इस ब्रह्मको जानता है। यही ज्ञानी सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंका अद्भुत तेज देखकर और उनको उपमा देने योग्य अनुभव करके, इस हृदयके अनुसंधानसे मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त करके उसका उपदेश कर सकता है। (मं० १)** "

जिस प्रकार सूर्यका तेज किसी पदार्थपर गिरनेसे, अर्थात् उस तेजकी मर्यादा होनेसे, दिखाई देता है, मर्यादा न हुई तो सूर्यका तेज नहीं दिखाई देता; इसी प्रकार परमात्माके परम तेजका अनुभव भी सूर्यादि विविध केन्द्रोंमें उसकी मर्यादा होनेसे ही होता है अर्थात् यदि जगत् न बने तो परमात्माके अद्भुत सामर्थ्यका अनुभव कैसे हो सकता है? परमात्मा परम तेजस्वी है, सबसे पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है, यह सब सत्य है तथापि सूर्यचन्द्रादि केन्द्रोंमें जब उसके तेजकी अन्तिम सीमा बनती है, तब ही उसके सामर्थ्यका पता लग सकता है। जिस प्रकार घरके कमरेमें चमकनेवाले दीपका प्रकाश कमरेकी दीवारोंपर गिरनेसे नजर आता है। यदि दीवारोंकी रुकावट न होगी, तो नजर नहीं आवेगा। इसी प्रकार विश्वके कमरेमें परमात्माका दीप चमक रहा है, अग्नि आदि देवतारूपी दीवारोंपर उसकी किरण पडनेसे जो मर्यादा उत्पन्न होती है, उस मर्यादासे उसकी शक्तिका ज्ञान होता है। ब्रह्मप्राप्तिके मार्गकी यह एक सीढी है।

जगत्में परमात्माकी शक्तिका कार्य देखकर सदसत्के मूल आदि कारणको जानना चाहिये। ज्ञानी, कवि, सन्त ही इस प्रकार परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके संबंधका सत्य उपदेश कर सकते हैं।

यह प्रथम मंत्रका आशय है। इसके पश्चात् द्वितीय मंत्रमें कहा है कि— " **पूर्व कालके ज्ञानी महापुरुषोंने जिस प्रकार प्रशस्ततम कर्म किये थे, उसी प्रकार तू भी प्रशस्ततम कर्म कर, अपने बालबच्चों और वीरोंको बचा और उनकी उन्नति कर, यही तुम्हें कहना है। (मं० २)** " तुम्हारे सन्मुख वही आदर्श रहे, जो कि प्राचीन कालके श्रेष्ठ पुरुषोंने अपने सामने रखा था। इसी प्रकार प्राचीन कालके श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन चरित्र भी तू अपने सन्मुख रख और उनके समान बननेका यत्न कर। उन्होंने परमार्थसाधन करते हुए भी संसारयात्रा किस प्रकार चलाई, परमात्माकी भक्ति करते हुए ही अपने बालबच्चोंकी उन्नति किस प्रकार की, अपनी संतानोंको विनाशसे कैसे बचाया, इत्यादि बातोंको उनके चरित्रोंमें देखकर उन बातोंको अपनी जीवनीमें ढाल और उनके समान आचरण करके अपनी आत्मिक उन्नतिका साधन कर। यह उपदेश इस द्वितीय मंत्रद्वारा मिलता है। यह सामान्य व्यवहारका मंत्र वैद्यक प्रकरणमें वैद्यका व्यवहार उत्तम करनेकी प्रेरणा दे रहा है और यहां आत्मोन्नतिके प्रकरणमें संसारके साथ परमार्थका साधन करनेकी प्रेरणा दे रहा

है। पाठक इन सामान्य मंत्रोंका महत्व यहां देखें और वेदकी इस शैलीका अनुभव करें।

इन दो मन्त्रोंका इस प्रकार आशय देखनेके पश्चात् अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं।

स्वर्गके महन्तोंकी घोषणा।

जिनको स्वर्गसुखका अनुभव प्राप्त हुआ है, वे महन्त जनताको जो कल्याणका उपदेश करते हैं, वह उपदेश इस तृतीय मंत्रमें कहा है—

ते अस्रध्नतः मधुजिह्वाः सहस्रधारे दिवो नाके समस्वरन्॥ (मं. ३)

"वे स्थितप्रज्ञ, मधुरभाषण करनेवाले, सहस्रधाराओंसे जहां अमृत प्राप्त होता है उस द्युलोकके स्थानका अनुभव लेनेवाले सन्त महन्त एक स्वरसे यह उपदेश देते हैं।" अर्थात् वे लोग जनताकी भलाईके लिये एक स्वरसे निम्नलिखित उपदेश करते हैं।

तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति।
सेतवे पदे पदे पाशिनः सन्ति॥ (मं. ३)

"उस परमात्माके दुष्टोंको पाशोंसे बांधनेवाले दूत आंख कभी मूंदते नहीं, अर्थात् लोगोंके पुण्यपापोंको अपने खुले आंखोंसे सदा देखते रहते हैं। पापियोंको पाशोंसे बांधनेके लिये अपने पाश लेकर सब जगत्में हरएक स्थानमें सदा तैयार रहते हैं।" अर्थात् इनकी दृष्टिसे कोई पापी कभी बच नहीं सकता, हरएक पापीको उसके पापके अनुसार दण्ड देनेके लिये ये दूत सदा तैयार रहते हैं और अवश्य ही उस पापीको बांध देते हैं। अतः कोई पापी यह न समझे कि मैं पाप करके परमात्माके दण्डसे बच जाऊंगा। पद पद पर उसके दूत आंख खोलकर खडे हैं, वे तत्काल पापीको पकडते हैं। यहां तक इन दूतोंका प्रबंध पूर्ण है कि, पकडा गया पापी कभी कभी अपने आपको स्वतंत्र भी समझता है, *परन्तु वह उस समय* पूर्णरीतिसे बंधा हुआ होता है। परमात्माका इतना अद्भुत प्रबंध है, इसलिये *सब मनुष्योंको* उचित है कि वे उचित धर्मानुकूल व्यवहार दक्षताके साथ करनेका यत्न करें। पापसे *बचें और इस प्रकारके सावधान* आचरणसे परमात्माके इन गुप्तचरोंसे बच जांय। इसका बिलकुल संभव नहीं है कि कोई छिपकर पाप करे और वह छिपनेसे बच जाय। इस कारण विशेष सावधानताकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य पुण्यमार्ग परसे जानेवाला होगा तो उसकी उत्तम रक्षा येही ईश्वरके दूत उतनी ही सावधानीसे करते हैं, इसलिये पुण्यात्माको किसीसे डर नहीं होता।

जो पाठक इस मंत्रका उत्तम विचार करेंगे उनका आचरण अवश्य ही सुधर जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। यदि आत्मिकशक्तिका विकास करनेकी इच्छा पाठकोंमें होगी, तो उनके लिये परिशुद्ध आचरणकी अत्यंत आवश्यकता है, यह उपदेश इस मंत्र द्वारा उत्तम रीतिसे मिलता है।

शत्रुको भगाना।

चतुर्थ मंत्रमें शत्रुका लक्षण कहकर ऐसे शत्रुको दूर करनेका उपदेश किया है। 'वृत्र' शब्द यहां शत्रु वाचक है, जो घेरता है, चारों ओरसे प्रतिबंध उत्पन्न करता है, विशेषतः (**वाज-सातये**) अन्नदान आदि परोपकारके कृत्योंमें जो रुकावटें खडी करता है वह शत्रु है। पाठक विचार करेंगे तो उनकी रुकावट करनेवाले उनके शत्रु कौन हैं इसका पता लग जायगा। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक अथवा सांघिक रुकावटें उत्पन्न करनेवाले अनेक शत्रु विद्यमान हैं। इनको दूर करके अपना उन्नतिका मार्ग खुला करना आवश्यक है। ऐसे शत्रुओंको (**परि सु प्र धन्व**) सब ओरसे उत्तम प्रकार विशेषरीतिसे भगा दो। अपने पास ठहरने न दो। शत्रुपर चढाई भूमिकी ओरसे तथा समुद्रकी ओरसे भी होती है। तथा ऊपरसे भी हो सकती है। कोई अन्यरीतियां भी होती होंगी। यहां तात्पर्य रीतियोंके कहनेसे नहीं है। जो भी रीति हो उसका अवलंबन करके शत्रुको दूर भगाया जावे, और अपना उन्नतिका मार्ग प्रतिबंधरहित बनाया जावे। प्रतिबंधरहित होना ही मुक्ति है। उसका मार्ग इस मंत्रने बताया है। यह तो आध्यात्मिक मुक्तिके लिये और सामाजिक तथा राष्ट्रीय मुक्तिके लिये भी अत्यंत उपयोगी है।

सिद्धिका मार्ग।

शत्रुओंका प्रतिबंध दूर करने, अपना मार्ग प्रतिबंध रहित करने और स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश इन चार मंत्रोंमें पूर्वोक्त प्रकार किया है। अब विचार यह है कि इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस शंकाके उत्तरमें कहा है—

एतेन नु अरासीः। (मं० ५)
एतेन अव अरासीः। (मं० ६)
एतेन अप अरासीः। (मं० ७)

"इसी मार्गसे तू सिद्धिको प्राप्त करेगा" अर्थात् पूर्वोक्त चार मंत्रोंमें जो धर्ममार्ग कहा है उसका आचरण करनेसे ही

मनुष्योंको सिद्धि मिल सकती है । चार मंत्रोंमें जो धर्म कहा है उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है- (१) परमेश्वरकी भक्ति करना, (२) श्रेष्ठोंका आदर्श अपने सन्मुख रखना, (३) पापका भय धारण करना, (४) और प्रतिबंधक विघ्न अथवा शत्रु दूर करना । " ये उन्नतिके चार सूत्र हैं । इनका आचरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है । इस उन्नतिमें एक बातकी आवश्यकता है और वह है " स्वाहा " करना । स्वाहा करनेका अर्थ अब देखिये--

स्वा–हा करो ।

इस सूक्तमें मं ५ से ७ तकके तीन मंत्रोंमें तथा दसवें मंत्रमें मिलकर चार चार बार ' स्वाहा ' शब्द आया है । इसलिये इस सूक्तमें चार बार स्वाहा आनेसे इसका महत्व इस सूक्तोक्त सिद्धिमें अधिक है। इसलिये ' स्वाहा ' शब्दका अर्थ देखना चाहिये ।

(स्व) अपने सर्वस्वको (हा) त्याग देनेका नाम स्वाहा है । अपने अधिकारमें जो तन, मन, धन आदि है उसका सब जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम स्वाहा करना है अपनी शक्ति केवल अपने भोग बढानेमें ही खर्च न करते हुए संपूर्ण जनताकी भलाई करनेके प्रशस्ततम कार्य करनेमें उसका व्यय करना स्वाहा शब्दसे बताया जाता है । इसलिये यज्ञके हवनमें स्वाहा शब्दका उच्चार होता है । इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें दी हुई आहुति दूसरोंकी उन्नतिके लिये दी है, उससे मैं अपने भोग बढाना नहीं चाहता । यही यज्ञकी शिक्षा है । द्रव्ययज्ञ, विद्यायज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनंत यज्ञ हैं, इनका अर्थ हो यह है कि द्रव्य ज्ञान आदिका परोपकारार्थ समर्पण करना और उनको केवल अपने भोग बढानेके लिये न लगाना। परोपकारके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेका नाम स्वाहाकार है। यह स्वाहाकार करनेसे ही इस सूक्तमें कही परम उच्चसिद्धि प्राप्त हो सकती है । यह स्वाहाकार जितना होगा उतनी सिद्ध होगी । सिद्धिके लिये इस स्वाहाकारकी अत्यन्त आवश्यकता है । मं. ५–७ तकके तीन मंत्रोंमें तीन बार लगातार कहनेसे इस आत्मसमर्पणका अत्यंत महत्त्व सिद्ध होता है। पाठक भी यहां देख सकते हैं कि जगत्‌में भी स्वार्थत्याग करनेवालेकी जैसी विशेष प्रतिष्ठा होती है, वैसी स्वार्थी मनुष्यकी नहीं होती । अर्थात् स्वार्थत्याग जैसे जगत्‌के व्यवहारमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है, उसी प्रकार परमार्थसाधनके लिये भी आवश्यक है ।

सोम और रुद्र ।

जगत्‌में शांति करनेवाली और उग्रता बढानेवाली दो शक्तियां हैं, इनके ' सोम-रुद्र, अग्नि-सोम, इन्द्र-सोम ' ये नाम वेदमें आये हैं। सोमशक्ति जगत्‌में शान्ति करनेवाली है और रुद्रशक्ति उग्रता बढानेवाली है । प्रत्येक स्थानमें ये दोनों शक्तियां कार्य करती हैं, कहीं कदाचित् एक न्यून होती है और दूसरी प्रबल होती है उसका प्रभाव होता है, अर्थात् यदि किसीमें सोमशक्तिका प्रभाव अधिक हुआ तो वह पुरुष, शान्त, गम्भीर, विवेकी विचारी होगा, तथा किसीमें रुद्रशक्तिकी प्रधानता हुई तो वह पुरुष शूर वीर, युद्धप्रिय, क्रूर अथवा कठोर होगा । इस प्रकार मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखनेसे पता लग जाता है कि इसमें कौनसी शक्ति विशेष प्रबल है और कौनसी न्यून है ।

जिस प्रकार व्यक्तिमें सोम अथवा रुद्र शक्तिकी न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार समाजमें अथवा जातिमें सोम या रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है । इसी कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय ये वर्ण क्रमशः शांतस्वभाव तथा उग्रस्वभाव हुए हैं । ब्राह्मणकी शान्ति और क्षत्रियकी उग्रता उस कारण ही सुप्रसिद्ध है । अतः सोमारुद्रौ इस देवता वाचक शब्दसे आदर्श ब्राह्मण क्षत्रियोंका बोध होता है ।

मं. ५–७ तकके तीनों मंत्रोंमें सोमारुद्रौ देवता है । ' ये दोनों देवता हमें सुखी करें ' ऐसी प्रार्थना इन तीनों मंत्रोंमें है। व्यक्तिके अंदर जो शान्ति और उग्रता होती है वह उसके हितके लिये सहायक होवे, अर्थात् मनुष्यकी शान्ति उसको शिथिल बनानेवाली न हो और मनुष्यकी उग्रता उसको हिंसक न बनावे, यह आशय यहां लेना उचित है । समाजमें भी शान्तिप्रिय ब्राह्मण और युद्धप्रिय क्षत्रिय परस्पर सहायकारी होकर परस्परकी उन्नति करते हुए राष्ट्रका उद्धार करनेवाले हों। इस प्रकार मनुष्यकी उन्नति होती रहे और सबका सुख बढता रहे और कोई हीन और दीन न बने । पूर्वोक्त कही रीतिके अनुसार मनुष्य त्यागभावसे स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण करता हुआ और शान्ति तथा उग्रतासे योग्य सहायता लेता हुआ सिद्धिको प्राप्त करे । यह आशय इन तीन मंत्रोंका है । पाठक इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आ सकती है कि किस प्रकार स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पणपूर्वक आत्मोन्नतिके मार्गका अवलंबन करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त हो सकता है । इन तीनों मंत्रोंका आशय ही भिन्न शब्दोंसे अष्टम मंत्रमें कहा है । इस अष्टम मंत्रके तीन भाग हैं —

तीन उपदेश ।

१ अवद्यात् दुरितात् अस्मान् मुमुक्तम् । (मं. ८)

२ यज्ञं जुषेथाम् । (मं. ८)

३ अस्मासु अमृतं धत्तम् । (मं. ८)

" (१) निंद्य पापाचरणसे हमें मुक्त कर, (२) यज्ञका सेवन कर, (३) हममें अमृतको धारण कर। " ये तीन उपदेश अष्टम मन्त्रमें हैं। पापाचरणसे दूर रहना, आत्मसमर्पण-रूप यज्ञ करना और अन्तमें अमृतको प्राप्त करना, ये तीन उपदेश हैं, जो पूर्वके मन्त्रोंका सार है। इस समय तक जो उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं उनका सार इन तीन मन्त्रभागोंमें आया है। " पापसे बचना, सत्कर्म करना, और मृत्युका दूर करके अमृतको प्राप्त करना " सब धर्मके नियम इन तीन मन्त्रभागोंमें संमिलित हुए हैं। अमृत प्राप्त करना यह मनुष्योंका साध्य है, उसका साधन यज्ञ अर्थात् सत्कर्म करना है और पापाचरण न करना यह निषिद्ध कर्मका निषेध है। इस प्रकार यह प्रवृत्त यज्ञ किंवा त्रिकर्म करना है। यदि और कुछ सिद्ध न हुआ तो ये तीन उपदेश मनुष्यके मनमें स्थिर रहे तो उसका बेडा पार हो सकता है। कितने व्यापक महत्त्वके उपदेश कितने थोडे शब्दोंमें बेदने यहां दिये हैं, इसका विचार पाठक करेंगे, तो उनको इन उपदेशोंका महत्त्व समझमें आ सकता है।

शस्त्रोंके शस्त्र।

शत्रुको दूर करनेका उपदेश इससे पूर्व कई बार किया है। उसका पालन करनेके लिये शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्रास्त्र बढानेकी आवश्यकता होती है। हमारे शस्त्रास्त्र देखकर शत्रु भी अपने शस्त्रास्त्र बढाता है। इस प्रकार दोनों ओरके शस्त्रास्त्र बढने लगे, तो वे इतने बढ जाते हैं कि उसकी कोई परिमिति नहीं रहती। इसके पश्चात् जो अत्यधिक शस्त्रास्त्रोंसे सज्जित राष्ट्र होता है, उसका नियमन किस रीतिसे किया जाय; यह प्रश्न विचारशील मनुष्योंके सन्मुख उपस्थित होता है, इस प्रश्नका उत्तर नवम मंत्रने दिया है—

चक्षुषः मनसः ब्रह्मणः तपसः हेतिः मेन्याः मेनिः।
म (९)

' आंख, मन, ज्ञान और तपके जो शस्त्र हैं वे शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं। ' अर्थात् शस्त्रोंसे कई गुणा अधिक शक्ति इनमें है। इनमें जो आत्मिकबल होता है वह शस्त्रास्त्रोंके बलके कई गुणा अधिक समर्थ होता है। इसलिये शस्त्रास्त्रोंके पाशवीबलका प्रतीकार नेत्र-मन-ज्ञान-तपरूपी आत्मिक बलवाले आध्यात्मिक शक्तियोंसे किया जा सकता है। केवल दृष्टिक्षेपसे, केवल मनकी इच्छासे, केवल ज्ञानके योगसे अथवा तपके प्रभावसे पाशवी शस्त्रोंका प्रतीकार किया जा सकता है। लोहेके शस्त्रास्त्र क्षत्रियके हैं और ये आत्मिक बल ब्राह्मणके होते हैं। विश्वामित्रके पाशवी शस्त्र तपस्वी वसिष्ठकी इच्छाशक्तिके सामने व्यर्थ सिद्ध हुए, यह ऐतिहासिक कथा यहां देखने योग्य है।

पाशवी बलका आत्मिक बलसे प्रतिकार।

पाशवी बल जिसके पास बढता है, वह अपने सुखको बढानेके लिये दूसरोंपर अत्याचार करता है, इस कारण वह,(अघ +आयुः) जिसकी आयु पापमय हो चुकी होती है, ऐसा पापी बनता है। जिस प्रकार एक पापी व्यक्ति दूसरोंपर अत्याचार करता है उसी प्रकार पाशवी शस्त्रास्त्रोंसे युक्त एक पापी राष्ट्र दूसरोंपर भी अत्याचार करता है, इसलिये उसको भी ' अघ-आयु ' अर्थात् पापी जीवनवाला राष्ट्र कहते हैं, उसका वर्णन यह है-

ये अस्मान् अभ्यघायन्ति। (म ९)
यो अघायुः अस्मान् अभिदासात्। (म १०)

'जो हमें सब ओरसे पापाचरणसे कष्ट देते हैं। जो पापी हमें दास करना चाहता है अथवा हमारा सर्वस्व नाश करना चाहता है।' इन मंत्र भागोंमें पाशवी अत्याचारका स्वरूप बताया है, (१) एक तो यह है कि दूसरेका घातपात पाप पुण्यका विचार न करते हुए करना, (२) और दूसरा यह है दूसरोंका सर्वस्व नाश करना। यह पाशवी अत्याचारका स्वरूप है। जगत्के अन्दरकी सब गुलामी और लोगोंके सब दुःख इसीके कारण हैं। पाठक जगत्के इतिहासमें देखेंगे, तो उनको मालूम होगा कि एक बलवाला दूसरे निर्बलको अपने पेटकी पूर्तिके लिये खा रहा है।' यही पाशवी अत्याचार है। इस बलवान्के शस्त्रोंको निर्बल करनेका उपाय केवल आत्मिक बल ही हैं—

चक्षुषा मनसा चित्त्या आकूत्या मेन्या तान्
अमेनीन् कृणु। (म १०)
ब्रह्मणा तपसः च मेन्या ते अमेनयः सन्तु।
(म ९)

'आंख, मन, चित्त और संकल्परूपी शस्त्रसे उन अत्याचारी शत्रुओंको शस्त्र रहित कर। ज्ञान और तपके शस्त्रसे उनको शस्त्रहीन कर।' अर्थात् पाशवी शस्त्रोंका सामना इन आत्मिक बलसे कर। अपने आंख, मन, चित्त, संकल्प, ज्ञान और तप ये ही आत्माके शस्त्र हैं। इनको तेजस्वी बना और इनसे तू लोहेके शस्त्रोंका प्रतिकार कर। तुम्हारे अन्दर ये आत्मिकबल जितने प्रमाणसे बढेंगे, उतने ही प्रमाणसे शत्रुके पाशवी बल सत्वहीन हो जायेंगे। पाशवी शक्तिवालोंका सामना करनेका यही सनातन मार्ग है। इसी मार्गके आचरणसे वसिष्ठने विश्वामित्रका और प्रल्हादने हिरण्यकशिपुका सामना किया था। इस आत्मिकबलके मार्गसे अन्तमें निःसंदेह विजय होगी। सबसे अधिक प्रभावशाली यह आत्मिकबल है। जो पाशवी बलवाले

होते हैं वे अपने ले हृदयोंके घमडसे अपना आत्मिकबल बढा-नेका यत्न नहीं करते हिंसा व अत्याचार प्रवृत्तिके कारण अपना आत्मिकबल बढा नहीं सकते। इसलिये अनत्याचारी शान्ति-पूर्ण अहिंसामय आत्मिक बलके मार्गपरसे आनेवाले लोग जितना अपना मर्म आक्रमण करेंगे; उतना उनका विजय ही होता रहता है, क्योंकि उनके शत्रु इस मार्गमें आते नहीं, और यदि इस आत्मिकबलके मार्गपर वे आगये, तो भी उसमें इन ही आत्मिक उन्नतिवालोंकी ही जीत होगी। इसका कारण यह है कि यदि इस मार्गपर चलनेके लिये वे शत्रु अहिंसामय अनत्या-चारी बने, तो दु खका मूल ही नष्ट हो गया और फिर झगडेका कारण ही नहीं रहा। जैसा वसिष्ठका आत्मिक बल देखकर विश्वामित्रने अत्याचारी क्षात्रबलका त्याग करके शांतिमय अन-त्याचारी ब्राह्मबलको स्वीकार किया। तत्पश्चात् दोनोंमें झगडा होनेका कुछ भी कारण न रहा। इस प्रकार आत्मिकबलवालोंकी सदा जीत ही होती रहती है।

इस आत्मिकबलद्वारा पाशवी अत्याचारोंको रोकनेके मार्गमें 'स्वा-हा' अर्थात् आत्मसर्वस्वके समर्पण करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है, इसीलिये दशम मंत्रमें पुनः 'स्वाहा' शब्दद्वारा आत्मत्यागका उपदेश दिया है। पाठक यहां स्मरण रखें, कि अत्यत स्वार्थत्यागके बिना यह आत्मशुद्धि और आत्म-बलके मार्गपरसे चलना असमव है। इस आत्मसर्वस्वके समर्पणका स्वरूप देखिये—

आत्मसमर्पण

'अपना कहने योग्य जो भी कुछ हो उसका सत्कार्यमें समर्पण करना आत्मसमर्पण कहलाता है।' इसका वर्णन इस प्रकार है—

यत् मे अस्ति तेन सह, सर्वतनूः, सर्वगुः, सर्वात्मा, सर्वपूरुषः त्वा प्रपद्ये, त्वा प्रविशामि ॥ ११-१४ ॥

'जो कुछ मेरा है उसको लेकर तथा सब शरीर, सब इंद्रिय, सब आत्मशक्तियां, सब पुरुषार्थ शक्तियां लेकर तुझे प्राप्त होता हू और तुझमें प्रविष्ट होता हूं।'

इस मंत्रमें स्वार्थसमर्पणकी परम सीमा वर्णन की है। जो कुछ मेरा इस जगत्में है उसको भी परमार्थकी सिद्धता करनेके लिये समर्पण करता हू और उसके साथ मेरा शरीर, मेरे इंद्रिय, मेरा मन आदि शक्तियां, और सब पुरुषार्थकी शक्तियां भी उसी परम कार्यके लिये समर्पित करता हूं। अर्थात् जो कुछ मेरा कहने योग्य है, वह सब ध्येयकी सिद्धिके लिये समर्पित करता हू। यह 'स्वाहा' शब्दका स्पष्ट अर्थ इन मंत्रोंद्वारा बताया गया है। इन मंत्रोंको देखनेसे आत्मसमर्पणका अर्थ कितना व्यापक है, इस बातका पता लग सकता है। इस प्रकारका आत्मसमर्पण जो कर सकते हैं वे ही योगी अन्तमें बंध मुक्त होकर अमृत प्राप्त कर सकते हैं, जिनको किसी भी प्रकारकी पाशवी शक्तिसे बाधा नहीं आ सकता।

इस रीतिसे इस सूक्तमें आत्मोन्नतिक मार्गका उपदेश दिया है, इस मार्गसे आत्म शुद्धि होकर वैयक्तिक, सामाजिक, राज-कीय और पारमार्थिक उन्नतिका साधन मनुष्य कर सकता है। यह सूक्त कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। जो पाठक इस दर्शायी रीतिसे इस सूक्तका अधिक मनन करेंगे, वे अपने उद्धारका उत्तम बोध प्राप्त कर सकते हैं।

ज्येष्ठ ब्रह्मका वर्णन।

काण्ड १०, सूक्त ८

(ऋषि — कुत्सः। देवता— आत्मा।)

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

अर्थ— (यः भूतं भव्यं च) जो भूतकालके और भविष्यकालके तथा वर्तमानकालके भी (यः सर्वं अधितिष्ठति) जो सबपर अधिष्ठाता होकर रहता है, (यस्य च केवलं स्वः) जिसका केवल प्रकाशमय स्वरूप है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ १ ॥

स्कम्भेनेमे विष्टंभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत् ॥ २ ॥
तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्यन्या अर्कमभितोऽविशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥ ३ ॥
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥
इदं सवितर्वि जानीहि षड्यमा एक एकजः ।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥ ५ ॥
आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम् ।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत्प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥
एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद्बभूव ॥ ७ ॥

अर्थ— (स्कम्भेन वि-स्तभिते) इस सर्वाधार परमात्माके द्वारा थामे हुए (द्यौ च भूमि च तिष्ठत) द्युलोक और भूमि ये ठहरे हैं, (यत् प्राणत् यत् निमिषत् च) जो प्राण धारण करता है और जो आँखें झपकाता है, (इदं सर्वं आत्मन्वत् स्कंभे) यह सब आत्मासे युक्त विश्व स्कम्भमें है ॥ २ ॥

(तिस्र ह प्रजा अत्यायं आयन्) तीन प्रकारकी प्रजाएं अतिक्रमणको प्राप्त होती हैं, (अन्या अर्कं अभितः नि अविशन्त) एक प्रकारकी— सत्त्वगुणी प्रजा— सूर्यको प्राप्त होती है, दूसरा (बृहन् ह रजस· विमान तस्थौ) बडे रजोलोकको मापती हुई रहती है, और तीसरा (हरिणी हरितः आविवश) हरण करनेवाली हरिद्वर्णको प्रविष्ट होती है ॥ ३ ॥

(द्वादश प्रधय) बारह प्रधियां हैं, (एकं चक्रं) एक चक्र है (त्रीणि नभ्यानि) तीन नाभियां हैं, (क· उ तत् चिकेत) कौन भला उसे जानता है ? (तत्र त्रीणि शतानि षष्टि· च शङ्कव आहता) उस चक्रमें तीन सौ साठ खूटियां लगायी हैं और उतने ही (खीला· , कील लगाये हैं, (ये अविचाचला) जो हिलनेवाले नहीं है ॥ ४ ॥

हे (सवितः) सविता ! (इदं विजानीहि) यह तू जान कि यहां, षट् यमा· एक एकजः) छः जोडे हैं और एक अकेला है । (य· एषां एकज एकः) जो इनमें अकेला एक है (तस्मिन्) उसमें (ह आपित्वं इच्छन्ते) निश्चयसे अपना सबन्ध जोडनेकी इच्छा अन्य करते हैं ॥ ५ ॥

(गुहा जरन् नाम) गुहामें सचार करनेवाला जो (महत् पद) बडा प्रसिद्ध स्थान है, वह (आविः सन्निहित) वह प्रकट होनेसे सब सनिध भी है, जो (एजत् प्राणत्) कांपनेवाला और प्राणवाला है, वह (तत्र इदं सर्वं आर्पितं प्रतिष्ठित) वही उस गुहामें समर्पित और प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

(एक चक्रं एकनेमि वर्तते) एक चक्र एक ही मध्यनाभिवाला है, जो (सहस्र अक्षर प्र पुर· नि पश्चा) हजारों आरोंसे युक्त आगे और पीछे होता है । (अर्धेन विश्व भुवन जजान) आधेसे सब भुवन बनाये हैं और (यत् अस्य अर्धं क तत् बभूव) जो इसका आधा भाग है, वह कहां रहा है ॥ ७ ॥

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति ।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥
तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥
या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः ।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥ १० ॥
यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत् ।
तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥
अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥
प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥

अर्थ— (एषां पञ्चवाही अग्र वहति) इनमें जो पांचोंसे उठायी जानेवाली है, वह अन्ततक पहुंचती है। (प्रष्टयः युक्ताः अनुसंवहन्ति) जो पीछे जोते हैं, वे ठीक प्रकार उठा रहे हैं। (अस्य: अयातं ददृशे न यातं) इसका न चलना ही दीखता है। परंतु चलना नहीं दीखता। तथा (परं नेदीयः अवरं दवीयः) बहुत दूरका बहुत समीप है और जो पास है, वही अति दूर है ॥ ८ ॥

(तिर्यग्बिलः ऊर्ध्वबुध्नः चमसः) तिरछे मुखवाला और ऊपर पृष्ठभागवाला एक पात्र है (तस्मिन् विश्वरूपं यशः निहितं) उसमें नाना रूपवाला यश रखा है। (तत् सप्त ऋषयः साकं आसत) वहां साथ साथ सात ऋषि बैठे हैं (ये अस्य महतः गोपाः बभूवुः) जो इस महानुभावके संरक्षक हैं ॥ ९ ॥

(या पुरस्तात् युज्यते या च पश्चात्) जो आगे और पीछे जुडी रहती है, (या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः) जो चारों ओरसे सब प्रकार जुडी रहती है। (यया यज्ञः प्राङ् तायते) जिससे यज्ञ पूर्वकी ओर फैलाया जाता है, (तां त्वा पृच्छामि) इस विषयमें मैं तुझे पूछता हूं (ऋचां सा कतमा) ऋचाओंमें वह कौनसी है ? ॥ १० ॥

(यत् एजति, पतति, यत् च तिष्ठति) जो कांपता है, गिरता है और जो स्थिर रहता है, (यत् प्राणत् अप्राणत् निमिषत् च भुवत्) जो प्राण धारण करनेवाला, प्राणरहित और जो निमेषोन्मेष करता है और जो होता है (तत् विश्वरूपं पृथिवीं दाधार) वह विश्वरूपी सत्त्व इस पृथ्वीका धारण करता है (तत् संभूय एक एव भवति) वह सब मिलकर एक ही होता है ॥ ११ ॥

(अनन्तं पुरुत्रा विततं) अनन्त चारों ओर फैला है, (अनन्तं अन्तवत् च आ समन्ते) अनन्त और अन्तवाला ये दोनों एक दूसरेसे मिले हैं। (अस्य भूत उत भव्य ते विचिन्वन्) इसके भूतकालीन और भविष्यकालीन तथा वर्तमानकालीन सब वस्तुमात्रके संबंधमें विवेक करता हुआ और पश्चात् (विद्वान्) सबको जानता हुआ, (नाकपालः चरति) सुखपालक चलता है ॥ १२ ॥

(प्रजापतिः अदृश्यमानः गर्भे अन्तः चरति) प्रजापति अदृश्य होता हुआ गर्भके अन्दर संचार करता है, और (बहुधा विजायते) वह अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करता है, (यत् अस्य अर्धं सः कतमः केतुः) जो इसका दूसरा आधा है, उसकी निशानी क्या है ? ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् ।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥
दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते ।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ १५ ॥
यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥
ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ १८ ॥
सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति ।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन्न ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥
यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु ।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद्ब्राह्मणं महत् ॥ २० ॥

अर्थ— (कुम्भेन उदकं ऊर्ध्वं भरन्त उदहार्यं इव) जैसा घडेसे जलको भरकर ऊपर लानेवाला कहार होता है। (सर्वे चक्षुषा पश्यन्ति) सब आंखसे देखते हैं, (सर्वे मनसा न विदुः) परंतु सब मनसे नहीं जानते ॥ १४ ॥

(पूर्णेन दूरे वसति) पूर्ण होनेपर भी दूर रहता है, (ऊनेन दूरे हीयते) न्यून होनेपर भी दूर ही रहता है। (भुवनस्य मध्ये महत् यक्ष) विश्वके बीचमें बडा पूज्य देव है, (तस्मै राष्ट्रभृत बलिं भरन्ति) उसके लिये राष्ट्र-सेवक अपना बलिदान करते हैं ॥ १५ ॥

(यतः सूर्य. उदेति) जहांसे सूर्य उगता है और (यत्र च अस्तं गच्छति) जहां अस्तको जाता है, (तत् एव अहं ज्येष्ठं मन्ये) वही श्रेष्ठ है, ऐसा मैं मानता हू, (तत् उ किं चन न अत्येति) उसका अतिक्रमण कोई नहीं करता ॥ १६ ॥

(ये अर्वाङ् मध्ये उत वा पुराण) जो उरेवाले बीचके अथवा पुराने (वेदं विद्वांसं अभित वदन्ति) वेद-वेत्ताकी चारों ओरसे प्रशंसा करते हैं, (ते सर्वे आदित्यं एव परि वदन्ति) वे सब आदित्यकी ही प्रशसा करते हैं (द्वितीयं अग्निं) दूसरा अग्नि और (त्रिवृतं हस) त्रिवृत हसकी हा प्रशसा करते हैं ॥ १७ ॥

(अस्य हसस्य) इस हसके (स्वर्गं पततः) स्वर्गको जाते हुए (पक्षौ सहस्राह्ण्य वियतौ) इसके दोनों पक्ष सहस्र दिनोंतक फैले रहते हैं। (सः सर्वान् देवान् उरसि उपपद्य) वह सब देवोंको अपनी छातीपर लेकर (विश्वा भुवनानि संपश्यन् याति) सब भुवनोंको देखता हुआ जाता है ॥ १८ ॥

(सत्येन ऊर्ध्वः तपति) सत्यके साथ ऊपर तपता है, (ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति) ज्ञानसे नीचे देखता है। (प्राणेन तिर्यङ् प्राणति) प्राणसे तिरछा प्राण लेता है, (यस्मिन् ज्येष्ठं अधिश्रितं) जिसमें श्रेष्ठ ब्रह्म रहता है ॥१९॥

(य वै ते अरणी विद्यात्) जो उन दोंनो अरणियोंको जानता है, (याभ्यां वसु निर्मथ्यते) जिससे वसु निर्माण किया जाता है। (सः विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत) वह ज्ञानी ज्येष्ठ ब्रह्मको जानता है और (स महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बडे ब्रह्मको भी जानता है ॥ २० ॥

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्व१राभरत् ।
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥ २१ ॥
भोग्यो भवदथो अन्नमदद्बहु ।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥
सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥
शतं सहस्रमयुतं न्य१र्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम् ।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥ २४ ॥
बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥
इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २७ ॥

अर्थ— (अग्रे अपात् सं अभवत्) प्रारंभमें पादरहित आत्मा एक ही था (सः अग्रे स्वः आभरत्) वह प्रारंभमें स्वात्मानंद भरता रहा। वही (चतुष्पाद् भोग्यः भूत्वा) चार पाववाला भोग्य होकर (सर्वं भोजनं आदत्त) सब भोजनको प्राप्त करने लगा ॥ २१ ॥

(भोग्यः अभवत्) वह भोग्य हुआ (अथो बहु अन्नं अदत्) बहुत अन्न खाने लगा। (यः सनातनं उत्तरावन्तं देवं उपासाते) जो सनातन और श्रेष्ठ देवकी उपासना करता है। ॥ २२ ॥

(एनं सनातनं आहुः) इसे सनातन कहते हैं (उत अद्य पुनः नवः स्यात्) और वह आज ही फिर नया होता है। इससे (अन्यः अन्यस्य रूपयोः) परस्परके (अहोरात्रे प्र जायेते) दिन और रात्र होते हैं ॥ २३ ॥

(शतं सहस्रं अयुतं) सौ, हजार, दस हजार (न्यर्बुदं असंख्येयं स्वं अस्मिन् निविष्टम्) लाख अथवा असंख्य स्वत्व इसमें हैं। (अस्य अभिपश्यतः एव) इसके देखते ही (तत् घ्नन्ति) वह सत्त्व आघात करता है (तस्मात् एष देवः एतत् रोचते) इससे यह देव इसको प्रकाशित करता है ॥ २४ ॥

(एक बालात् अणीयस्कं) एक बालसे भी सूक्ष्म है, (उत एकं नैव दृश्यते) और दूसरा दीखता ही नहीं। (ततः परिष्वजीयसी देवता) उससे जो दोनोंको आलिंगन देनेवाली देवता है; (सा मम प्रिया) वह मुझे प्रिय है ॥ २५ ॥

(इयं कल्याणी अजरा) यह कल्याण करनेवाली अक्षय है, (मर्त्यस्य गृहे अमृता) मरनेवालेके घरमें अमर है। (यस्मै कृता सः शये) जिसके लियेकी जाती है, वह लेटता है और (यः चकार सः जजार) जो करता है वह वृद्ध होता है ॥ २६ ॥

(त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि ! तू स्त्री है और तूही पुरुष है। (त्वं कुमारः उत वा कुमारी) तू लडका है और लडकी भी तूही है। (त्वं जीर्णः दण्डेन वञ्चसि) तू वृद्ध होनेपर दण्डके सहारे चलता है, (त्वं जातः विश्वतो मुखः भवसि) तू प्रकट होकर सब ओर मुखवाला होता है ॥ २७ ॥

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ २८ ॥
पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥ २९ ॥
एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव ।
मही देव्यु१षसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥ ३० ॥
अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ३१ ॥
अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥
अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥
यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः ।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥ ३४ ॥

अर्थ— (**उत एषां पिता**) इनका पिता, (**उत वा एषां पुत्रः**) और इनका पुत्र (**एषां ज्येष्ठः उत वा कनिष्ठः**) इनमें ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ, यह सब (**एकः ह देव मनसि प्रविष्टः**) एक ही देव मनमें प्रविष्ट होकर (**प्रथमः जातः स उ गर्भे अन्तः**) पहिले जो हुआ था, वही गर्भमें आता है ॥ २८ ॥

(**पूर्णात् पूर्णं उदचति**) पूर्णसे पूर्ण होता है, (**पूर्णं पूर्णेन सिच्यते**) पूर्ण ही पूर्णके द्वारा सींचा जाता है, (**उतो अद्य तत् विद्याम**) अब आज वह हम जानें, कि (**यतः तत् परिषिच्यते**) जहांसे वह सींचा जाता है ॥ २९ ॥

(**एषा सनत्नी**) यह सनातन शक्ति है, (**सनं एव जाता**) सनातन कालसे विद्यमान है, यही (**पुराणी सर्वं परि बभूव**) पुरानी शक्ति सब कुछ बनी है, (**मही देवी उषसः विभाति**) यही बडी देवी उषाओंको प्रकाशित करती है (**सा एकेन एकेन मिषता वि चष्टे**) अकेले अकेले प्राणोंके साथ दीखती है । ॥ ३० ॥

(**अविः वै नाम देवता**) रक्षणकर्त्री नामक एक देवता है, वह (**ऋतेन परिवृता आस्ते**) सत्यसे घिरी हुई है । (**तस्याः रूपेण इमे वृक्षा**) उसके रूपसे ये सब वृक्ष (**हरिताः हरितस्रज**) हरे और हरे पत्तोंवाले हुए हैं ॥ ३१ ॥

(**अन्ति सन्तं न जहाति**) समीप होनेपर भी वह छोडता नहीं और (**अन्ति सन्तं न पश्यति**) वह समीप होनेपर भी दीखता नहीं। (**देवस्य पश्य काव्यं**) इस देवका यह काव्य देखो, जो (**न ममार न जीर्यति**) न तो मरता और नहीं जीर्ण होता है ॥ ३२ ॥

(**अपूर्वेण इषिताः वाचः**) *जिसके पूर्व कोई नहीं है, इस देवताके द्वारा प्रेरितकी गई ये वाचाएं हैं,* (**ताः यथायथं वदन्ति**) वह वाणियां यथायोग्य वर्णन करती हैं । (**वदन्तीः यत्र गच्छन्ति**) बोलती हुई जहां पहुंचती हैं, (**तत् महत् ब्राह्मणं आहुः**) वह बडा ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं ॥ ३३ ॥

(**देवाः च मनुष्याः च**) देव और मनुष्य (**नाभौ आराः इव यत्र श्रिताः**) नाभिमें आरे लगनेके समान जहां आश्रित हुए हैं, उस (**अपां पुष्पं त्वा पृच्छामि**) आप्-तत्त्वके पुष्पको मैं तुझे पूछता हूं, कि (**यत्र तत् मायया हितम्**) जहां वह मायासे आच्छादित होकर रहता है ॥ ३४ ॥

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः ।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥ ३५ ॥

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव ।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद्ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद्ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः ।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात्क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥ ३९ ॥

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् ।
बृहन्ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश ॥ ४० ॥

अर्थ— (येभिः इषितः वातः प्रवाति) जिनसे प्रेरित हुआ वायु बहता है, (ये सध्रीचीः पञ्च प्रदिशः ददन्ते) जो मिली जुली पांचों दिशायें धारण करते हैं, (ये देवाः आहुतिं अति अमन्यन्त) जो देव आहुतिको अधिक मानते हैं, (ते अपां नेतारः कतमे आसन्) वे जलोंके नेता कौनसे हैं ? ॥ ३५ ॥

(एषां एकः इमां पृथिवीं वस्ते) इनमेंसे एक इस पृथ्वीपर रहता है (एकः अन्तरिक्षं परिबभूव) एक अन्तरिक्षको व्यापता है, (एषां यः विधर्ता) इनमें जो धारक है, वह (दिवं ददते) द्युलोकको धारण करता है, और (एके विश्वाः आशाः प्रति रक्षन्ति) कुछ सब दिशाओंकी रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

(यस्मिन् इमाः प्रजाः ओताः) जिसमें ये सब प्रजाएं पिरोयी हुई हैं, (यः विततं सूत्रं विद्यात्) जो इस फैले सूत्रको जानता है, और (सूत्रस्य सूत्रं यः विद्यात्) सूत्रके सूत्रको जो जानता है, (सः महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह बड़े ब्रह्मको जानता है । ॥ ३७ ॥

(यस्मिन् इमा प्रजाः ओताः) जिसमें ये प्रजाएं पिरोयी हुई हैं, (अहं विततं सूत्रं वेद) मैं यह फैला हुआ सूत्र जानता हूं । (सूत्रस्य सूत्रं अहं वेद) सूत्रका सूत्र भी मैं जानता हूं और (अथो यत् महत् ब्राह्मणं) और जो बड़ा ब्रह्म है, वह भी मैं जानता हूं ॥ ३८ ॥

(यत् द्यावापृथिवी अन्तरा) जो द्युलोक और पृथ्वीके बीचमें (विश्वदाव्यः प्रदहन् अग्निः ऐत्) विश्वको चलानेवाला अग्नि होता है, (यत्र परस्तात् एकपत्नीः अतिष्ठन्) जहां दूरतक एक पत्नी ही रहती है, (तदानीं मातरिश्वा क्व इव आसीत्) उस समय वायु कहां था ? ॥ ३९ ॥

(मातरिश्वा अप्सु प्रविष्टः आसीत्) वायु जलोंमें प्रविष्ट था, (देवाः सलिलानि प्रविष्टाः आसन्) सब देव जलोंमें प्रविष्ट थे, (बृहत् ह रजसः विमानः तस्थौ) उस समय बड़ा ही रजका विशेष प्रमाण था, और (पवमानः हरितः आ विवेश) वायु सूर्यकिरणोंके साथ था ॥ ४० ॥

उत्त॑रेणेव गाय॒त्रीम॒मृतेऽधि॒ वि च॑क्रमे ।
साम्ना॒ ये साम॑ संवि॒दुर॒जस्तद्द॑दृशे क्व ॥ ४१ ॥
नि॒वेश॑नः संगम॑नो॒ वसू॑नां दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॑र्मा ।
इन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे धना॑नाम् ॥ ४२ ॥
पु॒ण्डरी॑कं नव॑द्वारं त्रि॒भिर्गु॒णेभि॒रावृ॑तम् ।
तस्मि॒न्यद्य॒क्षमा॑त्म॒न्वत्तद्वै ब्र॑ह्म॒विदो॑ विदुः ॥ ४३ ॥
अ॒का॒मो धीरो॑ अ॒मृतः॑ स्वयं॒भू र॑सेन॒ तृ॒प्तो न कुत॑श्च॒नोनः॑ ।
तमे॒व वि॒द्वान्न बि॑भाय मृ॒त्योरा॒त्मानं॒ धीर॑म॒जरं॒ युवा॑नम् ॥ ४४ ॥

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त ।

काण्ड ११, सूक्त ७

(ऋषि— अथर्वा । देवता— अध्यात्मं, उच्छिष्टः ।)

उच्छि॑ष्टे॒ नाम॑ रू॒पं चोच्छि॑ष्टे लो॒क आहि॑तः ।
उच्छि॑ष्ट॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ विश्व॑म॒न्तः स॒माहि॑तम् ॥ १ ॥
उच्छि॑ष्टे॒ द्यावा॑पृथि॒वी विश्वं॑ भू॒तं स॒माहि॑तम् ।
आपः॑ समु॒द्र उच्छि॑ष्टे च॒न्द्रमा॒ वात॒ आहि॑तः ॥ २ ॥

अर्थ— (उत्तरेण अमृते अधि गायत्रीं अधि वि चक्रमे) उत्तर रूपसे अमृतमें गायत्रीको विशेष रीतिसे प्राप्त करते हैं । (ये साम्ना साम सं विदुः) जो सामसे साम जानते हैं, (तत् अजः क ददृशे) वह अजन्माने कहां देखा ? ॥ ४१ ॥

(सत्यधर्मा सविता देवः इव) सत्यके धर्मसे युक्त सविता देवके समान (वसूनां संगमनः निवेशनः) सब धनोंका देनेवाला और निवासका हेतु है वह (धनानां समरे) धनोंके युद्धमें (इन्द्रः न तस्थौ) इन्द्रके समान स्थिर रहता है ॥ ४२ ॥

(नवद्वारं पुण्डरीकं) नव द्वारवाला कमल (त्रिभिः गुणेभिः आवृतं) सत्व-रज-तम इन तीन गुणोंसे घिरा हुआ है । (तस्मिन् यत् आत्मन्वत् यक्षं) उसमें जो आत्मावाला पूज्य देव है (तत् वै ब्रह्मविदः विदुः) उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ ४३ ॥

(अकामः धीरः अमृतः स्वयंभूः) निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू (रसेन तृप्तः) रससे संतुष्ट वह देव (न कुतश्चन ऊनः) कहींसे भी न्यून नहीं है, (तं एव विद्वान् मृत्योः न बिभाय) उसे जाननेवाला ज्ञानी मृत्युसे डरता नहीं, क्योंकि (आत्मानं धीरं अजरं युवानं) वही धीर अजर युवा आत्मा है ॥ ४४ ॥

(उच्छिष्टे नाम रूपं) उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मामें नाम और रूप, (उच्छिष्टे लोकः आहितः) उच्छिष्टमें लोकलोकान्तर स्थित हैं । (उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च) उच्छिष्टमें इन्द्र और अग्नि तथा (अन्तः विश्वं समाहितं) उसके अन्दर संपूर्ण विश्व समाया है ॥ १ ॥

(उच्छिष्टे द्यावापृथिवी) उच्छिष्टमें द्युलोक और भूलोक (विश्वं भूतं समाहितं) सब भूतमात्र ठहरे हैं, (उच्छिष्टे आपः समुद्रः चन्द्रमाः वातः आहितः) जल, समुद्र, चन्द्रमा, वायु, ये सब उसीमें स्थिर हुए हैं ॥ २ ॥

सच्चासच्चोभावुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥ ३ ॥
दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश ।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥ ४ ॥
ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥ ५ ॥
ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् ।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥ ६ ॥
राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥
अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ८ ॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ९ ॥

अर्थ—(**सत् असत् च उभौ उच्छिष्टे**) सत् और असत् ये दोनों उच्छिष्टमें हैं, (**मृत्यु वाजः प्रजापतिः**) मृत्यु, अन्न अथवा बल और प्रजापालक, (**लौक्याः व्रः च द्रः च**) लोकोंके संबंधमें सब धन तथा स्वीकारने योग्य और नाश करने योग्य सभी पदार्थ (**उच्छिष्टे आयत्ताः**) उच्छिष्टमें ही संबंधित हुए हैं । (**श्रीः मयि**) शोभा मुझमें है ॥ ३ ॥

(**दृढः दृंह स्थिरः न्यः**) सुदृढ, दृढतासे स्थिर रहनेवाला और गतिमान् (**ब्रह्म विश्वसृजः दश देवताः**) ज्ञान, विश्वकी उत्पत्ति करनेवाली दस शक्तियां धारण करनेवाली देवताएं (**नाभिं चक्रं इव सर्वतः**) नाभिचक्रके चारों ओर रहनेके समान सब ओरसे (**उच्छिष्टे श्रिताः**) उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ४ ॥

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद उद्गीथ, (**प्रस्तुत स्तुतं**) स्तुति और स्तवन, हिंकार, स्वर, (**साम्नो मेडि**) सामगानके आलाप यह सब उच्छिष्टमें है, (**तन्मयि**) यह सब मुझमें रहे ॥ ५ ॥

(**ऐन्द्राग्नं पावमानं**) इन्द्र, अग्नि और पवमान वायुके सूक्त, (**महानाम्नीः महाव्रतं**) महानाम और महाव्रतवाले मंत्र-भाग ये सब (**यज्ञस्य अंगानि उच्छिष्टे**) यज्ञके अंग उच्छिष्टमें स्थित हैं जैसे (**मातरि अन्तः गर्भः इव**) माताके अन्दर गर्भ रहता है ॥ ६ ॥

राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, (**तत् अध्वरः**) वह हिंसारहित यज्ञ, अर्क-अश्वमेध, (**मदिन्तमः जीवबर्हिः**) आनन्द देनेवाला जीवोंका रक्षक यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ७ ॥

(**अग्न्याधेयं अथो दीक्षा**) अग्न्याधान, दीक्षा, (**छन्दसा सह कामप्र**) छन्दोंके कामोंकी पूर्णता करनेवाला यज्ञ, (**उत्सन्नाः यज्ञाः सत्राणि**) उत्सन्न यज्ञ और सब सत्र ये सब उच्छिष्टमें स्थित हैं ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, श्रद्धा, वषट्कार, व्रत, तप, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त ये सब उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ९ ॥

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥
चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ ११ ॥
प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥ १२ ॥
सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥ १३ ॥
नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः ।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥
उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥
पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥

अर्थ— एकरात्र, द्विरात्र, सद्य क्री, प्रक्री, उक्थ्य ये सब और (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञके अन्य अंश (विद्यया उच्छिष्टे ओतं निहितं) विद्याके साथ उच्छिष्टमें ओतप्रोत हुए हैं ॥ १० ॥

चार रात्री, पांच रात्री, छः रात्री, (उभयः) उभय अर्थात् आठ, दस और बारह रात्रीवाला, (षोडशी) सोलह, (सप्तरात्र) और सात रात्रीवाला ये सब यज्ञ उच्छिष्टसे बने हैं और (अमृते हिताः) ये अमृतमें रहते हैं ॥ ११ ॥

प्रतीहार, निधन, विश्वजित्, अभिजित्, साह्न अतिरात्र, द्वादशाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं। यह सब ज्ञान मुझमें रहे ॥ १२ ॥

(सूनृता संनतिः) सत्य भाषण, नम्रभाव, (क्षेमः स्वधा ऊर्जं) कल्याण, स्वधा बल (अमृतं सहः) अमरपन सहन शक्ति, ये (सर्वे कामाः कामेन तातृपुः) सब काम जो कामनासे तृप्ति करनेवाले हैं, (उच्छिष्टे प्रत्यञ्चः) उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १३ ॥

नव भूमि, सब समुद्र और (दिवः) द्युलोक भी (उच्छिष्टे अधिश्रिताः) उच्छिष्टमें आश्रित हैं। सूर्य उच्छिष्टमें ही (आ भाति) प्रकाशता है, जिससे अहोरात्र होते हैं। यह सब ज्ञान (मयि) मुझमें रहे ॥ १४ ॥

उपहव्य, विषूवान् और (ये च गुहा हिताः यज्ञाः) जो गुहामें आश्रित यज्ञ हैं, उनको (विश्वस्य भर्ता जनितुः पिता) विश्वका पोषक और पिताका भी पिता (उच्छिष्टः बिभर्ति) उच्छिष्ट संज्ञक परमात्मा धारण करता है ॥ १५ ॥

(उच्छिष्टः जनितुः पिता) उच्छिष्ट पिताका भी परम पिता है यह (असोः पौत्रः पितामहः) प्राणका पौत्र है, परंतु वह सबका पितामह ही है, (सः विश्वस्य ईशानः क्षियति) वह विश्वका ईश्वर होकर स्वतंत्र रहता है वह (वृषा भूम्यां अतिघ्न्यः) बलवान् और भूमिमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः ।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥
शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥
राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः ।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥
यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

अर्थ— ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्यत, वीर्य, लक्ष्मी, (बले बलं) बलिष्ठमें रहनेवाला बल यह सब उच्छिष्टमें रहता है ॥ १७ ॥

समृद्धि, (ओजः) शक्ति, (आकूतिः) संकल्प, क्षात्र, राष्ट्र, (षट् ऊर्व्यः) छः भूमियां, संवत्सर, (इडा) अन्न (प्रैषाः ग्रहाः) प्रैष ग्रह और हवि यह सब उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १८ ॥

चतुर्होता, आप्रिय, चातुर्मास्य, नीविद, यज्ञ, होत्रा, पशुबन्ध और उसकी इष्टियां उच्छिष्टमें रहती हैं ॥ १९ ॥

(अर्धमासाः) पक्ष (मासाः) महिने, (आर्तवाः ऋतुभिः सह) ऋतुओंके साथ ऋतुसंबंधी पदार्थ, (स्तनयित्नुः) मेघ (मही श्रुति) बडी गर्जना और (घोषणी आपः) घोष करनेवाले जलप्रवाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ २० ॥

(शर्कराः सिकताः अश्मानः) पथरीली बालू, बालू, पत्थर (ओषधयः वीरुधः तृणा) औषधियां वनस्पतियां और घास, (अभ्राणि विद्युतः वर्षं) मेघ बिजलियां और वृष्टि (उच्छिष्टे संश्रिता श्रिताः) उच्छिष्टमें आश्रित हुए हैं ॥ २१ ॥

(राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिः) सिद्धि, प्राप्ति और समाप्ति, (व्याप्तिः महः एधतुः) व्याप्ति महत्त्व और वृद्धि, (अत्याप्तिः, भूतिः) अतिशय प्राप्ति, ऐश्वर्य यह सब उच्छिष्टमें (आहिता निहिता हिता) रखे हैं ॥ २२ ॥

(यत् च प्राणेन प्राणिति) जो प्राणसे प्राण धारण करता है और (यत् च चक्षुषा पश्यति) जो आंखसे देखता है, यह सब उच्छिष्टसे (जज्ञिरे) हुए हैं (दिवि-श्रितः देवा दिवि) जो देव द्युलोकमें हैं वे सब द्युलोकमें रहे हैं और उच्छिष्टमें ही हैं ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २४ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २५ ॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २६ ॥
देवाः पितरो मनुष्याऽगन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥

अर्थ— ऋचा, साम, छन्द, पुराण और यजुर्वेद, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, (क्षितिः अक्षितिः) भौतिक और अभौतिक पदार्थ, आनन्द, मोद, प्रमोद, (अभीमोदः मुदः) प्रत्यक्ष आनंद, देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व अप्सरा, द्युलोकमें रहनेवाले सब देव ये सब (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४–२७ ॥

उच्छिष्ट सूक्तका आशय।

इस सूक्तकी भाषा अत्यंत सरल होनेके कारण इसका भावार्थ पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

उच्छिष्टका अर्थ ।

'उच्छिष्ट' अर्थात् 'ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट,' जो उच्च स्थानमें अवशिष्ट रहा है । विश्व बननेके पश्चात् जो भाग अवशिष्ट रहा है उसका नाम 'उच्छिष्ट' है । पुरुषसूक्तमें कहा है–

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
(ऋ. १०।९०।४)

'त्रिपाद् पुरुष उच्च स्थानमें उदित हुआ है, और उसका एक अंश यहां इस विश्वमें पुनः पुनः होता है ।', एक अंशका यह विश्व बनता और बिगडता है, परंतु जो त्रिपाद् पुरुष अवशिष्ट ऊर्ध्व भागमें रहा है वह वैसा ही एकरूपमें रहता है । इस तरह परमात्माका एक अल्पसा भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और शेष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है । इसीका नाम उच्छिष्ट है । यही ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहा है ।

(उच्छिष्टे नाम रूपं) इसी परमात्मामें नामरूप रहा है, इतना कहनेसे सब कुछ उसीमें है ऐसा कहा है, क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपवाला है और नामवाला भी है । जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा यहां कुछ भी नहीं है । संपूर्ण विश्वही नामरूपात्मक है । हम किसीका नाम लेते हैं और नाम लेते ही आंखके सामने वह रूप आता है, यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परमात्मामें रहा है ।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इतना कहनेसे उस उच्छिष्ट परमात्मामें नामरूप रहा है ऐसा अर्थ हुआ। जैसे घडा यह नाम और घडेका रूप यह सब मिट्टीमें रहता है। अर्थात यह मिट्टी ही नामरूपात्मक घटाकार होकर हमारे सामने आती है । इसी तरह उच्छिष्ट परमात्मा नामरूप धारण करके विश्वाकार होकर, विश्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है । यही परमात्माका विश्वरूपदर्शन जो भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें कहा गया है और यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें वर्णित हुआ है ।

उच्छिष्टमें रूप।

' उच्छिष्टमें नामरूप रहे हैं, ' यही मंत्रभाग मुख्य है; आगे इसीका स्पष्टीकरण ही है, जैसा-उच्छिष्टमें लोक, इंद्र, अग्नि विश्व, द्यावापृथिवी, सब भूतमात्र, जल, समुद्र, चन्द्र, वायु, (मंत्र १-२) नौ भूमियां, सूर्य (मं. १४), बालु, पत्थर, शिला, ओषधिवनस्पतियां, घास, अभ्र, विद्युत्, वृष्टि, (मं. २१), जो प्राणसे जीवित रहता है, जो आंखसे देखता है, जो आकाशमें है (मं. २३), देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा (मं २७) विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं. ४)। यह सब उच्छिष्टमें हैं, ये सब रूपवाले पदार्थ है। इनका आश्रय उच्छिष्ट-परमात्माही है।

उच्छिष्टमें नाम।

अब नामका वर्णन देखिये- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ, स्तवन, हिंकार, स्वर, सामके आलाप, (मं. ५,) इन्द्राग्निके सूक्त, पवमानसूक्त, महाव्रतादिसूक्त, (मं. — ६) छन्द, पुराण, (मं. २४) ये सब नाम हैं, ये सब शब्द हैं। शब्दसृष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहते हैं, जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसीका नाम है। इसीलिये ये नामरूप उसमें रहते हैं।

उच्छिष्टमें कर्म।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट ब्रह्ममें हैं यह बात देखनेके पश्चात् 'कर्म' कहां रहता है यह प्रश्न उपस्थित होता है, उसका उत्तर भी इस सूक्तने दिया है कि सब कर्म सब यज्ञ उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही रहते हैं देखिये- ' राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अध्वर अश्वमेध (मं. ७) अग्न्याधान, दीक्षा, यज्ञ, सत्र, (मं. ८) अग्निहोत्र, मन, तप, दक्षिणा; इष्टापूर्त (मं. ९), एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्री', प्रक्रीः उक्थ्य, (मं. १०) चतुरात्र, पंचरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशाह, षोडशी, (मं. ११), विश्वजित्, अतिरात्र, (मं. १२) आदि सब यज्ञकर्म ही हैं और वे सब उसी उच्छिष्टमें रहते हैं, उसी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर इस संपूर्ण कर्ममार्गकी व्यवस्था रखी गयी है। अर्थात् सब कर्मोंका आधार ब्रह्म ही है।

उच्छिष्टमें काल।

' काल ' भी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहता है, अतः कहा है कि- ' अर्ध मास (पक्ष), मास (महिना), ऋतु (मं. २०), अयन, वर्ष, संवत्सर (मं १८) यह सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहा है। भूत, भविष्यत् (मं. १७) संपूर्ण काल और कालके अवयव इस तरह उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहे हैं ऐसा यहां कहा है।

कालके साथ कर्मका संबंध है, एकरात्र, द्विरात्र आदि अनेक यज्ञ कालमर्यादाके साथ संबंध रखते हैं। कई इष्टियां छोटे कालखंडके साथ संबंधित हैं और कई सत्र दीर्घकालके हैं। तथापि सब यज्ञ इस तरह कालसे मर्यादित होते हैं। अर्थात् जैसा नामरूपका परस्पर संबंध है उसी तरह काल और कर्मका परस्पर संबंध है। पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें, और इसका अनुभव करें।

श्रद्धा, तप, व्रत, दीक्षा (मं. ९), सूनृत, नम्रभाव, कल्याण स्वधा-अर्थात् अपनी धारणाशक्ति, बल, अमृतत्व, सहनसामर्थ्य, कामना, वासना (मं १३), ऋत, सत्य, श्रम, धर्म, वीर्य-पराक्रम, लक्ष्मी शोभा, (मं. १७), समृद्धि, सत्त्व, क्षात्रबल (मं. १८), सिद्धि, प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्त्व, वृद्धि (मं. २२) आनंद, मोद, प्रमोद (मं. २५) ये सब जो कर्मके साथ संबंध रखनेवाले गुण हैं वे भी मानवकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मके आधार पर रहते हैं।

जो प्राणसे सजीव रहते हैं और जो आंखसे देखते हैं वे सब प्राणिमात्र उच्छिष्ट ब्रह्मसे आश्रय पाकर रहते हैं अर्थात् वह उच्छिष्ट ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। (मं. २३)

सत्, असत्, जीवन मृत्यु, म और द (वरण और द्रावण), यह सब द्वन्द्व उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही रहता है अर्थात् जो कुछ यहां है उस सबका संबंध परब्रह्मसे है, परब्रह्मसे पृथक् अस्तित्व किसीका नहीं है।

इसमें अनेक यज्ञोंके नाम आये है, इनका स्वरूप यजुर्वेदकी व्याख्याके प्रसंगमें विशद किया जायगा। क्योंकि कर्मकाण्ड यजुर्वेदका विषय है।

जो विश्वरूपदर्शनका विषय यहां कहा है वही श्रीमद्भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें विस्तारसे कहा है, और यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें भी अधिक ही विस्तारसे कहा है। पाठक तुलना करके वेदका तत्त्व जानें।

ब्रह्म।

(काण्ड ७, सूक्त ६६, [६८])

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— ब्रह्म)

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

अर्थ— (यदि अन्तरिक्षे यदि वाते) यदि अन्तरिक्षमें और यदि वायुमें (यदि वृक्षेषु यदि वा उलपेषु) यदि वृक्षोंमें अथवा यदि घासमें आप देखेंगे तो उसमें जो (आस) सदा रहता है, (यत् पशवः अस्रवन्) जो प्राणियों में स्रवता है, (तत् उद्यमानं ब्राह्मण) वह प्रकट होनेवाला ब्रह्म (पुनः अस्मान् उपैतु) पुनः हमें प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ— जो ब्रह्म इस अवकाशमें, वायुमें, वृक्षोंमें, घासमें विराजता है, जो पशुओंमें अर्थात् प्राणियोंमें प्रवाहित होता है अर्थात् जो स्थिर चरमें विद्यमान है, वह सर्वत्र प्रकाशित होनेवाला ब्रह्म हमें प्राप्त होता है।

ब्रह्म नाम महान् आत्मतत्त्व जो सर्वत्र स्थिर चरमें व्यापक है, वह सर्वत्र प्रकाशित होता है, जिसकी शक्तिसे संपूर्ण जगत्को यह सुंदर रूप मिला है, वह ब्रह्म हम सब मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है। अतः उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य प्रयत्न करे।

गुह्य-अध्यात्म-विद्या।

(काण्ड २, सूक्त १)

(ऋषि — वेन। देवता— ब्रह्म, आत्मा)

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥

अर्थ— (वेनः तत् परमं पश्यत्) भक्त ही उस परमश्रेष्ठ परमात्माको देखता है, (यत् गुहा) जो हृदयकी गुफामें है और (यत्र विश्वं एकरूपं भवति) जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकरूप हो जाता है। (इदं पृश्निः जायमानाः अदुहत्) इसीको प्रकृतिने दोहन करके जन्मलेनेवाले पदार्थ बनाये हैं और इसलिये (स्वर्विदः व्राः) प्रकाशको जानकर व्रत पालन करनेवाले मनुष्य ही इसकी (अभ्यनूषत) उत्तम प्रकारसे स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— जिसमें जगत्की विविधता भेदका त्याग कर एकरूपताको प्राप्त होती है और जिसका निवास हृदयमें है, उस परमात्माको भक्त ही अपने हृदयमें साक्षात् देखता है। इस प्रकृतिने उसी एक आत्माकी विविध शक्तियोंको निचोड कर उत्पन्न होनेवाले इस विविध जगत्का निर्माण किया है, इसलिये आत्मज्ञानी मनुष्य सदा उसी एक आत्माका गुणगान करते हैं ॥ १ ॥

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥
स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥
परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः ॥ ४ ॥
परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

अर्थ— (यत् गुहा) जो हृदयकी गुफामें है (तत् अमृतस्य परमं धाम) वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान (विद्वान् गन्धर्वः प्रवोचेत्) ज्ञानी वक्ता कहे। (अस्य त्रीणि पदानि) इसके तीन पद (गुहा निहिता) हृदयकी गुफामें रखे हैं, (यः तानि वेद) जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत्) वह पिताका भी पिता अर्थात् बडा समर्थ हो जाता है ॥ २ ॥

(सः नः पिता) वह हम सबका पिता है, (जनिता) जन्म देनेवाला (उत सः बंधुः) और वह भाई है वह (विश्वा भुवनानि धामानि वेद) सब भुवनों और स्थानोंको जानता है। (यः एकः एव) वह अकेला ही एक (देवानां नाम-धः) सम्पूर्ण देवोंके नाम धारण करनेवाला है, (तं सं-प्रश्नं) उसी उत्तम प्रकारसे पूछने योग्य परमात्माके प्रति (सर्वा भुवना यन्ति) संपूर्ण भुवन पहुंचते हैं ॥ ३ ॥

(सद्यः) शीघ्र ही (द्यावा-पृथिवी परि आयं) द्युलोक और पृथ्वी लोकमें सर्वत्र मैं घूम आया हूं और अब (ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे) सत्यके पहिले उत्पादककी उपासना करता हूं। (वक्तरि वाचं इव) वक्तामें जैसी वाणी रहती है, उसी प्रकार वह (भुवने-स्थाः) सब भुवनोंमें रहता है, और (एषः धास्युः) यही सबका धारक और पोषक है, (ननु एषः अग्निः) निश्चयसे यह अग्नि ही है ॥ ४ ॥

(यत्र) जिसमें (अमृतं आनशानाः देवाः) अमृत खानेवाले सब देव (समाने योनौ) समान आश्रयको (अध्यैरयन्त) प्राप्त होते हैं, उस (ऋतस्य) सत्यके (विततं कं तन्तुं दृशे) फैले हुए सुखकारक धागेको देखनेके लिये मैं (विश्वा भुवनानि परि आयं) सब भुवनोंमें घूम आया हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अपने हृदयमें ही है उस अमृतके परम धामका वर्णन आत्मज्ञानी संयमी वक्ता ही कर सकता है। इसके तीन पाद हृदयमें गुप्त हैं, जो उनको जानता है, वह परम ज्ञानी होता है ॥ २ ॥

वही हम सबका पिता, जन्मदाता और भाई भी है, वही संपूर्ण प्राणियोंकी सब अवस्थाओंको यथावत् जानता है। वह केवल अकेला ही एक है और अग्नि आदि संपूर्ण अन्य देवोंके नाम उसीको प्राप्त होते हैं अर्थात् उसका ही दिये जाते हैं। जिज्ञासु जन उसीके विषयमें वारंवार प्रश्न पूछते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हुए अन्तमें उसीको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

द्युलोक और पृथ्वी लोकके अंदर जो अनंत पदार्थ हैं, उन सबका निरीक्षण करनेके बाद पता लगता है, कि अटल सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक एक ही परमात्मा है, इसलिये मैं उसीकी उपासना करता हूं। जिस प्रकार वक्तामें वाणी रहती है, उसी प्रकार जगत्के सब पदार्थों अथवा सब प्राणियोंमें वह सबका धारण पोषण कर्ता एक आत्मा रहता है, उसको अग्नि भी कह सकते हैं अर्थात् जैसे अग्नि लकडीमें गुप्त रहता है उसी प्रकार वह सब पदार्थोंमें गुप्त रहता है ॥ ४ ॥

जिस एक परमात्मामें अग्नि वायु सूर्यादि देव समान रीतिसे आश्रित हैं और जिसकी अमृतमयी शक्ति संपूर्ण उक्त देवोंमें कार्य कर रही है, वही एक सर्वत्र फैला हुआ व्यापक सत्य है, उसीका साक्षात्कार करनेके लिये सब वस्तुमात्रका निरीक्षण मैंने किया है और पश्चात् सबके अंदर वही एक सूत्र फैला है यह मैंने अनुभव किया है ॥ ५ ॥

गुह्य-आध्यात्मिक-विद्या

गूढ विद्या।

गूढ विद्याका अर्थ है गूढ तत्वको जाननेकी विद्या। कई समझते हैं कि, यह विद्या गुप्त रखनी है, इस लिये इसको गूढ अथवा गुह्य विद्या कहते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है। दृश्य संसारके अंदर सबका आधारभूत एक तत्व है, संसारके पदार्थ दृश्य हैं और यह सर्वव्यापक आधारतत्व अदृश्य है। हरएक मनुष्य सब पदार्थोंके रंग रूप आकार तोल आदिको देख सकता है, परंतु उस पदार्थके अंदर व्यापनेवाले तत्वको, जिससे कि उस पदार्थका अस्तित्व अनुभव होता है, उस अदृश्य तत्वको, वह नहीं जान सकता; बहुत थोडे ही उसका अनुभव कर सकते हैं। मनुष्यके स्थूल देह सब देख सकते हैं, परंतु उसी देहमें रहनेवाले गुह्य अथवा गुप्त आत्माका दर्शन कौन करता है! परंतु जितना देहका अस्तित्व सत्य है उससे भी अधिक सत्य देहधारी आत्माके अस्तित्वमें है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत्के अंदर व्यापनेवाले गुह्यतत्वके विषयमें समझना चाहिये।

दृश्य आकारवाला जगत् दिखाई देता है, इसलिये वह गुह्य नहीं है, परंतु इस दृश्य जगत्को आधार जिस गुह्य तत्वने दिया है, वह इस प्रकार स्पष्टतासे नहीं दिखाई देता है; इसको ढूंढना, इसका अनुभव लेना, इसका साक्षात्कार करना, इस 'गुह्य-विद्या' का कार्य क्षेत्र है। इसलिये इसको 'गुह्यविद्या गूढविद्या, गुप्तविद्या गुह्याद्गुह्यतरका ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मविद्या, परविद्या, विद्या' आदि अनेक नाम हैं। इन सब शब्दोंका तात्पर्य 'उस जगदाधार आत्मतत्वका ज्ञान' यही है।

वेदमंत्रोंमें यह विद्या विशेष रीतिसे बतायी है स्थान स्थानमें तथा विविध रीतियोंसे इसका वर्णन किया है कई मंत्रोंमें स्पष्ट वर्णन है और कईयोंमें गुह्य वर्णन है। यह सूक्त स्पष्ट वर्णन करनेवाला है, इसलिये उपासकोंको इसके मननसे बडा लाभ हो सकता है।

गूढविद्याका अधिकारी।

सब विद्याओंमें यह गुह्य विद्या मुख्य है, इसलिये हरएकको इस विद्याकी प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय, तो सब ही मनुष्य इसकी प्राप्तिके मार्गमें लगे हैं, कई दूरके मार्गपर हैं और कईयोंने समीपका मार्ग पकडा है, इन अनेक मार्गोंमेंसे कौनसा मार्ग इस सूक्तको अभीष्ट है, यह बात यहां अब देखेंगे—

वेनः तत्पश्यत्॥ १॥

'वेन ही उसको देखता है,' यह प्रथम मंत्रका विधान है। यहां प्रत्यक्ष देखता है, जिस प्रकार मनुष्य सूर्यको आकाशमें प्रत्यक्ष देखता है उस प्रकार यह भक्त इस आत्माको अपने हृदयमें प्रत्यक्ष करता है, यह भाव स्पष्ट है। यह अधिकार 'वेन' का ही है यह 'वेन' कौन है? 'वेन्' धातुके अर्थ— 'भजन पूजन करना, विचारसे देखना, भक्ति करना, तथा इसी प्रकारके उपासनाके कार्य करनेके लिये जाना' ये हैं। ये ही अर्थ यहां वेन शब्दमें हैं। 'जो ईश्वरका भजन पूजन करता है, हृदयसे उसकी भक्ति करता है, विचारकी दृष्टिसे उसको जाननेका प्रयत्न करता है' इस प्रकारका जो ज्ञानी भक्त है, वह वेन शब्दसे यहां अभिप्रेत है। इसलिये केवल 'बुद्धिमान' अर्थ ही यहां लेना उचित नहीं है। कितनी भी बुद्धिकी विशालता क्यों न हुई हो, जब तक उसके हृदयमें भक्तिकी लहरें न उठतीं हों, तबतक उस प्रकारके शुष्क ज्ञानसे परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता, यह यहां इस सूक्त द्वारा विशेष रीतिसे बताया है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—

अमृतस्य धाम विद्वान् गन्धर्वः॥ २॥

'अमृतके धामको जाननेवाला गंधर्व ही उसका वर्णन कर सकता है।' इसमें 'गंधर्व' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। गंधर्व शब्दका अर्थ 'सेत, पवित्रात्मा' कोशोंमें प्रसिद्ध है और यह शब्द वेन शब्दके पूर्वोक्त अर्थके साथ मिलता जुलता भी है। तथापि '**गां वाणीं धारयति**' अर्थात् 'अपनी वाणीका धारण करनेवाला' यह अर्थ यहां विशेष योग्य है। वाणीका धारण तो सब करते ही हैं, परंतु यहां वाणीका बहुत प्रयोग न करते हुए अपनी वाक्शक्तिका संयम करनेवाला, अत्यन्त आवश्यकता होनेपर ही वाणीका उपयोग करनेवाला, यह अर्थ गंधर्व शब्दमें है। विशेष अर्थसे परिपूर्ण परंतु अल्प शब्द बोलनेवाला विद्वान् गंधर्व शब्दसे यहां लिया जाता है। प्रायः आत्मज्ञानी वक्ताका वक्तृत्व मूकतासे ही होता है, किंवा थोडे परंतु अर्थपूर्ण शब्दोंसे ही आत्मज्ञानी पवित्रात्मा आप्त पुरुष जो कुछ कहना है, कह देता है। जबतक लौकिक विद्याका ज्ञान मनुष्यके मनमें खलबली मचाता रहता है, तब तक ही मनुष्य मेघ गर्जनाके समान वक्तृत्व करता रहता है, परंतु इसका

परिणाम श्रोताओंपर विशेष नहीं होता। जब आत्मज्ञान होता है और ईश्वर साक्षात्कार होता है, तब इसका वक्तृत्व अस्त होने लगता है। परंतु प्रभाव बढता जाता है। वाक्शक्तिपर संयम होने लगता है। यह गन्धर्व अवस्था समझिये।

यहां 'वेन और गंधर्व' ये दो शब्द आत्मज्ञानके अधिकारीके वाचक शब्द हैं। उपासक, भक्त तथा गंभीर शब्दोंका प्रयोग संयमके साथ करनेवाला जो होता है, वही परमात्माका साक्षात्कार करता है और वही उसका वर्णन भी कर सकता है।

पूर्व तैयारी। (प्रथम अवस्था)

उक्त उपासक आत्मज्ञानी हो सकता है, परंतु इसके बननेके लिये पूर्व तैयारीकी आवश्यकता है, यह पूर्व तैयारी निम्नलिखित शब्दों द्वारा इस सूक्तमें बताई है—

सद्यः द्यावा पृथिवी परि आयम् ॥ ४ ॥
विश्वा भुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

'एकवार द्युलोक और पृथ्वीलोकमें चक्कर लगाकर आया हूं। सपूर्ण भुवनोंमें घूमकर आया हूं।' अर्थात् द्युलोक और पृथ्वीलोक तथा अन्यान्य भुवनों और स्थानोंमें जो जो द्रष्टव्य, प्राप्तव्य और भोक्तव्य है, उसको देखा, प्राप्त किया और भोगा है। जगत्में खूब भ्रमण किया, कार्य व्यवहार किये, धनदौलत कमाया, राज्यादि भोग प्राप्त किये, विजय कमाये, यश फैलाया, सब कुछ किया, मनुष्यको जो जो अभ्युदय विषयक करना संभव है, वह सब किया। यह गूढतत्त्वके दर्शनकी प्रथम अवस्था है। इस अवस्थामें भोगेच्छा प्रधान होती है।

द्वितीय अवस्था।

इसके बाद दूसरी अवस्था आती है, जिस समय विचार उत्पन्न होता है, कि ये नाशवन्त भोग कितने भी प्राप्त किये, तथापि इनसे सच्ची तृप्ति नहीं होती, इसलिये सच्ची तृप्ति, सच्चा मनका समाधान प्राप्त करनेके लिये कुछ यत्न करना चाहिये। इस द्वितीय अवस्थामें भोगोंकी ओर प्रवृत्ति कम होती है और अभौतिक तत्त्व दर्शनकी ओर प्रवृत्ति बढती जाती है; इसका निर्देश इस सूक्तमें निम्न लिखित प्रकार किया है—

अमृतस्य वितत कं तन्तुं दृशे विश्वा भुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

'अमृतका फैला हुआ सुख कारक मूल सूत्र देखनेके लिये मैंने सब भुवनोंमें चक्कर मारा,' अर्थात् इस द्वितीय अवस्थामें इसका चक्कर इसलिये होता है, कि इस विविधतासे परिपूर्ण जगत्के अन्दर एकताका मूल स्रोत होगा तो उसे देखें; इस दुःख कष्ट भेद लडाई झगडोंसे परिपूर्ण जगत्में सुख आराम ऐक्य और अविरोध देनेवाला कुछ तत्त्व होगा तो उसको ढूंढेंगे, इस उद्देश्यसे इसका भ्रमण होता है। यह जिज्ञासुकी दूसरी अवस्थाका मनुष्य तीर्थों और क्षेत्रों और पुण्यप्रदेशोंमें जाता है, वहां सज्जनोंसे मिलता है, देशदेशांतरमें पहुंचता है और वहांसे ज्ञान प्राप्त करता है, इसका इस समयका उद्देश यही रहता है, कि इस विभेद पूर्ण दुःखमय अवस्थासे अभेदमय सुखकारक अवस्थाको प्राप्त करें। इतने परिश्रम करनेसे उसको कुछ न कुछ प्राप्त होता रहता है और फिर वह प्राप्त हुए ज्ञानको अपनेमें स्थिर करनेका यत्न करनेकी तैयारी करता है। इस प्रकार वह दूसरी अवस्थासे तीसरी अवस्थामें पहुंचता है। इस तीसरी अवस्थाका वर्णन इस सूक्तमें निम्न लिखित शब्दों द्वारा किया है—

तृतीय अवस्था।

द्यावापृथिवी परि आयं सद्यः ऋतस्य प्रथमजां उपातिष्ठे ॥ ४ ॥

'मैं द्युलोक और पृथ्वीलोकमें खूब घूम आया हूं और अब मैं सबके पहिले प्रवर्तककी उपासना करता हूं।'

जगत् भरमें घूमकर विचार पूर्वक निरीक्षण करनेसे इसको पता लगता है कि, इस विभिन्न जगत्में एक अभिन्न तत्त्व है और वही (कं) सच्चा सुख देनेवाला है। जब यह ज्ञान इसको होता है, तब यह उसके पास जानेकी इच्छा करता है। उपासनासे भिन्न कोई अन्य मार्ग उसको प्राप्त करनेका नहीं है, इसलिये इस मार्गमें अब यह उपासक आता है। ये अवस्थायें इस सूक्तके मंत्रों द्वारा व्यक्त होगई हैं, इन मंत्रोंके साथ यजुर्वेद वाजसनेयी संहिताके मंत्र देखनेसे यह विषय अधिक खुल जाता है; इसलिये वे मंत्र अब यहां देते हैं—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥
परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ १२ ॥

(वा. यजु. अ. ३२)

'(भूतानि परीत्य) सब भूतोंको जानकर या भूतोंमें घूम करके (लोकान् परीत्य) सब लोकोंमें भ्रमण करके (सर्वा दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंमें भ्रमण करके अर्थात् इन सबको यथावत् जानकर (ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय) सबके पहिले नियमके प्रव-

तककी उपासना करके (**आत्मना आत्मानं**) केवल आत्म-स्वरूपसे परमात्माके प्रति (**अभि सं विवेश**) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता हू ॥ ११ ॥

(**सद्यः द्यावा-पृथिवी परि इत्वा**) एकसमय द्युलोक और पृथ्वीलोकके सब पदार्थोको देखकर (**लोकान् परि**) सब लोकोंको देखकर, (**दिशः परि**) दिशाओंका परीक्षण करके (**स्वः परि**) आत्म प्रकाशको जानकर (**ऋतस्य विततं तन्तुं**) अटल सत्यके फैले हुए धागेको अलग करके अब (**तत् अपश्यत्**) उस धागेको देखता है, तब (**तत् अभवत्**) वह वैसा बनता है कि, जैसा (**तत् आसीत्**) वह पहिले था ॥ १२ ॥

ये दो मंत्र उपासककी उन्नतिके मार्गका प्रकाश उत्तम रीतिसे कर रहे हैं। जगत्में घूम आनेकी जो बात अथर्ववेदने कही थी, उसका विशेष स्पष्टीकरण ही इन दो मंत्रोंके प्रथम अर्धोंद्वारा हुआ है। ' सब भूत, सब लोकलोकान्तर, सब उपदिशाएँ, द्यु और पृथ्वीके अंतर्गत सब पदार्थ, अथवा अपनी सत्ता जहांतक जा सकती है, वहांतक जाकर, वहांतक विजय करके, वहांतक पुरुषार्थ प्रयत्नसे यश फैलाकर तथा उन सबका परीक्षण निरीक्षण समीक्षण आदि जो कुछ किया जाना संभव है, वह सब करके देख लिया। इतने निरीक्षणसे ज्ञात हुआ कि *अटल सत्यनियमोंको चलानेवाला एक ही सूत्ररूप आत्मा सबके अन्दर है, वही सर्वत्र फैला है, उसीके आधारसे सब कुछ है, उसके आधारके बिना कोई ठहर नहीं सकता। जब यह जान लिया तब उसकी ही उपासना की, और केवल अपने आत्मासे ही उसमें प्रवेश किया।* जब वहांका अनुभव लिया, तब उपासक वैसा बन गया, जैसा पहिले था।

पाठक इन मंत्रोंके इस आशयको देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि जो अथर्ववेदके इस सूक्तके मंत्रों द्वारा आशय व्यक्त हुआ है, वही वेद विस्तारसे इन मंत्रोंमें वर्णित हुआ है। और *ये मंत्र उन्नतिकी अवस्थाएं भी स्पष्ट शब्दोंद्वारा बता रहे हैं, देखिये*—

१ प्रथम अवस्था— (अज्ञानावस्था)— अपने या जगत्के विषयका पूर्ण अज्ञान।

२ द्वितीय अवस्था— (भोगावस्था)— जगत् अपने भोगके लिये है, ऐसा मानना, और जगत्को अपने स्वाधीन करनेका यत्न करना। जगत्पर प्रभुत्व स्थापित करना। इसी अवस्थामें राज्यैश्वर्य भोग बढाये जाते हैं।

३ तृतीय अवस्था- (त्यागावस्था)— जगत्के भोगोंसे असमाधान होकर विभक्तोंमें व्यापक अविभक्त सत्तावाली सद्वस्तुको ढूंढनेका प्रयत्न करना। *यह जिज्ञासुकी अवस्था है।*

४ चतुर्थ अवस्था- (भक्तावस्था)— मनुष्य विभिन्न विश्वमें व्यापक एक अभिन्न आत्मतत्त्वको देखने लगता है और श्रद्धा भक्तिसे उसकी उपासना करने लगता है।

५ पंचम अवस्था- (स्वरूपावस्था)— उपासना और भक्ति दृढ और सहज होनेपर वह तद्रूप हो जाता है, मानों उसमें एक रूप होकर प्रविष्ट होता है, या जैसा था वैसा बन जाता है। यही साक्षात्कारकी अवस्था है, यहां इसको सब प्रत्यक्ष होता है।

यही मार्ग इस अथर्व सूक्तमें वर्णन किया है। यहां पाठकोंको स्पष्ट हुआ होगा कि पूर्व तैयारी कौनसी है और आगेका मार्ग क्या है।

पूर्णावस्था।

पूर्वोक्त यजुर्वेदके मंत्रोंमें कहा ही है कि—

उपस्थाय प्रथमजामृतस्य।
आत्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य।
तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ १२ ॥

वा. यजु. अ. ३२

' सत्यके पहिले प्रवर्तक परमात्माकी उपासना करके आत्मासे परमात्मामें प्रविष्ट हुआ ॥ सत्यके फैले हुए धागेको अलग देखकर वैसा हुआ जैसा कि पहिले था।' यह सब वर्णन पूर्ण अवस्थाका है। इसीको निम्नलिखित शब्दोंद्वारा इस अथर्व सूक्तमें कहा है—

स्वर्विदः व्राः अभ्यनूषत ॥ १ ॥
अमृतस्य धाम विद्वान् ॥ २ ॥
यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ ३ ॥

'(**व्राः**) व्रत पालन करनेवाले (**स्वर्विदः**) *आत्मज्ञानी* उसीकी स्तुति करते हैं। वे अमृतके धामको जानते हैं। जो ये धाम जानता है वह पिताका पिता अर्थात् सबमें अधिक ज्ञानी अथवा सबमें अधिक समर्थ होता है।' यह अंतिम फल है पूर्ण अवस्थामें पहुंचनेका निश्चय इससे हो सकता है।

प्रथम मंत्रमें ' व्राः ' शब्द बडा महत्व रखता है। व्रतों या नियमोंका पालन करनेवाला। अपनी उन्नतिके लिये जो नियम आवश्यक होंगे उनको अपनी इच्छासे पालन करनेवालेका यह नाम है। नियम स्वयं देखकर स्वयं ही उस व्रतका पालन करना

बडे पुरुषार्थसे साध्य होता है। इसमें व्रतभंग होनेपर अपने आपको स्वयं ही दंड देना होता है, स्वयं ही प्रायश्चित्त करना होता है। महान् आत्मा ही ऐसा कर सकते हैं। हरएक मनुष्य दूसरे पर अधिकार चला सकता है, परंतु स्वयं अपने पर अधिकार चलाना अति कठिन है। अपनी संपूर्ण शक्तियां अपने आधीन रखना और कभी कुविचार आदि शत्रुओंके आधीन न होना इत्यादि महत्वपूर्ण बातें इस आत्मशासनमें आती हैं। परंतु जो यह करेगा, वही आत्मज्ञानी और विशेष समर्थ बनेगा और उसीका महत्व सब लोग मानेंगे।

सूत्रात्मा।

मणियोंकी माला बनती है, इस मालामें जितने मणि होते हैं, उन सबमें एक सूत्र होता है, जिसके आधारसे ये मणि रहते हैं। सूत्र टूट गया तो माला नहीं रहती और मणि भी बिखर जाते हैं। जिस प्रकार अनेक मणियोंके बीचमें यह एक सूत्र या तंतु होता है, उसी प्रकार इस जगत्के सूर्यचंद्रादि विविध मणियोंमें परमात्माका व्यापक सूत्र तन्तु या धागा है, जिसके आधारसे यह सब विश्व रह रहा है, इसीका दर्शन नहीं होता, सब मालाका ही वर्णन करते हैं, परंतु जिस धागेके आधारसे ये सब मणि मालारूपमें रहे हैं, उस सूत्रका महत्व तत्वज्ञानी ही जान सकता है और वह उस जगदाधारको प्राप्त कर सकता है।

वेदमें 'तन्तु, सूत्र' आदि शब्द इस अर्थमें आ गये हैं। जगत्के संपूर्ण पदार्थ मात्रके अंदर यह परमात्माका सूत्र फैला है, कोई भी पदार्थ इसके आधारके बिना नहीं है। यह जानना इस ज्ञानका प्रत्यक्ष करना और इसका साक्षात्कारद्वारसे अनुभव लेना गूढ विद्याका विषय है, जो इस सूक्त द्वारा बताया है।

अमृतका धाम।

यही आत्मा अमृतका धाम है, इसको ढूंढना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है। इसको कहां ढूंढना यही प्रश्न बडा विचारणीय है, इसकी प्राप्तिके लिये ही संपूर्ण जगत् घूम रहा है, विचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, सुख और आनंदके लिये हरएक प्राणी प्रयत्न कर रहा है, और हरएकका ख्याल है कि, *बाह्य पदार्थकी प्राप्तिसे सुख होता है।* इसलिये मनुष्य क्या अथवा अन्य कीटपतंगादि प्राणी क्या सभी भ्रमण कर रहे हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर आ रहे हैं, इष्ट पदार्थ प्राप्त होनेपर क्षणभर सुखका अनुभव लेते हैं और पश्चात् दुःख जैसा का वैसा बनारहता है। इसका मनन करते करते मनुष्यके मनमें विचार आजाता है कि, आनंदकंदको अपनेसे बाहर ढूंढते रहनेकी अपेक्षा उसको अपने अंदर तो ढूंढकर देखें। यही बात 'मैंने द्यावापृथ्वीमें भ्रमण किया, मैंने संपूर्ण भूतोंमें चक्कर मारा, सब दिशाएं और विदिशाएं देखलीं और अब मैं सर्वत्र व्यापक एक सूत्रात्माको जानकर उसकी उपासना करता हूं।" *इत्यादि जो भाव चतुर्थ और पंचम मंत्रका है उसमें दर्शाई* है। गूढ विद्याका प्रारंभ इसके पश्चात्के क्षेत्रमें है, यहांसे ही गूढ तत्वकी खोज शुरू होती है। जिस प्रकार आंख संपूर्ण पदार्थोंको देखती है परंतु आंखमें पडे कणको देख नहीं सकती, *इसी प्रकार मनुष्य सब जगत्का निरीक्षण करता है, परंतु* अपने अंदरका निरीक्षण करना उसको कठिन होता है। यही गुप्त विद्याका क्षेत्र है। इसलिये इसको कहां ढूंढना है, यह देखना चाहिये। इस सूक्तमें इस विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले शब्द ये हैं—

गुहा।

यत् परमं गुहा॥ १॥
यत् धाम परमं गुहा॥ २॥

'यह परम धाम गुहामें है।' इसलिये इसको गुहामें ही ढूंढना उचित है। इसी हेतुसे बहुतसे लोग पर्वतोंकी गुहाओंमें जाते हैं, और वहां एकान्त सेवन करते हैं। योग्य गुरुके पास रहकर पर्वत कंदरामें एकान्त सेवन करने और अनुष्ठान करनेसे इस गुह्य विद्याका अनुभव लेनेके विषयमें बडा लाभ निःसंदेह होता है, परंतु यह एक बाह्य साधन है। सच्ची गुहा हृदयकी गुहा ही है। हृदयकी गुहा सब जानते ही हैं। इसीमें इस गुप्ततत्वकी खोज करनी चाहिये।

सब प्राणी तथा सब मनुष्य बाहर देखते हैं, इस बहिर्दृष्टिसे गुप्ततत्वकी खोज नहीं हो सकती। इस कार्यके लिये दृष्टि अंतर्मुख होनी चाहिये, अपनी इंद्रिय शक्तियोंका प्रवाह अंदरकी ओर अर्थात् उलटा शुरू होना चाहिये। तभी इस गुप्त तत्वकी खोज हो सकती है। अपने हृदयमें ही उस गुप्त आत्माको देखना चाहिये। अर्थात् इसकी प्राप्तिके लिये बाह्य दिशाओंमें भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है, अंतर्मुख होकर अपनी हृदयकी गुहामें देखना चाहिये।

चार भाग।

यह अमृतका धाम हृदयमें है। यदि इस अमृतके चार भाग मान लिये जाय, तो तीन भाग अंदर गुप्त हैं और केवल एक भाग ही बाहर व्यक्त है। जो बाहर दिखता है, जो स्थूल दृष्टिसे अनुभवमें आता है वह अत्यंत अल्प है, परंतु जो अंदर गुप्त है, वह बहुत विस्तृत ही है। अपने शरीरमें भी देखिये आत्मा-बुद्धि, मन, प्राण ये हमारी अंतःशक्तियां अदृश्य हैं

और स्थूल शरीर यह दृश्य है। यदि शक्तिकी तुलना की जाय तो स्थूलशरीरकी शक्तिकी अपेक्षा आंतरिक शक्तियां बहुत ही प्रभावशाली हैं। अर्थात् स्थूल और व्यक्तकी शक्तिकी अपेक्षा सूक्ष्म और अव्यक्तकी शक्ति बहुत ही बडी है। यही यहां निम्नलिखित शब्दोंद्वारा व्यक्त हुआ है—

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पिताऽसत् ॥ १५॥

'इसके तीन पाद गुहामें गुप्त हैं, जो उनको जानता है वह समर्थसे भी समर्थ होता है।' अर्थात् स्थूलशरीरकी शक्तिकी स्वाधीनता होनेकी अपेक्षा आंतरिक शक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त होनेसे अधिक सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसी विषयमें ये मंत्र देखिये—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः॥४॥
(ऋ. १०।९०, वा य ३१)

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादोस्येहाऽभवत्पुनः ॥
(अथर्व. १९।६)

त्रिपाद्ब्रह्म पुरुरूपं वितष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ (अथर्व. ९।१०।१९)

'उसके एक पादसे सब भूत बने हैं और तीन पाद अमृत द्युलोकमें है॥ तीन पाद पुरुषका ऊपर उदय हुआ है, और एक पाद पुरुष यहां वारंवार प्रकट होता है॥ तीन पावोंसे स्वर्गपर चढा है और एक पाद यहां पुनः पुनः होता है॥ तीन पाद ब्रह्म बहुत रूप धारण करके ठहरा है, जिससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं।'

इन सब मंत्रोंका तात्पर्य यही है, जो इस सूक्तके ऊपर दिये हुए भागमें बताया है। उस अमृतकी अल्पसी शक्ति स्थूलमें प्रकट होती है, शेष अनंत शक्ति अप्रकट स्थितिमें गुप्त रहती है और उस गुप्त शक्तिसे ही इस व्यक्तमें कार्य होता रहता है। पाठक मनकी शक्तिकी शरीरकी शक्तिके साथ तुलना करेंगे, तो उक्त बातका पता उनको लग जायगा। मनकी शक्ति बहुत है, उसका थोडासा भाग शरीरमें आ गया है और यहां कार्य कर रहा है। स्थूलमें कार्य करनेवाला अशक्त मन वारंवार मूल गुप्तमनकी शक्तिसे प्रभावित होता है, नवजीवन प्राप्त करता है और वारवार शरीरमें आकर कार्य करता है। यही बात अधिक सच्चत से अमृततत्त्वके साथ संगत होती है। उसका केवल एक अंश प्रकट है, शेष अनंत शक्ति गुप्त है, इसके साथ अपना संबंध जोडना गूढविद्याका साध्य है।

एक रूप।

जगत्में विविधता है और इस आत्मतत्त्वमें एकरूपता है। जगत्में गति है इसमें शांति है, जगत्में भिन्नता है इसमें एकता है, इस प्रकार जगत्का और आत्माका वर्णन किया जाता है, सब लोग इस वर्णनके साथ परिचित हैं, इस सूक्तमें भी देखिये—

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्। इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १॥

'ज्ञानी भक्त ही उसको देखता है, जो हृदयकी गुहामें है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व अपनी विविधताको छोडकर एकरूप हो जाता है। इसकी शक्तिको प्रकृति खींचती है और जन्म लेनेवाले पदार्थ पैदा करती है। इसलिये आत्मज्ञानी व्रतपालन करनेवाले भक्त उस आत्माका ही गुण गान करते हैं।'

पाठक अपने अंदर इसका अनुभव देख लें, जाग्रतीमें जगत् की विविधताका अनुभव आती है, स्वप्नमें भी काल्पनिक सृष्टिमें विविधताका अनुभव आता है, परंतु तृतीय अवस्था गाढ निद्रा—सुषुप्तिमें भिन्नताका अनुभव नहीं आता और केवल एकत्वका अनुभव व्यक्त करना असंभव है, इसलिये उस समय किसी प्रकारका भान नहीं होता। सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें 'ब्रह्म रूपता' होती है, तम-रज-सत्त्व गुणोंकी भिन्नता छोड दी जाय तो उक्त तीनों स्थानोंमें ब्रह्मरूपता, आत्मरूपता अथवा साधारण भाषामें ईशरूपता होती है और इस अवस्थामें भिन्नत्वका अनुभव मिट जाता है, इसलिये इस अवस्थाको 'एक-त्व' न कहते हुए 'अ-द्वैत' कहते हैं। इसी उद्देशसे इस मंत्रमें कहा है कि—

यत्र विश्वं एकरूपं भवति ॥ १ ॥

'जहां संपूर्ण विश्व एकरूप होता है।' अर्थात् जिसमें जगत्की विविधता अनुभवमें नहीं आती, परंतु उस सब विविधताको एकताका रूप सा आ जाता है। वृक्षके बड, शाखा, पल्लव आदि भिन्न रूपताका अनुभव है, परंतु मुठलीमें इस भिन्नताकी एक रूपता दिखाई देती है। इसी प्रकार इस जगद्रूपी वृक्षकी विविधता मूल उत्पत्तिकारणमें आकर देखनेसे एकरूपतामें दिखाई देगी। इसी मुख्य आदि कारणसे विविध शक्तियां प्रकृति अपने अंदर धारण करके उत्पत्ति वाले पदार्थ निर्माण करती है। इस रीतिसे न उत्पन्न होनेवाले एक तत्त्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक तत्त्व बनते हैं। इनका ही नाम उक्त मंत्रमें 'जायमानाः' कहा है। इनमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं और

अन्य प्राणी तथा अप्राणी भी हैं। इनमें मनुष्य ही (प्राः) व्रतपालनादि सुनियमोंसे अपनी उन्नति करके आदि मूलको जानता और अनुभव करके और (स्वर्विदः) प्रकाश प्राप्त करके प्रतिदिन अनुष्ठान करता हुआ समर्थ बनता जाता है।

अनुभवका स्वरूप।

आत्मज्ञानी मनुष्यको अमृत धामका अनुभव किस प्रकार होता है, उसके अनुभवका स्वरूप अब देखना चाहिये- 'आत्मज्ञानी मनुष्य अमृतधामको अपनी हृदयकी गुहामें अनुभव करता है, अनंत शक्तियां वहां ही इकट्ठी हुई हैं, यह उसका अनुभव है।' (मं. २ देखो)

और वह अनुभव करता है कि— 'वही परमात्मा हम सबका पिता, उत्पादक, और भाई है, वही सर्वज्ञ है।' (मं. ३) इतना ही नहीं परंतु 'वही हमारी माता और वही हमारा सच्चा मित्र है' यह भी उसका अनुभव है। यहां ऋग्वेद और अथर्व मंत्रोंकी तुलना कीजिये—

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥ यो देवानां नामध एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥

(अथर्व. २।१।३)

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

(ऋग्वेद १०।८२।३)

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥ (वा. यजु ३२।१०)

इनमें कुछ पाठभेद है, परंतु सबका तात्पर्य ऊपर बताया ही है। यही ज्ञानी भक्तका अनुभव है। और एक अनुभव यजुर्वेदके मंत्रमें दिया है वह भी यहां देखिये—

जगत् का ताना और बाना।

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ वा. यजु. ३२।८

'ज्ञानी भक्त उस परमात्माको जानता है जो हृदयकी गुहामें है और जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोंसलेमें रहनेके समान रहता है, तथा जिसमें यह सब विश्व एक समय (सं एति) मिल जाता है या लीन होता है और दूसरे समय (वि एति) अलग होता है। (सः विभूः) वह सर्वत्र व्यापक तथा वैभवसे युक्त है और (प्रजासु ओतः प्रोतः) प्रजाओंमें ताना और बाना किये हुए धागोंके समान फैला है।'

धोतीमें जैसे ताने और बानेके धागे होते हैं, उस प्रकार परमात्मा इस जगत्में फैला है, यह उस ज्ञानीका अनुभव है।

बालक पर आपत्ति आती है उस समय वह बालक अपने माता पिता, बडे भाई, चचा, दादा, नाना आदिके पास सहायतार्थ जाता है। वही बालक बडा होनेपर आपत्ति आगई तो अपने समर्थ मित्रके पास जाता है और उससे सहायता लेता है। इसी प्रकार अन्य प्रसंगोंमें गुरु, राजा, आदिकोंकी सहायता लेता है। ये सब संबंध परमात्मामें ज्ञानी अनुभव करता है अर्थात् ज्ञानी भक्तके लिये परमात्मा ही सम्राट्, राजा, सरदार, शासक, शिक्षक, गुरु, माता, पिता, मित्र, भाई आदि रूप हो जाता है।

एकके अनेक नाम।

एक ही मनुष्यको उसका पुत्र पिता कहता है, स्त्री पति कहती है, उसका भाई उसको बंधु कहता है, इस प्रकार विविध संबंधी उस एक ही पुरुषको विविध संबंधोंके अनुभव होनेके कारण विविध नामोंसे पुकारते हैं। इस रीतिसे एक मनुष्यको विविध नाम मिलनेपर भी उसके एकत्वमें कोई भेद नहीं आता है।

इसी ढंगसे परमात्मा एक होने पर भी उसके अनंत गुणोंके कारण और उसके ही अनंत गुण सृष्टीके अनंत पदार्थोंमें आनेके कारण उसको अनंत नाम दिये जाते हैं। जैसे अग्निमें उष्णता गुण है वह परमात्मासे प्राप्त हुआ है, इसलिये अग्निका अग्नि नाम वास्तविक गुणकी सत्ताकी दृष्टिसे परमात्माका ही नाम है, क्योंकि वह अग्निका ही अग्नि है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके नामोंके विषयमें जानना योग्य है।

शरीरमें भी देखिये- आंख नाक कान आदि इंद्रियां स्वयं अपने अपने कर्म नहीं कर सकतीं, परंतु आत्माकी शक्तिको अपने अंदर लेकर ही अपने कर्म करनेमें समर्थ होती हैं। इस लिये सब इंद्रियोंके नाम आत्मामें सार्थ होते हैं, अतः आत्माको आंखका आंख, कानका कान कहते हैं। इसी प्रकार परमात्मा सूर्यका सूर्य, विद्युतका विद्युत है। देवोंके नाम धारण करनेवाला परमात्मा है ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है, वह इस प्रकार सत्य है।

वह एक ही है।

परमात्मा एक ही है, यह बात इस तृतीय मंत्रमें 'एक एव' (वह एक ही है) इन शब्दों द्वारा जोरसे कही है।

यहां इस प्रथम सूक्तका विचार समाप्त होता है। यदि पाठक इस सूक्तके एक एक मंत्रका तथा मंत्रके एक एक भागका विचार करेंगे और उसपर अधिक मनन करेंगे, तो उनके मनमें गूढविद्याकी बातें स्वयं स्फुरित होंगी। इस सूक्तमें शब्द चुन चुनके रखे हैं, और हरएक शब्द विशेष भाव बता रहा है। विशेष विचार करनेकी सुगमताके लिये ऋग्वेद और यजुर्वेदके पाठ भी यहां दिये हैं, इससे पाठक इसका अधिक मनन कर सकते हैं। वेदकी यह विशेष विद्या है, इसलिये पाठक इस सूक्तके मननसे जितना अधिक लाभ उठावेंगे उतना अधिक अच्छा है।

एक पूजनीय ईश्वर।

(का. २, सू. २)

(ऋषिः— मातृनामा। देवता— गन्धर्वाप्सरसः।)

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑ वि॒क्ष्वीड्यः॑।
तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दिव्य दे॒व नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥ १ ॥
दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य।
मृ॒डाद्ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः॑ सु॒शेवाः॑ ॥ २ ॥

अर्थ— (यः दिव्य गन्धर्व) जो दिव्य पृथिव्यादिका धारक देव (भुवनस्य एक एव पतिः) भुवनोंका एक ही स्वामी (विक्षु नमस्यः ईड्यः च) जगत्में यही एक नमस्कार करने और स्तुति करने योग्य है। हे (दिव्य देव) दिव्य *अद्भुत ईश्वर ! (तं त्वा) उस तुझसे (ब्रह्मणा यौमि) उपासना द्वारा मिलता हूं। (ते नम अस्तु) तेरे लिये नमस्कार* हो। (ते सध-स्थं दिवि) तेरा स्थान द्युलोकमें है ॥ १ ॥

(भुवनस्य एकः एव पतिः) भुवनोंका एक ही स्वामी यह (गन्धर्व) भूमि आदिकोंका धारण कर्ता (नमस्य सुशेवाः) नमन करने और सेवा करने योग्य है, वह ही (मृडात्) सबको आनंद देवे। यही दिव्य देव (दिवि स्पृष्टः) द्युलोकमें प्राप्त होता है, (यजतः) पूज्य है और (सूर्य-त्वक्) सूर्य ही जिसकी त्वचा है अर्थात् सूर्यके अंदर भी व्यापनेवाला, तथा (दैव्यस्य हरसः) देवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है। इसीलिये सबके द्वारा यह पूजनीय है ॥ २ ॥

भावार्थ— पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि संपूर्ण जगत्का धारण करनेवाला और संपूर्ण जगत्का एक ही अद्वितीय स्वामी परमेश्वर ही है और वही सब लोगोंको पूजा उपासना करने योग्य है। स्तुति प्रार्थना उपासनासे अर्थात् भक्तिसे उसकी प्राप्ति होती है। यह ईश्वर अपने स्वर्गधाममें है, उसीको सब लोग नमस्कार करें ॥ १ ॥

संपूर्ण जगत्का एक स्वामी और सब जगत्का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, उसीकी भक्ति और सेवा सबको करना चाहिये, क्योंकि वही सबका सच्चा आनंद देनेवाला है। वही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है। सबसे अत्यंत पूजनीय ऐसा यही एक देव है, यह सबमें रहता है, यहां तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब साधारण और असाधारण आपत्तियां हट जाती हैं ॥ २ ॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥
अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ ४ ॥
याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

अर्थ— (अनु-अवद्याभिः आभिः) दोष रहित ऐसे इन प्राणशक्तियोंके साथ वह (उ सं जग्मे) निश्चयसे मिला रहता है और (अप्सरासु अपि) इन प्राणशक्तियोंमें भी (गन्धर्वः आसीत्) भूमि आदिकोंका धारक देव विद्यमान है। (आसां स्थानं समुद्रे) इनका स्थान अन्तरिक्षमें है, (यतः) जहांसे (सद्यः) शीघ्र ही ये (आ यन्ति) आती हैं और (परा यन्ति च) परे जाती हैं। यह बात (मे आहुः) मुझे बतायी है ॥ ३ ॥

(अभ्रिये विद्युत्) बादलोंकी विद्युत्में अथवा (नक्षत्रिये) नक्षत्रोंके प्रकाशमें भी (याः) जो तुम (विश्वा-वसुं गन्धर्वं) विश्वके बसानेवाले धारक देवको (सचध्वे) प्राप्त करती हो अथवा उसकी सेवा करती हो, इसलिये हे (देवीः) देवियो ! (ताभ्यः वः) उन तुमको (इत् नमः कृणोमि) निश्चय पूर्वक में नमन करता हूं ॥ ४ ॥

(याः क्लन्दाः) जो बुलानेवाली या प्रेरणा करनेवाली, (तमिषी-चयः) ग्लानिको हटानेवाली, (अक्ष-कामाः) आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली, (मनो-मुहः) मनको हिलानेवाली हैं (ताभ्यः गन्धर्व-पत्नीभ्यः अप्सराभ्यः) उन गंधर्वपत्नीरूप अप्सराओंको- अर्थात् सर्व धारक आत्माकी प्राणशक्तियोंको (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— इसके साथ जीवनकी अनंत कलाएं हैं, इतना ही नहीं परंतु वह उन जीवन शक्तियोंके अंदर भी है। इन सबका निवास मध्यलोक-अंतरिक्ष-है, जहांसे ये सब शक्तियां प्रकट होती हैं और जहां फिर गुप्त हो जाती हैं ॥ ३ ॥

बादलोंके अंदर चमकनेवाली विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या यह सब जगत्का पालन कर्ता एक रस भरा है, और इसीकी सेवा संपूर्ण जीवनकी शक्तिरूप देवियां कर रही हैं, इसलिये उनको भी नमन करना योग्य है ॥ ४ ॥

ये प्राणशक्तियां सबको प्रेरणा करनेवाली, सबको चलानेवाली, थकावटको दूर करनेवाली, आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली और मनको हिलानेवाली हैं। यही आत्माकी शक्तियें हैं, इस दृष्टिसे मैं इनको नमस्कार करता हूं, अर्थात् यह इनको किया हुआ मेरा नमस्कार भी उस अद्वितीय ईश्वरको ही पहुंचेगा, क्योंकि ये शक्तियां उसीके आधारसे रहती हैं। ॥ ५ ॥

एक पूजनीय ईश्वर

पूर्व सम्बन्ध ।

प्रथम सूक्तमें 'गुह्य अध्यात्मविद्या' का वर्णन किया गया है, उस सूक्तमें जिस परमात्मदेवका वर्णन किया गया है, उसीका वर्णन यहां 'गधर्व' शब्दसे किया गया है। उस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रमें भी 'गंधर्व' शब्द है, इससे पूर्व सूक्तका इस सूक्तके साथ संबंध स्पष्ट हो जाता है।

गन्धर्व और अप्सरा

'गंधर्व' शब्दका अर्थ पूर्व सूक्तके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किया ही है। (गां+धर्व) अर्थात् (गां) भूमि, सूर्य, वाणी, इंद्रियां, अंतःकरण-शक्तियां आदिकोंका (धर्वः) धारण पोषण करनेवाला आत्मा यह इसका अर्थ है। भूमि, सूर्य तथा अन्यान्य चराचर स्थूल सूक्ष्म सब पदार्थोंका धारण पोषण करनेके कारण परमात्माका यह नाम है। इसी प्रकार लघुकार्य क्षेत्रमें शरीरके अंदर वाणी प्राणशक्ति इंद्रियशक्ति आदिकोंका तथा स्थूलसूक्ष्मादि देहोंका धारण करनेके कारण जीवात्माका भी यही नाम है। इस सूक्तमें मुख्यतया परमात्माका वर्णन है, परंतु अन्य अंशसे यह वर्णन अर्थका मुख्य करनेसे जीवात्मामें भी घटाया जा सकता है। यह गंधर्वका स्वरूप

प्रकार स्मरणमें रखें। 'गधर्व' शब्दसे अन्य अर्थ प्रथम सूक्तमें पाठक देखें।

गधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः ॥ (मन्त्र ५)

गधर्वकी पत्नी ही अप्सराएं हैं। गधर्व एक है परतु उसकी अप्सराएं अनेक हैं। (**अप्+सरस्**) अर्थात् (**अप्**) जलके आश्रयसे (**सरस्**) चलनेवाली, यह नाम जलाधिन प्राणका वाचक है। '**आपोमयः प्राणः**' — जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिये '**अप्सरा**' शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उच्छ्वास अर्थात प्राण आयुष्यरूपी वस्त्रके ताने और बानेके धागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्यत्र वर्णन है।

यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः। (ऋग्वेद ७।३३।९)

'(**अप्सरसः वसिष्ठाः**) जलाश्रित प्राण (**यमेन ततं**) यमके द्वारा फैलाई हुई (**परिधिं**) तानेकी मर्यादा तक (**वयन्तः**) आयुष्यरूपी कपडा बुनते हैं।

'**यम**' = आयुष्यका ताना फैलानेवाला जुलाहा।

'**ताना**' = आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा।

'**प्राण**' = कपडा बुननेवाले जुलाहे।

'**कपडा**' = आयुष्य।

'मनुष्यका आयुष्य एक कपडा है जो मनुष्य देह रूपी खड्डीपर बुना जाता है, यहां बुननेवाले प्राण हैं। यहां '**अप्सरस्**' शब्द और '**वसिष्ठ**' ये दो शब्द प्राणवाचक आये हैं। (**अप्सरस्**) जलाश्रयसे रहनेवाले (**वसिष्ठ**) निवासके हेतु प्राण हैं।

इससे भी अनुमान होता है, कि जलतत्त्वके आधारसे रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी धर्मपत्नी रूप है ऐसा यहां कहा है, वह प्राणशक्ति, जीवनका कला ही निःसदेह है। गधर्व यदि आत्मा है तो उसकी धर्मपत्नी अप्सरा निःसदेह प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है। आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहांके '**गंधर्व और अप्सराः**' के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं। शरीरमें छोटा प्राण और जगत्में विश्वव्यापक प्राण है, इस कारण गधर्वका अर्थ आत्मा परमात्मा माननेपर दोनो स्थानोंमें अर्थकी सगति हो सकती है।

महान् गन्धर्व।

इस सूक्तमें पहिले दो मन्त्र बडे महान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखनेसे निश्चय होता है कि, यहां गन्धर्व शब्द परमात्माका वाचक है। देखिये —

१ **भुवनस्य एक एव पतिः** — भुवनोंका एक ही स्वामी। इसके सिवाय और कोई भी जगत्का पति नहीं है। यही परमेश्वर सबका एक प्रभु है। (मं. १, २)

२ **एक एव नमस्यः** — यही एक अद्वितीय परमात्मा सबको नमस्कार करने योग्य है। इसके स्थानपर किसी भी अन्यकी उपासना नहीं करनी चाहिये। (मं. १, २)

३ **दिव्यः गंधर्वः** — यही अद्भुत है, दिव्य पदार्थ है, यहां मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यही (**गां**) भूमिसे लेकर संपूर्ण जगत्का सच्चा (**धर्वः**) धारक पोषक है। (मं. १)

४ **विक्षु ईड्यः** — सब जगत्में यही प्रशंसाके योग्य है।

५ **दिवि ते सधस्थं** — स्वर्गधाममें, गुह्यधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है (मं. १)। [इस विषयमें प्रथम सूक्तके मं. १, २ देखें, जिसमें इसके गुहामें निवास होनेका वर्णन है।]

६ **दिवि स्पृष्टः** — इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुह्य स्थानमें ही होती है। यह भी पूर्वोक्त शब्दोंका ही स्पष्टीकरण है। (मं २)

७ **सूर्यत्वक्** — महान् सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उसमें भी है इतना ही नहीं, परंतु उसका बडा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है (मं. २)। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिये। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ **विश्वा-वसुः (गंधर्वः)** — विश्वका यही निवासक है। (मं. ४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहांका यह गंधर्वका वर्णन निःसदेह परमात्माका वर्णन है। किसी भी अन्य पदार्थमें ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते। इसलिये पाठक इन लक्षणोंका मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देवकी भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिये पूजनीय देव है।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी '**ब्राह्म उपासना**' करनेका विधान बडा महत्त्वपूर्ण है।

१ **त्वा योमि ब्रह्मणा।** (मं. १)

२ **नमस्यः।** (मं. १, २) **नमस्ते अस्तु।** (मं १)

३ **विक्षु ईड्यः।** (मं. १)

४ **सुशेवाः।** (मं. २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करनेके मार्गकी सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासनाका अर्थ 'ब्रह्मयज्ञ' अथवा मन द्वारा करनेका 'मानस उपासना' ही है। आत्मा बुद्धि चित्त मन आदि अंत साधनोंसे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन शक्तियोंका नाम ही शरीरमें ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्र भी है और मंत्रका आशय 'मनन' है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मननसे ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीतिसे यह नहीं होती है, यह स्पष्टतया बतानेके लिये यहां 'ब्रह्मणा' शब्द इस मंत्रमें प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यानमें धारण करके उक्त चार मंत्र भागोंका अर्थ ऐसा होता है—

१ तं त्वा यामि ब्रह्मणा- उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूं। (मनन)

२ नमस्यः (नमस्ते)— तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। (नमन)

३ विक्षु ईड्यः— सब जगत्में तू ही प्रशंसा करनेके योग्य है। (सर्वत्र दर्शन)

४ सु-शेवा— तू ही उत्तम सेवाके योग्य है। (सेवन)

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजा की विधि ज्ञात हो जाती है। (१) प्रभुके गुणोंका मनसे मनन करना, (२) उसीको मनसे नमन करना, (३) प्रत्येक पदार्थमें तथा प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना और (४) सब कर्म उसकी सेवा करनेके लिये करना, ये चार भाग उस प्रभुकी उपासनाके हैं। इन चार भागोंमेंसे जितने भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उतनी उपासना उतने ही प्रमाणसे हुई है, ऐसा मानना चाहिये। पाठक विचार करें और अपनी उपासनाकी परीक्षा इस कसौटीसे करें। हरएक मनुष्य अपने आपको परमात्माका उपासक मानता ही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है, वह इस वैदिक मानस उपासनाकी उक्त कसौटीसे किस कोटीपर गिनी जा सकती है, यह भी देखना चाहिये। इस दृष्टिसे ये चार मंत्र भाग विशेष ही महत्त्व रखते हैं।

'मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन' ये चार नाम इंद्रियसे मानस उपासनाके चार अंगोंके दर्शक माने जा सकते हैं।

१ मनन- से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है। इस दृष्टिसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

२ नमन- जब मननसे उसका महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उस प्रभुके सामने नम्र होता है। मननके पश्चात्की यह स्वाभाविक ही अवस्था है।

३ दर्शन- मननसे ही उसकी सार्वत्रिक सत्ताका भी अनुभव होता है। स्थिर चरमें एक रस व्यापक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी उच्च अवस्था है। जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्थामें होता है।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं। इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवावस्था है।

४ सेवन- यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है। सेवन और 'भजन' ये दोनों शब्द समान अर्थके ही हैं– सेवन और भजन एक ही अर्थ बताते हैं। प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है।

'दीनोंका उद्धार' करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंका दूर करना, ये ही परमात्माके कर्म हैं। इन कर्मोंको परमात्मार्पण बुद्धिसे करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है।

नामस्मरण।

नामस्मरणका भी यही तात्पर्य है, जैसा 'हरि' (दु खोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिये मैं भी दु खितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करना और दूसरोंको सुख देनेके कर्मसे ईश्वरकी सेवा करना। 'राम' (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इसलिये मैं भी दीन दु खी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीडा दूर करनेके दान द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करना। 'नामस्मरण' का यही उद्देश्य है। यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरण ही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्यका पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं, यह पाठक विचारमें लावें और परमेश्वरके इनमें नाम करनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें। अनेक मत पढनेसे जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नामके मननसे समझमें आता है, इसीलिये वेदादि ग्रंथोंमें परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बडे मार्ग दर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये।

अस्तु। ईश्वर उपासनाके ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें। यही सीधा, सरल और अति सुगम मार्ग है।

ब्राह्म उपासनाका फल ।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इस मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं—

१ सं त्वा यौमि— परमेश्वरके साथ मिलना, ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त करना । (मं. १)

२ दैव्यस्य हरसः अवयाता— परमात्मा सब महा-पीडाओंको दूर करनेवाला है, इसलिये सब पीडा उसकी प्राप्तिसे दूर हो जाती है । (मं २)

३ मृडात्— वह आनंद देता है । (मं २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासनाका फल परमानंद प्राप्ति ही है । वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृढता और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है । यह फल प्राप्त करनेका ही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है ।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । इसके पश्चात्के तीन मंत्रोंका वर्णन ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये उस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्में देखना चाहिये—

अपने अंदरकी जीवन शक्ति ।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतत्त्वके आश्रयसे कार्य-करनेवाली प्राणशक्ति या जीवनशक्ति ही ' अप्सरा ' शब्दसे इस सूक्तमें कही है, देखिये इसका वर्णन—

१ क्रन्दाः— पुकारनेवाली, बुलानेवाली, प्रेरणा देनेवाली । प्राण शक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंको प्रेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है ।

२ *तमिषी-चयः*— (*तमिषी*) ग्लानी अथवा थका-वटको (चयः) दूर करनेवाली, थकावटको हटानेवाली प्राण शक्ति है । जो उत्साह प्राणिमात्रमें है वह प्राणशक्तिका ही है, प्राणायामसे भी उत्साह बढने और थकावट दूर होनेका अनुभव है ।

३ अक्ष-कामाः— (अक्षि+कामाः) आंखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली । पाठक देखें कि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आंखोंको तृप्त कर सकता है । मुर्दा देख कर किसी मनुष्यके आंख तृप्त नहीं होते । इससे आंखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है ।

४ मनो- मुहः— मनको मोहित करनेवाली । इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है ।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवनकी शक्तियोंके वाचक हैं । पाठक इन शब्दोंके अर्थोंका अनुभव अपने अंदर करें । इनको (मंत्र ५ में) '**गंधर्व-पत्नी अप्सरा**' कहा है । गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवात्मा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तियां अथवा प्राण शक्तियां हैं, प्राण जलतत्त्वके आश्रयसे रहता है, इसलिये जलाश्रित होनेके कारण (अप+सरः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है । इन प्राणशक्तियोंको नमन पंचम मंत्रमें किया है । प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है । पाठक भी अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीरकी शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है; इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्व, जाना जा सकता है । जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरोंके लिये है । इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राणको नमन किया है ।

प्राणका प्राण ।

यहां प्रश्न होता है, कि क्या यह पत्नियें स्वतंत्र हैं या परतंत्र ? '**पत्नी**' शब्द कहने मात्रसे ही वह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभाको बढानेवाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपास्य देवता है, इत्यादि बातें ज्ञात हो जाती हैं । वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है । इसलिये गंधर्व (आत्मा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) उसी नातेसे देखने चाहिये । जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, उसी प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) बल प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है । इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इसलिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्योंकि पति विरहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई नमस्कार नहीं करते । इसी प्रकार यहां बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती । इसलिये जो वर्णन, प्रशंसा या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परंतु प्राणके प्राणका- अर्थात् आत्माका- है, यह बात भूलना नहीं चाहिये । इसी कारण यहांका प्राण शक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही उद्देश्यसे है, न कि केवल प्राणके लिये ।

ऐसा क्यों कहा है ?

इतने लंबे ढंगसे यह बात क्यों कही है ? यही वेदको यह बताना है, कि संपूर्ण स्थूल विश्वके जो रंग, रूप, रस, आकार आदि हैं, वे सब आत्माकी शक्तिके कारण बने हैं, यदि जगत्से आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न जगत् रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी। जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, मुर्दा और तेजोहीन हो जाता है, देखने लायक नहीं रहता। इसी प्रकार जगत् भी आत्मासे रहित होनेपर निःसत्व होगा। इस लिये जगत्की ओर देखनेके समय आत्मदृष्टि रखनी चाहिये, न कि स्थूल दृष्टि। जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्रीकी ओर देखनेसे उसमें पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाबका फूल, आमका वृक्ष, सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक 'गंधर्व' सर्वत्र उपस्थित है और उसीके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचारसे देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पति ही है, वही सबके लिये (**नमस्यः**) नमस्कार करने योग्य है; यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधानके साथ भी इसकी संगति लग जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (**नमस्यः**) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होता। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है—

विरोधालङ्कार

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि॥ (मं. ४)
ताभ्यो गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नमः॥ (मं. ५)

'उन गंधर्व पत्नी अप्सरा देवियोंको मैं नमस्कार करता हूं।' पहिले दो मंत्रोंमें 'एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है' ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए 'उसकी धर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है।' यह विरोधालंकार है। पहिले कथनके बिलकुल विरुद्ध दूसरा कथन है। जो (**नमस्यः**) नमस्कार करनेयोग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है। इस सूक्तमें विरोध भी प्रबल है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें दोबार कहा है, इतना ही नहीं परंतु—

एक एव नमस्यः। (मं. १, २)

'यही एक नमस्कार करने योग्य देव है।' ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्यकी बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आगया, उस समय उसी प्रकार दो मंत्रोंमें (मं. ४, ५ में) उसकी पत्नियोंको ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिको नमन नहीं किया। यह साधारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखना चाहिये।

व्यवहारकी बात।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्माको नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इंद्रियोंको करते हैं। आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते, न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसे कर सकते हैं ? विचार कीजिये, तो पता लग जायगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्माके लिये नहीं है।

परंतु यदि 'आत्माके लिये नमन नहीं है,' ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको-मृत शरीरको-नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किसके लिये किया जाता है ? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहारकी है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हर एक मनुष्य दूसरेको नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतनका संधि-प्राण।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इंद्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि श्वासोच्छ्वासकी गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धि कर्मोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती है, परंतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है। देखिये—

शरीर — इंद्रियां — "प्राण" — मनबुद्धि — आत्मा
दृश्य ——————————·—————————— अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्यको जोडनेका बिंदु है। इसीलिये स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिये योगादि शास्त्रोंमें प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि यही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड चेतन, शक्ति पुरुष इनको जोड देता है। इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है। और आध्यात्मिक उन्नतिके साधनके लिये प्राणका ही आलंबन सबसे मुख्य माना गया है। क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आ सकता है और इसीसे सूक्ष्मतत्त्वका अनुसंधान होता है।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीरको देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं। यद्यपि नमन एक ही है तथापि करनेवालेके अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओंके लिये होता है।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान।

इसमें एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगतमें स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ-एक भी न रहा, तो चेतन आत्माकी कल्पना होना असंभव है; इसलिये चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिये स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है। अतः स्थूलके आलंबनसे सूक्ष्मकी कल्पनाकी जाती है और इसीलिये शरीरमें कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको मंत्र ४, ५ में नमन करके शरीरके मुख्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है। यहां ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड शरीरको नमन नहीं किया; परंतु जडचेतनकी संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है, अर्थात् स्थूलको पीछे रख कर जहां सूक्ष्मकी शक्तियां प्रारंभ होती हैं, वहां उन सूक्ष्म शक्तियोंको नमन किया है। यहां बिलकुल स्थूलका आलंबन छोडनेका भी उपदेश मिलता है।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष।

इस विवरणसे पाठक समझ ही गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसे ही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है। जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिये नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कारके लिये योग्य नहीं है, तथापि जगत्के स्थूल-सूर्य चंद्रादि पदार्थों-के प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्यका कुछ अनुमान हो सकता है, जगत्के कार्य देखनेसे ही उसके अद्भुत रचना चातुर्यका अनुमान होता है, इस लिये जगत्में-हरएक पदार्थमें-उसकी सत्ताका अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थको देखकर प्रत्येक पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसको नमन करना चाहिये। तभी तो उसको नमन होसकता है। सूर्यको देखकर उसके प्रकाशका तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिये। यही बात हरएक वस्तुके विषयमें हो सकती है। यही बात इसी सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है—

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या
विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ॥ (मंत्र ४)

" मेघोंकी विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके बसानेवाले सर्वधारक परमात्माको प्राप्त करती हैं।" इस मंत्रमें यही बात कही है कि, विद्युतकी चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलकोंको देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी सत्ताकी जागृति होनी चाहिये, उस परमात्माका सामर्थ्य ध्यानमें आना चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना चातुर्य मनमें खडा होना चाहिये। यही प्रभुको सर्वत्र उपस्थित समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है।

पाठक यहां देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें " वह प्रभु ही अकेला वंदनीय है " ऐसा कहा और नमन करनेके समय जगतमें कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मंत्र ४, ५ में) नमन किया " इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है। इस दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे पता लगता है कि यही सीधा मार्ग है। इसी उपासना मार्गसे जाना हर एकके लिये सुगम है। मेघोंमें चमकनेवाली विद्युत्में तथा तेजोगोलकोंके प्रकाशमें उस प्रभुका सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसे समझमें आवेगा?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और *इस विचारकी प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही* स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अब इसको जगत्में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये। इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बडे महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये—

प्राणोंका आना और जाना।

समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य
आ च परा च यन्ति ॥ (मं. ३)

" समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कहा गया है, जहांसे बार बार इधर आती हैं और परे चली जाती हैं। " इस मंत्रमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है। (**आयन्ति परायन्ति**) इधर आती हैं और परे जाती हैं। प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक " आना, " और दूसरी " जाना "। श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं। प्राण अपान ये भी दो नाम हैं। एक गति बाहरसे अंदर आनेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर आनेका मार्ग बताती है। ये दो गतियां सबको विदित हैं।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगाता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है। वेदोंमें अन्यत्र कहा है कि-

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रीः
नाऽहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥

अथर्व. ११।४ (६) २१

" यह (हं-स) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव वहांसे हटायेगा तो इस जगतमें कोई भी जीवित नहीं रह सकता। न दिन होगा और न रात्री होगी। (अथर्व. ११।४ (६) २१,) " प्राण अंदरसे बाहर आनेके समय अपना संबंध नहीं छोडता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणीकी मृत्यु होगी। यही बात इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कही है। हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय यह सदाके लिये बाहर नहीं रहता; यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह प्राणका जीवनके साथ संबंध यहां देखना आवश्यक है। यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। और प्राणकी शक्तिका महत्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है।

प्राणोंका पति।

यह वास्तवमें एक ही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं। मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिलकर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं। प्राणके लिये अप्सरा शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती हैं ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है। इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये—

अनवद्याभिः समु जग्म आभिः
अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत् ॥ (मं. ३)

' इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है। '

यदि गंधर्व और अप्सराएं ये शब्द हटा दिये जाएं और अपने निश्चित किये अर्थोंके अनुसार शब्द रखे जायें, तो उक्त मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है- ' इन निर्दोष अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, संमिलित होता है और उन प्राणोंके अंदर भी यह सर्वधारक आत्मा रहता है। '

यह अर्थ अति सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके हरएक बातका विशेष स्पष्टीकरण इससे पूर्व आचुका है। इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जायेंगे। सब प्राण आत्मासे शक्ति लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है। इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो असावहम्। यजु. अ. ४०।१७

' (सः) यह (**असौ**) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मैं हूं। ' अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों जगत्का सब व्यवहार कर रहे हैं।

ब्रह्माण्ड देह।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें। परंतु यहां केवल अपने अंदर देखकर और अनुभव करके ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है वही बडे ब्रह्मांड देहमें देखना है, अथवा विराट् पुरुषमें कल्पना करना है। इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्माका वर्णन करना मुख्य उद्देश है। तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इसी ढंगसे ब्रह्मांड देहकी कल्पना करनी चाहिये।

जिस प्रकार प्राणीके देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देहमें विश्वव्यापक प्राणका महासमुद्र है। इसी महाप्राण समुद्रसे हम थोडासा प्राणका अंश लेते हैं। इस प्रकार अन्यान्य शक्तियां भी इस ब्रह्माण्ड देहमें बडी विशाल रूपसे हैं। दोनों स्थानोंमें

शक्तियां एक ही प्रकारकी हैं, परंतु अल्पत्व और महत्त्वका भेद है। इसीलिये *अपने अंदरकी व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती है।*

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्वव्यापक सत्ता देख सकते हैं। वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है। वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है।

इसकी प्राप्ति मानस उपासनासे करनी चाहिये। इसको सब स्थानमें उपस्थित मानकर, इसको नमन करना चाहिये। हरएक सृष्टिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे *इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें श्रद्धा* बढती जाती है।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है। जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त रहती है। यह कहां प्रकट होती है और कहां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना हो सकती है।

यह जैसा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रखता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रखता है। प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बडोंमें भी वह बडा है, सूक्ष्मोंसे भी यह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसको जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये। इसके सामने सिर झुकाना चाहिये।

सब जगत्में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिसे ही है। यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये।

" मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन " करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्यमें अपने आपको समर्पित करना चाहिये। " *सज्जन पालन, दुर्जन निर्दलन* " रूप *परमात्माके कर्ममें* पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही उसकी भक्ति करना है और यह करनेके लिये " दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये।" ईशप्राप्तिका यह साधा उपाय इस सूक्त द्वारा प्रकाशित हुआ है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

जीवन-रसका महासागर।

(काण्ड १, सूक्त ३२)

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— द्यावापृथिवी।)

इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥ १ ॥
अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जनासः) लोगो! (इदं विदथः) यह ज्ञान प्राप्त करो। वही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मके विषयमें कहेगा। (येन वीरुधः प्राणन्ति) जिससे औषधियां आदि प्राण लेती हैं, (तत् पृथिव्यां न, नो दिवि) वह न तो पृथ्वीमें है और न द्युलोकमें ॥ १ ॥

(*आसां अन्तरिक्षे स्थाम*) इन औषधि आदिकोंका अन्तरिक्षमें स्थान है, (*श्रान्तसदां इव*) थक कर बैठे हुओंके समान (अस्य भूतस्य आस्थानं) इस बने हुएका स्थान जो है (तत् वेधसः विदुः वा न) वह ज्ञानी जानते हैं वा नहीं? ॥ २ ॥

भावार्थ— हे लोगो! यह समझो कि जो तत्वज्ञान समझेगा वही ज्ञानी उसका विवरण करेगा। तत्वज्ञान यह है कि— जिससे बढनेवाली वनस्पतियां आदि अपना जीवन प्राप्त करती हैं वह जीवनका सत्व पृथ्वीपर नहीं है और नहीं द्युलोकमें है ॥ १ ॥

इन वनस्पति आदिका स्थान अंतरिक्ष है। जैसे थकेमांदे विश्राम करते हैं उस प्रकार ये वनस्पति आदिक अंतरिक्षमें रहते हैं। इस बने हुए जगतका जो आधार है उसको कौनसे ज्ञानी लोग जानते हैं और कौनसे नहीं जानते? ॥ २ ॥

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥
विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधिश्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ—(यत् रेजमाने रोदसी) जो हिलनेवाले द्यावापृथिवीने और (भूमिः च) केवल भूमिने भी (निरतक्षतं) बनाया (तत् अद्य सर्वदा आर्द्रं) वह आजतक सदासर्वदा रसमय है (समुद्रस्य स्रोत्याः इव) जैसे समुद्रके स्रोत होते हैं ॥ ३ ॥

(विश्वं) सबने (अन्यां अभीवार) दूसरीको घेर लिया है, (तत्) वह (अन्यस्यां अधिश्रितम्) दूसरीमें आश्रित हुआ है । (दिवे च) द्युलोक और (विश्ववेदसे च पृथिव्यै) संपूर्ण धनोंसे युक्त पृथिवीके लिये (नमः अकरं) नमस्कार मैंने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हिलने डुलनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोकके द्वारा जो कुछ बनाया गया है, वह सब इस समयतक बिलकुल नया अर्थात् जीवन रससे परिपूर्ण जैसा है, जैसे सरोवरसे चलनेवाले स्रोत रससे परिपूर्ण होते हैं ॥ ३ ॥

यह सब जगत् दूसरी शक्तिके ऊपर रह रहा है और वह भी दूसरीके ही आश्रयसे रह रही है । द्युलोक और सब धनोंसे युक्त पृथ्वी देवीको मैं नमन करता हूं (क्योंकि ये दो देवताएं इस जगत्का निर्माण करनेवाली हैं ।) ॥ ४ ॥

जीवन-रसका महासागर

स्थूल सृष्टि

जो सृष्टि दिखाई देती है वह स्थूल सृष्टि है, इसमें मिट्टी पत्थर आदि अतिस्थूल पदार्थ, वृक्षवनस्पत्यादि बढनेवाले पदार्थ पशुपक्षी आदि बढने और हिलनेवाले प्राणी तथा मनुष्य बढने हिलने और उन्नत होनेवाले उच्च कोटीके प्राणी हैं । पत्थर मिट्टी आदि स्थिर सृष्टिको छोडा जाय और वनस्पति पशु तथा मानव सृष्टिमें देखा जाय, तो ये उत्पन्न होते हैं, बढते हैं और प्राण धारण करते हैं यह बात स्पष्ट दिखाई देती है । इसमें दिखाई देनेवाला जीवनतत्व कौनसा तत्व है ? क्या यह स्थूल ही है या इससे भिन्न और कोई तत्व है इसका विचार इस सूक्तमें किया है ।

सब लोग इस जीवन रसका ज्ञान प्राप्त करें । यदि उनको जीवनसे आनंद प्राप्त करना है तो उनको उचित है कि वे इस (जनासः ! विदथ) ज्ञानको प्राप्त करें । यह मनन करने योग्य सूचना प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही दी है । (मंत्र १)

यह जीवन रसकी विद्या कौन देगा ? किससे यह प्राप्त होगी यह शंका यहां आती है, इस विषयमें प्रथम मंत्रमें ही आगे जाकर कहा है कि, जो इस विद्याको जानता होगा, वही (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मके विषयमें अर्थात् इस महत्वपूर्ण ज्ञानके विषयमें कहेगा । जिसको इस विद्याकी प्राप्ति करनेकी इच्छा हो, वह ऐसे विद्वानके पास जावे और ज्ञान प्राप्त करे । किसी अन्यके पास जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

जीवनका रस

सारांश रूपसे यह समझो कि " जिस जीवनतत्वके आश्रयसे बढनेवाले वृक्ष वनस्पति प्राणी आदि प्राण धारण करते हैं वह जीवनका आधारतत्व न तो पृथ्वीपर है और नहीं द्युलोकमें है । " (मंत्र १) वह किसी अन्य स्थानमें है इसलिये उसको इस बाह्य द्यावापृथिवीसे भिन्न किसी अन्य स्थानमें ही ढूंढना चाहिये ।

इस प्रथम मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंसे कहा है कि जिससे जीवनका रस मिलता है वह तत्व इस स्थूल संसारसे बाहर अर्थात् वह अतिसूक्ष्म है । वह कहां है इसका पूर्ण उत्तर आगेके मंत्रोंमें आ जायगा ।

भूतमात्रका आश्रय ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि- " इस सृष्टिगत सपूर्ण पदार्थोंका आश्रयस्थान अंतरिक्ष है । इन स्थूल पदार्थ मात्रका जो अंतरिक्षमें आश्रय स्थान है वह ज्ञानी भी जानते हैं वा नहीं ? " अर्थात् इसका ज्ञान सब ज्ञानियोंको भी एकसा है वा नहीं। ज्ञानियोंमें भी जो परिपूर्ण ज्ञानी होते हैं वे ही केवल जानते हैं। सृष्टि विद्याके जाननेवाले इस बातको नहीं जान सकते, परंतु आत्मविद्याका ज्ञान जाननेवाले ही इसको यथावत् जानते हैं। (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें " भूत " शब्द है, इसका अर्थ " बना हुआ पदार्थ । ' जो यह बनी हुई सृष्टि है इसीका नाम भूत है और इसकी विद्याका नाम भूतविद्या है । इस सब सृष्टिका आधार देनेवाला एक सूक्ष्मतत्त्व है जिसका ज्ञान आध्यात्मविद्या जाननेवाले ही जान सकते हैं । इसलिये जीवनरस विद्याका अध्ययन करनेवाले ऐसे सद्गुरुके पास जावें, कि जो इसका ज्ञाता हो और उसके पाससे वह जीवनकी विद्या प्राप्त करें । यह ही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बडे ब्रह्मका ज्ञान कहेगा । इस प्रकार द्वितीय मंत्रका प्रथम मंत्रके साथ संबंध है ।

सनातन जीवन ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि- " जो इस द्यावापृथिवीके अंदर बना हुआ पदार्थ मात्र है वह सदा सर्वदा, जिस समय बना है उस समयसे लेकर इस समय तक बराबर जीवन रससे परिपूर्ण होनेके कारण नवीन सा रहा है, इसमें जीवन रस ऐसे भरा है जैसे सरोवरसे चलनेवाले विविध स्रोतोंमें सरोवरका जल चलता है । "

जगत्के माता पिता ।

अदिति भूमि जगत्की माता है और द्यौष्पिता जगत्का पिता है । भूलोक और द्युलोक, भूमि और सूर्य, स्त्रीशक्ति और पुरुष शक्ति, ऋण शक्ति और धन शक्ति, रयि शक्ति और प्राण शक्ति, प्रकृति और पुरुष, प्रकृति और आत्मा इस प्रकारके दो शक्तियोंसे यह जगत् बना है, इसलिये इनको जगत्के माता पिता कहा है । विविध ग्रंथकारोंके उक्त द्वन्द्व शक्तियोंके विविध नामोंमेंसे किसी नामका प्रयोग किया है और जगत्की मूल उत्पादक शक्तियोंका वर्णन किया है ।

जीवनका एक महासागर ।

वेदमें द्यावा पृथिवी-द्युलोक और पृथ्वीलोक-को जगतके माता पिता करके वर्णन किया है क्योंकि संपूर्ण जगत् इन्हींके अंदर समाया है । यह बना हुआ जगत् यद्यपि बननेके पश्चात् बढता और बिगडता भी है तथापि बने हुए संपूर्ण पदार्थोंमें जो जीवन तत्त्व व्याप रहा है वह एक रूपसे व्यापता है, इसलिये संपूर्ण जगत्के नियम अटल और एक जैसे हैं । हजारों वर्षोंके पूर्व जैसा जीवन संसारमें चलता था वैसा ही आज भी चल रहा है । इससे जीवनामृतकी अगाध सत्ताकी कल्पना हो सकती है ।

जिस प्रकार एक ही सागरसे अनेक स्रोत चलते हों तो उनमें एक ही जीवन रस सबमें एकसा प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार इस संसारके अंदर बने हुए अनंत पदार्थोंमें एक ही अगाध जीवनके महासागरसे जीवन रस फैल रहा है, मानो संपूर्ण पदार्थ उस जीवनामृतसे ओतप्रोत भरपूर हो रहे हों ।

पाठक क्षणभर अपने आपको भी उसी जीवन महासागरमें ओतप्रोत भरनेवाले एक घडेके समान समझें और अपने अंदर वही जीवन स्रोत चल रहा है इसका ध्यान करें । जिस प्रकार तैरनेवाला मनुष्य अपने चारोंओर जलका अनुभव करता है उसीप्रकार मनुष्य भी उसी जीवन महासागरमें तैरनेवाला एक प्राणी है, इसलिये इस प्रकार ध्यान करनेसे उस जीवनामृतके महासागरकी अल्पसी कल्पना हो सकती है । यह जीवन सदा ही नवीन है, कभी भी वह पुराना नहीं होता, कभी बिगडता नहीं । अन्य पदार्थके बनने और बिगडने पर भी यह एकसा नवीन रहता है । और यही सबको जीवन देता है । (तत् अद्य सर्वदा आर्द्रं) वह आज और सदा सर्वदा एक जैसा अभिनव रसपूर्ण रहता है । सबको जीवन देने पर भी जिसकी जीवन शक्ति रत्तीमात्र भी कम नहीं होती, इतनी अगाध जीवन शक्ति उसमें है ।

सबका एक आश्रय ।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि- संपूर्ण विश्व अर्थात् यह स्थूल जगत् एक दूसरी शक्तिके ऊपर रहता है और वह शक्ति और दूसरी शक्तिके आश्रयसे रह रही है । वही आधारका तत्त्व पृथ्वी और द्युलोकके स्वरूपमें दिखाई दे रहा है इसलिये मैं द्युलोकमें उसकी प्रकाशशक्तिको और पृथ्वीमें उसकी अधार-शक्तिको नमस्कार करता हूं ।' अर्थात् संपूर्ण जगत्में उसकी शक्ति ही जगत् के रूपमें प्रकट होगई है ऐसा जानकर, जगत्को देखकर उस शक्तिका स्मरण करता हुआ उस विषयमें अपनी नम्रता प्रकट करता हूं ।

स्थूल सूक्ष्म और कारण ।

इस मंत्रमें विश्व ' शब्द ' स्थूल जगत्का बोधक है इस

स्थूलका आधार (अन्या) दूसरा है, इससे सूक्ष्म है और वह इसके अंदर है अथवा उसके बाहर यह सब विश्व है। प्रत्येक स्थूल पदार्थके अदर यह सूक्ष्म तत्त्व है और यह भी तीसरे अतिसूक्ष्म तत्त्व पर आश्रित है। यह तीसरा तत्व ही सबका एक मात्र आधार है और इसीका जीवन अमृत सबमें एक रस होकर व्याप रहा है। इसी जीवनके समुद्रमें सब विश्वके पदार्थ तैर रहे हैं अथवा संपूर्ण पदार्थ रूपी छोटे बडे स्रोत उसी एक अद्वितीय जीवनमहासागरसे चल रहे हैं। इनमें उसीका जीवन कार्य कर रहा है यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य है। अनेकोंमें एक ही जीवन भरा है इसका अनुभव यहां होता है।

यह सूक्त केवल पढनेके लिये नहीं है, प्रत्युत यह मनकी धारणा करके अपने मनमें धारणासे स्थिर करनेके अनुष्ठानके लिये ही है। जो पाठक इसकी उक्त प्रकार धारणा कर सकेंगे वे ही इससे योग्य लाभ प्राप्त कर सकेंगे। पाठक यहां देखें कि छोटेसे छोटे सूक्तों द्वारा वेद कैसा अद्भुत उपदेश दे रहा है। निःसंदेह यह उपदेश जीवन पलटा देनेमें समर्थ है। परंतु यह लाभ वही प्राप्त करेगा कि जो इसको जीवनमें ढालनेका यत्न करेगा।

अमृतदाता ईश्वर ।

(काण्ड ६, सूक्त १)

(ऋषि — अथर्वा। देवता— सविता।)

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि ।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥
तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥
स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (आथर्वण) अथर्वाके अनुयायी ! (सवितारं देवं) सविता देवकी (स्तुहि) स्तुति कर। (दोषो गाय) रात्रीके समय गा, (बृहद् गाय) बहुत भजन कर, (द्युमत् धेहि) तेजयुक्तकी धारणा कर॥ १ ॥

(यः सिन्धौ अन्तः सत्यस्य सूनुः) जो भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, तथा (युवानं) युवा, (सुशेवं) उत्तम सुख देनेवाला और (अ-द्रोघ-वाचं) द्रोह हीन वाणीसे युक्त है (तं उ स्तुहि) उसीका गुणवर्णन कर ॥ २ ॥

(सः घ सविता देवः) वही सर्व प्रेरक देव (उभे सुष्टुती सुगातवे) दोनों प्रकारकी स्तुति करने योग्य उत्तम मार्गोंपरसे हम जांय, इसके लिये (नः भूरि अमृतानि साविषत्) हमें बहुतसे अमृतमय सुख देता रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे योगमार्गमें प्रवृत्त मनुष्य ! तू सर्वप्रेरक एक ईश्वरकी उपासना कर। रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसका बहुत भजन कर, और उसके तेजकी मनमें धारणा कर ॥ १ ॥

वही एक ईश्वर इस भव समुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला है, वह न बाल होता है और न वृद्ध होता है। परंतु सदा तरुण रहता है। वही सब सुखोंको देनेवाला है और हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, उसीका गुणगान कर ॥ २ ॥

वही सबको प्रेरणा देनेवाला एक देव, हम दोनों प्रकारके प्रशंसनीय मार्गोंपरसे प्रगति करें, इसलिये हमें अनंत सुख सदा देता रहता है ॥ ३ ॥

अमृतदाता ईश्वर !

एकदेवकी भक्ति ।

इस सूक्तमें एक देवकी भक्ति करनेका उत्तम उपदेश है। विशेष विचार न करते हुए इस सूक्तका अर्थ देखनेसे, यह सूक्त सूर्य देवकी उपासना करनेका उपदेश कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। सूर्य परमात्माका प्रतिनिधि इस सूर्य मालामें है, इस लिये उसकी उपासना करनेसे परंपरया परमात्माकी उपासना हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है; परंतु यह प्रतीकोपासना साधारण अज्ञ बालबुद्धि जनोंकी मन:स्थिरताके लिये उपयोगी है। वेदमें अग्नि, विद्युत् और सूर्य इनके द्वारा पार्थिव, अन्तरिक्षीय और द्युलोक संबंधी तीन दृश्य तेजोंका दर्शन कराके परमात्मोपासनाका ही पाठ दिया होता है; इसी नियमके अनुसार यहां सविता देवके द्वारा सूर्यका दर्शन कराते हुए एक अद्वितीय परमात्माकी ही उपासना कही है इसका उत्तम प्रमाण यह है—

दोषो गाय (मं. १)

' रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसकी भक्ति कर, उसकी उपासना कर, यदि ' दिनमें दिखाई देनेवाले सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें होती, तो ' रात्रीके समय उसके गुण गान कर ' ऐसा कहना अनुचित था, क्योंकि सूर्यकी उपासना दिनके समय ही हो सकती है और रात्रीके समय नहीं। इस सूक्तमें तो रात्रीके एकान्त समयमें उस सूर्य देवका खूब भजन करो ऐसी आज्ञा है, देखिये—

दोषो गाय, बृहद् गाय । (मं. १)

' रात्रीके समय भजन कर, बहुत भजन कर ' इस प्रकार रात्रीके समय भजन करनेको ही कहा है। यदि इस सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें अभीष्ट होती, तो उसकी उपासना रात्रीका नामनिर्देश करके कैसे कही होती ? इस सूक्तमें दिनका नाम तक नहीं है, परंतु रात्रीका स्पष्ट उल्लेख है, इतना ही नहीं परंतु उस रात्रीमें—

द्युमद् धेहि । (मं. १)

' तेजवाले स्वरूपकी मनमें धारणा कर। ' सूर्यका तेज दिनमें दिखाई देता है, रात्रीके समय नहीं ; परंतु यहां तो रात्रीके समय सूर्यके तेजका ध्यान करना लिखा है, इसलिये, जो सूर्य रात्रीके समय उपासनाके लिये प्राप्त हो सकता है, और जिसके तेजकी धारणा रात्रीके समयमें भी की जा सकती है, उस सूर्यका वर्णन इस सूक्तमें है ऐसा हम कह सकते हैं। अर्थात् सूर्यका भी जो सूर्य परमात्मा है, जिसके शासनसे यह सूर्य यहां प्रकाश रहा है, उस परमात्मरूपी सूर्यकी उपासना इस सूक्त द्वारा कही है। इसके गुण, जिनका उपासनाके समय मनन करने चाहिये, उसका वर्णन निम्न लिखित प्रकार इस सूक्तमें हुआ है—

१ **बृहत्** = वह सबसे बडा है, उससे बडा कोई नहीं है,

२ **द्युमत्** = वह प्रकाशवाला है,

३ **देव** = वह सब प्रकारसे दिव्य है, वह दाता प्रकाशक और ऐश्वर्य युक्त है।

४ **सविता** = वह सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबका ऐश्वर्य बढानेवाला है,

५ **सिन्धौ अन्तः** = इस संसारसमुद्रके गहरे स्थानमें भी वह विद्यमान है,

६ **सत्यस्य सूनुः** = सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, वह सत्य स्वरूप है,

७ **युवा** = वह सदा जवान है, वह न कभी बाल था और न कभी बूढा होगा, सदा तरुण जैसा शक्तिशाली है,

८ **सुशेवः** = उत्तम सुख देनेवाला, किंवा (सु-सेवः) उत्तम प्रकार सेवा करने योग्य,

९ **अ-द्रोघ-वाक्** = हिंसारहित शब्दोंकी प्रेरणा करनेवाला,

१० **अमृतानि भूरि साविषत्** = अनंत सुखोंको देता रहता है।

ये दस गुण इस परमात्माके इस सूक्तमें कहे हैं, उपासकको इन गुणोंका मनन करना चाहिये। परमात्माके इन गुणोंका मनन करके, इनकी धारणा मनमें करके अपने अन्दर जहांतक हो वहांतक इन गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये। सर्वथा इन गुणोंका उत्कर्ष मनुष्यमें न भी हो सके, तो कोई हर्ज नहीं है, जिस अवस्था तक हो सके, उस अवस्थातक उत्कर्ष करना आवश्यक है।

परमात्माके इन गुणोंका मनन करनेसे उसके तेजःस्वरूपका साक्षात्कार सर्वत्र होने लगता है। योगमार्गमें प्रवृत्त होकर प्राणायाम ध्यान धारणाकी ओर थोडीसी प्रवृत्ति होनेसे ही प्रकाशदर्शन होने लगता है। इस प्रकाशदर्शनका नित्य स्मरण करनेसे और इसीको ध्यानमें स्थिर करनेसे योगसिद्ध उन्नतिका

प्रकाशका मार्ग भिद्र हो जाता है। यह तेजका केन्द्र इस संसार महासागरमें सर्वत्र उपस्थित देखना और उसके बिना कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा मनका निश्चय करना चाहिये। उसका तेज, उसके सत्यनियम और उसकी दया सर्वत्र अनुभव करनेसे उसकी सर्वत्र उपस्थिति जानी जा सकती है।

अहिंसक वाणी।

परमात्मा स्वयं हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, अतः जो मनुष्य उसके भक्त होना चाहते हैं, वे सदा द्रोहरहित वाणीका प्रयोग करें। '**अद्रोघवाक्**' अर्थात् जिन शब्दोंमें थोडा भी द्रोह नहीं, थोडी भी हिंसा नहीं, दूसरोंको कष्ट देनेका थोडा भी आशय नहीं, उस प्रकारकी वाणी मनुष्योंको बोलनी उचित है। इस शब्द द्वारा ईश्वरभक्तोंको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये यह दर्शाया है। यदि स्वयं परमेश्वर कभी द्रोहमय शब्दोंका प्रयोग नहीं करता, तो उसके भक्तको भी ऐसे ही शब्द प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् भगवद्भक्त अपने मनमें हिंसाका भाव न रखे, हिंसाभाव वाणीसे प्रकट न करे, और हिंसाका कोई कर्म न करे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे कोई समय ऐसा आ जाता है, कि जिस समय उपासकके मनमें हिंसाकी लहर उठती ही नहीं। यह अवस्था जब प्राप्त होती है तब उसके सन्मुख हिंसक जन्तु भी हिंसावृत्ति भूल जाते हैं। आत्मोन्नतिके लिये इस प्रकार '**अद्रोह वृत्ति**' की परम आवश्यकता रहती है।

अद्रोह वृत्ति केवल द्रोह निषेधको ही व्यक्त करती है, ऐसा कोई न समझे। द्रोह निषेधकी अपेक्षा 'दूसरोंका सुख बढानेके लिये आत्मसमर्पण' करनेकी इस वृत्तिमें आवश्यकता है। अहिंसा अद्रोह ये शब्द केवल हिंसा निवृत्ति ही नहीं बताते, प्रत्युत् जनताकी सेवा करने द्वारा जो भगवान्की सेवा होती है, उसके करनेकी भी इसमें आवश्यकता है।

सत्यका मार्ग।

अहिंसाके साथ '**सत्य**' का मार्ग भी इस सूक्तमें बताया है। परमात्माको '**सत्यस्य सूनुः**' कहा है, यहां '**सूनु**' शब्दका अर्थ (**सु-प्रसवे**) प्रसव करना है। सत्यका प्रसव करनेका तात्पर्य सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य करना, अर्थात् सत्यरूप बनना है। परमात्मा सत्यका प्रवर्तक है, ऐसा कहनेसे ईश्वर भक्तको उचित है कि वह सत्यनिष्ठ बने। अपनी उन्नतिके लिये सत्यकी अत्यंत आवश्यकता है।

अहिंसा वृत्ति और सत्यनिष्ठा इन दो भावनाओंसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है और परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है।

दो मार्ग।

अहिंसा और सत्य ये दो प्रशंसनीय मार्ग हैं, इनसे ही मनुष्य मात्रका इह तथा परलोकमें कल्याण हो सकता है। इन दो मार्गोंके विषयमें इस प्रकार कहा है। —

उभे सुष्टुती सुगातवे सः भूरि अमृतानि साधिषत्।
(मं. ३)

" दोनों उत्तम प्रशंसनीय मार्गों परसे (सु) उत्तम रीतिसे (गातवे) जानेके लिये वह परमात्मा बहुत सुख साधन हमें देता है। " यही उसकी अपार दया है। इस जगत्में उसने अनंत सुख साधन निर्माण किये हैं, और मनुष्योंको दिये हैं। इसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य उन सुख साधनोंका अवलंबन करके अहिंसा और सत्यके साधन द्वारा अपनी उन्नतिका साधन करें और अन्तमें परमात्माको प्राप्त करें। परमेश्वरकी अपार दया इस प्रकार अनुभव करके उसके ऊपर दृढ श्रद्धा रखनी योग्य है।

उक्त दो मार्ग ऐहिक अभ्युदयसाधन और पारमार्थिक निःश्रेयससाधन ये भी हो सकते हैं। धर्मके दो अंग ही हैं परमात्माके इस जगत्में जो सुखसाधन निर्माण किये हैं उनको लेकर अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करके परमगतिको मनुष्य प्राप्त हो।

अथर्वाका अनुयायी।

इस सूक्तका उपदेश '**अ-थर्वण**' के लिये किया है। '**थर्व**' का अर्थ कुटिलता, हिंसा, चंचलता आदि। '**अ-थर्व**' का अर्थ है 'अकुटिलता, अहिंसा और स्थिरता' जो मनुष्य अकुटिलता और अहिंसा वृत्तिसे चलते हुए मनःस्थैर्य प्राप्त करते हैं अर्थात् योगमार्गका अनुष्ठान करके चित्तवृत्तियोंका निरोध करते हैं, उनको अथर्वा कहते हैं। इस योगमार्गके जो अनुयायी होते हैं, उनको '**आथर्वण**' कहते हैं। इन आथर्वणोंकी उन्नति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे, तो उनको आत्मोन्नतिके वेदप्रतिपादित योगमार्गका ज्ञान हो सकता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तसे अहिंसा और सत्यका महत्व जानकर उसके अवलंबनसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और वेदका उपदेश अपने दैनिक आचरणमें लाकर इह परलोकमें परम उन्नति प्राप्त करेंगे।

अमृतरसवाला देव !

(काण्ड ७, सूक्त ४०, [४१])

(ऋषिः— प्रस्कण्वः । देवता— सरस्वान्)

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑पति॒ष्ठन्त॒ आपः॑ ।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्टप॒तिर्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे ॥ १ ॥
आ प्र॒त्यञ्चं॑ दा॒शुषे॑ दा॒श्वंसं॒ सर॑स्वन्तं पुष्ट॒पतिं॑ रयि॒ष्ठाम् ।
रा॒यस्पोषं॑ श्रव॒स्युं॑ वसा॑ना इ॒ह हु॑वेम॒ सद॑नं रयी॒णाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (**सर्वे पशवः यस्य व्रतं यन्ति**) सब पशु जिसके नियमके अनुसार जाते हैं, (**यस्य व्रते आपः उपतिष्ठन्ति**) जिसके कर्मके अनुसार जल उपस्थित होते हैं, (**यस्य व्रते पुष्टपतिः निविष्टः**) जिसके व्रतमें पोषणकर्ता कार्य करता है, (**तं सरस्वन्तं अवसे हवामहे**) उस अमृतरसवाले देवकी अपनी रक्षाके लिये हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

(**दाशुषे प्रत्यञ्चं दाश्वंसं**) दाताको प्रत्येक समय संमुख होकर दान देनेवाले, (**पुष्टपतिं सरस्वन्तं**) पुष्टि करनेवाले, अमृतरसवाले, (**रयि-स्थां**) ऐश्वर्यमें स्थिर रहनेवाले, (**रायस्पोषं श्रवस्युं**) धनकी पुष्टि करनेवाले और अन्नवाले, (**रयीणां सदनं**) धनोंके आश्रयस्थानरूप देवकी (**इह वसानाः**) यहां रहनेवाले हम सब (**आ हुवेम**) प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— सब पशु पक्षी जिसके नियममें रहते हैं, जल जिसके नियमसे बहता है, जिसके नियमसे सबकी पुष्टी होती है, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

हरएक दाताको जो धन देता है, सबका जो पोषण करता है, जिसके कारण सबकी शोभा होती है, जो सबके ऐश्वर्यको बढाता है, और जिसके पास अन्न भी विपुल है, जिसके आश्रयसे सब धन रहते हैं, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि, उसकी कृपासे हम सब इस स्थानमें रहनेवाले लोग सुरक्षित हों ॥ २ ॥

ईश्वरके पास संपूर्ण अमृतरस है। वह स्वयं सबका पोषण करता है अतः हम उसकी प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे, हमें धनसंपन्न करे और अमृत रससे युक्त करे।

महान् शासक !

(का. १, सू. २०)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— सोमः)

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमा॒स्मिन्य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः ।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृजि॒ना द्वेष्या॒ या ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**देव सोम**) सोम देव ! (**अ-दार-सृत् भवतु**) आपसकी फूट उत्पन्न करनेका कार्य न हो। हे (**मरुतः**) मरुतो ! (**अस्मिन् यज्ञे**) इस यज्ञमें (**नः मृडत**) हमें सुखी करो। (**अभि-भा नः मा विदद्**) पराभव हमारे पास न आवे, (**अशस्तिः मो**) अकीर्ति हमें प्राप्त न हो, (**या द्वेष्या वृजिना**) जो द्वेष बढानेवाले कुटिल कृत्य हैं वे भी (**नः मा विदद्**) हमारे पास न हों ॥ १ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! आपसकी फूट बढानेवाला कोई कार्य हमसे न हो। इस सत्कर्मसे हमें सुख प्राप्त हो ! पराजय, अपकीर्ति, भ्रमण, द्वेष और कुटिलता हमारे पास न आवें ॥ १ ॥

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि ॥ २ ॥
इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥
शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

अर्थ— (**अघायूनां**) पापमय जीवनवालोंका (**य सेन्यः वध**) जो सेनाके शूर वीरोंके द्वारा वध (**अद्य उदीरते**) आज हो रहा है । हे मित्र और वरुणो ! (**युव**) तुम (**तं अस्मत् परि यावयतं**) उसको हमसे सर्वथा हटा दो ॥ २ ॥

हे (**वरुण**) सर्व श्रेष्ठ ईश्वर ! (**यत् इतः च यत् अमुतः**) जो यहांसे और जो वहांसे वध हो (**वधं यावय**) उसको भी दूर कर दे । (**महत् शर्म वियच्छ**) बडा सुख अथवा आश्रय हमें दे और (**वध वरीय यावय**) वधको अतिदूर कर दे ॥ ३ ॥

(**इत्था महान् शासः**) इस प्रकार सत्य और महान् शासक ईश्वर (**अ-मित्र-साहः अस्तृतः**) शत्रुका पराजय करनेवाला और कभी न हारनेवाला (**असि**) तू है । (**यस्य सखा**) जिसका मित्र (**कदाचन न हन्यते**) कभी भी नहीं मारा जाता और (**न जीयते**) न पराजित होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे देव ! शूरवीरोंके द्वारा जो पापियोंके वध हो रहे हैं, वैसे वधोंके प्रसंग भी हमारे अंदर न उत्पन्न हों ॥ २ ॥

हे प्रभु ! हमारे अंदर अथवा दूसरोंके अंदर वध करनेका भाव न रहे । वधका भाव ही हम सबसे दूर कर और तेरा बडा आश्रय-सुखपूर्ण आश्रय-हमें दे ॥ ३ ॥

इस रीतिसे तेरा ही महान् सत्य शासन सबके ऊपर है, तूही सच्चा शत्रुओंको दूर करनेवाला और सर्वदा अपराजित है, तेरा मित्र बनकर जो रहता है न उसका वध कभी होगा और नहीं उसकी कभी पराजय होगी ॥ ४ ॥

महान् शासक

इस सूक्तमें सबसे पहिले आपसकी फूटको दूर करनेकी सूचना दी है ।

आपसकी फूट हटा दो ।

' **अ-दार-सृत् भवतु** ' हमारा आचरण फूट हटानेवाला हो, यह इस उपदेशका तात्पर्य है । देखिये—

दार=फूट (दॄ=फटना धातु)
दार+सृत्=फूटका प्रयत्न, फूटका कार्य ।
अ+दार+सृत्=फूट हटानेवाला कार्य ।
' **अ+दार+सृत् भवतु** ' अर्थात् ' आपसकी फूट हटानेवाला कार्य हम सबसे होता रहे । ' आपसकी फूटके कारण शत्रु हमला करते हैं और शत्रुओंके हमले हो जानेपर हमें शत्रुओंको भगानेका यत्न करना पडता है । इसलिये युद्धका कारण आपसकी फूट है । यदि आपसकी फूट न होगी और सब लोग एक मतसे रहेंगे तो दूसरे लोग हमला करनेके लिये भी डरेंगे । जहां आपसमें फूट होती है वहीं शत्रुओंका हमला होता है । इसलिये युद्धोंका कारण आपसकी फूटमें देखना और आपसकी फूटको दूर करना चाहिये । राष्ट्रीय सुखकी यही बुनियाद है ।

आपसकी फूट हट जानेके पश्चात् ही (*सूदत*) सत्

होनेकी संभावना है। अन्यथा सुखकी आशा नहीं है। आपसकी फूट हटानेसे जो लाभ होगा वह निम्नलिखित प्रकारसे प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें वर्णन किया है।

१ अभिमा नः मा विदत्=पराजय हमारे पास न आवे,

२ अशस्तिः मो=दुष्कीर्ति हमारे पास न आवे,

३ वृजिना नः मा=कुटिल कृत्य हमसे न हों,

४ द्वेष्या नः मा विदत्=द्वेष भाव हमारे पास न आवें।

जिस समय हम आपसकी फूट हटायेंगे, उस समय हमें किसीसे द्वेष करनेका कोई कारण नहीं रहेगा, किसीसे कपटयुक्त कुटिल व्यवहार करनेकी आवश्यकता नहीं पडेगी, हमारा कभी पराभव न होगा अथवा हमपर कोई आपत्ति नहीं आवेगी और हमारी अपकीर्ति भी नहीं होगी; अर्थात् जब हम आपसकी फूट हटाकर अपना उत्तम सगठन करेंगे और एकताके बलसे आगे बढेंगे, उस समय सब लोग हमारे मित्र बनकर हमारे साथ मित्रताका व्यवहार करेंगे, हम भी सबके साथ सरल व्यवहार करते जायेंगे, एकताके कारण हमारा, बल बढेगा और उस हेतुसे कभी पराभव नहीं होगा तथा हमारा यश फैलता जायगा। (मंत्र १)

द्वितीय और तृतीय मत्रमें जो सैनिक वीरोंसे होनेवाले दुष्टोंके संहारका वर्णन है, वह वर्णन भी यही बताता है कि हमारी आपसकी फूटके कारण ही दुष्ट लोग हमें सताते हैं और उनका वध करनेका प्रयोजन उत्पन्न होता है, अर्थात् यदि हमारा समाज सुसंगठित होगा तो उस वधकी जड ही नष्ट होनेसे वह वध भी नहीं होंगे और हमें (महत् शर्म) बडा सुख प्राप्त होगा। " शर्म " शब्दका अर्थ ' सुख और आश्रय ' है। पूर्वापर संबंधसे यहां परमेश्वरका आश्रय अभीष्ट है। क्योंकि सच्चा सुख भी परमात्माके आश्रयसे ही होता है। (मं. २,३)

बडा शासक।

एक ईश्वर ही सबसे बडा शासनकर्ता है, उसके ऊपर किसी अन्यका अधिकार नहीं है, सब उसीके शासनमें कार्य करते हैं, वही सर्वोपरि है। वह शत्रुताका सच्चा नाशक और कभी पराजित न होनेवाला है। यदि ऐसे समर्थ प्रभुका मित्र बनकर कोई रहे तो उसका कभी नाश न होगा, और कभी पराजय भी न होगा। अर्थात् प्रभुका मित्र बनकर व्यवहार करनेवालेका यश सर्वत्र फैलेगा और उसका ही नाम सर्वत्र होगा (म ४)

इस सूक्तका यही उपदेश है कि ' परमेश्वरका शासन सर्वोपरि मानना और उसका सच्चा बनकर व्यवहार करना। '

आशा है कि पाठक इस प्रकार प्रभुके मित्र बननेका यत्न करेंगे,

जगत्‌का एक सम्राट्।

(का. ६, सू. ३६)

(ऋषिः— अथर्वा स्वस्त्ययनकामः। देवता— अग्नि ।)

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी। यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ २ ॥

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अर्थ— (ऋतावानं) सत्ययुक्त, (ऋतस्य ज्योतिषः पतिं) सत्यप्रकाशके स्वामी, और (अजस्रं घर्मं वैश्वानरं) निरंतर प्रकाशवाले सब विश्वके चालक ईश्वरकी (ईमहे) हम प्राप्ति करते हैं॥ १॥

(सः विश्वा प्रति चाक्लृपे) वह सबको समर्थ बनाता है। (वशी ऋतून् उत् सृजते) और वह सबको अपने वशमें करनेवाला वसंत आदि ऋतुओंको बनाता है। और (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञके लिये उत्तम अन्न बनाता है॥ २॥

(भूतस्य भव्यस्य कामः) भूत भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जगत्‌की कामना पूर्ण करनेवाला (एकः सम्राट् अग्निः) एक सम्राट् प्रकाशमय देव (परेषु धामसु विराजति) दूरके स्थानोंमें भी विराजता है॥ ३॥

जगत्का एक सम्राट्

सबका एक ईश्वर।

ईश्वर संपूर्ण जगत्का 'एक सम्राट्' है यह बात इस सूक्तमें बडी उत्तमतासे कही है। वह ईश्वर (**परेषु धामसु विराजति**) दूरसे दूर जो स्थान हैं उन स्थानोंमें भी विराजमान है। पास तो है ही परंतु अति दूर भी है अर्थात् वह सर्वत्र है। सब (**भूतस्य भव्यस्य**) भूत कालमें उत्पन्न हुए पदार्थोंका जैसा वह सम्राट् था, उसी प्रकार इस वर्तमान समयमें दिखाई देनेवाले सब जगत्का वह स्वामी है, इतना ही नहीं परंतु भविष्य कालमें उत्पन्न होनेवाले जगत्का भी वह स्वामी रहेगा। अर्थात् संपूर्ण जगत्का सब कालोंमें वह स्वामी है। और इससे भिन्न दूसरा कोई स्वामी नहीं है।

वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है और इसीलिये वह (**विश्वा चाक्लृपे**) सबको सामर्थ्यवान् बनाता है। वह समर्थ है इसीलिये सबको (**वशी**) अपने वशमें रखता है, उसके शासनसे बाहर कोई नहीं है। वही सब प्रकारके अन्न और विविध ऋतुओंमें होनेवाले यजनीय पदार्थ और भोग्य पदार्थ उत्पन्न करता है।

वह त्रिकालमें (**ऋतावान**) सत्यस्वरूप है और (**ऋतस्य पति**) सत्य नियमोंका पालन करनेवाला है, वही सब (**वैश्वानर**) विश्वका संचालक, विश्वको चलानेवाला है, सबको वही उपास्य और प्राप्त करने योग्य है॥

इस सूक्तमें एकेश्वरकी उत्तम उपासना कही है, इसलिये उपासनाके लिये यह उत्तम सूक्त है।

प्रजापालक।

(कां. ७, सू. २४)

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— सविता)

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जो इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेव, (स्वर्काः मरुतः) उत्तम तेजस्वी मरुत् इनमेंसे प्रत्येक (नः अखनत्) हमारे लिये खोदता रहा है (तत्) वह (सत्यधर्मा प्रजापतिः अनुमतिः सविता) सत्य धर्मवाला प्रजापालक अनुमति रखनेवाला सविता (अस्मभ्यं नियच्छात्) हमें देवे ॥ १ ॥

हम सब प्राणिमात्रके लिये विद्युत्, अग्नि, पृथिवी आदि सब देव तथा विविध प्रकारके वायु जो लाभ करते हैं, वह लाभ हमें सूर्यसे प्राप्त होता है, परंतु उससे योग्य रीतिसे लाभ प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि सबका प्रजापालक यही सूर्य है।

व्यापक और श्रेष्ठ देव।

(का. ७, सू. २५ [२६])

(ऋषिः— मेधातिथि. । देवता— सविता ।)

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥
यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

अर्थ— (ययोः ओजसा) जिन दोनोंके बलसे (रजांसि स्कभिता) लोकलोकान्तर स्थिर हुए हैं, (यौ वीर्यैः शविष्ठा वीरतमा) जो दो अपने पराक्रमोंसे बलवान् और अत्यंत शूर हैं, (यौ सहोभिः अप्रतीतौ पत्येते) जो दो अपने बलोंसे पीछे न हटते हुए आगे बढते हैं। उन दोनों (विष्णुं वरुणं) विष्णु अर्थात् व्यापक देवके प्रति और वरुण अर्थात् श्रेष्ठ देवके प्रति (पूर्वहूतिः अगन्) सबसे प्रथम प्रार्थना करता हुआ प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

(यस्य प्रदिशि) जिसकी दिशा उपदिशाओंमें (इदं यत् विरोचते) यह जो प्रकाशता है (प्र अनति च) और उत्तम रीतिसे प्राण धारण करता है, (देवस्य धर्मणा सहोभिः) इस देवके धर्म और बलोंसे (शचीभिः विचष्टे च) तथा शक्तियोंसे देखता है, उस (विष्णुं वरुणं च पूर्वहूतिः अगन्) व्यापक और श्रेष्ठ देवको सबसे प्रथम प्रार्थना करनेवाला होकर प्राप्त करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जिसने अपने बलसे इस त्रिलोकीको अपने स्थानमें स्थिर किया है, जो अपनी विविध शक्तियोंसे अत्यंत बलवान् और पराक्रमी हुआ है, जो कभी पीछे नहीं हटता परंतु आगे बढता है, उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं, क्योंकि वह सबसे श्रेष्ठ देव है ॥ १ ॥

जिसकी शक्तिसे दिशा और उपदिशाओंमें सर्वत्र प्रकाश फैल रहा है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणिमात्र प्राण धारण करते हैं, जिस देवके निज धर्मसे और बलोंसे सब प्राणी देखते और अनुभव करते हैं। उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं क्योंकि वह सबसे वरिष्ठ देव है ॥ २ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूक्तमें प्रथम मन्त्रमें दो देव भिन्न भिन्न हैं ऐसा मानकर वर्णन किया है, परंतु दूसरे ही मन्त्रमें उन दोनोंको एक माना है और एकवचनका प्रयोग हुआ है। इससे 'विष्णु और वरुण' इन दो शब्दोंसे एक अभिन्न देवताका ही वर्णन अभीष्ट है ऐसा दीखता है। पाठक इसकी अधिक खोज करें।

विश्वशकटका चालक ।

(काण्ड ४, सूक्त ११)

(ऋषि — भृग्वङ्गिराः । देवता— अनड्वान् । इन्द्रः)

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वश्न्तरिक्षम् ।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥
अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः ।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥
इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥
अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्यायति पवमानः पुरस्तात् ।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

अर्थ— (अनड्वान् पृथिवीं दाधार) विश्वरूपी शकटको चलानेवाले ईश्वरने पृथ्वीको धारण किया है, (अनड्वान् द्यां उत उरु अन्तरिक्षं दाधार) इसी ईश्वरने द्युलोक और यह बडा अंतरिक्ष धारण किया है । (अनड्वान् षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार) इसी ईश्वरने छः बडी दिशाओंको धारण किया है (अनड्वान् विश्वं भुवनं आविवेश) यही ईश्वर सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

(सः अनड्वान् इन्द्रः) यह अनड्वान् इन्द्र है वह (पशुभ्यः विचष्टे) पशुओंका निरीक्षण करता है, (शक्रः त्रयान् अध्वनः विमिमीते) यह समर्थ प्रभु तीनों मार्गोंको नापता है। (भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः) भूत भविष्य और वर्तमानकालके पदार्थोंका निर्माण करता हुआ (देवानां सर्वा व्रतानि चरति) देवोंके सब व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

(इन्द्रः मनुष्येषु अन्तः जातः) इन्द्र मनुष्योंके अंदर प्रकट हुआ है वह (तप्तः घर्मः शोशुचानः चरति) तपनेवाले सूर्यके समान प्रकाशता हुआ चलता है। इस (अनडुहः विजानन्) संचालकको जानता हुआ (यः न अश्नीयात्) जो अपने लिये भोग न करेगा (सः) वह (सु-प्रजाः सन्) सुप्रजावान होकर (उत्-आरे न सर्षत्) देहपातके पश्चात् नहीं भटकता है ॥ ३ ॥

(सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे) पुण्यके लोकमें यह ईश्वर तृप्ति देता है और (पुरस्तात् पवमानः एनं आप्याययति) पहिलेसे पवित्र करता हुआ इसको बढाता है । (पर्जन्यः अस्य धाराः) पर्जन्य इसकी धाराएं है, (मरुतः ऊधः) मरुत् अर्थात् वायु स्तन है, (अस्य यज्ञः पयः) इसका यज्ञ ही दूध है, और (अस्य दक्षिणा दोहः) इसकी दक्षिणा दूधके दोहन पात्रके समान है ॥ ४ ॥

भावार्थ— इन्द्रने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और छः दिशाओंको धारण किया है और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

इसी इन्द्रको अनड्वान् कहते हैं, वह सबका निरीक्षक है, इसी समर्थ इन्द्रने तीनों मार्गोंका निर्माण किया है । भूत भविष्य और वर्तमानकालके सब पदार्थोंका निर्माण करता हुआ वह सब अन्यान्य देवताओंके व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

यह प्रभु मनुष्योंके अंदर प्रकट होता है, वह प्रकाशमान सूर्यके समान तेजस्वी है । इस ईश्वरको जो जानता है वह स्वार्थी भोगतृष्णाको छोडता हुआ, सुप्रजावान् होकर, देहपातके पश्चात् इधर उधर न भटकता हुआ, अपने मूल स्थानको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

यह ईश्वर पुण्यलोकमें तृप्ति देता है और प्रारंभसे पवित्र करता हुआ इस जीवात्माको बढाता है । पर्जन्य इसकी पुष्टिकी धाराएं है, वायु या प्राण इसके स्तन हैं जिससे वह धाराएं निकलती हैं, यज्ञ ही पुष्टिकारक दूध है, और दक्षिणा दोहन पात्रके समान है ॥ ४ ॥

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥
येन देवाः स्व१रारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥ ६ ॥
इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् ।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत ।
सो१दृंहयत सो१धारयत ॥ ७ ॥
मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः ।
एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

अर्थ— (यज्ञपतिः यस्य न ईशे) यज्ञपति इसका स्वामी नहीं है, (न यज्ञः) न यज्ञ स्वामी है, (न दाता, न प्रतिग्रहीता अस्य ईशे) न दाता और न लेनेवाला इसका स्वामी है (यः विश्वजित्) जो सबका जीतनेवाला (विश्वभृत् विश्वकर्मा) सबका पोषणकर्ता और सबका कर्ता है (घर्मं नः ब्रूत) उस उष्णता देनेवालेका हमको वर्णन कहो, वह (यतमः चतुष्पात्) कैसा चार पांव वाला है ? ॥ ५ ॥

(येन देवाः शरीरं हित्वा) जिसकी सहायतासे देव शरीर त्याग करके (अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः) अमृतके केन्द्ररूप आत्मीय प्रकाश स्थानपर चढे थे (घर्मस्य तेन व्रतेन तपसा यशस्यवः) प्रकाशपूर्णके उस व्रतसे और तपस्यासे यशको बढानेकी इच्छा करनेवाले हम (सुकृतस्य लोकं गेष्म) सुकृतके लोकमें अपने स्थानको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(इन्द्रः रूपेण अग्निः) प्रभु ही अपने रूपसे अग्नि बना है, वही (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमात्मा प्रजापालन कर्ता ईश्वर (वहेन विराट्) सब विश्वको उठानेके कारण विराट् हुआ है । वही (विश्वा-नरे अक्रमत) सब नरोंमें व्यापता है, वही (वैश्वानरे अक्रमत) अग्नि आदिमें फैला है, वही (अनडुहि अक्रमत) रथ खींचनेवाले प्राणी आदियोंमें फैला है (सः अदृंहयत) वही दृढ करता है और (सः अधारयत) वही धारण करता है ॥ ७ ॥

(अनडुहः एतत् मध्यं) इस संचालकका यह मध्य है, (यत्र एष वहः आहितः) जहां यह विश्वका भार रखा है । (एतावत् अस्य प्राचीनं) इतना इसका पूर्व भाग है और (यावान् प्रत्यङ् समाहितः) जितना पिछला भाग रखा है ॥ ८ ॥

भावार्थ— यज्ञ, यज्ञपति, दाता अथवा लेनेवाला इनमेंसे कोई भी इसपर शासन नहीं करता है । यह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पोषण करनेवाला और विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है । इसके चतुष्पात् स्वरूपके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे शरीर त्यागके पश्चात् अमृतके केन्द्र रूपी आत्मशक्ति पर स्वामित्व प्राप्त करते हैं, उस प्रकाशको बढानेवाले व्रत और तपसे यश प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले हम पुण्यलोकमें अपना स्थान प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

इन्द्र ही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति और विराट है, वही सब मनुष्यों और प्राणियोंमें व्याप्त है, वही सर्वत्र है और वही सबको बल देता है ॥ ७ ॥

संचालक देवका यह मध्यभाग है जिसपर इस संसार रूपी शकटका भार रखा है । इस मध्य भागके पूर्वभागमें और पश्चिम भागमें यह संसार रह रहा है ॥ ८ ॥

यो वेदानडुहो दोहान्सप्तानुपदस्वतः ।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥
पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥
द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥
दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

अर्थ— (**यः अन्-उपदस्वतः अनडुहः सप्त दोहान् वेद**) जो विनाशको न प्राप्त होनेवाले इस संचालकके सात प्रवाहोंको जानता है (**प्रजां च लोकं च आप्नोति**) वह प्रजा और लोकको प्राप्त होता है (**तथा सप्त ऋषयः विदुः**) ऐसा सात ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

(**पद्भिः सेदिं अवक्रामन्**) पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, (**जङ्घाभिः इरां उत्खिदन्**) जंघाओंसे अन्नको उत्पन्न करता हुआ (**श्रमेण कीलालं**) और परिश्रमसे रसको उत्पन्न करता हुआ (**अनड्वान् कीनाशः च**) बैल और किसान (**अभिगच्छतः**) चलते हैं ॥ १० ॥

(**द्वादश वै एताः रात्रीः**) निश्चयसे बारह ये रात्रियां (**प्रजापतेः व्रत्याः आहुः**) जिनको प्रजापतिके व्रतके लिये योग्य है ऐसा कहा जाता है । (**तत्र यः ब्रह्म उपवेद**) वहां जो ब्रह्मको जानता है (**तत् वै अनडुहः व्रतं**) वह ही उस विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

(**सायं दुहे प्रातः दुहे**) मैं सायंकाल और प्रातः काल दोहन करता हूं । (**मध्यं दिनं परि**) मध्यंदिनके समय भी दोहन करता हूं । (**ये अस्य दोहाः संयति**) जो इसके रस प्राप्त होते हैं (**तान् अन्-उपदस्वतः विद्म**) उनको अविनाशी हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— जो इस संसार रूपी शकटके संचालक देवके सात दोहन प्रवाहोंको जानता है, वह सुप्रजाको और पुण्यलोकोंको प्राप्त करता है, इसी प्रकार सप्त ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

पांवोंसे भूमिका आक्रमण करता है, जांघोंसे अन्न उत्पन्न करता है, श्रमसे अन्नरस उत्पन्न करता है; इस प्रकारके बैल और किसान ये दोनों साथ चलते हैं ॥ १० ॥

ये बारह रात्रियां हैं जो प्रजापतिका व्रत करनेके लिये योग्य हैं । उस समयमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना ही विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

प्रातःकाल, मध्यदिनके समय और सायंकाल दोहन होता है इस दोहनसे जो रस प्राप्त होते हैं वे ही अविनाशी रस होते हैं ॥ १२ ॥

विश्वशकटका चालक

विश्व शकटका स्वरूप ।

यह सब संसार अथवा यह सब विश्वरूपी एक बडा शकट है, इस शकटमें सब मनुष्य आदि प्राणी बैठे हैं और अपने मुकामपर जा रहे हैं, इस शकटका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है—

मनो अस्या अन आसीद्यौरासीदुत्तच्छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम् ॥ १०॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः ।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

ऋ० १०।८५।१०—१२

'इसका मनरूपी रथ था, जिस रथका ऊपरका भाग द्युलोक था। दो शुभ्र बैल इसमें लगे थे जब सूर्यादेवी पतिके घर जाने लगी ॥ १० ॥ ये बैल ऋचा और सामके मंत्रोंसे प्रेरित हुए थे, श्रोत्र रूपी दो चक्र इस रथमें लगे हैं और इसका मार्ग आकाशसे चराचर रूपी है ॥ ११ ॥ ये चक्र शुद्ध हैं इसके मध्यमें रथका अक्ष व्यान वायु है। यह मनोमय रथ है जिस परसे सूर्या देवी पतिके घर जाती है ॥ १२ ॥'

यहां इस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है ऐसा कहा है अर्थात् इसका नीचेका भाग पृथ्वी है और मध्य भाग अन्तरिक्ष है। शरीरमें मस्तिष्क, छाती और पांव ये रथके तीन भाग हैं, विश्वमें तीन लोक तीन भाग हैं। शरीरमें दस इन्द्रियां घोडों के स्थानपर हैं उसी प्रकार जगत्के विशाल रथमें दस देव लगे हैं; जिनसे ये दस इन्द्रियां बनी हैं। जिनको शरीरके रथकी ठीक कल्पना हो सकती है उसको विश्वरूपी विशाल रथकी कल्पना हो सकती है। पिण्ड ब्रह्माण्ड, शरीररथ विश्वरथ, इनकी समानता या तुलना स्थान स्थानपर होती है, जो यहां विचारसे जानकर ब्रह्माण्डके विशाल रथकी कल्पना करना उचित है। इस विश्वरथका संचालक ईश्वर इस सूक्तके वर्णनका विषय है। यही 'अनड्वान् अथवा इन्द्र' है।

इन्द्र शब्द ईश्वरवाचक प्रसिद्ध है, परंतु 'अनड्वान्' शब्द ईश्वरवाचक होनेमें पाठकोंको शंका होना स्वाभाविक है। क्योंकि '**अनः शकटं वहति इति अनड्वान्**' अर्थात् शकट किंवा गाडी खींचनेवाला बैल ऐसा इसका अर्थ है। जिस प्रकार शकटको बैल चलाता है उसी प्रकार विश्वरूपी रथको जो चलाता है वह विश्वरथका (अनड्वाह) बैल ही है। विश्व चलानेवाला जो प्रभु है वही इसको खींचता है, किस दूसरेकी शक्ति है इसको चलानेकी? इसीलिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि 'भूमि, अंतरिक्ष, और द्युलोक सब दिशाओंके साथ उसीके आधारसे रहे हैं और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है।' (मं. १) इस मंत्रमें जो 'अनड्वान्' शब्द आया है वह सब विश्वको आधार देनेवाले सब विश्वमें व्यापक देवताका वाचक है। यद्यपि 'अनड्वान्' शब्द संस्कृतमें 'बैल' का वाचक है तथापि यहां उसका अर्थ 'विश्व-चालक' ऐसा है। कई लोक यहां केवल बैलकीही कल्पना करते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं उनको उचित है कि वे मंत्रके वर्णनका भी साथ साथ विचार करें और प्रसंगानुकूल अर्थ करके लाभ उठायें।

'जिस रथका ऊपरका भाग द्युलोक है, मध्यभाग अंतरिक्ष है और निम्न भाग भूमि है, उस रथमें मनुष्यमात्र बैठे हैं, मैं भी उसमें बैठा हूं, और इस रथको चलानेवाले स्वयं प्रभु हैं, ऐसा यह रथ हम सबको अभीष्ट स्थानको पहुंचा रहा है।' यह अत्यंत श्रेष्ठ काव्यमय कल्पना इस मंत्रमें कही है। अर्जुनका रथ भगवान् श्रीकृष्ण चला रहे थे, वस्तुतः 'कुरुक्षेत्र' अर्थात् कर्म क्षेत्रमें हरएक मनुष्यका देहरथ परमात्मशक्तिसे ही चलाया जा रहा है। इसी प्रकार विश्वका यह प्रचंड रथ भी उसीकी शक्तिसे चल रहा है। यह कल्पना मनमें लाकर 'विश्वचालक' ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना यहां हरएक मनुष्यको उचित है। इस कल्पनाका जितना अधिक मनन किया जाय उतना परमात्मशक्तिका अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है और मनुष्य ईश्वरकी अगाध शक्तिको जान सकता है।

जिस प्रकार रथके अनेक विभाग स्वयं अलग अलग होते हुए भी वे भाग रथमें आनेके कारण सबका एक दूसरेके साथ संबंध अटूट हो जाता है और उसमेंसे एक भाग भी ढीला हो जाय तो सब रथ टूट जाता है, इसी प्रकार यह विश्व एक दूसरेसे बधा है, यद्यपि सूर्य चंद्रादि लोकलोकान्तर एक दूसरेसे बडे अंतर पर हैं तथापि उनका परस्पर वैसा ही दृढ संबंध है जैसा रथमें एक चक्रका दूसरे चक्रके साथ। मनुष्यके शरीरमें भी अनेक अवयव होते हैं, वे अलग अलग होते हुए भी परस्पर संबंधित हैं, उनमेंसे एक अलग हुआ अथवा रोगी हुआ तो सब शरीरपर आपत्ति आजाती है। इसी प्रकार मनुष्य समाजमें

ज्ञाना, द्वार, व्यापारी और कारीगर ये चार अवयव हैं। ये व्यक्तिश एक दूसरेसे पृथक् होते हैं, परन्तु स्वभावसे एसे बंधे हुए हैं कि जैसे शरीरमें अवयव। यदि कई व्यक्तियां सबके नियम तोडकर शत्रुके साथ जा मिलीं तो संघका बल नष्ट होता है। क्योंकि जैसा व्यक्तिका शरीर रथ है, समाजका शरीर भी रथ है, उसी प्रकार विश्वका शरीर भी एक बडा भारी विशाल रथ है। तीनों स्थानके नियम समान ही हैं। इस रथकी कल्पना करके और इसका मनन करके पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। सब विश्व मिलकर एक रथ है, इसमें कोई विभक्त भाव नहीं है, हरएक सजीव या निर्जीव पदार्थ इसी एक रथका अंग है और इसका इसी कल्पनाके साथ यहां रहना चाहिये। इस रथको जो चलाता है वह ही इन्द्र है, वही प्रभु है, वही ईश्वर है—

अनड्वान् इन्द्रः। (म. २)

इस रथको जो चलानेवाला है वह इन्द्र है, इस जगत्में जो गति है वह उसकी ही गति है। इस जड जगत्को चेतना देनेवाला वह एक ही ईश्वर है वह क्या करता है, देखिये—

(१) शक्तः प्रयान् अध्वनः मिमीते।
(२) भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः॥
(३) देवानां सर्वा व्रतानि चरति। (म. २)

'(१) वह समर्थ तीन मार्गोंको नापता है, (२) भूत, वर्तमान और भविष्य कालके भोग देता है, (३) और देवोंके सब व्रतोंको चलाता है। ये इसके कार्य हैं।

(१) तीन मार्ग ये हैं— सत्व, रज, और तम प्रकृतिवालोंके तीन मार्ग होते हैं। किसको किस मार्गसे जाना चाहिये और कैसे जाना चाहिये, वह उसको पता होता है, वही इन तीन मार्गोंका नाप जानता है।

(२) तीन कालोंमें दोहन— भूत वर्तमान और भविष्य कालोंमें वह दोहन करता है और पूर्वोक्त मार्गोंके ऊपरसे चलनेवालोंको भोगके लिये जो चाहिये सो देता है। जिसको जैसा देना योग्य होता है, उसके अनुकूल वैसे उपभोग उसको देता है और उसकी उन्नति वह करता है।

(३) देवोंके व्रतोंको चलाता है— देवोंके व्रत ये हैं, सूर्यका व्रत प्रकाश करनेका है, जलका बहनेका व्रत है, वायुका सुखानेका व्रत है। यह तो बाहरके देवोंके व्रत हैं, शरीरके अंदरके देवोंके ये व्रत हैं, आंखका देखनेका व्रत है, कानका सुननेका व्रत है, प्राणका जीवन देनेका व्रत है, ये सब आत्माकी शक्तिसे हो रहे हैं।

इसका विचार करनेसे इस परमात्माकी महिमाका पता लग सकता है।

मनुष्योंमें देव।

यह देव जो विश्वरूपी शकटको चलाता है और संपूर्ण भुवनोंमें व्याप्त है वह मनुष्योंमें प्रकट होता है, देखिये—

इन्द्रो मनुष्येषु अन्तः जातः। (म. ३)

'यह इन्द्र देव मनुष्योंके बीचमें प्रकट होता है।' मनुष्यके हृदयमें वह प्रकट होता है, मनुष्य उसको अपने अंदर देखता और अनुभव करता है, विश्वका ईश्वर मनुष्यके हृदयमें प्रकाशता है। कितना यह सामर्थ्य मनुष्यमें है कि जिसके हृदयमें विश्वका संचालक रहता और प्रकट होता है। मनुष्यको यह अपनी शक्ति जाननी चाहिये। इस ज्ञानका फल देखिये—

(१) अनडुहः विजानन्,
(२) यः न अश्नीयात्
(३) सः सुप्रजाः सन् उत्-आरे न सर्पत्। (म. ३)

'(१) इस विश्वरूपी शकट चलानेवालेको जो जानता है, (२) वह अपने लिये स्वार्थसे भोग नहीं करता, इस कारण (३) वह सुप्रजा प्राप्त करता हुआ देह पातके नंतर इधर उधर नहीं भटकता,' अर्थात सीधा अपने अमृत धामको पहुंचता है। इसमें प्रथम परमात्माको जानना, और पश्चात् स्वार्थ छोडकर परोपकारके कार्यमें अपना जीवन समर्पित करना इन दोनों 'ज्ञान और कर्म' का यथावत् अनुष्ठान करनेसे तीसरे मन्त्रभागमें कही सिद्धि मिल सकती है। यह ईश्वर किस प्रकार जीवात्माको पवित्र करता हुआ उठाता है, यह चतुर्थ मन्त्रमें क्रमपूर्वक कहा है—

(१) पुरस्तात् पवमानः,
(२) एनं आप्याययति।
(३) सुकृतस्य लोके अनड्वान् दुहे। (म. ४)

(१) पहलेसे पवित्रता करता हुआ, (२) ईश्वर इसको बढाता है, पुष्ट करता है। और इसकी वृद्धि करता है, (३) पुण्य लोकमें यह इसको तृप्तिके साधन देता है।' परमेश्वरका उपासक होनेसे पवित्र होनेका पहिला लाभ होता है, आत्मिक बलकी वृद्धि होना यह दूसरा लाभ होता है और पुण्यलोक प्राप्त होकर वहां विविध प्रकारकी तृप्ति प्राप्त होना यह तीसरा लाभ है। परमात्मोपासनाके यह फल हैं, इस प्रकार पवित्र होता हुआ जीवात्मा उन्नत होता है और अपने निज धामको पहुंचता है। परमात्मा इस प्रकार सहायक होता है इसीलिये कहा है कि—

विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा । (मं. ५)

' यह विश्वको जीतनेवाला, विश्वका पालक और पोषक तथा विश्वसंबंधी सब कर्म करनेवाला है । ', इसीलिये उपासक निर्भय होता हुआ उसकी सहायतासे आगे बढता है और अपने प्राप्तव्य स्थानको पहुंचता है । वह स्थान, जहां इसको जाना है, अमृतका केन्द्र है, किस अनुष्ठानसे यह जीवात्मा वहां पहुंचता है, इस विषयका उपदेश षष्ठ मंत्रमें देखने योग्य है—

व्रतेन तपसा यशस्यवः सुकृतस्य लोकं गेष्म । (मं. ६)

' व्रत और तपसे यश प्राप्त करते हुए पुण्यलोक प्राप्त करेंगे । ' इस मन्त्र भागमें व्रत पालन और तपका आचरण यश और आत्मोन्नतिका साधन है ऐसा स्पष्ट कहा है । विचार करनेसे पता लग जायगा कि यह तो इह परलोककी सद्गति प्राप्त करनेका उत्तम साधन है । इस साधनके करनेसे—

शरीरं हित्वा अमृतस्य नाभिं स्वः आरुरुहुः । (मं. ६)

' शरीर त्यागनेके पश्चात् अमृतके केन्द्रमें आत्म प्रकाशसे युक्त होकर ऊपर चढते हैं । ' यह है तपका प्रभाव और व्रत पालनका महत्त्व । पाठक इसका महत्त्व जानकर इस मार्गसे अपनी उन्नति सिद्ध कर सकते हैं ।

मं. ७ में ' इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् ' आदि नाम उसी एक देवके हैं, ऐसा कहा है, यह बात ऋग्वेदमें मं. १।१६४।४६ में भी अन्य रीतिसे कही है । यही देव सर्वत्र व्यापता है । सबको बलिष्ठ बनाता है और सबको धारण करता है, अर्थात् हरएकको इसका आधार है और हरएकको यह प्राप्य है । किसीको अप्राप्य है ऐसा नहीं है । अष्टम मंत्रका आशय यह है कि यह ईश्वर सबके बीचमें होनेके कारण वह ही सबका मध्य है, इस कारण अन्य विश्व इसके दोनों ओर समान प्रमाणमें है । यह सबके मध्यमें होनेसे यह विश्व इसके दोनों ओर समानतया विभक्त है, यह बात स्वयं सिद्ध हुई है । जिस प्रकार शकटका मध्य दंड दोनों चक्रोंके बीचमेंसे आता है और उसके पूर्व और पश्चिमकी ओर शकटके दो भाग होते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर विश्वशकटका मध्य दंड है और सब विश्व इसके चारों ओर है ।

सात ऋषि ।

' इस अविनाशी ईश्वरके अथवा आत्माके सात दोहन पात्र हैं और उनमें सात प्रवाह दोहे जाते हैं, इनको सप्त ऋषि करके जानते हैं ' (मं. ९) यह नवम मन्त्रका कथन है । ये सात दोहन पात्र अर्थात् दूध दुहनेके बर्तन हमारे सात ज्ञान इंद्रिय हैं । दो आंख रूपका दोहन करते हैं, दो कान शब्द रसका दूध निकालते हैं, दो नाक सुवासका रस लेते हैं और एक मुख मधुरादि रस लेता है । ये सात प्रकृति माताका दूध दोहन करनेके बर्तन हैं, येही रस मनुष्य मात्र पीता है और पुष्ट होकर उन्नति प्राप्त करता है । येही सात ऋषि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ॥ (यजु. ३४।५५)

' प्रत्येक शरीरमें सप्त ऋषि रहे हैं, ये सात इस शरीररूपी घरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं । ' यह बात ऊपरवाले मंत्रमें कही है । यहां सात दोहनपात्र जो कहे हैं वे ही सात ऋषि हैं अथवा ये सात ऋषि इन सात दोहनपात्रोंमें परम माताका दूध निकालते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । सर्व साधारणतया सप्त ऋषि जो समझे जाते हैं उनका नाम ऊपर दिया ही है, परंतु हमारे मनमें एक बात खटकती है वह यह है कि यहां दो आंख, दो कान, दो नाक ये छः ऋषि माने हैं, परंतु वस्तुतः ये अर्थात् दो आंख एक ही प्रकारका ज्ञान प्राप्त करते हैं इसलिये इनको भिन्न मानना अयुक्त है । यद्यपि गिनतीके लिये ये सात होते हैं तथापि वस्तुतः ये सात भिन्न हैं ऐसा नहीं माना जा सकता । मंत्रमें सात ऋषि भिन्न माने हैं और उनके दोहन पात्र भी भिन्न माने हैं अर्थात् उनमें दुहा जानेवाला दूध भी भिन्न ही है । यह बात ऊपर माने गये सप्त पात्र और सप्त ऋषियोंसे सिद्ध नहीं होती इसलिये इनको अन्य स्थानमें ढूंढना चाहिये । हमारे मतसे सप्तऋषि और सप्त दोहन पात्र ये हैं—

१ **आत्मा**— यह ऋषि परमात्मासे ' आनन्द ' रूपी दूध अपनेमें दुहता है ।

२ **बुद्धि (संज्ञान)**— यह ऋषि परमात्मासे ' चित् ' अथवा वि-ज्ञान रूपी दूध अपने अन्दर निचोडता है ।

३ **अहंकार**— यह ऋषि परमात्मासे ' मैं ' पनका भाव रूपी दूध निकालता है ।

४ **मन**— यह ऋषि उसीसे ' मनन शक्ति ' रूप दूध दुहता है ।

५ **प्राण**— यह ऋषि वहांसे ही ' जीवन ' रूपी दूध निकालता है ।

६ **ज्ञानेन्द्रिय (सघ)**— यह ऋषि वहांसे ही ' विषय-ज्ञान ' रूपी दूध निचोडता है ।

७ **कर्मेन्द्रिय (संघ)**— यह ऋषि उसीसे ' कर्मशक्ति ' रूप दूध निकालता है ।

ये सात ऋषि एक दूसरेसे भिन्न हैं, इनके पास विभिन्न

दोहन पात्र हैं और प्रत्येकका निकाला हुआ दूध भी भिन्न है, और उसके सेवनसे पुष्टि भी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। इसलिये ये सात ऋषि और ये सात दोहन पात्र हैं ऐसा मानना यहां उचित है। पाठक इस विषयका अधिक विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

बैल और किसान

दशम मंत्रमें बैल और किसानके रूपकसे बडा बोधप्रद उपदेश दिया है, इसका व्यक्त अर्थ यह है— 'पांवोंसे भूमिपरसे चलता है, जावोंसे अन्न उत्पन्न करता है, परिश्रमसे रस बनाता है इस प्रकार बैल और किसान बडा कार्य करते हैं।' यह तो खेतीमें प्रत्यक्ष दीखता है। परंतु इस मंत्रमें केवल इतना ही कहना मुख्य उद्देश्य नहीं है क्योंकि यहां जिस किसानका वर्णन किया है वह 'क्षेत्र-ज्ञ' अर्थात् जीवात्मा है। भगवद्गीतामें इसका नाम 'क्षेत्रज्ञ' आया है। खेतको जाननेवाला किसान जिस प्रकार खेतसे लाभ उठाता है, उसी प्रकार इस शरीर रूपी कार्यक्षेत्रको यथावत् जाननेवाला यह जीवात्मारूपी किसान इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें शुभ विचारोंकी खेती करके बहुत लाभ प्राप्त करता है। इसकी खेतीमें हलचलाने आदिकी सहायता करनेवाला परमेश्वर है जिसका वर्णन इसी सूक्तमें 'अनड्वान्' शब्दसे हुआ है। इस प्रकार यह इसका क्षेत्र है और यह खेती है। किसान इस खेतीका उपभोग करनेवाला है। पाठक इस उत्तम रूपकका विचार करके योग्य बोध प्राप्त करें।

बारह रात्री

ग्यारहवें मंत्रमें 'प्रजापतिके व्रत करनेकी बारह रात्रियां हैं' ऐसा कहा है। रात्री अन्धकारकी द्योतक है, अन्धकार अज्ञानका वाचक है, इस लिये यहां बारह गूढ अंधकारकी रात्रियोंसे तात्पर्य बारह प्रकारके गाढ अज्ञानका है। हरएकके अंदर यह अज्ञान रहता है और जिस प्रमाणसे यह दूर होता है उस प्रमाणसे मनुष्यकी योग्यता बढती है। जब बारह प्रकारके अज्ञान दूर होते हैं तब यह पुरुष विशुद्धात्मा होता है और मोक्षका भागी होता है। (१) परमात्मा, (२) जीवात्मा, (३) बुद्धि, (४) अहंकार, (५) मन, (६) प्राण, (७) ज्ञानेन्द्रिय, (८) ज्ञानेन्द्रियोंके विषय, (९) कर्मेन्द्रिय, (१०) कर्मेन्द्रियोंके विषय, (११) शरीर, (१२) विशाल जगत्, इन बारह क्षेत्रोंके संबंधमें बारह अज्ञान, मिथ्याज्ञान, विपरीतज्ञान अथवा जो कुछ कहा जाय मनुष्यमें रहता है, यह सब हटने चाहिये और इनके विषयमें ज्ञान, विज्ञान, संज्ञान, और प्रज्ञान प्राप्त होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य विचार करके जाने कि अपनेमें इन अज्ञानोंमेंसे कौनसा अज्ञान कितना है और कौनसा विज्ञान कितना प्राप्त किया गया है। इसकी पडताल करनेसे पता लग जायगा कि जो मार्ग आक्रमण करना है वह कितना हो चुका है और कितना अभी चलनेका बाकी है। यह परीक्षा ही इस मंत्रने ली है ऐसा पाठक समझें और इस दृष्टि अपनी परीक्षा करें। इससे बडा आत्मसुधार हो सकता है।

व्रत।

जिस व्रतसे उक्त प्रकारका, बारह प्रकारका अज्ञान दूर हो सकता है वह व्रत इसी ग्यारहवें मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

यः ब्रह्म उपवेद तत्० व्रतम्। (मं. ११)

'जो ज्ञान प्राप्त करता है वह उसका व्रत है।' यहां व्रत मनुष्यकी उन्नति करता है। ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् पूर्वोक्त बारह प्रकारका अज्ञान और मिथ्याज्ञान दूर करनेके लिये बारह प्रकारका ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह व्रत पालन करनेसे इसके अज्ञानका मल धोया जाता है और यह परिशुद्ध होता जाता है। इसलिये यह व्रत जहांतक हो सके मनुष्यको करना चाहिये।

बारहवें मंत्रमें यही अनुष्ठानका स्वरूप कहा है— 'मैं प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय इसका दोहन करता हूं।' यह दोहन क्या है, इसके दोहन पात्र कौनसे हैं और इसके दोहन करनेवाले कौन हैं, इसका वर्णन इसी सूक्तमें इससे पूर्व कहा जा चुका है। यही व्रत है, परमात्मासे उपासना द्वारा ज्ञान और आनंद प्राप्त करना ही यह दोहन है। जो जितना यह दूध पीयेगा वह उतना पुष्ट होगा। 'अविनाशी तत्त्वसे यह दोहन होता है यह जो जानता है,' उसीको इस व्रतसे लाभ हो सकता है, यह अंतिम कथन है। यह निःसंदेह सत्य है। पाठक इस प्रकार इस सूक्तका मनन करें और लाभ उठावें।

सर्व-साक्षी प्रभु ।

(काण्ड ४, सूक्त १६)

(ऋषि — ब्रह्मा । देवता — वरुणः । सत्यानृतान्वीक्षणम् ।)

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥
उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (**एषां बृहन् अधिष्ठाता अन्तिकात् इव पश्यति**) इनका बडा अधिष्ठाता समीपके समान देखता है। (**यः तायत्**) जो फैलाता और पालन करता, (**चरन्**) विचरता और चलाता हुआ, (**मन्यते**) जानता है। (**देवाः इदं सर्वं विदुः**) दिव्य जन यह सब जानते हैं ॥ १ ॥

(**यः तिष्ठति, चरति**) जो खडा होता है अथवा चलता है, (**च यः वञ्चति**) और जो ठगता है, (**यः निलायं चरति, यः प्रतंकं**) जो गुप्त व्यवहार करता है अथवा खुला व्यवहार करता है तथा (**द्वौ संनिषद्य यत् मंत्रयेते**) दो जन एक साथ बैठकर जो कुछ विचार करते हैं (**तत्**) उस सबको (**तृतीयः राजा वरुणः वेद**) तीसरा राजा वरुण जानता है ॥ २ ॥

(**इयं भूमिं**) यह पृथिवी, (**उत उत असौ बृहती दूरं अन्ता द्यौः**) और यह बडा दूर अन्तरपर दीखनेवला द्युलोक है, यह सब (**वरुणस्य राज्ञः**) वरुणराजाका है। (**उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी**) और दोनों समुद्र वरुणकी दोनों कोखें हैं, (**उत अस्मिन् अल्प उदके निलीनः**) तथा वह इस अल्प उदकमें भी लीन हुआ है। ३ ॥

(**उत यः परस्तात् द्यां अतिसर्पात्**) और जो दूर द्युलोकके परे भी चला जावे (**सः वरुणस्य राज्ञः न मुच्यातै**) वह इस वरुणराजाके शासनसे छूट नहीं सकता। (**अस्य दिवः स्पशः इदं प्रचरन्ति**) इस दिव्यदेवके दूत इस जगतमें सचार करते हैं। वे (**सहस्र अक्षाः भूमिं अतिपश्यन्ति**) हजार आंखवाले भूमिको विशेष देखते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— इन संपूर्ण लोक लोकान्तरोंका एक बडा अधिष्ठाता है जो इन सबका निरीक्षण प्रत्येकके समीप रहनेके समान करता है, वह सबका विस्तार करता है और रक्षा करता है, सबको चलाता है और सबमें विचरता है तथा सबको जानता है। उस प्रभुके ये गुण सब ज्ञानीजन जानते हैं ॥ १ ॥

कोई मनुष्य ठहरा हो, कोई चलता हो, कोई किसीको ठगता हो, कोई घरके अन्दर छिपकर कुछ करता हो और कोई खुली जगहमें कार्य करता हो, अथवा दो मनुष्य एक स्थानमें बैठकर कुछ आपसमें गुप्त विचार करते हों, इन सब बातोंको वह प्रभु उसी समय जानता है ॥ २ ॥

यह भूमि और यह बडा द्युलोक तथा इनके बीचके सब पदार्थ उसी प्रभुके हैं। ये बडे समुद्र उसकी कोखोंमें हैं, वह जैसा बडे समुद्रोंमें है वैसा ही पानीकी छोटासी बूंदमें भी है ॥ ३ ॥

यदि कोई कुकर्म करके द्युलोकसे भी परे दूर कहीं भाग जावे तो भी वह इस प्रभुके शासनसे नहीं छूट सकता, क्योंकि इसके दिव्य गुप्त चर इस जगतमें संचार करते हैं और वे हजारों आंखोंसे इस भूमिका निरीक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥ ५ ॥
ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ ६ ॥
शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।
आस्तां जाल्म उदरं स्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥
यः समाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः ।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥
तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र ।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि ॥ ९ ॥

अर्थ—(**राजा वरुणः तत् सर्वं विचष्टे**) वरुणराजा उस सबको देखता है (**यत् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात्**) जो भूमि और द्युलोकके बीचमें है और जो परे है। (**जनानां निमिषः अस्य संख्याताः**) मनुष्योंकी पलकोंके झपकोंको भी उसने गिना है। (**तानि निमिनोति**) उनको वह नापता है (**श्वघ्नी अक्षान् इव**) जैसे जुआरी पासोंको नापता है ॥५॥

हे (**वरुण**) वरुणदेव! (**सप्त सप्त त्रेधा विषिताः**) सात सात तीन प्रकारसे बंधे हुए (**ये ते रुशन्तः पाशाः तिष्ठन्ति**) जो तेरे विनाशक पाश हैं वे (**सर्वे अनृतं वदन्तं छिनन्तु**) सब असत्य बोलनेवालेको बांध दें अथवा छिन्न-भिन्न करें। (**यः सत्यवादी तं अतिसृजन्तु**) जो सत्यवादी है उसको छोड दें ॥ ६ ॥

हे (**वरुण**) ईश्वर! (**शतेन पाशैः एनं अभिधेहि**) सौ फांसोंसे इसको बांध ले। हे (**नृचक्षसः**) मनुष्योंको देखनेवाले! (**अनृतवाक् ते मा मोचि**) असत्य बोलनेवाला तेरेसे न छूट जावे। (**जाल्मः उदरं स्रंसयित्वा**) दुष्ट नीच अपने उदरको गिराकर, (**अबन्धः कोश इव**) न बंधे कोशके समान (**परिकृत्यमान आस्तां**) कटा हुआ पडा रहे ॥७॥

(**वरुणः यः समाम्यः**) वरुण जो समानभाव रखनेवाला और (**यः व्याम्यः**) जो विषम भाव रखनेवाला है। (**वरुणः यः सं-देश्यः, यः वि-देश्यः**) वरुण जो समान देशमें रहनेवाला और जो विशेष देशमें रहनेवाला है, (**वरुणः यः दैवः यः च मानुषः**) वरुण जो देवोंके संबंधी और जो मनुष्य संबंधी है ॥ ८ ॥

हे (**आमुष्यायण**) हे अमुक पिताके पुत्र! हे (**अमुष्याः पुत्र**) अमुक मात के पुत्र! (**असौ**) वह तू (**त्वा**) तुझको (**तैः सर्वैः पाशैः अभिष्यामि**) उन सब पाशोंसे बांधता हूं। और (**तान् सर्वान् उ ते अनु संदिशामि**) उन सबको तेरे लिये प्रेरित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— जो कुछ इस भूमि और द्युलोकके मध्यमें है उस सबका निरीक्षण वह प्रभु स्वयं करता है। यहांतक कि मनुष्योंके पलकोंकी झपकोंको भी वह गिनता है, अर्थात् उसको अज्ञात ऐसा कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥

जो असत्य बोलते हैं उनको वह प्रभु अपने हिंसक पाशोंसे बांध देता है और जो सत्यवादी होते हैं उनको मुक्त करता है ॥६॥

हे प्रभो! तू दुष्टको सैकडों पाशोंसे बांध देता है, असत्यवादी तेरे पाशोंसे नहीं छूट सकता। जो दुष्ट मनुष्य अपने पेटके लिये दूसरोंको सताता है, तू उसके पेटका नाश करता हुआ अन्तमें उसका भी नाश करता है ॥ ७ ॥

सबके साथ समान भाव रखनेवाला, सब देशमें समान रीतिसे रहनेवाला एक दिव्य वरुण देव अर्थात् परमेश्वर है, इसी प्रकार विषम भाव रखनेवाला और छोटे छोटे स्थानोंमें रहनेवाला एक मानुष वरुण अर्थात् मनुष्योंमें रहनेवाला जीवात्मा भी है ॥ ८ ॥

हे अमुक मातापिताके सुपुत्र! तू उत्तम रीतिसे सत्य व्यवहार कर अन्यथा उस प्रभुके पाशोंसे तू बांधा जायगा जिन पाशोंका वर्णन यहां किया जा चुका है ॥ ९ ॥

सर्व-साक्षी प्रभु।

सर्वाधिष्ठाता प्रभु।

इस सूक्तमें सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा, सर्वाधिष्ठाता प्रभुका वर्णन है। यह सूक्त इतना सुबोध, स्पष्ट और भावपूर्ण है कि जिसकी प्रशंसा हमारे शब्दोंसे होना असंभव है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि— 'इस जगतका एक बडा अधिष्ठाता है वह सब जनोंके व्यवहारोंको हरएकके पास रहनेके समान देखता है।' हरएक मनुष्य इस कथनका स्मरण रखे। वह प्रभु जो कार्य करता है उसका वर्णन इसी सूक्तके प्रथम मंत्रमें निम्नलिखित शब्दों द्वारा हुआ है—

(१) तायत् (ताय्-संतानपालनयोः)— वह सबको फैलाता अर्थात् विस्तार करने अथवा पूर्ण बढनेका अवसर देता है; तथा सबका यथा योग्य पालन करता है। किसी प्रकार न्यूनता होने नहीं देता। यह उसकी सबके ऊपर बडी दया है। (म. १)

(२) चरन्— वह सर्वत्र जाता है, सर्वस्थानोंमें उसकी प्राप्ति है, सबको वह चलाता है। वह सर्वव्यापक है। (मं. १)

(३) मन्यते (मन्-ज्ञाने)— जानता है, वह सर्वज्ञ है। (मं. १)

(४) अन्तिकात् इव पश्यति— पास रहनेके समान सबके व्यवहार यथावत् देखता है। वह सर्वत्र व्यापक होनेसे वह सबका उत्तम प्रकारसे निरीक्षण करता है। (मं. १)

(५) अधिष्ठाता— वह सबका मुख्य अधिष्ठाता, शासक और प्रभु है। उसके ऊपर कोई नहीं है। (म. १)

उसकी सर्वज्ञता।

'वह सबके व्यवहार पास रहनेके समान पूर्ण रीतिसे देखता है' ऐसा जो प्रथम मन्त्रमें कहा है, उसका ही स्पष्टीकरण द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है; 'कोई मनुष्य किसी स्थानपर ठहरा हो, चलता हो, दौडता हो, छिपकर कुछ करता हो अथवा खुले स्थानमें व्यवहार चलाता हो, दो मनुष्य बिलकुल एकान्तमें कुछ विचार करते हों यह सब उस प्रभुको यथावत् विदित हो जाता है, (म. २) अर्थात् उससे छिपकर कोई मनुष्य कुछ भी कर नहीं सकता। यह उसकी सर्वज्ञताका उत्तम वर्णन है।

भूमि यहां अपने पास है और द्यौ बडी दूर है, तथापि इन सब पर उसी प्रभुका समान अधिकार है। इतने बडे विस्तार वाले विश्वपर उस अकेलेका ही स्वामित्व है। वह इतना बडा है कि ये सब समुद्र उसकी कोखमें हैं। यह इतना बडा होता हुआ भी इस छोटेसे जलके एक बूंदमें भी वह विराजमान है, प्रत्येक सूक्ष्मसे सूक्ष्म अणुरेणुमें वह पूर्णतया व्यापक हुआ है। (म. ३) यह तृतीय मन्त्रका कथन है।

प्रबल शासक।

उसका शासन ऐसा प्रबल है कि कोई मनुष्य उसके शासनाधिकारसे छूटनेके लिये कहीं भी भाग गया और द्युलोकसे भी परे चला गया, तो भी वह उससे दूर जा नहीं सकता, कहीं भी गया तो भी वह उसके शासनमें ही रहेगा। वह स्वयं सबका निरीक्षण करता है और उसके दूत भी ऐसे प्रबल हैं कि उनकी दृष्टि सबके ऊपर एकसी ही रहती है। (म ४)

जो कुछ इस द्युलोकके बीचमें है उस सबको वह प्रभु जानता ही है, यहां तक वह देखता, गिनता और नापता है कि आंखोंके पलकोंके झपक किसके कितने हुए हैं यह भी उसको ज्ञात है। जो इतनी बारीकीसे सब कुछ देखता है, उसको न समझते हुए क्या कोई मनुष्य कुछ भी कर सकता है? कभी नहीं (म. ५) इसलिये सब मनुष्योंको यह मानना चाहिये कि वह हमारा निरीक्षक है, अतः उसको अपने सम्मुख मानते हुए उत्तम कर्म करके अपनी अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हरएकको प्राप्त करनी चाहिये।

उसके पाश।

जगत्, शरीर, कर्मेन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि इन सात क्षेत्रोंमें उनके विविध पाश फैले हैं। प्रत्येक क्षेत्रके अनुकूल उसके पाश हैं और प्रत्येक क्षेत्रमें भी सत्व, रज, तम इन तीन भेदोंसे भी भिन्न हैं। ये सब पाश 'असत्य भाषण करनेवालेको बांधते हैं और सत्यवादीको मुक्त करते हैं।' (मं ६) सत्यनिष्ठाका यह महत्त्व पाठक जान लें और जहांतक हो सके वहां तक सत्य पालनमें दत्त चित्त होकर अपने जन्मकी सार्थकता करें। सप्तम मन्त्रका आशय भी ऐसा ही है।

अष्टम मन्त्रमें 'दैवी वरुण और मानुष वरुण' का वर्णन है। इस वर्णनसे वैदिक वर्णन शैलीका पता लगता है इसलिये इसके विषयमें थोडासा विवरण करना चाहिये—

दो वरुण।

दिव्य वरुण	मानुष वरुण
१ समास्यः- सबके साथ समान भाव रखनेवाला,	१ व्यास्य.- विषम भावसे देखनेवाला,
२ सदेश्य - समान देशमें रहनेवाला अर्थात् सब स्थानोंमें समानतया रहनेवाला,	२ विदेश्य - जो स्थान विशेषमें रहनेवाला है,
३ दैव - जो देवसबंधी है,	३ मानुष - जो मनुष्योंके संबंधमें है,
४ वरुण.- जो श्रेष्ठ ईश्वर है।	४ वरुण - जो श्रेष्ठ जीवात्मा है।

परमेश्वर सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला, सब स्थानोंमें समान रीतिसे व्यापनेवाला देव है, और जीवात्मा हरएकके साथ विषमवृत्तिसे व्यवहार करनेवाला तथा छोटे छोटे स्थानमें रहनेवाला है। दोनों अपनी अपनी कक्षामें वरुण ही हैं, परंतु एककी व्यापकता बडी है और दूसरेकी छोटी है। एक ही शब्दसे जीवात्मा परमात्माका वर्णन किस ढंगसे होता है यह बात यहां पाठक देखें। यह वेदकी वर्णन शैली है।

अन्तिम मन्त्रमें मनुष्य मात्रके लिये संदेश दिया है कि इस प्रभुके उपासक बनो, उसके आदेशमें रहो और सत्य पालन द्वारा उसके अनुकूल चलो। जो लोग ऐसा न करेंगे वे उसके पाशास बांधे जायगे। जो सत्य पालन करेंगे वे मुक्त हो जायगे।

भुवनोंमें ज्येष्ठ देव।

(का. ५, सू. २)

(ऋषि — बृहद्दिवो अथर्वा। देवता— वरुण।)

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ १ ॥
वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

अर्थ— (तत् इत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस) वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म था, (यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे)
जहांसे उग्र तेजोबलसे युक्त सूर्य उत्पन्न हुआ। यह (सद्यः जज्ञान शत्रून् नि रिणाति) तत्काल प्रकट होते ही शत्रुओंका
नाश करता है। (यत् एनं विश्वे ऊमाः अनुमदन्ति) इस कारण इसको प्राप्त करके सब संरक्षक हर्षित होते हैं ॥ १ ॥
(शवसा वावृधान भूरि-ओजा शत्रु) बलसे बढनेवाला महाबलवान् शत्रु (दासाय भियसं दधाति)
दासको ही भय देता है। यहां (अव्यनत् च व्यनत् च सस्नि) प्राणरहित और प्राण युक्त साथ साथ रहे हैं। और (ते
प्रभृता मदेषु स नवन्त) वे पोषित होकर आनन्दमें स्तुति करते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— संपूर्ण भुवनोंमें वही श्रेष्ठ तत्व है कि, जहांसे सूर्य जैसे तेजस्वी गोल निर्माण होते हैं। इसके प्रकट होते ही
अंधेरा दूर होता है, इसलिये इसको देखकर संरक्षक लोग निर्भय होनेके कारण हर्षित होते हैं ॥ १ ॥
बहुत बलवान् शत्रु दास वृत्तिवाले लोगोंके अन्तःकरणमें भी भय उत्पन्न करते हैं [वीर वृत्तिके लोग शत्रुसे कभी नहीं
डरते।] इस जगत्में प्राणरहित और प्राणसहित ये दोनों एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं और वे परस्परकी सहायतासे परिपुष्ट
होकर आनंदित होते हैं [अर्थात् विभक्त होनेपर वे क्षीण होते हैं।] ॥ २ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥
यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥ ४ ॥
त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ५ ॥
नि तद् दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥
स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

अर्थ– (यत् एते ऊमाः) जब ये रक्षक (त्वे अपि क्रतुं भूरि पृञ्चन्ति) तुझमें ही अपनी बुद्धिको बहुत प्रकार जोडते हैं। तब (द्वि त्रिः भवन्ति) दुगुणे तिगुणे होते हैं। (स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सं सृज) स्वादुसे भी अधिक मधुर रसको मीठेके साथ संयुक्त कर। और (अदः सुमधु मधुना समभि योधीः) उस मधुर रसके प्रति मधुरताके साथ प्राप्त हो ॥ ३ ॥

हे (शुष्मिन्) बलवन्! (चित् नु) निश्चयसे (रणे रणे धना जयन्तं त्वा) प्रत्येक युद्धमें धनको जीतनेवाले तुझको प्राप्त होकर (यदि विप्राः अनुमदन्ति) यदि ज्ञानी लोग आनदित हों, तो उनके लिये (स्थिरं ओजीयः आ तनुष्व) स्थिर बल फैला। (दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्) दुराचारी और शोक करनेवाले तुझे न दबावें ॥ ४ ॥

(भूरि युधेन्यानि प्रपश्यन्तः) बहुत युद्धमें प्राप्त धनोंको देखते हुए (वयं रणेषु त्वया शाशद्महे) हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे। (ते आयुधा वचोभिः चोदयामि) तेरे शस्त्रोंको वचनोंके द्वारा चलाता हूं। और (ते वयांसि ब्रह्मणा सं शिशामि) तेरी गतियोंको ज्ञानसे मैं तीक्ष्ण करता हूं ॥ ५ ॥

(अवरे परे च) छोटे और बडे दोनोंको (यस्मिन् दुरोणे) जिस घरमें (नि दधिषे) धारण करता है और वहां (तत् अवसा अविथ) उसकी रक्षकशक्तिसे रक्षा करता है। (जिगत्नुं मातरं आस्थापयत) प्रगतिशील माताको स्थापित करके (अतः भूरि कर्वराणि इन्वत) इससे बहुत कर्मोंको पार करो ॥ ६ ॥

हे (वर्ष्मन्) बलवन्! (पुरुवर्त्मानं ऋभ्वाणं) बहुत मार्गोंवाले, बहुत तेजस्वी, (इनतमं आप्त्यानां आप्तं) श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्त जो हो (संस्तुष्व) स्तुति कर। (भूरि-ओजाः शवसा आदर्शति) महाबलवान् बलसे आदर्श होता है और (पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति) भूमिकी समानताको प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— सब रक्षक जब परमात्मामें अपनी बुद्धिका योग करते हैं, तब ही दुगुणा और तिगुणा बल प्राप्त करते हैं। वे स्वयं मधुर रससे भी अधिक मीठे बनकर उसमें भी अधिक माधुर्य उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करके धन कमानेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। और ये दोनों मिलकर स्थिर बल फैलावें। दुष्ट दुराचारी लोग सज्जनोंको कभी न दबा सकें ॥ ४ ॥

युद्धमें प्राप्त होनेवाले धनोंको देखते हुए हम सब तेरे जैसे उत्तम वीरके साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे। तेरे शस्त्रोंको हम अपने वक्तृत्वसे उत्तेजित करके चलाते हैं और तेरी हलचलोंको ज्ञानसे तेज करते हैं ॥ ५ ॥

छोटे हों या बडे हों, सब एक घरमें रहनेके समान रहेंगे, तब बल बढकर उनकी रक्षा होगी। सब लोग अपने मनमें अपनी विजयी मातृभूमिको स्थापित करें जिससे वे बहुत कर्मोंको कर सकें ॥ ६ ॥

बहुत मार्गोंसे उन्नति करनेवाले तेजस्वी श्रेष्ठ और आप्त पुरुषोंकी स्तुति करो। वे महाबलवान् अपने बलसे आदर्शरूप बनते हैं और जिस प्रकार भूमि सबको आधार देती है उस प्रकार सबको आधार देते हैं ॥ ७ ॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥ ८ ॥
एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्व१मिन्द्रमेव ।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ ९ ॥

अर्थ— (**अग्रियः स्वः-साः बृहद्दिव**) पहिले आत्मिक प्रकाशसे युक्त बृहद्दिव अर्थात् महान् तेजस्वी ऋषिने (**शूषं इमा ब्रह्म**) बलयुक्त यह स्तोत्र (**इन्द्राय कृणवत्**) प्रभुके लिये किया। वह (**महः गो+त्रस्य स्वराजा क्षयति**) बडे गोरक्षक राष्ट्रका स्वाधीन राजा होकर रहता है। (**तुरः तपस्वान् चित् विश्वं अर्णवत्**) वेगवान् तपस्वी निःसन्देह विश्वमें भ्रमण करता है ॥ ८ ॥

(**महान् बृहद्दिव अथर्वा**) बडे महातेजस्वी योगी ऋषिने (***स्वां तन्वं इन्द्रं एव एव अवोचत्***) अपने शरीरमें रहनेवाले इन्द्रको ही यह स्तोत्र कहा। (**मातरि+भ्वरी स्वसारौ**) मातृभूमिमें भरणपोषण करनेवाली दोनों बहिनें (***च अ+रिप्रे एने***) *जो निर्दोष हैं उन दोनोंको* (**शवसा हिन्वन्ति च वर्धयन्ति**) बलसे प्रेरित करते हैं और बढाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— आत्मिक प्रकाशसे युक्त तेजस्वी ज्ञानी लोग प्रभुकी बहुत स्तुति करते हैं अर्थात् उसके गुण वर्णन करते हैं। वे राष्ट्रके स्वाधीन राजा होकर वेगशील और तपस्वी होते हुए संपूर्ण विश्वमें अपने प्रभावको बढाते हैं ॥ ८ ॥

बडे तेजस्वी योगी ज्ञानी जन अपने शरीरमें रहनेवाले आत्माका स्तोत्र करते हैं। मातृभूमिमें रहनेवाली दोनों बहिनें [अर्थात् मातृभाषा और मातृसभ्यता] मातृभूमिका भरणपोषण करती हुई निर्दोष बनकर अपने बलसे सबको प्रेरित करके सबको बढाती हैं ॥ ९ ॥

भुवनोंमें ज्येष्ठ देव।

सूक्तकी विशेषता।

यह सूक्त यद्यपि मुख्यतया सर्वश्रेष्ठ परमात्माका वर्णन करता है और उसकी प्राप्तिका उपाय बताता है, तथापि श्लेषालंकारसे राज्यशासन विषयक और अन्यान्य अभ्युदय विषयक महत्त्वपूर्ण बातोंका भी साथ साथ उपदेश दे रहा है। इस कारण यह सूक्त जिस प्रकार संसारी जनोंको लाभकारी है, उसी प्रकार परमार्थके लिये प्रयत्न करनेवालोंके लिये भी बोधकर है। इसमें प्रायः प्रत्येक मन्त्रमें श्लेषार्थ होनेसे यह सूक्त भी पूर्व सूक्तकी तरह अत्यंत क्लिष्ट और दुर्बोध हुआ है। तथापि इसके मनन करनेसे जो विचार मनमें आये हैं, उनको यहां देते हैं—

ज्येष्ठके लक्षण।

प्रथम मंत्रमें ज्येष्ठके तीन लक्षण कहे हैं। ये लक्षण प्रथम यहां देखिये—

(१) **यतः उग्रः त्वेष-नृम्णः जज्ञे।** = जहांसे उग्र तेज उत्पन्न होता है। जिससे तेजस्विता बढती है। (मं. १)

(२) **सद्यः जज्ञानः शत्रून् निरिणाति।** = उत्पन्न होते ही शत्रुओंको दूर करता है। कार्यको प्रारंभ करते ही वैरियोंको पराजित करता है। (मं १)

(३) **विश्वे ऊमाः यन अनुमदन्ति।** = सब संरक्षक जिसके अनुकूल रह कर आनंदित होते हैं। जिसके साथ आनंदसे रहते हुए सब संरक्षक अपनी रक्षाका कार्य उत्तम प्रकार करते हैं॥ (मं १)

(४) **तत् भुवनेषु ज्येष्ठं आस।** = वह निःसंदेह भुवनोंमें श्रेष्ठ है। जिसमें पूर्वोक्त तीन लक्षण संगत होते हैं, वह सबमें श्रेष्ठ है ऐसा कहना चाहिये। (मं १)

सबसे प्रथम परमेश्वरको 'ज्येष्ठ, और श्रेष्ठ' कहते हैं क्योंकि (१) उससे सूर्यके समान तेजोगोल उत्पन्न होते हैं

और प्रकाशते हैं, (२) वह जहां प्रकट होता है वहां शत्रुता नष्ट होती है और (३) सब उसकी मान्यता करते हैं। अर्थात् ज्येष्ठत्वके तीनों लक्षण उसमें सार्थ होते हैं, इसी कारण कहते हैं कि परमेश्वर सब भुवनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, दूसरा कोई उसके बराबरीका श्रेष्ठ नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि तेजस्विता, शत्रुदूरीकरणकी शक्ति और रक्षक वीरोंकी अनुकूलता, जिसके पास होती है उसको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहना योग्य है। राष्ट्रमें भी जो श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं, 'वे तेजस्वी होते हैं, उनकी योजनाओंसे दूसरे मनुष्य भी तेजस्वी कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, वे धार्मिक, सामाजिक औद्योगिक, अथवा राजकीय शत्रुओंको हटा देते हैं और इनके साथ राष्ट्रके वीरोंकी अनुकूल संमति होती है।' जिन पुरुषोंमें ये तीन लक्षण होते हैं, वे ही सबसे श्रेष्ठ और सबके धुरीण माने जाते हैं।

प्रथम लक्षणमें 'त्वेष + नृम्णः' शब्द है। वस्तुतः यह शब्द 'त्वेष+नृ+मनः' है अर्थात् इसका अर्थ 'तेजस्वी मनुष्यका मन, अथवा मनुष्यका तेजस्वी मन' है। जिसमें ऐसा तेजस्वी मन होता है वही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। वह मन भी 'उग्र' अर्थात् वीरता युक्त चाहिये। शौर्य वीर्य धैर्य आदि गुणोंसे युक्त मन होना चाहिये। मनुष्यका मन तेजस्वी और वीर भावनासे युक्त होनेसे ही वह अपने शत्रुओंको दूर हटा सकता है और लोकमतकी अनुकूलता भी उसको मिल सकती है। व्यक्तिके अंदर भी श्रेष्ठत्वके लिये येही तीन गुण आवश्यक हैं। जिस आत्मासे ऐसा मनका बल प्रकट होता है वह श्रेष्ठ आत्मा है। इस प्रकार प्रथम मंत्रका व्यापक भाव है।

दासकी घबराहट।

दासके लक्षण।

द्वितीय मन्त्रमें 'दास' के लक्षण कहे हैं। पहिले मन्त्रमें श्रेष्ठ वीर पुरुषके तीन लक्षण कहे हैं, इस द्वितीय मंत्रमें दासका एक ही लक्षण कहा है, वह लक्षण 'भीरुता' है—

(५) शत्रुः दासाय भियसं दधाति।— शत्रु दासके लिये भय धारण करता है। शत्रुको देखकर दासको घबराहट होती है। शत्रु केवल दास वृत्तिके मनुष्यको ही घबरा सकता है। वीर वृत्तिका मनुष्य शत्रुसे डरता नहीं। शत्रु कितना भी प्रबल हो वीर शक्तिवाला मनुष्य कभी उससे डरता नहीं। डरनेका संबंध दासभावके साथ है। यहां 'शत्रुसे घबराना' यह एक दासका लक्षण कहा है। लोग दास इसी लिये बनते हैं कि वे शत्रुसे घबरा जाते हैं। इन लक्षणोंके साथ प्रथम मंत्रोक्त वीरोंके लक्षणोंसे अनुमान होनेवाले विरोधी दास भावके तीन लक्षण जाने जा सकते हैं— '(१) तेजोहीन जीवन, (२) अपनी नादानीसे शत्रुका बल बढाना और (३) आत्मरक्षा न करनेवालोंकी अनुकूलता' ये तीन लक्षण और मिलायेंगे तो दासके चार लक्षण होंगे। तेजहीन मन्द जीवन, अपनी नादानीसे शत्रुका बल बढाना, आत्मरक्षा न करना, और शत्रुसे डरना ये चार लक्षण दासके हैं। ये लक्षण जहां होंगे वहां दास निवास करते हैं ऐसा समझना चाहिये अथवा ये लक्षण जिस राष्ट्रमें होंगे उस राष्ट्रमें दास होंगे। इन लक्षणोंसे पाठकोंको पता लग सकता है कि दास कौन है और आर्य कौन है। श्रेष्ठ कौन और कनिष्ठ कौन है। प्रथम मन्त्रने आर्य अथवा श्रेष्ठके तीन लक्षण बताये और इस द्वितीय मंत्रने दासके लक्षण बताये हैं। पाठक इनका विचार करके आत्मपरीक्षा करें और अपनेमें यदि कोई दासके लक्षण दिखाई दिये, तो उनको दूर करके अपनेमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ आर्यत्वके लक्षण बढावें।

विरोधियोंका सहकार्य।

इस जगत्में विरोधियोंके झगडोंका वृत्तान्त बहुत स्थानोंमें सुनाई देता है। विरोधियोंके झगडोंमें संमिलित होनेवाले दोनों पक्षी प्रतिपक्षियोंकी शक्ति क्षीण होती है। इस प्रकारके नाशसे बचनेका उपाय इस द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है, वह उपाय है विरुद्ध धर्मियोंकी सहकारिता करना। देखिये—

(६) अ-व्यनत् च व्यनत् च सस्नि, ते प्रभृता मदेषु सं नवन्त— जड और चेतन ये विरुद्ध धर्मवाले दोनों परस्पर मिल जुलकर रहते हैं, इसलिये वे पुष्ट होकर आनन्दमें रहते हैं। (मं. २)

अपने शरीरमें ही देखिये शरीर जड है और आत्मा चेतन है। इन दोनोंके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं। इन दोनोंके धर्म परस्पर भिन्न होते हुए भी ये एक स्थान पर ऐसे मिले जुले रहते हैं कि इनको कोई भिन्न नहीं कर सकता। इस प्रकारकी इन विभिन्न धर्मियोंकी एकता होनेसे ये दोनों परस्परकी शक्तिसे परिपुष्ट होते हैं और दोनोंकी वृद्धि होती है। स्थूलसे सूक्ष्मकी वृद्धि और सूक्ष्मसे स्थूलकी पुष्टि होती है। जडकी सहायता चेतनके लिये और चेतनकी जडके लिये होती है। परस्पर विरुद्ध धर्मवाले ये दोनों एक दूसरेके साथ रहनेसे विलक्षण कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं। यदि ये दोनों साथ न रहेंगे, तो यह जगत्का चमत्कार नहीं दिखाई देगा। यह चमत्कार केवल इन विरुद्ध शक्तियोंके एक स्थानपर कार्य करनेसे ही हो सकता है। पूर्वके सूक्तमें 'दो विरोधी चक्र एक स्थानपर कार्य करने लगे

तो उन दोनोंकी शक्ति बढ जाती है। (मं. १।५)' ऐसा कहा है। इस कथनके साथ इस उपदेशकी तुलना पाठक करें।

जड चेतनके साथ साथ कार्य करनेका यह उपदेश यहां इस हेतुसे कहा है कि जनतामें कई लोग जडबुद्धिके होते हैं और कई तीव्र बुद्धिके होते हैं। ये दोनों आपसमें न लडें। इसके अतिरिक्त भी बली निर्बल, ज्ञानी अज्ञानी, धनी निर्धन, पूंजीपति मजदूर, इस प्रकारके विरुद्ध धर्मवाले लोग रहते हैं। प्राय. इनका झगडा होता रहता है और झगडेसे आपसकी शक्ति नष्ट होती है। अत इनको उचित है कि जडचेतन या प्रकृति-पुरुषके समान परस्पर मिल जुलकर रहें और परस्परकी सहायतासे दोनोंकी शक्ति बढावें। यह उपदेश बडा बहुमोल है और जो इसका मनन करेंगे उनको उन्नतिका मार्ग अवश्य दिखाई देगा। ज्ञानी और अज्ञानी आपसमें मिलें, अज्ञानियोंको ज्ञानी ज्ञानदान दें और अज्ञानी ज्ञानियोंकी सहायता अपने बलसे करें। इसी प्रकार स्त्री पुरुष विषमधर्मी होने पर भी गृहस्थ धर्मसे मिलें, इससे स्त्रीको पुरुषकी और पुरुषको स्त्रीकी सहायता होगी, और दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंकी उन्नति होगी। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मियोंका मेल होनेसे दोनोंकी बडी उन्नति होती है। उन्नतिका यह महासिद्धान्त इस द्वितीय मंत्रमें कहा है, इसलिये इस द्वितीय मंत्रका महत्त्व बहुत ही अधिक है।

राजनैतिक क्षेत्रमें जहां विविध जातियोंका आपसमें संघर्ष होता है वहां यह मेलका तत्त्व काममें लाया जाय, तो बडा लाभ होना संभव है। इस तत्त्वपर जब जातियां आपसमें मिलेंगी, तब सबका मिलकर एक बडा राष्ट्र होगा और उसकी शक्ति विलक्षण कार्य करनेमें समर्थ होगी। ब्राह्मण ज्ञानसे, क्षत्रिय बलसे, वैश्य धनसे और शूद्र अपनी कारीगरीसे अपने राष्ट्रकी पूजा करें, ये परस्पर धर्मवाले लोग परस्पर मिलकर रहें और अपनी शक्ति बढावें। इस प्रकारकी एकता हमेशा लाभदायक हो सकती है। मनुष्यके व्यवहारमें विरोधके प्रसंग अनेक आते हैं, उस समय यदि इस नियमका स्मरण होगा तो जनताका बडा कल्याण हो सकता है।

शक्तिकी वृद्धि।

(७) ऊमाः स्वे क्रतुं पृञ्चन्ति, द्विः त्रिः भवन्ति–संरक्षक वीर तेरे अन्दर अपनी बुद्धिका योग करते हैं, जिससे वे दुगुने और तिगुने बलवान् हो जाते हैं। जो लोग अपने अन्त.करणको ईश्वरमें लगाते हैं, चित्तकी एकाग्रता करके परमेश्वरका ध्यान करते हैं, उनका बल बढ जाता है। यहां 'क्रतु' शब्दका अर्थ 'प्रज्ञाशक्ति और कर्मशक्ति' है। अर्थात् जो मनुष्य अपनी बुद्धिको और कर्तृत्वशक्तिको ईश्वरार्पण बुद्धिसे एक ही सत्कर्ममें लगाते हैं, उनकी शक्ति बढती है। यहां बुद्धि और कर्मशक्तिको एक केन्द्रमें लगानेका महत्त्व बताया है। किसी भी व्यवहारके एक केन्द्रमें मन बुद्धि चित्त आदि अपनी सब शक्तियोंको एकाग्र करनेसे शक्तिकी वृद्धि होती है अथवा अपनी शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य होनेकी संभावना हो जाती है। अपने अन्त.करणको अनेक कार्योंमें व्यग्र रखनेसे अपनी शक्ति क्षीण होती है, परंतु अनेक व्यवसायोंका झंझट हटाकर किसी एक कार्यमें मनको लगाया जाय, तो एकाग्रतासे अपना बल बढनेके कारण सिद्धी सहजहीमें हो जाती है। 'ऊम' का अर्थ है स्वसंरक्षण करनेवाले लोग। जो अपनी और जनताकी रक्षाके कार्य करते हैं, उनको इस प्रकार अपने मनको एकाग्र करना अत्यंत आवश्यक है, यदि उनका मन अनंत चिन्ताओंसे व्यग्र रहा, तो उनसे रक्षाका कार्य भी नहीं हो सकता। अर्थात् चित्तको एकाग्र करनेसे शक्ति द्विगुणित अथवा त्रिगुणित हो सकता है और चित्तकी व्यग्रता बढानेसे शक्ति क्षीण होती है। इसी नियमसे योगमार्गकी उत्पत्ति हुई है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका नाम योग है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका ही अर्थ चित्तको अनेक स्थानोंसे हटाकर किसी एक स्थानमें स्थिर करना। अपने मनकी शक्ति बढानेके लिये ही यह योगसाधन है। उदाहरणके लिये पाठक देखें कि किसी मनुष्यके पास एक रुपयेकी शक्ति है। यदि वह एक कार्यमें एक पाईकी शक्ति देगा तो १९२ कार्योंको एक एक पाईकी शक्ति ही मिलेगी और कोई कार्य नहीं होगा, परंतु यदि वह एक रुपयेकी शक्ति किसी एक ही कार्यमें लगायेगा, तो उसको अधिक सिद्धि मिल सकती है। एकाग्रतासे शक्ति इस प्रकार बढती है। अपनी थोडी थोडी शक्ति अनेक कार्योंमें खर्च करनेकी अपेक्षा अपनी सब शक्ति एक ही कार्यमें खर्च करना उक्त कारणसे बहुत लाभकारी है। इस वर्णनसे पाठकोंके मनमें यह बात आगई होगी कि यहां शक्ति बढानेका अर्थ शक्ति द्विगुणित होना नहीं है, अपितु उतनी ही शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य कर सकना है। एकाग्रतासे कार्यक्षमता बढ जाती है यही नियम यहां कहा है।

माधुर्य।

(८) स्वादोः स्वादीयः स्वादुना संसृज। सुमधु मधुना समभियोधीः। = मीठेसे मीठा बनकर सबमें और मीठा रखो। उत्तम मधु मधुरतासे संयुक्त कर। यह रूपक है।

प्रकृतिके स्वादुरसके साथ जीवात्माका स्वादुरस मिला है, इस मिलापसे यह मानवदेहरूपी स्वादु मीठा रस बना, इसमें और अधिक मधुर परमात्माका अमृत रस मिलाया जाय, तो सबसे उत्तम मधुरता हो जायगी। यह मीठापन संतों और महन्तोंमें दिखाई देता है। उत्तम मधु परमात्मा है उसको अपने जीवात्माके माधुर्यमें मिलाना चाहिये। यह अध्यात्मोन्नतिका अनुष्ठान इस मंत्रमें कहा है। जो अपनी उन्नति इस साधनसे करना चाहते हैं वे यह मधुर साधन करें। मनुष्यको सबसे प्रथम प्रकृति पुरुषके संबंधमें माधुर्य अनुभव करना चाहिये और उसमें परमात्माकी मधुरता मिलानी चाहिये। यह माधुर्यका मार्ग व्यवहारमें भी बड़ा उपयोगी है. व्यवहारमें, बातचीतमें और विचारोंमें माधुर्य रखनेसे मित्र बढते हैं, और शत्रु कम होजाते हैं। कई मनुष्य ऐसे कटुवचनी होते हैं कि कारणके बिना ही कटु वाक्प्रहारसे मित्रोंको भी शत्रु बनाते हैं और हानि उठाते हैं। यह बहुत ही अनिष्ट है इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर मीठास बढावे और अपने सब व्यवहार माधुर्ययुक्त करे जिससे इसके मित्र बढें और अनेक प्रकारसे लाभ हो। (मं. ३)

ब्राह्मण क्षत्रियोंकी एकता।

(९) **रणे रणे घना जयन्तं त्वा विप्राः अनुमदन्ति, स्थिरं ओजीयः आतनुष्व।** = प्रत्येक युद्धमें धनोंको जीतनेवाले तेरे जैसे वीरोंका जब ज्ञानी अनुमोदन करते हैं, तब तू स्थिर बल फैला। इसमें मुख्य कथन यह है कि परमेश्वर हरएक युद्धमें विजय प्राप्त करता है, इसलिये ज्ञानी लोग उसकी उपासना करते हैं और परमेश्वर भी उनके लिये स्थिर बल उत्पन्न करता है। यह तो परमेश्वर विषयक भावार्थ हुआ। परंतु यहां इससे भी अधिक आशय है वह यह है— 'प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले क्षत्रिय वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी ब्राह्मण करेंगे, तो जिस देशमें ऐसे मिलजुलकर कार्य करनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय रहते हैं, उस राष्ट्रमें हमेशा रहनेवाला स्थिर बल उत्पन्न होता है, अर्थात् वह राष्ट्र अत्यंत बलवान् हो जाता है।' यजुर्वेदमें कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

यजु. २०।२५

'जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल जुलकर साथ साथ चलते हैं, उस राष्ट्रको पुण्य देश कहते हैं।' इस कथनके साथ इस सूक्तके पूर्वोक्त कथनकी तुलना पाठक करें।

१ **रणे रणे जयन्तं विप्राः अनुमदन्ति**— युद्धमें विजय पानेवाले वीरका ज्ञानी अनुमोदन करते हैं।

२ **यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ सह चरतः**— जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर रहते हैं।

ये दोनों वर्णन जहां सङ्गत होते हैं, उस राष्ट्रमें स्थिर बल रहता है। इसलिये हरएक राष्ट्रके ज्ञानी और शूर मिलजुलकर रहें, और अपना बल बढावें। इसकी प्रतिकूल स्थिति जहां होगी अर्थात् जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय आपसमें झगडते रहेंगे, वह राष्ट्र अधोगतिके कीचडमें फंस जायगा, इसमें कोई शङ्का नहीं है। ब्राह्मण क्षत्रियोंकी एकतासे बलकी वृद्धि और आपसके युद्धसे बलका नाश होता है।

(१०) **दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्।**— दुष्ट और शोक उत्पन्न करनेवाले तुझे न दबावें। अध्यात्मपक्षमें- 'दुष्ट विचार और शोकके विचार मनुष्यके मनको न दबावें। राष्ट्रके पक्षमें दुष्ट घातपात करनेवाले लोग और दूसरोंको रुलानेवाले लोग राष्ट्रको न दबावें।' ब्राह्मण और क्षत्रियोंको आपसमें एकता करके अपने राष्ट्रका बल ऐसा बढाना चाहिये कि जिससे राष्ट्रमें दुष्ट लोगोंका उपद्रव बढने न पावे। सर्वत्र रक्षाका प्रबन्ध ऐसा उत्तम हो कि जिससे दुष्ट सदा दबे रहें और कभी सिर ऊपर न उठा सकें। व्यक्तिमें, कुटुम्बमें, जातिमें और राष्ट्रमें यह उपदेश बडा बोधप्रद है। ब्राह्मण क्षत्रियोंका आपसमें युद्ध हुआ, अर्थात् दोनोंमें एकमत न रहा, तो इन दुष्टोंको सिर ऊपर उठानेके लिये अवसर मिल जाता है, अतः राष्ट्रके अन्दर अभेद्य एकता रखनी चाहिये, और दुष्टोंको बढनेके लिये समय ही नहीं देना चाहिये।

(११) **युधेन्यानि प्रपश्यन्तः वयं रणेषु त्वया शासद्महे**— युद्धोंमें विजय प्राप्त करके जो धन मिलते हैं उनको देखकर हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका निःपात करेंगे। यहां भी पुनः पूर्ववत् ज्ञानी और शूरोंकी सहकारिताका उपदेश किया है। ज्ञानी और शूर मिलकर एक मतसे युद्ध चलावें और विजय प्राप्त करके धन और यश कमावें।

(मं. ५)

(१२) **ते आयुधा वचोभिः चोदयामि।** = तुझ क्षत्रियके आयुध मैं ब्राह्मण अपनी वाणीसे प्रेरित करता हूं। ब्राह्मण अपने उपदेशसे क्षत्रियके अनुकूल वायुमंडल बनावें और क्षत्रिय भी ब्राह्मणकी विद्या बढनेके लिये योग्य सहायता देवे। क्षत्रियके शस्त्रोंको ब्राह्मण अपने भाषणसे प्रेरणा देवे। (मं. ५)

(१३) **ते वयांसि ब्रह्मणा सं शिशामि।** = तेरी

गतियोंको मैं अपने ज्ञानसे तेज करता हूं। अर्थात् क्षत्रियोंकी हलचलोंको ब्राह्मण अपने ज्ञानसे योग्य दिशामें चलावे। (मं. ५)

इस पञ्चम मंत्रमें भी वही ब्राह्मण क्षत्रियकी एकताका विषय बडी उत्तम रीतिसे कहा है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रका यह एक ही भाव है। जिस देशमें शूर और ज्ञानी ऐसे एक विचारसे व्यवहार करेंगे, उस देशका तेज निःसंदेह चारों ओर फैलेगा। आगेके छठे मंत्रमें भी यही एकताका विषय भिन्न रीतिसे कहा है, वह अब देखिये—

(१४) यस्मिन् दुरोणे अवरे परे च निदधिपे, तत् अवसा आविथ। = जिस घरमें छोटे और बडे मिल कर रहते हैं वह घर बलसे सुरक्षित होता है। उच्च नीच, छोटे बडे, बली निर्बल, सधन निर्धन, मालिक नौकर इत्यादि प्रकारके लोग होते हैं। प्रायः इनमें विरोध रहता है और विरोधके कारण एक दूसरेसे झगडते रहते हैं। परंतु जिस घरमें अथवा जिस राष्ट्रमें छोटे और बडे लोगोंमें एकता रहती है और ये सब एक घरमें रहनेके समान मिलजुलकर रहते हैं, वहां ही उनका अपनी एकताके बलसे रक्षण होता है। अर्थात् जिस देशके छोटे और बडे आपसमें झगडते रहते हैं, वह देश असुरक्षित होनेके कारण गिर जाता है। कितना ही बडा राष्ट्र क्यों न हो, वह एक छोटेसे घरके समान सब लोगोंको मालूम होना चाहिये। राष्ट्रमें किसीको भी ऐसा नहीं मालूम होना चाहिये, कि मैं छोटा हू या दूसरा बडा है, इस विषयमें एक मंत्र देखिये—

(१) अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋ. ५।६०।५
(२) ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन। ऋ. ५।५९।६

'(१) जिनमें कोई बडा नहीं और जिनमें छोटा भी कोई नहीं है, ये सब परस्पर भाई हैं और ये सब अपने कल्याणके लिये मिलकर प्रयत्न करते हैं॥ (२) उनमें कोई बडा नहीं, कोई छोटा नहीं और कोई मध्यम भी नहीं। वे सब एक जैसे हैं और वे अपने उदयके लिये उत्साहसे प्रयत्न करते हैं। वे उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, भूमिको माता माननेवाले, दिव्य, मनुष्य, हमारे पास अच्छी प्रकार आवें।'

इन मंत्रोंमें ऐसे वीरोंका वर्णन है कि जिनमें उच्चनीच कोई नहीं है, सब एक ही श्रेणीके हैं और सब मातृभूमिकी उपासना करनेवाले और अपने सामुदायिक यशके लिये यत्न करनेवाले हैं। येही छोटे और बडे एक घरमें रहनेके समान रहते हैं और अपने मेलसे अपनी शक्ति बढाते हुए उन्नति करते हैं। अध्यात्मपक्षमें परमात्माके घरमें छोटे और बडे सब एक जैसे ही होते हैं, यहांका छोटेपन वहां छोटा नहीं होता और यहांका बडापन वहां बडा नहीं होता। वहां तो अन्तः शुद्धतासे सबकी उच्चनीच श्रेणी मानी जाती है। (मं. ६)

(१५) जिगत्नुं मातरं आस्थापयत। = प्रगतिशील अपनी मातृभूमिको अपने अन्तःकरणमें स्थापन करते है। पूर्व स्थानमें दिये हुए ऋग्वेद मंत्रमें ये मातृभूमिके उपासक होते हैं, ऐसा स्पष्ट कहा ही है, वही बात यहां कही है। इसी विषयमें दूसरा एक मंत्र यहां देखने योग्य है वह अब देखिये—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ऋ. १।१३।९
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्त्विडा सरस्वती मही भारती गृणाना॥ अथर्व. ५।२७।९ यजु. २७।१९

'(इळा, भारती) मातृभाषा (सरस्वती) मातृसभ्यता या मातृसंस्कृति और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियां अन्तःकरणमें स्थिर रहें।' अर्थात् मनुष्यको अपने अन्तःकरणसे इन तीन देवियोंकी उपासना करनी चाहिये। यही उपदेश इस सूक्तके इस मन्त्र भागमें है। (मातरं आस्थापयत) मातृभूमिको अपने मनमें उत्तम प्रकार स्थापित करो अर्थात् मातृभूमिके उद्देश्यसे ब्राह्मण क्षत्रिय, छोटे बडे उच्च नीच सब एक हों और मिलजुलकर अपनी उन्नति करनेके लिये यत्न करें तथा आपसमें झगडे खडे करके अपनी शक्तिका ही नाश कदापि न करें। (मं. ६)

(१६) अतः भूरि कर्वराणि इन्वत— इससे बहुत उत्तम कर्म तुम सिद्ध कर सकोगे। यदि पूर्वोक्त प्रकार एकतासे लोग रहेंगे, तो ही वे प्रबल पुरुषार्थ कर सकेंगे। अर्थात् आपसके झगडोंमें अपना समय बिता देंगे, तो उनसे कोई पुरुषार्थ नहीं होगा, और वे गिरते जायगे। आपसके झगडोंसे मनुष्योंकी पुरुषार्थ शक्ति ही नष्ट होती है। (मं. ६)

आप्त पुरुषकी स्तुति।

(१७) पुरुवर्माणं रम्वाणं इनतमं आप्यानां आप्तं संस्तुष्व— बहुत मार्गवाले, तेजस्वी श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्त पुरुषकी ही प्रशंसा कर। अन्यकी स्तुति न कर। परमेश्वरके पास जानेके अनेक मार्ग हैं और वह अनेक

मार्गोसे लोगोंका कल्याण कर सकता है, वह तेजस्वी और सबमें श्रेष्ठ है, और सब आप्तोंमें परम आप्त वही है, इस लिये वही स्तुति करने योग्य है। उसके स्थानपर किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। आप्त पुरुष वह है कि जो सदा सत्यवचनी होता है और कभी किसीके अहितकी बात नहीं करता, जिसके शब्द प्रमाण माने जा सकते हैं उसका नाम आप्त है। ऐसे आप्तोंमें जो सबसे श्रेष्ठ आप्त पुरुष होता है, वह '**आप्त्यानां आप्तः**' है अर्थात् प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे *अधिक प्रामाणिक वही है*। इसीलिये परमेश्वरको सब गुरुओंका भी महागुरु अथवा आदि गुरु कहते हैं। यह वर्णन तो परमात्मविषयक हुआ, अब इस सूक्तका अन्य मनुष्य विषयक भावार्थ देखते हैं। जो मनुष्य (**पुरु-धर्मा**) बहुत मार्गोवाला है अर्थात् अपनी उन्नतिके लिये तथा अपने राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अनेक मार्गोंसे बहुत प्रयत्न करता है, एक मार्गसे असिद्धि हो गई तो दूसरे मार्गसे अपना कदम आगे बढता है और सिद्धि अवश्य प्राप्त करता है, (**ऋभ्वाणं, ऋभू**) कुशल, कारीगर, कला जाननेवाला, हुनर जाननेवाला, कुशलतासे कार्य करनेवाला, जो कार्य हाथमें ले उसे कुशलतासे करनेवाला, (**इन+तमं**) अत्यंत शक्तिमान्, सामर्थ्यवान्, बलवान्, ओजस्वी, (**आप्त्यानां आप्त**) प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक, ऐसा जो पुरुष हो उसकी स्तुति कर। जो अनेक उपायोंसे कार्य सिद्धी करनेवाला, कर्म करनेमें कुशल और प्रामाणिक पुरुष होगा, वही प्रशंसाके लिये योग्य है। किसी अन्यकी स्तुति करना योग्य नहीं है। केवल ज्ञानी, केवल अधिकारी, केवल धनी पुरुष जो होंगे, वे यदि ऊपर लिखा हुआ जनहितका कार्य तत्परताके नहीं करेंगे, तो वे स्तुतिके लिये योग्य नहीं होंगे। (मं. ७)

आदर्श पुरुष।

(१८) **भूरि+ओजा शवसा आदर्शति**— बहुत बलवाला मनुष्य अपने सामर्थ्यसे आदर्शरूप हो जाता है वह बलके कारण होता है। जिसमें किसी भी प्रकारका बल नहीं है, वह कदापि आदर्श पुरुष नहीं होता। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक आदि अनेक बल हैं। पुरुषमें किसी भी बलकी अधिकता होगी, तो ही वह लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है। मनुष्यमें बल हो और उस बलका उपयोग जनताका उद्धार करनेके कार्यमें वह करे, तो वह सबके लिये आदर्श होता है। पूर्वापर संगतिसे पाठक इस भावार्थको स्वयं जान सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुष किन गुणोंसे बनते हैं, इसका बोध इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें प्रकाशित हो सकता है, उस आशयके साथ इस मंत्र भागको देखनेसे स्पष्ट होता है कि आदर्श पुरुष बननेके लिये स्वयं बल कमाना और उस बलका उपयोग परोपकारार्थ करना आवश्यक है। इस विषयमें अगला मंत्रभाग देखने योग्य है—

(१९) **पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति**— वह पृथिवीके साथ समानता प्राप्त करता है, वह भूमिका नमूना बनता है। जिस प्रकार गंभीरता, गुरुत्व और सहनशीलताका आदर्श पृथ्वी है, उसी प्रकार वह गंभीर, बडा और सहनशील बनता है। पृथ्वी सब स्थिरचरके आघात सहन करती हुई भी सबको उत्तम पोषणके पदार्थ देती है। यह शांति और परोपकारका आदर्श है। पृथ्वी सबको यह उपदेश दे रही है। यह आदर्श जो पुरुष अपने सन्मुख रख सकता है और अपने जीवनमें ढाल सकता है, वही आदर्श पुरुष बन सकता है। पृथ्वी जिस प्रकार अपनी शक्ति परोपकारमें लगाती है, उस प्रकार जो पुरुष अपनी सब शक्तिको जनताकी भलाईके लिये खर्च करता है, वही अन्य लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है।

(मं. ७)

काव्य कैसा हो!

(२०) **अग्रियः स्वर्+साः वृहद्दिवः शूषं ब्रह्म कृणवत्**— प्रथम श्रेणीमें स्थित, अपने प्रकाशसे युक्त, बडे द्युलोकके समान तेजस्वी ऋषि, बल उत्पन्न करनेवाला काव्य करता है। इस मंत्रमें प्रथम ऋषिके गुण कहे हैं। वह कवि सबसे प्रथम स्थानम विराजनेवाला आत्मिक प्रकाशसे प्रकाशनेवाला, *द्युलोकसे भी अधिक विस्तृत और प्रभावशाली हो*, तभी वह कवि ऋषि कहलायेगा। यह ऋषि (**शूषं ब्रह्म**) बल बढानेवाला स्तोत्र या काव्य बनावे। कवि लोग काव्य इस प्रकारका बनावें कि जिससे पढनेसे पढनेवालेके मनमें बलका पोषण होवे, निर्बल अन्तःकरण भी बलशाली बनें, उदासीन लोग उत्साही बनें और पुरुषार्थ हीन लोग प्रबल पुरुषार्थी बनें। काव्य इस प्रकारका बनना चाहिये। ऋषिके काव्यका यही लक्षण है। ऋषिका काव्य निर्जीव मनुष्योंको भी विलक्षण पुरुषार्थी बना सकता है। इस प्रकारके ऋषिके काव्यको पढनेवालेकी योग्यता किस प्रकार बढ सकती है, यह अगले मंत्र भागमें देखिये—

(२१) **मह गो+त्रस्य स्वराजा क्षयति**। = बडे गोरक्षक राष्ट्रका स्वतंत्र राजा होकर रहता है। 'गो+त्र' का अर्थ गौकी रक्षा करनेवाला। पुष्टि और बलके लिये गौकी रक्षा

करना अत्यंत आवश्यक है। ऐसे गोरक्षक राष्ट्रमें वह राजा बनकर रहता है। जो पूर्वोक्त प्रकार बल बढानेवाला काव्य करता है, वह मानो राष्ट्रका स्वतंत्र राजा ही होता है, जो राजाको सन्मान मिलता है वही उक्त ज्ञानीको मिलता है, किंवा उससे भी अधिक उसकी मान्यता हो जाती है इसका कारण अगले मंत्र भागमें देखिये—

(१२) **तुरः चित् तपस्वान् विश्वं अर्णवत्।** = शीघ्रतासे कार्य सफल करनेवाला वह तपस्वी विश्वको ही हिला देता है। इतनी उसमें शक्ति उत्पन्न होती है। तपस्वी मनुष्य संपूर्ण विश्वको अपने काव्यसे हिला देता है, सपूर्ण जगत्में चेतना उत्पन्न करता है। (मं. ८)

(१३) **महान् बृहद्दिवः अथर्वा स्वां तन्वं इन्द्रं एव अवोचत्** = बडा तेजस्वी स्थिर चित्तवाला योगी अपने शरीरमें रहनेवाले इन्द्रसे ही इस प्रकार बोला। उक्त योगी ऋषिने अपने शरीरके इन्द्र-आत्मा-को ही इस प्रकार स्तोत्र रूपी वचन कहा, किंवा उसका वर्णन किया। अर्थात् इस सूक्तमें जो है वह अपने शरीरके अन्दरके आत्माका ही वर्णन है, ऐसी भावनासे ऋषिने वर्णन किया है। दूसरोंको जो उपदेश दिया जाता है, या जो काव्य कवि करते हैं, वह दूसरोंके लिये नहीं करते, प्रत्युत वह अपने अन्दर चरितार्थ हुआ देखते हैं किंवा उनमें जगत्के कल्याणका भाव उतना ही तीव्र होता है, जितना की अपने कल्याणका भाव साधारण मनुष्यमें हुआ करता है। इसलिये कवि और ऋषि जो भी बोलते हैं वह विशेष करके अपने अन्तरात्माके लिये होता है, उससे जगत्के लोग जितना चाहिये उतना लाभ उठावें। परंतु कविमें उपदेश देनेका घमंड नहीं होता, वे जो बोलते हैं केवल अपने आत्माकी शान्तिके लिये होता है। (मं. ९)

(१४) **मातरि+श्वरि स्वसारौ अ+रिप्रे हिन्वन्ति, शवसा वर्धयन्ति।** = मातृभूमिका पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृसभ्यता] निर्दोष होनेके कारण सबको हिलाती हैं और बलसे बढाती भी हैं। मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता ये तीन देवियां हैं, इस विषयमें इसी सूक्तके विवरणके प्रसङ्गमें अन्यत्र विशेष रीतिसे कहा ही है। ये तीनों देवियां दोष रहित हैं, सबको चेतना देनेवाली हैं और सबको बलके साथ बढानेवाली हैं। कवि अथवा ऋषि अपने काव्यसे ऐसी चेतना मनुष्यके अन्त करणमें उत्पन्न करते हैं, इसीलिये उनकी योग्यता असाधारण समझी जाती है।

परमेश्वर महाकवि और महाऋषि होनेके कारण यह वर्णन उसके काव्यके लिये पूर्ण रूपसे लगता है। मनुष्योंमें जो कवि होंगे उनके लिये यही आदेश देकर सूचित किया जाता है कि वे अपने काव्यमें उक्त प्रकारकी चेतना शक्ति रखें। इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका वर्णन परमगुरु परमात्मपरक और मानवी कवियोंपरक भी लगता है इतना कहनेके पश्चात् इस सूक्तकी एक विशेष बातकी ओर पाठकोंका मन आकर्षित करना चाहते हैं. वह बात यह है कि इस सूक्तका ऋषि 'बृहद्दिव- अथर्वा' है और वह ही ऋषिनाम मं. ८ और ९ में आया है। इसलिये इसी ऋषिका यह सूक्त है ऐसा कहते हैं। यह नाम इस ऋषिका है इसमें संदेह ही नहीं है, तथापि इसका श्लेषालंकारसे अर्थ हमने ऊपर बताया है। इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ भी ऊपरके अर्थमें विशद हुआ है। (बृहत्+दिव। अथर्वा) द्युलोकसे बडा निश्चल आत्मा यह इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ है। इस प्रकार ये शब्द तीनों स्थानोंमें योग्य प्रकार लग सकते हैं। पाठक इस बातका अधिक विचार करें। अब यहां इस सूक्तका राष्ट्र उन्नति परक भावार्थ सरल शब्दोंमें देते हैं।

राष्ट्रोन्नतिका सन्देश।

(१) जिससे उग्र तेजस्विता निर्माण होती है वही सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। वह निर्माण होते ही शत्रुओंका पराभव करता है, इसलिये सब संरक्षकगण उसको अपना अग्रणी करके हर्षित होते हैं।

(२) शक्तिसे युक्त होकर बढनेवाले प्रबल शत्रुको देखकर दासवृत्तिवाले मनुष्य ही डर जाते हैं (वीर वृत्तिवाले कदापि नहीं डरते)। वस्तुतः देखा जाय तो जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मवाले जड और चेतन इकट्ठे रहनेसे परस्परके बलसे बलवान होकर आनंदित होते हैं [उसी प्रकार विरुद्ध धर्मवाले मनुष्यगण यदि इकट्ठे होकर रहने लगें, तो ही वे परस्परके बलसे बलवान होकर परमानन्दको प्राप्त कर सकते हैं।]

(३) जो अपनी बुद्धि और कर्म शक्तिको बहुत देरतक एक ही कार्यमें स्थिर करते हैं, वे द्विगुणित और त्रिगुणित बलको प्राप्त करते हैं। मीठेसे मीठे पदार्थमें और भी मीठास रखकर उत्तम मधुरता उत्पन्न कर, और मीठेसे मीठेको बढा [अर्थात् अपने आचरणमें मीठास रखो और जिनके साथ संबंध आजाय उनको भी मीठा बनाओ॥)

(४) युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी करें। इस प्रकार वीर और ज्ञानियोंके ऐक्यसे राष्ट्रमें स्थिर बल उत्पन्न होगा और दुष्ट मनुष्य प्रबल नहीं होंगे।

(५) युद्धसे प्राप्त होनेवाले विजयादिको देखकर हम सब ज्ञानी वीरोंके साथ होकर शत्रुका नाश करते हैं, और अपने

ज्ञानसे बारीक शस्त्रोंका चेतावनी देते हैं तथा वीरोंकी हलचलोंको अधिक तेज बनाते हैं।

(६) बडे और छोटे जिस देशमें एक घरमें रहनेके समान रहते हैं, उस देशकी अपने बलसे रक्षा होती है। प्रगतिशील मातृभूमिको अपने अन्तःकरणमें स्थापन करो और विशेष पुरुषार्थ करो।

(७) जो बहुत मार्गोंसे उन्नति सिद्ध करता है, जो कुशल कर्म करनेवाला होता है, जो श्रेष्ठ होता है और जो अधिक प्रामाणिक है उसी उत्तम पुरुषकी प्रशंसा किया करो [किसी अन्य हीन पुरुषकी स्तुति न करो।] बहुत बलवाला मनुष्य अपने बलके कार्योंसे आदर्श पुरुष बन जाता है, जो पृथिवीके समान लोगोंके लिये आधार देनेवाला बनता है।

(८) बडे तेजस्वी आत्मिक बलवाले श्रेष्ठ ऋषिका बल उत्पन्न करनेवाला यह इन्द्र सूक्त है। यह तपस्वी ऋषि सब विश्वको हा हिला देता है, और स्वतंत्र राजा जैसा बनकर रहता है।

(९) बडे तेजस्वी योगी ऋषिने इन्द्रका— मानो अपने अन्दरकी देवताका— ही स्तोत्र बनाया। इसमें मातृभूमिका भरण पोषण करनेवाली दो बहिनें (मातृ भाषा और मातृसभ्यतायें दोनों) निर्दोष रहकर उन्नतिके लिये प्रेरणा करती हैं और सबको बलवान् बनाकर बढाती हैं।

यह भावार्थ राष्ट्रीय उन्नति विषयक है। यह अर्थ इस सूक्तमें प्रधान स्थान रखता है, इसलिये विस्तार पूर्वक दिया है। परमात्माके वर्णन परक अर्थ भी यहां विशेष करके हैं वह आशय पाठक समझ ही गये होंगे।

देवता।

इस सूक्तका देवता 'वरुण' सर्वानुक्रमकारने लिखा है। परंतु इसी सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें यह सूक्त 'इन्द्र' देवताका है ऐसा स्वयं स्पष्ट कहा है, इसलिये इसका देवता 'इन्द्र' मानना उचित है। तथापि यह बात खोज करने योग्य है।

ईश्वर विषयक भावार्थ।

अब इस सूक्तका ईश्वर विषयक भावार्थ संक्षेपसे लिखते हैं— '(१) जिससे सूर्यादि तेजस्वी गोल निर्माण हुए हैं, वह ईश्वर सबसे श्रेष्ठ है। इससे अंधेरा दूर होता है अतः सब रक्षक इससे आनंदित होते हैं। (२) यह बलसे बढता और दुष्टको भय देता है। इसीकी योजनासे जड चेतन इकट्ठे रह कर सबको आनन्द देते हैं। (३) जो इस ईश्वरमें मन लगाते हैं वे द्विगुणित बल प्राप्त करते हैं और मधुरसे भी अधिक मधुर होते हैं। (४) यह ईश्वर हरएक युद्धमें विजयी होता है इस लिये ज्ञानी इसको प्राप्त करके आनंद भोगते, स्थिर बल प्राप्त करते और दुष्टोंको दूर करते हैं। (५) हे ईश्वर! तेरी विजय सर्वत्र देखकर हम तेरे साथ रहते हुए शत्रुको हटायेंगे! तेरे आयुधोंको हम शब्दोंसे प्रेरित करेंगे और ज्ञानसे तेरी गतिको जानेंगे। (६) तेरे घरमें छोटे और बडे समान अधिकारसे रहते हैं, और तू बलसे सबकी उत्तम रक्षा करता है। हमको तू प्रकृतिमाताकी गोदमें रखता है जिससे हम उत्तम कर्म कर सकते हैं। (७) जो विविध मार्गोंसे प्राप्त होनेवाला, श्रेष्ठ कारीगर और परमआप्त पुरुष है, उसकी ही स्तुति कर। वह बलवान् होनेसे सबके लिये आदर्श है, और पृथ्वीके समान सबका आधार है। (८) महातेजस्वी आत्मप्रभावी आदि ऋषिने यह सूक्त इन्द्रकी प्रशंसामें किया। वह महातपस्वी इस संपूर्ण जगत्को चलाता है, और स्वतंत्र राजा होकर इस जगत्में रहता है। (९) महातेजस्वी योगी ऋषिने यह स्वयं अपने ही प्रभुशक्तिपर स्तोत्र किया। जिसके पास (प्रकृति) माता और दो बहिनें (शक्तियां) रहकर सबको प्रेरित करती हैं और बलसे सबकी वृद्धि करती हैं।'

इस प्रकार इस सूक्तका परमात्म विषयक भावार्थ है। पाठक इन दोनों भावार्थोंकी तुलनासे इस सूक्तका गंभीर आशय जान सकते हैं। और अनुष्ठानसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। यह सूक्त समझनेमें बहुत कठिन है अतः इतना विवरण करनेपर भी इसके अर्थकी अधिक खोज करनी आवश्यक है।

श्रेष्ठ देव।

(कां. ५, सू. ११)

(ऋषिः — अथर्वा। देवता — वरुणः।)

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥
न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे।
केन नु त्वमथर्वन् काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः ॥ २ ॥
सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ॥ ३ ॥
न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥ ४ ॥

अर्थ— (**महे असुराय कथं अब्रवीः**) महान् शक्तिवान्के लिये तुमने कैसे और क्या कहा? और (**त्वेषनृम्णः इह हरये पित्रे कथं**) स्वयं तेजस्वी होते हुए तूने यहां दुःख हरण करनेवाले पिताके लिये भी कैसे और क्या कहा है? हे (**वरुण**) श्रेष्ठ प्रभो! हे (**पुनर्मघ**) पुनः पुनः धन देनेवाले देव! (**पृश्निं दक्षिणां ददावान्**) गौ आदि दक्षिणा देते हुए (**त्वं मनसा अचिकित्सीः**) तूने मनसे हमारी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

(**कामेन पुनर्मघः न भवामि**) केवल इच्छासे ही मैं पुनः पुनः धनवाला नहीं होता हूं। मैं (**कं संचक्षे**) किसे यह कहूं? (**एतां पृश्निं उप अजे**) इस गौ आदिको पास ले चलता हूं। हे (**अथर्वन्**) शान्त स्वभाववाले देव! (**केन नु काव्येन त्वं**) किस काव्यसे और (**केन जातेन जातवेदाः असि**) किसके होनेसे तू जातवेद हुआ है ॥ २ ॥

(**सत्यं अहं गंभीरः**) सत्य है कि मैं गंभीर हूं। और (**सत्यं**) यह भी सत्य है कि मैं (**जातेन काव्येन जातवेदाः अस्मि**) काव्य उत्पन्न करनेसे ही जातवेद कहलाता हूं। (**यत् अहं धरिष्ये**) जिसको मैं धारण करता हूं (**मे व्रतं**) उस मेरे नियमको (**न: दासः न आर्यः**) न तो दास और न आर्य (**महित्वा मीमाय**) महत्त्वके साथ तोड सकता है ॥ ३ ॥

हे (**स्वधावन् वरुण**) अपनी धारण शक्तिसे युक्त श्रेष्ठ देव! (**त्वत् अन्यः कवितरः न**) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक कवि नहीं है। (**मेधया धीरतरः न**) और बुद्धिके कारण अधिक धीरवाला भी कोई नहीं है। (**त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ**) तू उन सब भुवनोंको जानता है। इसलिये (**सः मायी जनः**) वह कपटी मनुष्य (**त्वत् चित् नु बिभाय**) तुमसे निःसंदेह भयभीत होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— (भक्तका कथन) = हे ईश्वर! बडे बडे शक्तिमान्को भी तुमने क्या उपदेश दिया है? और सबका दुःख हरण करनेवाले पिताको भी तुमने क्या कहा था? तू स्वयं तेजस्वी है। तूने ही यह गौ, भूमि, वाणी आदिका दान दिया है और हे पुनः पुनः धन देनेवाले देव! तूने ही हमारी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

केवल इच्छा करने मात्रसे ही धनवान् नहीं होता हूं। यह मैं किसे ठीक प्रकार कहूं? मैं इस गौ, भूमि, वाणी आदिको प्राप्त करता हूं। हे देव! किस काव्यके बनानेसे तथा किस पदार्थके बनानेसे तू जातवेद कहा जाता है? ॥ २ ॥

(ईश्वरका उत्तर)— यह बात सत्य है कि मैं बडा गंभीर हूं और यह भी सत्य है, कि इस काव्यके प्रकाशित होनेके कारण मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हूं। जिस नियमको मैं बनाता हूं, उसको कोई तोड नहीं सकता, फिर वह आर्य हो वा दास ॥ ३ ॥

त्वं ह्य॑१ङ्ग व॑रुण स्वधावन् विश्वा॑ वेत्थ॒ जनि॑मा सुप्रणीते ।
किं रज॑स ए॒ना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना किं परे॑णाव॑रममुर ॥ ५ ॥
एकं॒ रज॑स ए॒ना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना प॒र एके॑न दु॒र्णशं॑ चिद॒र्वाक् ।
तत् ते॑ वि॒द्वान् व॑रुण॒ प्र ब्र॑वीम्यधोव॑चसः प॒णयो॑ भवन्तु
नी॒चैर्दा॒सा उप॑ सर्पन्तु॒ भूमि॑म् ॥ ६ ॥
त्वं ह्य॑१ङ्ग व॑रुण॒ ब्रवी॑षि॒ पुन॑र्मघेष्ववद्या॒नि भूरि॑ ।
मो षु प॒णीँर॒भ्ये॑३तावतो भून्मा त्वा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः ॥ ७ ॥
मा मा॑ वोचन्नरा॒धसं॒ जना॑सः॒ पुन॑स्ते॒ पृश्निं॑ जरितर्ददामि ।
स्तो॒त्रं मे॒ विश्व॒मा या॑हि॒ शची॑भिर॒न्तर्विश्वा॑सु॒ मानु॑षीषु दि॒क्षु ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अङ्ग स्वधावन् सुप्रणीते वरुण) प्रिय, अपनी धारणाशक्तिसे युक्त, उत्तम चलानेवाले श्रेष्ठ देव ! (त्वं हि विश्वा जनिमा वेत्थ) तू ही सब जन्मोंको जानता है । हे (अ-सुर) ज्ञानी ! (एना रजसः परः अन्यत् किं अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है ? (एना परेण अवरं किं) और इस परेवालेके उरे भी क्या है ? ॥ ५ ॥

(एना रजसः परः अन्यत् एक अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा एक पदार्थ है । और (एना एकेन पर) इस एकसे परे जो है उसके (अर्वाक् चित् दुर्णशं) उरेका भी पदार्थ दुष्प्राप्य है । हे (वरुण) श्रेष्ठ देव ! (ते तत् विद्वान् प्रब्रवीमि) तेरी वह महिमा जाननेवाला मैं कहता हू कि (पणय अधो वचसः भवन्तु) कुत्सित व्यवहार करनेवाले लोग नाचे मुख करनेवाले होवें, तथा (दासा· भूमिं नोचैः उपसर्पन्तु) दास भाववाले लोग भूमिपर नीचेसे चलते रहें ॥ ६ ॥

हे (अङ्ग वरुण) प्रिय श्रेष्ठ प्रभो ! (त्वं हि पुनर्मघेषु) तू भी फिर धन प्राप्त करनेके व्यवसायोंमें (भूरि अव द्यानि ब्रवीषि) बहुत निन्दायोग्य दोष होते हैं, ऐसा कहता है । (एतावत पणीन् मो सु अभिभूत्) इन व्यवहार करनेवालोंको भी हानि कभी न होवे और (जनास त्वा अराधसं मा वोचन्) लोग तुझे धनहीन भी न कहें ॥ ७ ॥

(जनासः मा अराधस मा वोचन्) लोग मुझे धनहीन न कहें । हे (जरित) स्तुति करनवाले ! (ते पृश्निं पुनः ददामि) तेरी गौको मैं फिर देता हू । (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंके बीचमें (शचीभिः मे विश्व स्तोत्रं आयाहि) बुद्धियोंके साथ मेरे सब स्तोत्रको प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— (भक्तका कथन) हे श्रेष्ठ और समर्थ देव ! तेरेसे भिन्न कोई भी अधिक श्रेष्ठ कवि नहीं है और बुद्धिमान् भी नहीं है । तू ही संपूर्ण भुवनोंका ज्ञाता है इसलिये सब दुष्ट कपटी लोग तेरेसे ही डरते रहते हैं ॥ ४ ॥

हे ईश्वर ! तू सबके सब जन्मोंको जानता है । हे देव ! इस प्रकृतिके परे क्या है और जो सबसे परे है उसके उरे भी क्या है ? ॥ ५ ॥

(ईश्वरका उत्तर) – इस प्रकृतिके परे एक वस्तु है, और उस अन्तिम वस्तुके उरे भी एक दुष्प्राप्य वस्तु है । (भक्तका कथन)– हे देव ! तेरी महिमा जानकर मैं कहता हूं कि दुष्ट व्यवहार करनेवालोंका मुख नीचे हो जावे और सब दास भाववाले अधोगतिको पहुचें ॥ ६ ॥

हे श्रेष्ठ देव ! तुमने कहा है कि वारवार धन बढानेके प्रयत्नोंमें बहुत ही दोष उत्पन्न होते हैं । इसलिये मैं प्रार्थना करता हू कि सबपर ऐसी दया कर, कि ये व्यवहार करनेवाले भी कभी हानि न उठावें और दूसरे लोग भी तुमको कंजूस न कहें ॥ ७ ॥

लोग मुझे भी धनहीन या कंजूस न कहें । हे देव ! जो गौ आदि मेरा धन है, वह सब तेरे लिये समर्पित करता हू । मैं चाहता हू कि यह तेरा स्तोत्र सर्वत्र जगत्के मनुष्योंमें फैले ॥ ८ ॥

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥ ९ ॥
समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।
ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥ १० ॥
देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् ।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥ ११ ॥

(ते स्तोत्राणि) तेरे स्तोत्र **(विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः)** सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंमें **(उद्यतानि यन्तु)** उत्तम प्रकार फैलें । **(यत् मे अ-दत्तः)** जो मुझे दिया नहीं, **(नु मे देहि)** वह मुझे दे । क्योंकि तू **(मे सप्त पदः युज्यः सखा असि)** मेरे सात चरण चल कर बने हुएके समान योग्य मित्र है ॥ ९ ॥

हे **(वरुण)** श्रेष्ठ देव ! **(नौ समा बन्धुः)** हम दोनों समान बन्धु हैं । और **(जा समा)** हमारी उत्पत्ति भी समान है । **(अहं तत् वेद)** मैं वह भी जानता हूं **(यत् नौ एषा समा जा)** कि जो हमारी यह समान उत्पत्ति है । **(यत् ते अ-दत्तः)** जो तुझे नहीं दिया है **(तत् ददामि)** मैं वह देता हूं । **(ते युज्य अस्मि)** तेरे योग्य मैं हूं । तेरा **(सप्त-पदः सखा अस्मि)** सात चरण चलकर बना हुआ मित्र मैं हूं ॥ १० ॥

(गृणते देवाय वयोधाः देवः) स्तुति करनेवाले विद्वान्के लिये अन्न देनेवाला देव तू है । तथा तू **(स्तुवते विप्राय सुमेधाः विप्रः)** स्तुति करनेवाले ज्ञानीके लिये उत्तम मेधावान् ज्ञानी है । हे **(स्वधावन् वरुण)** हे अपनी धारणाशक्तिसे युक्त देव ! तू **(देवबन्धुं पितरं अथर्वाणं अजीजनः)** देवोंके भाई जैसे पालक अथर्वा योगीको बनाता है । **(तस्मा उ सुप्रशस्तं राधः कृणुहि)** उसके लिये उत्तम प्रशंसनीय धन प्रदान कर । **(नः सखा असि)** तू हमारा मित्र है और **(परमं च बन्धुः)** परम बन्धु भी तू ही है ॥ ११ ॥

तेरे स्तोत्र जगत्के मनुष्योंमें फैल जाय । हे देव ! जो अभीतक मुझे प्राप्त नहीं हुआ वह मुझे अब प्राप्त हो, क्योंकि मैं तेरा सुयोग्य मित्र हूं ॥ ९ ॥

हे ईश्वर ! हम दोनों बन्धु हैं, हमारा जन्म भी समान है । मैं जानता हूं कि यह हमारी समानता कैसी है । मैंने जो अभी-तक तेरे लिये समर्पित नहीं किया है, वह मैं तुम्हें अब समर्पित करता हूं । अब मैं तेरा योग्य मित्र हूं और सखा भी हूं ॥ १० ॥

स्तुति करनेवाले उपासकको अन्नादि देनेवाला तू ही एक देव है । उपासकको उत्तम ज्ञान देनेवाला भी तू ही है । हे श्रेष्ठ देव ! तू ही रक्षकोंको उत्पन्न करता है, और उनको धनादि पदार्थ अथवा सिद्धि देता है । तू ही हम सबका मित्र है और भाई भी है ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ देव।

ईश्वर और भक्तका संवाद।

ईश्वर और भक्तका संवाद इस सूक्तमें होनेसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है। वेदमें इस प्रकारके संवादात्मक सूक्त बहुत थोडे हैं, इसलिये इन सूक्तोंका मनन कुछ विशेष रीतिसे करना आवश्यक है।

इस सूक्तमें ईश्वरका नाम 'पुनर्मघ' आया है। पुनः पुनः धन देनेवाला, जो एकबार निर्धन हुआ है, उसको भी पुनः धन देनेवाला, यह इस शब्दका अर्थ है। दो प्रकारसे ईश्वरकी सहायता होती है। यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कही है—

१ पृश्निं दक्षिणां ददावान्। (मं. १)
२ त्वं मनसा अचिकित्सीः। (मं. १)

'(१) परमेश्वर भूमि, गौ, वाणी आदि धनोंकी दक्षिणा वारवार देता है, और (२) सबकी मनसे चिकित्सा करता है।' अर्थात् जगत्के विविध पदार्थ देकर उपभोगके अनंत साधन प्रदान करता है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक इस भूमिपर रह सकता है। इस स्थूल शरीरके सुखका प्रबंध ईश्वरद्वारा होता है। इसी प्रकार सबकी मानस चिकित्सा भी करता है। हरएक मनुष्यको सन्मार्गमें प्रवृत्त करता है, उलटे मार्गपर लगे मनुष्यको सीधे मार्गपर लाता है सन्मार्गकी प्रेरणा करता है। इस प्रकार अनंत रीतियां हैं, जिनके द्वारा वह सबका भला करता है।

ये ईश्वरके सब पर अनंत उपकार हैं। इस मंत्रमें 'पृश्नि' शब्द है जिसका अर्थ 'प्रकृति, भूमि, गौ, वाणी, विद्या' आदि अनेक प्रकार हो सकता है। यहां प्राकृतिक विश्वके उपलक्षणमें यह शब्द आया है।

दो प्रकारके लोग।

जगत्में दो प्रकारके लोग हैं और उनको ज्ञान देनेके भी दो प्रकार हैं। एक प्रकारके लोग 'असुर' कहलाते हैं और दूसरे प्रकारके 'पिता हरि' कहलाते हैं। 'असुर' शब्द शारीरिक बलसे युक्त पुरुषोंका वाचक है और 'पिता हरि' का अर्थ है कि जो 'रक्षक और दुःख हरण करनेवाले' होते हैं। इनके विषयमें यह कहा—

१ महे असुराय कथं अब्रवीः। (मं. १)
२ पित्रे हरये कथं अब्रवीः। (मं. १)

'(१) बडे शक्तिशालीके लिये तूने क्या और कैसे कहा है? और (२) दूसरोंके रक्षक और दूसरोंका दुःख हरण करनेवाले मनुष्यके लिये कैसे और क्या उपदेश दिया है?' इस जगत्में कई लोग शारीरिक शक्तिके घमंडमें कुछ विशेष प्रकारसे व्यवहार कर रहे हैं और दूसरे लोग ऐसे हैं कि जो अपना बल परोपकारार्थ लगाते हैं और दूसरोंकी रक्षा करते हैं, और दूसरोंके दुःखोंका हरण करते हैं, इन सत्पुरुषोंको किस प्रकारका उपदेश तूने दिया है? *कई बलवान् लोग ऐसे होते* हैं कि जो अपनी शक्तिका उपयोग दूसरोंकी भलाईके लिये करते हैं परंतु कई शक्तिमान् लोग ऐसे हैं कि जो अपनी शक्तिसे दूसरोंकी सहायता भी करते हैं। इन सब लोगोंको तूने किस प्रकारका उपदेश दिया है, जिससे ये विविध प्रकारकी प्रवृत्तियां लोगोंमें दिखाई देती हैं? यह आशय इस प्रथम मंत्रके प्रश्नोंका है। तू लोगोंको सब जगत्के पदार्थ अर्पण करके तथा उनकी आधिव्याधियोंका शमन करके सबका भला करता है, तथापि जनतामें ऐसी भिन्न प्रवृत्तिके लोग किस कारण उत्पन्न होते हैं, यह भाव यहां है।

प्रयत्नका महत्त्व।

केवल इच्छा करनेसे ही सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, इच्छाके साथ प्रयत्नकी भी अत्यंत आवश्यकता है, यह बात विशेष रीतिसे द्वितीय मंत्रमें कही है—

न कामेन पुनर्मघो भवामि। (मं. २)

'केवल इच्छा करने मात्रसे ही पुनः धनयुक्त नहीं होता हूं।' *अर्थात् इच्छाके साथ विशेष प्रयत्नकी भी आवश्यकता* है। जो इच्छा करेगा और सिद्धिके लिये प्रयत्न करेगा उसको ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नहीं तो इच्छा करनेवाला कोई मनुष्य धन हीन नहीं रहेगा। परंतु हम देखते हैं कि हरएक मनुष्य धनी बननेकी इच्छा करता है, परंतु सभी निर्धन रहते हैं और क्वचित् कोई मनुष्य धनी होता है और धनी होनेपर बहुत ही थोडे सुखी होते हैं! इसलिये पुरुषार्थका महत्त्व विशेष ही है। यह बात—

क संचक्षे? (मं. २)

'किससे मैं कहूं?' अर्थात् हर कोई मनुष्य धनी होना चाहता है, परंतु प्रयत्न करनेकी तैयारी नहीं करता। यह अवस्था होनेके कारण मंत्र कहता है कि 'केवल इच्छामात्रसे

सिद्धि नहीं हो सकती, यह बात मैं किससे कहूं ! कौन इस उपदेशको सभी प्रकार सुननेको तैयार है ? सुनते तो सबही हैं, परंतु करते बहुत ही थोडे हैं । जो प्रयत्न करते हैं वे—

एतां पृश्निं उप आजे । (मं. २)

' इस प्रकृति (भूमि, वाणी, गौ आदि) को चलाते हैं, प्राप्त करते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार उनसे कार्य लेते हैं । ' यह सब प्रयत्नसे ही साध्य होता है, परंतु जो लोग प्रयत्न तो करते नहीं और इच्छाएं बडी बडी करते रहते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता । इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वे सदिच्छा धारण करें और उसकी सिद्धता के लिये जितना हो सकता है उतना प्रयत्न भी करें ।

ईश्वरका महत्त्व ।

जैसे इतर पदार्थ हैं वैसा ही ईश्वर भी है । फिर सबके ऊपर परमेश्वरका शासन कैसा हुआ, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका प्रश्न बडा मननीय है—

हे अथर्वन् ! त्वं केन ? केन काव्येन जातेन जातवेदाः असि ? (मं. २)

' हे निश्चल देव ! तू किस कारण निश्चल हुआ है और किस काव्यके प्रकट करनेसे जातवेद कहलाता है ? ' अर्थात् तू जो निश्चल है और तुझे कोई भी अपने स्थानसे हिला नहीं सकता, इतनी शक्ति तेरे अन्दर किस कारण प्राप्त हुई है और तुम्हें ज्ञानका उद्गम कहते हैं, वह भी किस कारण है ? किस पुरुषार्थके कारण परमेश्वरका यह महात्म्य प्रसिद्ध हुआ है, परमेश्वरकी ऐसी कौनसी पुरुषार्थ शक्ति है कि जिससे परमेश्वरका ऐसा ऐश्वर्य बढा हुआ है ? यह प्रश्न यहां है भक्तका यह प्रश्न श्रवण करके परमेश्वर तृतीय मंत्रमें उत्तर देते हैं—

यत् अहं धरिष्ये, (तत्) मे व्रतं न दासः आर्यः *मिनाय । (मं. ३)*

' मैं जो नियम करता हूं, उस मेरे नियमको दास अथवा आर्य कोई भी तोड नहीं सकता । ' व्रतपालनकी यह दक्षता परमेश्वरमें है, इसलिये उसका शासन सर्वतोपरि हुआ है । नियमका पालन स्वयं करना और दूसरोंसे नियमका पालन करवाना, ये कार्य आत्मशक्तिसे होते हैं । परमेश्वर सबसे अधिक शक्तिमान् है, इसलिये वह स्वयं नियमपालन करता है और दूसरोंसे नियमपालन करवाता है और उसने अपने विश्वव्यापक राज्यमें ऐसी व्यवस्था रखी है कि उसके नियमोंको कोई भी तोड न सके । ऐसा उत्तम शासन रहनेके कारण उसका अधिकार सर्वतोपरि हुआ है । यह बात परमेश्वरकी शक्तिके विषयमें हुई, अब उसके ज्ञानके विषयमें देखिये—

सत्यं, काव्येन जातेन अहं जातवेदाः अस्मि । (मं. ३)

' यह बात सत्य है कि यह काव्य प्रसिद्ध होनेके कारण ही मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हुआ हूं । ' जातवेदका अर्थ ' जिससे वेद प्रसिद्ध हुए ' ऐसा है । परमेश्वरका यह निश्वसित वेद जगत्में प्रसिद्ध होनेके कारण ही ईश्वरकी ज्ञानविषयमें श्रेष्ठता जगत्में प्रसिद्ध होगई है । पहिले मंत्रभागमें उसकी शक्तिका वर्णन हुआ और प्रबंधशक्तिका भी वर्णन हुआ है । इस मंत्रभागमें उसकी ज्ञानशक्तिका वर्णन हुआ । सबसे पूर्ण और श्रेष्ठ ज्ञान परमेश्वर ही सबको देता है, जो ध्यान लगाते हैं वे उससे समाधान प्राप्त करते हैं । यह सामर्थ्य परमेश्वरका ही है । इसी प्रकार परमेश्वरकी गंभीरताका भी वर्णन इसी मंत्रमें निम्नलिखित प्रकार है–

सत्यं, अहं गभीरः । (मं. ३)

' यह सत्य है कि, मैं गंभीर हूं । ' गंभीर उसको कहते हैं कि जिसकी गहराईका किसीको पता नहीं लगता । सबसे गंभीर परमेश्वर ही है, क्योंकि उसकी गहराईका पता अभी तक किसी को लगा नहीं, इतना ही नहीं, परंतु उसके द्वारा बनाई गयी यह सृष्टि है, इसकी गंभीरताका भी पता अभीतक किसीको भी लगा नहीं है । उसकी गंभीरता इतनी है । ये गुण परमात्मामें होनेसे ही परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि हो गया है ।

इस प्रकार तृतीय मंत्रमें परमात्माका भाषण श्रवण करके भक्त फिर ईश गुणोंका वर्णन कर रहा है—

१ त्वत् अन्यः कवितरः न । (मं. ४)

२ [त्वत् अन्यः] मेधया धीरतरः न (मं. ४)

' (१) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक श्रेष्ठ कवि वा ज्ञानी नहीं है, और (२) तेरेसे भिन्न बुद्धिसे अधिक बुद्धिमान् भी कोई नहीं है । ' अर्थात् तू ही इन गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ है । क्योंकि—

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ । (मं. ४)

त्वं विश्वा जनिमा वेद । (मं. ५)

' तू ही इन सब भुवनोंको और जन्मोंको जानता है । ' संपूर्ण पदार्थमात्रका ज्ञान तेरे अंदर है, तेरे लिये कोई अज्ञात पदार्थ नहीं है । तू सर्वज्ञ, श्रेष्ठ कवि और विशेष ज्ञानी होनेके कारण सब लोगोंके गुण दोष तू यथावत् जानता है, इसी कारण–

मायी जनः त्वत् बिभाय । (मं. ५)

' कुटिल मनुष्य तुझसे डरता है । ' क्योंकि कपटी मनुष्य यद्यपि अन्य लोगोंके साथ कपट कर सकता है, तथापि वह

परमेश्वरके साथ नहीं कर सकता; क्योंकि परमेश्वर उसके कर्मोंको यथावत् जानता है, उससे छिपा हुआ कुछ भी नहीं है। इसी लिये सब छली और कपटी उस परमेश्वरसे सदा डरते रहते हैं। जाहिरी तौरपर बतावें या न बतावें, परंतु वे मनमें डरते रहते हैं। इस सर्वज्ञताके कारण परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि हुआ है।

पंचम मंत्रमें भी यही बात पुनः कही है कि 'वह ईश्वर सबके जन्मोंको यथावत् जानता है' फिर कौन उससे कैसे छिप सकता है। पञ्चम मन्त्रके उत्तरार्धमें कहा है कि—

रजसः परः किम् अन्यत् अस्ति ? (मं. ५)
किं परेण अवरम् ? (मं ५)

'इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है और उसके परे भी और क्या है ?' उत्तरमें कहते हैं—

रजसः एकं परः अन्यत् अस्ति ।
परः एकेन दुर्णशं चित् अर्वाक् ॥ (मं. ६)

'इस प्रकृतिके परे एक श्रेष्ठ तत्त्व है और उसके परे अविनाशी तत्त्व है।' यहां प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माका वर्णन स्पष्टतासे आया है मनुष्यको उचित है कि वह इनको जाने और अपनी उन्नतिका मार्ग इनके आश्रयसे है यह निश्चित रूपसे समझे।

धनप्राप्तिमें दोष।

पूर्वोक्त प्रकार अध्यात्मका विषय बतानेके पश्चात् व्यवहारका थोडासा उपदेश करते हैं। इस लोकका व्यवहार करनेके लिये धन बहुत चाहिये, यह धन कमानेके बहुत मार्ग हैं, परंतु—

पुनर्मघेषु भूरि अनवद्यानि। (मं ७)

"पुनः धन कमानेमें बहुत दोष अथवा निंद्य कर्म होते हैं" अर्थात् दोष न करते हुए और निंद्य कर्म न करते हुए जितना धन कमाया जा सकता है, उतना कमाना चाहिये। दोष और निंद्य कर्म करके जो धन कमानेका व्यवहार करते हैं, वे दण्डनीय समझने चाहिये, इस विषयमें देखिये—

पणयः अधोवचसः भवन्तु। (मं. ६)
दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु (मं. ६)

"व्यवहारमें निंद्य कर्म करके धन कमानेकी इच्छा करनेवालोंका मुख नीचेकी ओर होवे। और दूसरोंका घात करके धन कमानेवाले नीच स्थितिमें गिर जावें।" अर्थात् जो धन कमाना हो, वह धर्मानुकूल व्यवहार करके कमाया जावे। और कोई मनुष्य निंद्य व्यवहार और घातपात करके धन कमानेका यत्न न करे।

इस मंत्र भागमें "पणि" शब्द है, इसका अर्थ "क्रय विक्रय करनेवाला बनिया" है। पणि शब्दमें कोई वस्तुतः बुरा भाव नहीं है। परंतु पाठक जानते ही हैं कि बनियोंमें शुद्ध धर्मानुसार व्यवहार करके धन कमानेकी इच्छा करनेवाले बहुत थोडे होते हैं, और जैसी मर्जी चाहे बुरा भला व्यवहार करके शीघ्र धनी होनेकी इच्छा करनेवाले ही बहुत होते हैं। इसलिये उक्त मंत्र भागोंमें जिन (पणियों) बनियोंको नीचे मुख करनेका शाप दिया है, वे दुष्ट व्यवहार करनेवाले हैं। इसी प्रकार 'दास' शब्दका धात्वर्थ "क्षय करनेवाले, घातपात करनेवाले" ऐसा होता है। दूसरोंकी लूटमार करके धनी होनेवाले यह अर्थ इस मंत्रमें दास शब्दसे लेना योग्य है। इन सब कुत्सित व्यवहार करनेवालोंकी अन्तमें दुर्दशा होती है, इसलिये धर्ममार्गसे उत्तम व्यवहार करके धनी बननेका प्रयत्न सब लोग करें, यह उपदेश यहां है। इतना होनेपर भी—

एतावतः पणीन् मा सु अभिभूत्। (मं. ७)

"बनियोंको भी नुकसान न होवे।" अर्थात् वे भी उत्तम धर्मानुकूल व्यवहार करके योग्य लाभ अवश्य कमावें। जब तक धर्मानुकूल व्यवहार वे कर रहे हैं तब तक उनको कोई रुकावट न होवे, परंतु जिस समय वे धर्म नियमका भंग करेंगे, तब ही उनको दूर किया जावे। हरएक व्यवहार करनेवाले लोग इस उपदेशके अनुसार अपना व्यवहार करें और धनी बनें।

आगे अष्टम और नवम मंत्रमें "परमेश्वरका स्तोत्र अर्थात् ईश भक्ति सब लोगोंमें फैले" यह इच्छा प्रकट की है, इसका अर्थ यही है कि, सब लोग एक ईश्वर भक्तिसे रंगे जायगे, तो उनमें बुराईका व्यवहार करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होगी और सब लोग उत्तम रीतिसे धर्मानुकूल चलेंगे। ईश भक्तिसे मनुष्यका जीवन ही पवित्र होता है।

ईश्वरका सखा।

हर एक मनुष्यको ऐसा विश्वास होना चाहिये कि मैं परमेश्वरका मित्र हूं। जो धार्मिक भक्त होते हैं, उनमें ही यह भाव हो सकता है—

१ मे युज्यः सप्तपद सखा असि। (मं. ९)
२ ते युज्यः सप्तपदः सखा अस्मि। (मं. १०)
३ सखा नः असि। बंधुः च असि। (मं. ११)

"ईश्वर मेरा मित्र और बन्धु है।" वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा परस्पर मित्र, बंधु और एक वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षियोंके समान परस्पर सख्य करनेवाले हैं। परंतु कितने

लोग ऐसे हैं कि जो इस मित्रताका अनुभव करते हैं, इसका विचार किया जाय तो पता लगेगा कि बहुत ही मनुष्योंने इस मित्रताको भुला दिया है। ईश्वरके साथ जीवित और जाग्रत मित्रताका संबंध रखनेवाले क्वचित् कोई सन्त महंत होते हैं, शेष लोग इस मित्रताके संबंधको भूले हुए होते हैं। यह ईश मित्रताका संबंध जितने अन्तः करणोंमें जाग्रत हो जाय उतना अच्छा है। जिनमें यह संबंध जाग्रत होता है वे ही—

देहि नु मे यत् मे अ-दत्त। (मं.९)

ददामि तत् यत् ते अ-दत्त। (मं.१०)

"हे मुझे वह जो अभी तक नहीं दिया है। मैं तुझे वह देता हूं कि जो तुझे अभी तक नहीं दिया है।" यह भक्त और ईश्वरका वार्तालाप तब प्रत्यक्ष हो सकता है कि जब मनुष्य ईश्वरको अपना मित्र अनुभव करेगा। जो अबतक दी नहीं गई ऐसी वस्तु "मोक्ष" ही है जो इस समय भक्त मांगता है और परमेश्वर भी देता है। परमेश्वरसे प्राप्त होनेवाला यह अन्तिम दान है जो भक्तको सबसे अन्तमें प्राप्त होता है।

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना।

(काण्ड ३, सूक्त १६)

(ऋषि:— अथर्वा। देवता— बृहस्पति, बहुदैवत्यम्।)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (**प्रातः अग्निं**) प्रातः काल अग्निकी, (**प्रातः इन्द्रं**) प्रातः काल इन्द्रकी, (**प्रातः मित्रावरुणौ**) प्रात. कालके समय मित्र और वरुणकी, तथा (**प्रातः अश्विनौ**) प्रातः काल अश्विनी देवोंकी (**हवामहे**) हम स्तुति करते हैं। (**प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं**) प्रातः काल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान्‌की (**प्रातः सोमं उत रुद्रं हवामहे**) प्रात. काल सोम और रुद्रकी हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

(**वयं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं भगं हवामहे**) हम प्रातः कालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र भगकी प्रार्थना करते हैं, (**आध्रः चित्**) अशक्त भी और (**तुरः चित् यं**) बलवान् भी जिसको तथा (**राजा चित्**) राजा भी (**यं मन्यमानः**) जिसका सन्मान करता हुआ ('**भगं भक्षि**' **इति आह**) 'धनका भाग मुझे दे' ऐसा कहता है ॥ २ ॥

हे (**भग**) भगवन्! हे (**प्र-नेतः**) बडे नेता! हे (**सत्यराधः भग**) सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो! (**इमां धियं ददत् नः उत् अव**) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर। हे (**भग**) भगवन्! (**गोभिः अश्वैः नः प्रजनय**) गौओं और घोडोंके साथ संतान वृद्धि कर। हे (**भग**) भगवन्! हम (**नृभिः नृवन्तः स्याम**) अच्छे मनुष्योंके साथ रह कर मनुष्योंसे युक्त होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रात काल हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

हम इस प्रात.कालके समय अदीनताके वीर भगवान्‌की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करने वाला है और जिसको अशक्त, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, 'अपनेको भाग्यवान्' करनेकी इच्छा से प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥
समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ— (**उत इदानीं भगवन्तः स्याम**) हम इस समय भाग्यवान होवें (**उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्नाम्**) और सायं कालमें भी और दोपहरमें भी । हे (**मघवन्**) भगवन् ! (**उत सूर्यस्य उदितौ**) और सूर्यके उदयके समय (**वयं देवानां सुमतौ स्याम**) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

(**भगवान् भगः देवः अस्तु**) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवे (**तेन वयं भगवन्तः स्याम**) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें । (**हे भग**) भगवन् ! (**तं त्वा सर्वः इत् जोहवीमि**) उस तुझको मैं सब रीतिसे भजता हूं (**भग**) भगवन् ! (**सः नः पुरएता इह भव**) वह तू हमारा अगुवा यहां हो ॥ ५ ॥

(**उषसः अध्वराय संनमन्त**) उषायें यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें । (**शुचये पदाय दधिक्रावा इव**) जिस प्रकार शुद्ध स्थान पर पद रखनेके लिये घोडा चाहता है । (**वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आवहन्तु**) घोडे इस ओर धनव ले भगवान्को मेरे पास ले आवें (**अश्वाः रथं इव**) जैसे घोडे रथको लाते हैं ॥ ६ ॥

(**अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः उषासः**) घोडे गौएं और वीरोंसे युक्त कल्याणमयी उषायें (**नः सदं उच्छन्तु**) हमारे घरोंको प्रकाशित करें । (**घृतं दुहानाः**) घीको प्राप्त करते हुए (**विश्वतः प्रपीताः**) सब प्रकार हृष्टपुष्ट होकर (**यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात**) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे हम सबके बडे नेता ! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवान् ! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर । गौओं और घोडोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी सतान वृद्धि होने दें । तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहे ऐसा कर ॥ ३ ॥

हम प्रात. काल, दोपहरके समय और सायं कालके समय ऐसे शुभ कर्म करें कि जिससे हम भाग्यशाली बनते जांय । हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भगवान् परमेश्वर हमें भाग्य देनेवाले होवें, उनकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें । हे भगवन् ! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन ॥ ५ ॥

उषः कालका समय अहिंसामय अकुटिल सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे धनवान् भगवान् हमारे अधिक सन्निध होते जांय ॥ ६ ॥

जिन उषाओंके समय घोडे गौएं और वीरपुरुष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें । और ऐसी ही उषायें घृतको प्राप्त करती हुईं और सबको दुग्ध पान कराती हुईं अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥७॥

प्रातःकाल भगवान्‌की प्रार्थना

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करनी चाहिये। अपना मन शुद्ध और पवित्र बना कर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये। इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे। ऐसे शुद्ध भावसे उषाके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं। इसीलिये—

सबका उपास्य देव।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ (मं २)

इस समय "*निर्बल और बलवान्, प्रजाजन और राजा* समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं।" क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सन्मुख समान भावसे ही रहते हैं। इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। इसलिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—

आध्रः— आधार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारेकी आवश्यकता होती है निर्बल, अशक्त, निर्धन।

१ *तुरः*— त्वरायुक्त, शीघ्रतासे कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढनेवाला।

२ *राजा*— शासन करनेवाला, हुकूमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला। *इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहां* शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है। निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करनेवाले लोग ये सब यद्यपि जगत्‌में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं। तथापि जगन्नियन्ता प्रभुके सन्मुख ये समान भावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसे दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी *कृपासे अपने भाग्यकी वृद्धि होगी ऐसा ही समझते* हैं। इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सबका *एक जैसा पालक* है। यह—

यः विधर्ता। (मं २)

"सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है" अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परंतु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसीलिये इसको विशेष धारक कहते हैं। यह—

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं। (मं. २)

"(प्रातः जितं) प्रात कालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करेंगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है। यह तो सदा विजयी ही है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उषःकालसे होता है, उस उषःकालके प्रारंभमें ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय *होगा ही, परंतु इसका प्रारंभसे ही विजय हुआ है, यह बात* यहां बतायी है।

अदीनताका रक्षक।

'दिति' नाम पराधीनता या दीनताका है और 'अ-दिति' का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता।। इस स्वाधीनताका यह (**पु-त्र = पुनाति च त्रायते च इति पुत्रः**) पवित्रता युक्त तारण करनेवाला है। इसीलिये यह भाग्यवान् होनेसे '*भग*' कहलाता है। जो कोई इस पवित्रताके *साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और* ऐश्वर्यवान् भी होगा। '*अ-दितिका पुत्र*' होना बडे पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है। परमात्मा तो स्वयंसिद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इसलिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् बिना प्रयत्न प्राप्त है। पुरुषार्थी मनुष्य अपने पुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी उपासना कौन और किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति।

'अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भगकी हम उपासना करते हैं। (मं. १)' यह इस मंत्रका कथन है। एक ही परमात्म देवके ये गुण बोधक विशेषण हैं। *इस सूक्तमें 'भग' अर्थात् ऐश्वर्यकी प्रधानता होनेसे* इस सूक्तमें '*भग*' शब्द मुख्य और *अन्य शब्द उसके* विशे-

षण हैं। परंतु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मान कर अन्य शब्दोंको उसका विशेषण माना जा सकता है। जैसा- (१) भाग्यप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला ' भग ' नामको मुख्य मान कर उपासना करे। (२) ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला ' ब्रह्मणस्पति ' नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला ' इन्द्र ' नामको मुख्य मान कर उसीकी उपासना करे। (४) पुष्टि चाहनेवाला ' पूषा ' नामको मुख्य मान कर उसकी उपासना करे। (५) शांति चाहनेवाला ' सोम ' नामको मुख्य मान कर अन्य नामोंको उसके विशेषण माने और उपासना करे। (६) उग्रताकी इच्छा करनेवाला ' रुद्र ' नामको मुख्य मानकर उपासना करे, इसी प्रकार अन्यान्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामनाके अनुसार माने और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे। उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्योंकि ' एक ही प्रभुके अग्नि आदि अनेक नाम होते हैं, एक ही सद्वस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न नामोंसे वर्णन करते हैं ' इस वैदिक शैलीके अनुसार इस प्रथम मंत्रमें आये सब शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं। इस कारण किसी गुणको प्रधान मान कर प्रभुकी उपासनाकी जाय तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है। मन जिसका ध्यान लेता है वह गुण मनमें बढता है, इस नियमके अनुसार यह उपासना होती है। इन गुणोंके चिंतन करनेकी सुविधाके लिये यहां इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

१ अग्निः— तेज, प्रकाश, उष्णता, और गति करनेवाला।

२ इन्द्रः— शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक, शासन करनेवाला, राजा।

३ मित्रः— मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला, सबका हित करनेवाला।

४ वरुणः— श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण करनेवाला, वरिष्ठ।

५ अश्विनौ— धन और प्राण शक्तिसे युक्त, वेगवान्। सर्व-व्यापक, सर्वत्र उपस्थित।

६ भगः— भाग्यवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान्।

७ पूषा— पोषक, पुष्टि करनेवाला।

८ ब्रह्मणस्पतिः— ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी।

९ सोमः— शांत, आल्हाद-दायक, कलानिधि, कलावान् मधुर, प्रसन्नता करनेवाला।

१० रुद्रः— उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर, शूर, वीरभद्र, शत्रुविध्वंसक वीर, शत्रुको रुलानेवाला।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं। पाठक इन शब्दोंके मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं। जिस गुणको अपनेमें बढानेकी इच्छा हो उस गुण वाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना और अन्य शब्द उसीके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपासनाकी रीति है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे मनका वायुमंडल ही उस प्रकारका बनता है और आवश्यक गुण मनमें विकसित होने लगता है। यहां पाठक स्मरण रखें कि, अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु-मंडल कैसा बनानेकी आवश्यकता है, इसीलिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

धारणा।

इमां धियं दधत् नः उदव। (मं. ३)

' इस बुद्धिको बढाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी रक्षा कर ' यहां प्रार्थनामें धन नहीं मांगा है, परंतु ' बुद्धि ' मांगी है, यह ' धारणावती बुद्धि ' जो कर्म शक्तिसे युक्त रहती है वह है, *यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरनी आवश्यक है।* भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढाना हो अथवा प्रभुत्व संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुरुषार्थ करनेमें समर्थ धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके बिना उन्नति असंभव है। धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ताका भाव है उसी प्रकार पुरुषार्थमयी कर्मशक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये। यह धी जितनी बढेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। जिस बुद्धिमें ज्ञानशक्ति पुरुषार्थशक्तिके साथ संमिलित रहती है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा ' इमां धियं ' शब्दोंमें है। प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्मशक्ति विकसित करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहां तृतीय मंत्रमें (इमां धियं दधत्) ' इस बुद्धिको दो ' इन शब्दोंमें मांगी है। यहां प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें कही है? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मननसे मिल सकता है। मनन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परंतु विशेष स्पष्टताके लिये यहां थोडासा स्पष्टीकरण करते हैं—

उपासना – (और उससे सिद्ध होनेवाली) – धारणा ।

मंत्रका शब्दार्थ – (और उससे उद्दीपित होनेवाला) – बुद्धिका भाव ।

प्रथम मंत्र ।

(**अग्निं**) तेजस्वी, परंतु (**सोमं**) शांत मीठे स्वभाववाले (**मित्रावरुणौ**) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्षपाती होकर सत्यासत्य देखनेवाले (**पूषणं**) पोषण कर्ता (**ब्रह्मणस्पतिं**) ब्रह्मज्ञानी देवकी प्रार्थना मैं प्रात काल करता हूं ।

(**अश्विनौ**) वेगवान् धनऋण शक्तिवाले और (**रुद्रं**) शत्रुको रुलानेवाले (**भगं**) भाग्य युक्त (**इन्द्रं**) शत्रुओंको दूर करनेवाले शासन कर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूं ।

द्वितीय मंत्र ।

(**प्रातर्जितं**) नित्य विजयी (**उग्रं**) उग्र शूरवीर प्रभुकी मैं प्रात·काल प्रार्थना करता हू । इसी प्रभुको भक्ति अशक्त और सशक्त, रक और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्य का भाग उससे मांगते हैं, क्योंकि वह (**विधर्ता**) सबका धारक और (**अ-दितेः**) बंधन रहित अवस्थाका (**पु-त्रः**) पावन कर्ता और तारण कर्ता है ।

(१)

(१) मैं तेजस्वी बनूंगा, परंतु (२) शांत और मीठा स्वभाव धारण करके (३) मित्र दृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूंगा, (४) निष्पक्षतासे सत्यासत्यकी परीक्षा करूंगा, (५) अन्योंको यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूंगा और (६) अपने अदर ज्ञान बढाऊंगा ।

(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको रुलाने योग्य पराक्रम युद्ध भूमिपर करूंगा और (३) भाग्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूंगा ।

(२)

मैं प्रात काल अपने विजय साधनका विचार करता हू, उसके लिये आवश्यक उग्रता धारण करूंगा और परमेश्वरकी भक्ति पूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनताकी रक्षाके लिये अहर्निश यत्न करूंगा तथा अपने अंदर सब प्रकारकी पवित्रता बढाता हुआ अपने अंदर रक्षक शक्ति भी बढाऊंगा ।

उपासनाके मंत्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहां दी है । पुत्र पिताके समान बनता है, जो पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके संबंधसे होती है । क्योंकि इस जीवात्मरूप " अमृत पुत्र " ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसीलिये वह उपासना करता है ।

(१) " परमेश्वर ज्ञानी है " इतना वाक्य कहते ही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ज्ञानी बनूगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूंगा । " (२) " परमेश्वर शत्रुनिवारक है " इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जाऊं ।' (३) इसी प्रकार " परमेश्वर ऐश्वर्यमय है " इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ऐश्वर्य कमानेका पुरुषार्थ करूं । " (४) इसी रीतिसे " परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है " इतना कहते ही मनमें यह भावना खडी होती है कि " मैं भी कुछ हुनर बनाऊं । "

इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाका धारणासे संबंध है । यह जो बुद्धिमें स्थिररूपसे विशिष्ट विचारकी भावना जम जाती है उसका नाम " धी " है । पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो धारणावती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञानशक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करनेके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है । (**इमां धियं ददत् न. उत् अव** ॥ म. ३ ॥) " इस धारणावती बुद्धिको देकर हमारी उन्नति करते हुए हमारी रक्षा कर " इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें कितना महत्व पूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और इस ढगसे मंत्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जान कर पाठक अपने अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करें ।

सत्यका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें " प्रणेत " और " सत्यराध. " ये दो शब्द विशेष महत्वके हैं । " प्र-नेता " का अर्थ " उत्कर्षकी ओर ले जानेवाला नेता ' तथा ' सत्य-राध. ' का अर्थ ' सत्यके

मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला ' है । ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं । परमात्मा सबको उन्नतिके मार्गका ओर ले जा रहा है और सत्य मार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमात्मामें सार्थ होते हैं । ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बडा बोधप्रद है। मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणसे अपनेमें चरितार्थ करें। मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंको उत्कर्षके मार्गसे ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके सीधे मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें । ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही ' नृ अथवा नर ' कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इसलिये कहा है—

नृभिः नृवन्त स्याम । (म ३)

' श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे ।' यहांका 'नृवान्' शब्द ' मातृमान्, पितृमान् ' शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा- (मातृमान्) प्रशंसनीय गुणवाली मातासे युक्त, (पितृमान्) प्रशंसनीय गुणवाले पितासे युक्त, इसी प्रकार (नृमान्, नृवान्) प्रशंसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त । नहीं तो हर-एक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं । चोरोंसे साथ भी उनके साथी रहते ही हैं, तथापि उस चोरको " नृमान् " नहीं कहा जा सकता । अच्छे मनुष्योंके साथ रहनसे ही मनुष्यका अभ्युदय होना संभव है, इसलिये " अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें " ऐसी इच्छा यहां प्रकट की गई है । इस प्रकार अच्छे मनुष्योंको साथ मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

देवोंकी सुमति ।

" हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें, कि जिससे हम (भगवन्त) भाग्यवान बनते जांय । तथा हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें । (म ४) " यह चतुर्थ मन्त्रका कथन है । यहां दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है । प्रातःकाल क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये । सत्य मार्गसे चलते हुए कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो ।

जहां भाग्य प्राप्त होता है, वहां मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुंदसे रह नहीं सकता, इसलिये भाग्य प्राप्तिका उद्यम करनेका उपदेश करनेवाले इस मन्त्रमें कहा है कि—

वयं देवानां सुमतौ स्याम । (म ४)

' हम देवोंकी सुमतिमें रहें । " अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हों, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे । हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें । इस मन्त्रमें यह सावधानीकी सूचना अत्यंत महत्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्यका सुमार्ग पर रहना कठिन है परंतु वेदको सुमार्ग परसे मनुष्योंको चलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इसलिये जहां गिरनेकी संभावना होती है वहां ही इस प्रकारकी सावधानीकी सूचना दी होती है । ताकि मनुष्य न गिरें और भाग्य भी प्राप्त करें ।

पंचम मन्त्रमें (**स नो भगः पुरएता भवेह** । मं ५) ' वह भगवान् ही हमारा अगुवा बने ' यह उपदेश कहा है वह भी इसी उद्देश्यसे है, कि मनुष्य परमात्माको ही अपना अग्रगामी समझें और अपने आपको उसके अनुयायी समझें और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करें । गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है । सर्वज्ञ परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है ।

अहिंसाका मार्ग ।

षष्ठ मन्त्रमें अध्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अध्वरका मार्ग देखनेके लिये अध्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अध्वर— (अ-ध्वरा) अकुटिलता, जहां टेढापन नहीं है, जहां सीधा भाव है, जहां हिंसा नहीं है, जहां दूसरोंका घात पात करनेका भाव नहीं है, जहां दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है ।

ये " अ-ध्वर " शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं । इस मार्गसे जाना और पंचम मन्त्रका " परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना ", चतुर्थ मन्त्रोक्त " देवोंकी सुमतिमें रहना, ' और तृतीय मन्त्रोक्त " सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना " एक ही बात है । इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र भिन्न भिन्न उपदेशसे एक ही आशय बता रहे हैं पाठक यहां देखें कि इस सूक्तमें यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है ।

गौवें और घोडे ।

इस सूक्तके तृतीय मन्त्रमें " गौओं और घोडोंके साथ हमें युक्त कर " ऐसा कहा है। सप्तम मंत्रमें भी वही बात फिर दुहराई है। इससे घरमें गौवों और घोडोंका रहना वेदकी दृष्टिसे घरका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है।

सप्तम मंत्रमें (घृतं दुहाना.) ' घीका दोहन करनेवाली ' और (विश्वतः प्रपीताः) ' सब प्रकार दुग्धपान कराने वाली ' यह उषाका वर्णन सबेरेके समय दूधका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है। घरमें गौओंको इसीलिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिय मिले और कलके दूधके दहीसे आज निकाला हुआ मक्खन लेकर उसका आज ही घी बनाकर सेवन किया जाय। ऐसे घीको " हैयगवीन घृत " कहते हैं। यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीरोग भी होती है।

भ्रमण ।

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर भ्रमणके लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो घण्टे घोडेकी सवारी करके पश्चात् घर आकर अपने कार्यमें लगना चाहिये। बहुत थोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको सबेरे घरकी गौका ताजा दूध पीनेके लिये मिलता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सबेरेके प्राणप्रद वायुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो। आजका समय विपरीत है। ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतियां केवल स्मरणमें ही रखनी चाहिये।

एकही उपास्य देव ।

(काण्ड ८, सूक्त ९)

(ऋषि — अथर्वा, कश्यपः, सर्वे वा ऋषयः । देवता — विराट् ।)

कुतस्तौ जातौ कंतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कंतमस्याः पृथिव्याः ।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वां पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥
यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहां चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

अर्थ— (तौ कुतः जातौ) वे दोनों कहांसे प्रकट हुए? (सः अर्धः कतमः) वह कौनसा अर्धभाग है? और वह (कस्मात् लोकात्) कौनसे लोकसे और (कतमस्याः पृथिव्याः) कौनसे भूविभागके ऊपर (सलिलात् विराजः) आप तत्त्वसे विराजके (वत्सौ उत् एतां) दोनों बच्चे प्रकट होते हैं? (तौ त्वा पृच्छामि) उन दोनोंके विषयमें तुझे मैं पूछता हूं। उनमेंसे वह गौ (कतरेण दुग्धा) किससे दोही जाती है? ॥ १ ॥

(त्रिभुजं योनिं कृत्वा) तीन भुजावाला आश्रयस्थान बनाकर (शयानः यः) विश्राम करनेवाला जो अपने (महित्वा सलिलं अक्रन्दयत्) महत्त्वसे जलको प्रक्षुब्ध बनाता है। (विराजः कामदुघः सः वत्सः) विराज रूपी कामधेनुका वह बच्चा (पराचैः गुहा) दूर और गुप्त (तन्वः चक्रे) शरीरोंको बनाता है ॥ २ ॥

भावार्थ— (स्त्रीत्व और पुरुषत्व) ये दोनों कहांसे प्रकट होगये हैं? इसमें वह आधा भाग कहांसे माना जाता है? कौनसी पृथ्वीके ऊपर कौनसे स्थानसे किस जलतत्त्वसे विराट् उत्पन्न होकर उसके (रयि और प्राण ये) दोनों बच्चे किस प्रकार उत्पन्न हुए? उस विराट् रूपी गौका दोहन किस बच्चेके साथ हुआ? ये प्रश्न मैं तुमसे पूछता हूं ॥ १ ॥

त्रिगुणमयी प्रकृतिमें व्यापनेवाला अपनी शक्तिसे ही उसमें गति उत्पन्न करता है। उससे विराट् नामक कामधेनु होती है, उसीका वह बच्चा है, जो दूरकी गुहामें अपने शरीरोंको बनाता है ॥ २ ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥
बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥ ४ ॥
बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥
वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥
षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च ।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥ ७ ॥

अर्थ— (*यानि बृहन्ति त्रीणि*) जो बडे तीन हैं और (*येषां चतुर्थं वाचं वियुनक्ति*) जिनका चौथा वाणीको प्रकट करता है। (**विपश्चित् तपसा**) ज्ञानी तपसे (**एनत् ब्रह्म विद्यात्**) इसको ब्रह्म जाने। (**यस्मिन् एकं युज्यते**) जिसमें एकका योग किया जाता है और (**यस्मिन् एकं**) जिसमें एकका होता है ॥ ३ ॥

(**बृहतः षष्ठात् परि**) बडे षष्ठके ऊपर (**पञ्च सामानि अधि निर्मिता**) पांच सामोंका निर्माण हुआ है। (**बृहत्याः बृहत् निर्मितं**) बडीसे बडा बनाया है। (**बृहती कुतः निर्मिता**) बडीका कहांसे निर्माण हुआ ॥ ४ ॥

(*मातुः मात्रायाः परि*) माताकी तन्मात्राके आधारपर (*बृहती मात्रा अधिनिर्मिता*) बडी मात्राका निर्माण हुआ है। (**माया ह मायायाः जज्ञे**) माया निश्चयसे मायासे उत्पन्न होती है। और (**मायायाः परि मातली**) मायाके ऊपर मातली है ॥ ५ ॥

(**उपरि द्यौः वैश्वानरस्य प्रतिमा**) ऊपर जो द्युलोक है वह वैश्वानरकी प्रतिमा है। (**यावत् अग्निः रोदसी विबबाधे**) जहांतक अग्नि द्युलोक और पृथिवीको बाधित करता है। (**ततः अमुतः षष्ठात् स्तोमाः आयन्ति**) वहांसे दूरके छठे स्थानसे स्तोम आते हैं। और वे (**इतः अह्नः षष्ठं अभि उत् यन्ति**) यहांसे छठे दिन ऊपर उठते हैं ॥ ६ ॥

हे कश्यप! (**इमे षट् ऋषयः त्वा पृच्छामः**) ये हम छः ऋषि तुमसे प्रश्न पूछते हैं क्योंकि (**त्वं हि युक्तं योग्यं च युयुक्षे**) तू हि युक्त और योग्यको संयुक्त करता है। (**विराजं ब्रह्मणः पितरं आहुः**) विराजको ब्रह्माका पिता कहते हैं। (**तां नः सखिभ्यः**) उसका हम मित्रोंको (**यतिधा विधेहि**) जितने प्रकारोंसे हो उतने प्रकारोंसे वर्णन करो ॥ ७ ॥

भावार्थ— तीन बडे तत्त्व हैं। जो चौथा है वह वाणीको प्रेरित करता है। ज्ञानी तपसे इस ब्रह्मको जानता है, जिसमें एक (मन) का योग किया जाता है ॥ ३ ॥

बडे छठे तत्त्वके आधारपर पांच सामोंकी रचना हुई है। बडीसे ही बडेका निर्माण होता है। परंतु पहिली बडी कहांसे होती है? ॥ ४ ॥

प्रकृतिमातासे तन्मात्राकी उत्पत्ति होती है और उससे पृथिवी आदिकी उत्पत्ति होती है। मायासे इस प्रकार मायाकी उत्पत्ति होती है। और इस मायाके ऊपर मायाका निरीक्षक भी है ॥ ५ ॥

वैश्वानर उतना है कि जितनी द्यौ है। जहांतक द्युलोकसे पृथ्वीतक अन्तर है उसमें वैश्वानरकी व्याप्ति है। वैश्वानर छठवां है, जिससे स्तोम और यज्ञ प्रचलित होते हैं, और ये सब फिर उसीमें आ मिलते हैं ॥ ६ ॥

हे कश्यप! ये हम छः ऋषि तुमसे पूछते हैं? तू सबको योग्य स्थानमें नियुक्त करता है। अतः इसका उत्तर दे। विराट् ब्रह्माका पिता कहते हैं उस विषयमें हम सबको सब प्रकारसे कह ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥
अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥
को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥
इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ११ ॥

अर्थ— हे (ऋषयः) ऋषिगण ! (यां प्रच्युतां) जिसके स्थानसे चलनेपर (यज्ञाः अनु प्रच्यवन्ते) यज्ञ चलते हैं। और जिसके (उपतिष्ठमानां उपतिष्ठन्ते) उपस्थित होनेसे उपस्थित होते हैं। (यस्याः प्रसवे व्रते) जिसके प्रकट होनेके नियममें (यक्षं एजति) यजनीय देव हलचल करता है। (सा विराट्) वह विराट् (परमे व्योमन्) परम आकाशमें है ॥ ८ ॥

(अ-प्राणा प्राणतीनां प्राणेन एति) स्वयं बिना प्राणवाली होकर भी प्राणवालोंके प्राणके साथ चलती है। पश्चात् (विराट् स्वराजं अभ्येति) विराट् स्वयं प्रकाशके पास पहुंचती है। (विश्वं मृशन्तीं अभिरूपां विराजं) सबको स्पर्श करनेवाली अनुरूप विराट्को (त्वे पश्यन्ति) वे कई देखते हैं, परंतु (त्वे एनां न पश्यन्ति) वे इसको नहीं देखते ॥ ९ ॥

(विराजः मिथुनत्वं कः प्रवेद) विराट्के स्त्रीत्व और पुरुषत्वको कौन जानता है ? (कः ऋतून्) कौन ऋतुओंको और (कः अस्याः कल्पं उ) कौन इसके कल्पको जानता है ? (अस्याः क्रमान् कः) इसके क्रमोंको कौन जानता है ? (कतिधा विदुग्धान्) कितनी बार दोही गयी यह कौन जानता है ? (कः अस्याः धाम) कौन इसका स्थान जानता है और (कतिधा व्युष्टीः) कितनी प्रकारसे इसके प्रभात समय होते हैं ? ॥ १० ॥

(इयं एव सा या प्रथमा व्यौच्छत्) यही वह है कि जो पहिली होकर प्रकाशित होती है, जो (आसु इतरासु प्रविष्टा चरति) इनमें और अन्योंमें प्रविष्ट होकर चलती है। (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसमें बडी शक्तियां हैं, । (नवगत् जनित्री वधू जिगाय) नूतन जननी वधूके समान सबको जीतती है ॥ ११ ॥

भावार्थ— हे ऋषिगण ! जिसके चलनेसे यज्ञ चलते और जिसके स्थिर होनेसे यज्ञ स्थिर होते हैं, जिसकी प्रेरणासे आत्मा प्रेरणा करता है वही विराट् देवता है ॥ ८ ॥

यह विराट् स्वयं प्राणवाली न होती हुई प्राणियोंके साथ चलती है। तथा यह विराट् स्वयंप्रकाश आत्माके पास भी पहुंचती है। सबको स्पर्श करनेवाले इस विराट्को कई देखते हैं और कई इसको देख नहीं सकते ॥ ९ ॥

इस विराट्के अन्दर स्त्रीत्व और पुरुषत्व किस प्रकार रहता है। इसके ऋतु और कल्प किस क्रमसे होते हैं ? और कौन इसको यथावत् जानता है ? इस विराट्का धाम किसने देखा है, और इसके प्रभातसमयका किसको पता है ? इस विराट्का कितने प्रकारोंसे दोहन किया है अर्थात् कितने रस इससे निकाले जाते हैं ॥ १० ॥

यही विराट् पहिली प्रकाशित हुई है, जो अन्योंमें प्रविष्ट होकर विचरती है। इसके अन्दर बडी बडी शक्तियां हैं । यह नववधूके समान सब पर प्रभाव डालती है ॥ ११ ॥

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा ॥ १२ ॥
ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः ।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥ १३ ॥
अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्की यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥
पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवो नु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥ १५ ॥
षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति ।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥ १६ ॥

अर्थ—(छन्दः पक्षे उषसा पेपिशाने) छन्दके दो पक्ष उषासे सुन्दर बनते हुए (समान योनिं अनु संचरेते) एक स्थानको लक्ष्य करके चलते हैं। (प्रजानती केतुमती सूर्यपत्नी) जानती हुई केतुवाली सूर्य पत्नी प्रभा (अजरे भूरिरेतसा संचरतः) अजर बहुत वीर्यवाली संचार करती हैं ॥ १२ ॥

(तिस्रः ऋतस्य पन्था अनु आगुः) तीनों सत्यके मार्गके अनुकूल होती हैं। (त्रयः घर्मा रेत अनु आगुः) तीनों यज्ञ वीर्यके अनुकूल होते हैं। (एका प्रजा जिन्वति) एक प्रजा–संतति–को तृप्त करती है। (एका ऊर्जं) दूसरी बलकी रक्षा करती है और (एका देव-यू-ना राष्ट्रं रक्षति) तीसरी देवके साथ योग करनेवालोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥१३॥

(अग्नीषोमौ यज्ञस्य पक्षौ) अग्नि और सोम ये दो यज्ञके दो पक्ष हैं ऐसा (ऋषय कल्पयन्तः) ऋषियोंने माना है। (या तुरीया आसीत्) जो चतुर्थ अवस्था है, उसको और (गायत्रीं त्रिष्टुभ जगतीं अनुष्टुभ) गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् रूपसे (यजमानाय स्वः आभरन्तीं बृहदर्कौ) यजमानको प्रकाश देनेवाली बडी उपासनाको वे (अदधुः) धारण करते हैं ॥ १४ ॥

(पञ्च व्युष्टीः) पांच उषाएं (पञ्च दोहा अनु) पांच अनुकूल दोहन समय (पञ्चनाम्नीं गां अनु) नामवाली पांच अनुरूप गौ (पञ्च ऋतवः) पांच ऋतु, (पञ्चदशेन पञ्च दिश क्लृप्ताः) पन्द्रहवेंने पांच दिशाओंको अनुकूल किया है, (ता एकमूर्ध्नीः) वे सब एक सिरवाले होकर (एक लोकं अभि) एक लोकके चारों ओर हैं ॥ १५ ॥

(ऋतस्य प्रथमजा) सत्यके पहिले प्रवर्तक (षट् भूता जाताः) छ भूत बने हैं। (षट् उ सामानि) छः साम (षट्-अहं वहन्ति) छ दिनोंको ले जाते हैं। (षड् योगं सीर अनु साम साम) छ बैल जुते हुए हलको साम साम कहते हैं, (द्यावापृथिवीः षट् आहुः) द्युलोकसे पृथ्वी पर्यंत छ केन्द्र हैं जिनको (षड् उर्वी) छ भूमि कहते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ— छन्दके दो पक्ष हैं, जो एकही छन्दमें अनुकूलतासे कार्य करते हैं। जैसे सूर्य पत्नी प्रभा सब कालसे ही प्रकाशित होती है, उसी प्रकार ये दोनों छन्दके पक्ष अक्षीण होकर विशेष बलके साथ सर्वत्र संचार करते हैं ॥ १२ ॥

तीनों शक्तियां सत्यकी अनुकूलताके साथ होती हैं तथा तीनों यज्ञ वीर्यके साथ चलते हैं। एक संतानकी रक्षा, दूसरी बलकी रक्षा और तीसरा देवके उपासकोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अग्नि और सोम ये यज्ञके दो पक्ष हैं यह बात ऋषियोंने मानी है। और वे ऐसा भी मानते हैं कि जो चतुर्थ अवस्था है वह त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुभ् रूपसे यजमानके लिये स्वर्गका सुख भर देती है ॥ १४ ॥

एक गौके अनुकूल पांच उषाएं, पांच दोहन समय हैं, पांच ऋतु, पांच दिशाएं, इनके ऊपर एकका अधिकार है। इस एकके पास सबको पहुंचना है ॥ १५ ॥

षडा॑हुः शी॒तान् षडु॑ मा॒स उ॒ष्णानृ॒तुं नो॑ ब्रूत यत॒मोऽति॑रिक्तः ।
स॒प्त सु॑प॒र्णाः क॒वयो॒ नि षे॑दुः स॒प्त च्छन्दां॒स्यनु॑ स॒प्त दी॒क्षाः ॥ १७ ॥
स॒प्त होमाः॑ स॒मिधो॑ ह स॒प्त मधू॑नि स॒प्तर्तवो॑ ह स॒प्त ।
स॒प्ताज्या॑नि॒ परि॑ भू॒तमा॑यन् ताः स॑प्तगृ॒ध्रा इति॑ शुश्रुमा व॒यम् ॥ १८ ॥
स॒प्त च्छन्दां॑सि चतुरुत्त॒राण्य॒न्यो अ॒न्यस्मि॒न्नध्यार्पि॑तानि ।
क॒थं स्तोमाः॒ प्रति॑ तिष्ठन्ति॒ तेषु॒ तानि॒ स्तोमे॑षु क॒थमार्पि॑तानि ॥ १९ ॥
क॒थं गा॑य॒त्री त्रि॒वृतं॒ व्या॑प क॒थं त्रि॒ष्टुप् प॑ञ्चद॒शेन॑ कल्पते ।
त्र॒य॒स्त्रिं॒शेन॒ जग॑ती क॒थम॑नु॒ष्टुप् क॒थमे॑कवि॒ंशः ॥ २० ॥

अर्थ— (षट् शीतान् आहुः) छः शीतकालके महिने हैं, (षट् उष्णान् मासः) छः उष्णताके महिने हैं। (नः ऋतुं ब्रूहि) इनके ऋतु हमें बतलाओ, (यतमः अतिरिक्तः) इनमें कौनसा विशेष रिक्त है ? (सप्त सुपर्णाः कवयः) सात उत्तम पर्णवाले कवि (*निषेदुः*) *निवास करते हैं। (सप्त छन्दांसि)* सात छन्द हैं (*अनु सप्त दीक्षाः*) उनके अनुकूल सात दीक्षा भी हैं ॥ १७ ॥

(सप्त होमाः) सात यज्ञ हैं, (समिधः ह सप्त) समिधाएं सात हैं, (मधूनि सप्त) सात मधु और (सप्त ऋतवः ह) सात ऋतु हैं। (सप्त आज्यानि भूतं परि आयन्) सात प्रकारके घृत सब जगत्में प्राप्त हैं, (ताः सप्त गृध्रा.) वे सात गीध हैं (इति वयं शुश्रुम) ऐसा हम सुनते हैं ॥ १८ ॥

(सप्त छन्दांसि) सात छन्द हैं, (उत्तराणि चतुः) उनसे श्रेष्ठ चार हैं। ये (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरेमें (अधि आ अर्पितानि) समर्पित हैं। (स्तोमाः तेषु कथं प्रति तिष्ठन्ति) स्तोम उनमें कैसे रहते हैं ? (तानि स्तोमेषु कथं अर्पितानि) वे स्तोमोंमें कैसे समर्पित हुए हैं ॥ १९ ॥

(गायत्री त्रिवृतं कथं व्याप) गायत्री त्रिवृत्को कैसे व्यापती है ? (कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते) कैसे त्रिष्टुप् पंद्रहसे होता है ? (त्रयस्त्रिंशेन जगती कथं) तैंतीससे जगती कैसी होती है और (अनुष्टुप् एकविंशः कथं) अनुष्टुप् इक्कीसका कैसे होता है ? ॥ २० ॥

भावार्थ—सत्यमार्गका प्रथम प्रवर्तक आत्मा है, उससे छः तत्त्व उत्पन्न हुए हैं। छः साम छः दिनोंका यज्ञ समाप्त करते हैं। जिस प्रकार छः बैल जुते हुए हलको किसान चलाते हैं, वैसा ही यह साम छः दिनोंवाले यज्ञको चलाता है। जगत्में द्युलोक और पृथिवीके अंदर भी छः पृथ्वी सरीखे गोल हैं ॥ १६ ॥

शीतकालके छः मास हैं, उष्ण कालके भी छः मास हैं। इनके ऋतु हमें बताओ और यह भी बताओ कि इनमें रिक्त कौन है ? सात कवि उत्तम पत्र लेकर यहां बैठे हैं, उनके साथ सात छन्द हैं, और सात दीक्षाएं भी हैं ॥ १७ ॥

सात होम, सात समिधाएं, सात शहद, सात ऋतु, और सात घृत भूतमात्रके चारों ओर हैं। उनके साथ सात गीध भी हैं ऐसा हम सुनते हैं ॥ १८ ॥

सात छन्द, उनके चार उत्तर पद, एक दूसरेके साथ मिले हुए होते हैं। वे स्तोमोंमें कैसे रहते हैं और ये स्तोम उनमें कैसे रहते हैं ? ॥ १९ ॥

गायत्रीने त्रिवृत्को कैसे व्यापा है ? त्रिष्टुप् पन्द्रहके साथ कैसे युक्त हुआ है। तैंतीसको जगती कैसी व्यापती है और अनुष्टुप् इक्कीससे कैसे संबंध रखता है ॥ २० ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥ २१ ॥
इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥
अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ २३ ॥
केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥

अर्थ— (ऋतस्य प्रथमजाः अष्ट भूताः जाताः) सत्यके पहिले प्रवर्तकसे आठ भूत उत्पन्न हो गये हैं । हे इन्द्र ! (ये दैव्याः ऋत्विजः अष्ट) जो दिव्य ऋत्विज हैं वे भी आठ हैं । (अदितिः अष्टयोनिः अष्टपुत्रा) अदिति आठ उत्पत्तिस्थानवाली है और उसके आठ पुत्र भी हैं । (अष्टमीं रात्रिं) अष्टमी रात्रिको (हव्य अभि एति) हव्य प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

(इत्थ श्रेयः मन्यमाना) इस प्रकार कल्याणको माननेवाली (इद युष्माकं सख्ये) इस प्रकार तुम्हारी मित्रतामें (आगमं) आगयी हू (अहं शेवा अस्मि) मैं सेवनीय हू । (समान-जन्मा वः क्रतुः) तुम्हारे साथ उत्पन्न हुआ तुम्हारा यज्ञ (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे । (सः प्रजानन्) वह जानता हुआ (वः सर्वाः संचरति) तुम सबमें सचार करता है ॥ २२ ॥

(इन्द्रस्य अष्ट) इन्द्रके आठ, (यमस्य षट्) यमके छ (ऋषीणां सप्तधा सप्त) ऋषियोंके सात प्रकारके सात हैं (पञ्च आपः) पांच प्रकारके जल (तान् मनुष्यान् ओषधीः) उन मनुष्यों और औषधियोंके प्रति (उ अनु सेचिरे) अनुकूलतासे सिंचन करते हैं ॥ २३ ॥

(केवली गृष्टि) केवल गौ ही (पीयूषं प्रथमं दुहाना) अमृतरूपी दूध सबसे प्रथम देनेवाली (इन्द्राय वशा दुदुहे) इन्द्रके लिये अनुकूलताके साथ दुहती है । (अथ) और (चतुरः) चारों देव, मनुष्य, असुर और ऋषियोंको (चतुर्धा अतर्पयत्) चार प्रकारसे तृप्त करती है ॥ २४ ॥

भावार्थ— सत्यके पहिले प्रवर्तकसे आठ तत्त्व उत्पन्न हुए हैं । ये आठ दिव्य ऋत्विज हैं । अदितिके भी ये आठ पुत्र हैं । आठवीं रात्रीसे यही अदिति हवनीय पदार्थोंको प्राप्त होती है ॥ २१ ॥

इस प्रकार अपना कल्याण है यह जानकर आपकी मित्रतामें मैं प्राप्त हुई हू । मैं सेवनीय हू । आपका यज्ञ सबके सम प्रयत्नसे होनेवाला है । वह आपके लिये कल्याणकारी होवे । वह यज्ञ आप सबमें प्रचलित रहे ॥ २२ ॥

इन्द्रके आठ, यमके छः और ऋषियोंके सात प्रकारके सात हैं । पांच प्रकारके जल ओषधियोंमें प्रविष्ट होकर सब मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ २३ ॥

केवल एक गौ अमृतरूपी दूध देती हुई इन्द्रके लिये अपना दुग्ध अर्पण करती है । और यही देव, मनुष्य, असुर और ऋषियोंको चारों प्रकारसे तृप्त करती है ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥
एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

अर्थ— (कः नु गौः) कौन गौ है ? (क एकऋषिः) कौन एक ऋषि है ? (किं उ धाम) कौनसा धाम है ? (काः आशिषः) कौनसे आशीर्वाद हैं ? (पृथिव्यां एकवृत् यक्षं) पृथ्वीमें एकही व्यापक पूजनीय देव है । (सः एकऋतुः कः नुः) वह एक ऋतु कौनसा है भला ? ॥ २५ ॥

(एकः गौः) एकही गौ है, (एकः एकऋषि) एकही एक ऋषि है । (एकं धाम) एकही धाम है, (आशिषः एकधा) आशीर्वाद एकही प्रकार दिया जाता है । (पृथिव्यां एकवृत् यक्षं) पृथ्वीपर एकही व्यापक पूज्य देव है । (एकऋतुः) एकही ऋतु है । (न अतिरिच्यते) उससे बढकर दूसरा कोई नहीं है ॥ २६ ॥

भावार्थ— यह एक गौ कौन है ? वह एक ऋषि कौन है, उसका धाम कहां है ? उसके आशीर्वाद कौनसे हैं ? इस पृथ्वीपर एक-उपास्य कौन है ? और एक ऋतु कौनसा है ? ॥ २५ ॥

एकही गौ है, और एक ही ऋषि है, उनका धाम भी एकही है, आशीर्वाद भी एकही रीतिसे होता है । पृथ्वीपर एकही पूज्य देव है । सबका ऋतु भी एकही है । उसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता ॥ २६ ॥

एकही उपास्य देव

संपूर्ण पृथ्वीपर जितने मनुष्य हैं, उन सबका एकही उपास्य देव है यह बात इस सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है, देखिये—

पृथिव्यां एकवृत् यक्षम न अतिरिच्यते (मं. २६)

' इस संपूर्ण पृथ्वीपर एक ही सर्वव्यापक सबका उपास्य देव है । इसका अतिक्रमण कोई कर नहीं सकता । ' क्योंकि इसकी शक्ति सर्वतोपरि है । इसी उपास्य देवकी महिमा इस सूक्तमें वर्णन की है, परंतु वर्णनकी रीति ऐसी गूढ है कि कई मंत्रोंका अर्थ विचार करनेपर भी पूर्णतया समझमें नहीं आता । तथापि इस समयतक जितनी खोज हुई है उसके अनुसार कुछ स्पष्टीकरण यहां करते हैं । इसके पश्चात् पाठक अधिक खोज करनेका यत्न करें ।

इस सूक्तके पहिले मंत्रमें " कुत. तौ जातौ ? " ये दो कहांसे प्रकट हुए, यह प्रश्न पूछा है । अर्थात् किसी एक पदार्थसे ये जगत्में सुप्रसिद्ध पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए यह प्रश्नका तात्पर्य है । स्त्री और पुरुष, रयि और प्राण, इन दोनोंका सांकेतिक नाम चन्द्र और सूर्यभी है । यहां ये चांद और सूरज अपेक्षित नहीं हैं, परंतु जगत्की सोमशक्ति अपेक्षित है । इसी सूक्तके चौदहवें मंत्रमें ' अग्नी-षोमौ ' इस जगत्को ' अग्नीषोमीयं जगत् ' कहते हैं क्योंकि इसमें येही दो पदार्थ हैं । जो रसात्मक शान्त शक्ति है वह सोमकी है और जो उग्र तीव्र तथा उष्ण है वह आग्नेयी शक्ति है । इन दोनोंके रयि प्राण, चन्द्र सूर्य, इडा पिंगला, प्रकृति पुरुष, जड चेतन्य, अनात्मा आत्मा, इस प्रकारके अनेक नाम हैं । इन अनेक [illegible] नामोंसे दो तत्वोंका ज्ञान होता है । जिसको [illegible] कहा जाता है । इन दोनोंके उत्पन्न होनेके पूर्व एक [illegible] विद्यमान था, अतः इस एकसे ये दो तत्व कैसे [illegible] मनुष्यको इसी प्रश्नका विचार करके जानना [illegible] दोनोंका मूल कहा है ।

मूल एक तत्व था, उसके अंशसे [illegible] ' यह हुई, शेष जो रहा, उसके विषयमें ' [illegible] हुई यह अर्थ कैनसा है, जिसमें स्त्री पुरुष [illegible]

मूलतत्त्वका आधा भाग कहां है ? इसी विषयमें वेदमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥

(ऋ. १०।९०।४)

" इसके तीन हिस्से ऊपर हैं और इसका एक भाग ही यहां वारंवार बनता है। " अर्थात् मूलतत्त्वका थोडासा हिस्सा इस जगत्में विविधरूपोंको धारण करता है किंवा स्त्री पुरुषरूपसे दिखाई देता है। यह विभाग—

कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः । (मं. १)

" किस लोकसे कौनसी पृथ्वीके किस विभागपर प्रकट हुआ है ? " अर्थात् इस जगत्में अनंत पृथ्वीलोक हैं, उनमेंसे किस भूमिपर और उस भूमिके किस विभाग पर यह प्रकट हुआ है और यह आया कहांसे ? तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ये सब प्रश्न विचार करने योग्य हैं। अपने भूविभागपर भी सर्वत्र एक समय प्राणियोंकी उत्पत्ति नहीं हुई। किसी स्थानपर हो गई और अन्यत्र फैली। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये और कई ग्रहोपग्रह ऐसे हैं कि जहां इस प्रकारके प्राणी अभीतक बने भी नहीं हैं।

गौके दो बच्चे।

" ये स्त्री पुरुष दो बच्चोंके समान हैं। ये अपनी माताका दूध पीते हैं ये दोनों—

वत्सौ विराजः सलिलादुदैताम् (मं. १)

" ये विराट् रूपी गौके दोनों बच्चे जगत् बननेके पूर्व जो सर्वत्र प्राकृतिक समुद्र था, उससे उदयको प्राप्त हुए। " प्रायः प्रथम जल प्रकट होता है और तत्पश्चात् उत्पत्ति होती है, बच्चा उत्पन्न होनेके पूर्व भी जल उत्पन्न होता है, इस भूमिपर भी प्रारंभमें जल था, उसमें वनस्पतियां उत्पन्न हुईं उसी जलमें जल जन्तु उत्पन्न हुए। इस प्रकार सबका उदय जलसे ही है। जन्मसे लेकर लयतक यह ' ज-ल ' ही साथ देनेवाला है। इस स्त्री पुरुषका जलसे ही उदय हुआ है। ये दोनों बच्चे इस एक ही धेनुके हैं। इनमेंसे कौन अपनी माताका दूध पीता है यह प्रश्न निम्न मंत्र भागमें पूछा है—

तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा । (मं १)

" उन दोनोंके विषयमें मैं पूछता हूं कि उनमेंसे किसने अपनी माताका दूध पीया है " और किसने नहीं पीया ! यहां प्रकृति पुरुष इन दोनों बच्चोंमें कौन प्रकृति माता रूपी गौके दूधसे पुष्ट होता है और कौन नहीं होता है यह प्रश्नका भाव है। सबको इस प्रश्नका विचार करना चाहिये। अपने ही अंदर देखिये, अपने अंदर देह और आत्मा है, येही प्रकृति पुरुष हैं। इनमेंसे प्राकृतिक पुष्टि साधनोंसे देहकी पुष्टि की जाती है, आत्माकी नहीं, अर्थात् देह ही अपनी प्रकृति माताका दूध पीकर पुष्ट होता है। आत्मा सदा एकरस रहता है। इस प्रकार विचार करके प्रश्नका भाव और उसका उत्तर जानना चाहिये।

इस विश्वकी रचना होनेके पूर्व कैसी अवस्था थी ? यह एक प्रश्न तत्त्वज्ञानका विचार करनेवालोंके सन्मुख आता है इसका उत्तर वेदने ' सलिल अवस्था ' थी ऐसा दिया है। अगाध, अपरंपार, अति शान्त और गंभीर महासागरकी जो अवस्था होती है उसके समान प्राकृतिक परमाणुओंका समुद्र अति शांत था। उसमें कुछ भी हलचल न थी, कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं थी, सर्वत्र शान्तता थी। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि ऐसी शान्तिकी स्थितिमें चपलता किसने उत्पन्न की। यदि चपलता उसी समुद्रका स्वतःसिद्ध धर्म माना जाय, जो उसमें शान्ति कैसे हो सकती है ? यदि न माना जाय, तो यह अशान्ति किसने उत्पन्न की ? इसका उत्तर इस प्रकार द्वितीय मंत्रने दिया है—

त्रि-भुजं योनिं कृत्वा शयानः । (मं. २)

' सत्व रज और तम रूपी तीन गुणोंसे युक्त प्राकृतिक बिछौनेपर सोनेवाला यह एक देव है। ' जबतक यह (शयान) सोया हुआ रहता है, तब तक इस प्राकृतिक समुद्रमें बिलकुल हलचल नहीं होती, इसकी निद्रा समाप्त होनेतक सर्वत्र शान्ति फैली रहती है। जब यह जागने लगता है तब इसमें हलचल होती है।

य महित्वा सलिलं अक्रन्दयत् । (मं. २)

' जो अपनी महिमासे इस सलिल अवस्थामें बडी हलचल शुरू करता है। ' यह तीन गुणोंपर सोता है इस कारण वे हलचल कर नहीं सकते, परंतु जब यह जागता है तब वे हलचल के लिये खुले होते हैं और सत्त्वगुण समता चाहता, रजोगुण खलबली मचाना चाहता, और तमोगुण स्तब्धता चाहता है। इस प्रकार उस एकही सलिलके ये तीनों परमाणु एक दूसरेपर अपने अपने विभिन्न गुणोंके कारण आपसमें हमला करते हैं और इस कारण उसका शान्त सलिल प्रक्षुब्ध होता है। और इस प्रक्षोभका कारण उस उपास्य देवकी महिमा ही है। शान्त सलिल में क्षोभ करना और क्षोभमें फिर शान्ति करना, यही उसकी महिमा है।

विराजः कामदुघः स- परमः गुहा तन्वः चक्रे ।

(मं. २)

' इस विराट् रूपी कामधेनुका वह बच्चा गुहाके अंदर अपने रहनेके लिये तीन शरीर बनाता है । ' ये तीन शरीर (गुहा) गुप्त हैं, प्रगट नहीं हैं, प्रगट होते तो गुहाके अन्दर न होते । ये सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और महाकारणशरीर हैं । किंवा प्राण शरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर ये तीन शरीर हैं । ये शरीर गुह्य हैं और इनके कारण ही इस जगत्की स्थिति है । यह आत्मदेव ये शरीर (गुहा) अति गुप्त रीतिसे करता है, इस कारण इनकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदिका पता साधारण लोगोंको नहीं लगता ।

यानि त्रीणि बृहन्ति, चतुर्थं वाचं नियुनक्ति ।
(म. ३)

' ये तीनों शरीर बडे विलक्षण शरीर युक्त हैं, इनमें बडी शक्ति है । जो चौथा शरीर है उस चतुर्थ शरीरके साथ वाणीका योग होता है । यही स्थूल शरीर है । ' यह स्थूल शरीर धारण करता है, वक्तृत्व करता है, आत्माके अंदरके भाव प्रकट करता है । इसके अन्दर गुप्त तीन शरीर हैं, परंतु उनमेंसे एक भी इस प्रकार वक्तृत्व करनेमें समर्थ नहीं है । जिससे इस सब जगत् निर्माण होता है उसको ब्रह्म कहते हैं, इस ब्रह्मका ज्ञान तपसे होता है, देखिये—

विपश्चित् तपसा एनत् ब्रह्म विद्यात् । (म १)

' ज्ञानी मनुष्य तपसे इस ब्रह्मको जानता है । ' अर्थात् अज्ञानी मनुष्य इसको जाननेमें असमर्थ है, तपके बिना कोई भी इसे जान नहीं सकता । विपश्चित् (वि-पश्-चित्) का अर्थ ' जो जगत्को विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है ' ऐसा है । वही इस ब्रह्मको जान सकता है, जो साधारण दृष्टिसे इस जगत्का निरीक्षण करता है, वह नहीं जान सकता । इसके जाननेकी रीति यह है—

यस्मिन् एकं (मनः) युज्यते । (मं. ३)

' जिसमें एक मनका योग किया जाता है । ' जिस तपमें एक अपने मनका योग किया करते हैं । इस मनके योगसे ही अर्थात् चित्तवृत्ति निरोधसे जब वह ब्रह्मतिका मन शान्त और स्तब्ध होता है, तब उस विज्ञानी पुरुषको ब्रह्मका साक्षात्कार होता है । सबसे पहिले—

बृहत्याः बृहत् निर्मितम् । (म. ४)

' बडी प्रकृतिसे महत् तत्त्वका निर्माण हुआ । ' पहिले प्रथम मंत्रकी व्याख्या प्रसंगमें कहा है कि सबके पूर्व प्राकृतिक शान्त समुद्र था । इस महती देवी प्रकृतिसे (बृहत्) महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ । यही सबसे पहिला सर्ग है । (बृहती) देवी महती मूल प्रकृतिसे इस महत्तत्वकी उत्पत्ति बताई । परंतु यहां शंका होती है कि यह मूल प्रकृति—

बृहती कुतः अधिमिता ? (मं ४)

' महती देवी प्रकृति कहांसे बनी ? ' इस प्रकार प्रश्न पूछे जांय तो अनवस्थाप्रसंग ही होगा । अतः द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि एक सलिल अवस्था सबसे प्रथम थी । यही सबसे पहिली अवस्था है, यह कैसे बनी ऐसा प्रश्न कोई न करे । क्योंकि यह सबसे प्रथम अवस्था है । इसी महती प्रकृतिके साथ एक आत्मा शयन करता था । इससे भी पूर्व कोई नहीं है । इस प्रकार सबसे पूर्वके ये दोनों हैं । अतः ये कहांसे उत्पन्न हुए ऐसा प्रश्न कोई न पूछे । तत्त्वज्ञानमें इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग करना बडा दोष गिना है । अस्तु ।

बृहतः परि पञ्च सामा अधिनिर्मितानि ।
(मं. ४)

' इस महत्तत्वके ऊपर, अर्थात् इस महत्तत्वका मसाला लेकर पांच सामोंकी रचना हुई है । ' महत्तत्वसे पांच तन्मात्रोंकी उत्पत्ति यहां कही है । यहां तक जो सृष्टिका वर्णन हुआ वह इस प्रकार बताया जाता है—

१ मूल प्रकृति		पुरुष, ब्रह्म, स्वराट्
माता, बृहती, विराट्, कामधेनु		यक्ष, वैश्वानर, विराट्
२ महत्तत्त्व	कारणदेह	
बृहत्, कारण		जीव, वत्सः, ब्रह्म
मात्रा		
३ पंच तन्मात्र,	पञ्च सूक्ष्म	
पञ्च साम,		
४ शरीर स्थूल	,, स्थूल इंद्रियां ,, निरीक्षक	

यहांतक सृष्टि रचनाका तीसरा युग वर्णित हुआ है, इनसे जीवात्माको शान्ति प्राप्त होती है इसलिये इनका नाम यहां साम है । और इस शरीरधारी आत्माके जीवनको आगे ' यज्ञ ' का रूपक बनाता है, उस विशेषकार्यके लिये भी यहां इनको साम दर्शाया है यह बात स्पष्ट है । यही बात अगले मंत्रमें अन्य शब्दोंसे कही है—

मात्राया परि बृहती । मातुः मात्रा अधिनिर्मिता ।
(मं. ५)

'' बृहती प्रकृति तन्मात्राके ऊपर है । वह आदिमाता है । इस मातासे तन्मात्रा बनी । '' यहां माता, आदि-माता, जगन्माता, बृहती ये मूल प्रकृतिके ही नाम हैं । इससे पंच तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है । यहां एक प्रकृतिके पांच

विभिन्न गुण धर्मवाले पदार्थ तैयार बने यह इसकी विशेषता है। इसीको कहते हैं—

मायायाः माया अधि। मायायाः परि मातली। (मं. ५)

" आदिमायासे दूसरी माया बनी, और मायाके ऊपर निरीक्षक भी तैयार हुआ। " मूल आदिमायासे यह प्राकृतिक शरीर बना और उसका अधिष्ठाता या निरीक्षक जीवात्मा भी बना। यह चतुर्थ अवस्थाकी सृष्टि है, इसीका नाम जगत् है। आदिमायासे यह माया रची गयी है। इसका निरीक्षक यहां आत्मा है। यहां तक अविकृत मूल प्रकृतिसे विकृत जगत्का निर्माण होनेका वर्णन इन पांच मंत्रोंमें किया गया। अब इसमें व्यापक देवका वर्णन करते हैं—

वैश्वानरकी प्रतिमा।

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः। (मं. ६)

" वैश्वानरकी प्रतिमा उतनी है कि जितना द्युलोक ऊपर विस्तृत है और जहांतक अग्निका तेज फैला है। " अर्थात् यह वैश्वानर भूलोकसे द्युलोक तक फैला है, यही विश्वका नेता है अतः इसको वैश्वानर कहते हैं। यह वैश्वानर प्रकृतिके साथ रहता हुआ जगत्के सब रचनादि कार्य करता है। संपूर्ण जगत्का यदि कोई प्रमुख नेता है तो वह यही है। यह छठा है। पूर्वोक्त कोष्टकमें (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण, (४) मूल प्रकृति, (५) जीव ये पांच और यह (६) वैश्वानर छठवां है। पहिलेके चार जड हैं और अन्तके दो चेतन हैं। इस छठे वैश्वानरसे—

ततः षष्ठात् अमुत उदितः स्तोमाः आयन्ति। (मं. ६)

" उस छठे वैश्वानरसे प्रकाशित होनेवाले यज्ञ यहां मनुष्यलोकमें आते हैं। " यही मुख्य देव सब यज्ञोंका प्रकाशक है। मनुष्यकी उत्पत्तिके साथ जो यज्ञ उत्पन्न होता है वह यही है। और वेही यज्ञ कर्म (अह्नः षष्ठं अभि यन्ति) दिनके षष्ठ भागकी समाप्तिके समय पुनः उसीके पास पहुंचते हैं। उसीसे ज्ञान और कर्मकी प्रेरणा होती है और उसीमें वह अन्तमें आ मिलती है। इसको सबका द्रष्टा कहते हैं, इसलिये इसको कश्यप (पश्यकः) देखनेवाला सबका द्रष्टा किंवा निरीक्षक कहा है। यह—

स्वं हि युक्तं योग्यं च युयुक्षे। (मं. ७)

" युक्त और योग्यका संयोग करता है। " जो पदार्थ जहां रखना योग्य है और जैसा संयुक्त करना उचित है उसी प्रकार वह सबकी योजना यथायोग्य करता है, उसमें कोई गलती नहीं करता। इसीलिये उससे इस प्रकार सुयोग्य सृष्टिकी रचना निर्दोष होती है। यह उत्तम द्रष्टा होनेसे भी जहां जो पदार्थ जैसा चाहिये वह उसको ठीक प्रकार ज्ञात होता है और वैसा वह बनाता है। यदि वह योग्य द्रष्टा न होता तो सुयोग्य संसारका बनाना उसके लिये अशक्य हो जाता। उससे ऋषिगण प्रश्न करते हैं—

इमे षट् ऋषयः (वयं) त्वां पृच्छामः। (मं. ७)

" हम छः ऋषि तुझे प्रश्न पूछते हैं। " वैश्वानरसे प्रश्न करनेका अधिकार ऋषियोंका ही है। कौन दूसरा उससे प्रश्न पूछ सकता है ? और वह भी किसी दूसरेका उत्तर क्यों देगा। उससे प्रश्न पूछनेके लिये भी चित्तकी शुद्धता चाहिये और उससे उत्तर लेनेकी भी तैयारी चाहिये। वैसी तैयारी ऋषिमुनियोंकी होती है, इस कारण वे वैश्वानरसे प्रश्न पूछते हैं और उससे उत्तर लेते हैं। धन्य हैं वे कि जो परमात्मासे अपना इस प्रकार संबंध जोड सकते हैं। वस्तुतः हरएक मनुष्य जो यहां आया है वह इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये ही आया है। परंतु बहुत थोडे लोग इस अवस्था तक अपनी उन्नति कर सकते हैं। *ऋषियोंका प्रश्न इस प्रकार है—*

विराजं ब्रह्मणः पितरं आहुः तां नः सखिभ्यः यतिधा विधेहि। *(मं. ७)*

' विराट्को ब्रह्माका पिता कहते हैं, वह किस प्रकार होता है यह बात हम सबको कहिये।' **आत्मा-परमात्मा, ब्रह्मा-ब्रह्म, पुरुष-पुरुषोत्तम, इन्द्र-महेन्द्र** ' ये पुत्र और पिताके संयुक्त *नाम हैं। यह पितापुत्रका संबंध किस प्रकार है यह महत्वपूर्ण* प्रश्न है। हरएक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये और अपना और अपने पिताका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। मनुष्यको तो अपना भी ज्ञान नहीं है और न अपने पिताका ज्ञान उसको है। जहां अपना भी ज्ञान नहीं वहां पिताका ज्ञान कहांसे संभवनीय है।

पूर्वोक्त कोष्टकमें ' **विराज् अथवा विराट्** ' ये शब्द प्रकृति और पुरुषके लिये समानतया लिखे हैं। इन मंत्रोंमें भी विराज् शब्द पुल्लिंगमें है और स्त्रीलिंगमें भी है। जो तो पुल्लिंग में है वह आत्मा, परमात्मवाचक है और जो स्त्रीलिंगमें है वह प्रकृति, आदि शक्ति आदिका वाचक है परंतु सर्वत्र यह नियम भी नहीं है क्योंकि पितामाता वही होनेसे दोनों प्रयोग उस एकके लिये भी होते हैं। ' वि-राज् ' शब्दका अर्थ ' विशेष

तेजस्वी ' है, इस कारण यह शब्द दोनोंके लिये प्रयुक्त होता है।

यहां ' ब्रह्मा ' पुराण पुरुषसे उत्पन्न होनेके कारण जीवात्माका नाम है, उसका पिता पुरुष या परमात्मा है। पाठक यहां देखें कि सर्वत्र वेदमें पितापुत्रोंके नाम एक जैसे हैं, दोनोंके ' इन्द्र, आत्मा, पुरुष, विराट् ' आदि नाम हैं। पिताकी शक्ति बडी और पुत्रकी शक्ति अल्प है। तथापि गुणधर्म और कर्म समान हैं। इससे पुत्रको पता लग सकता है कि यद्यपि मेरी शक्ति आज अल्प है तथापि मैं उसको बढाकर अपने पिताके समान ' समर्थ ' बन सकता हूं। यहां विश्वास दिलानेके हेतुसे इस मंत्रके प्रश्नकी प्रवृत्ति हुई है। इसका विशेष उत्तर अगले मंत्रमें दिया है वह अब देखिये—

हे ऋषयः यां प्रच्युतां यज्ञाः अनु प्रच्यवन्ते, (यां) उपतिष्ठमानां (यज्ञाः) उपतिष्ठन्ते, यस्याः व्रते प्रसवे यक्षं एजति, सा परमे व्योमन् विराट् (अस्ति)। (मं. ८)

' हे ऋषि लोगो! जिसकी प्रेरणासे सब यज्ञ चलते और जिसकी प्रेरणा बन्द होनेसे सब यज्ञ स्तब्ध होते हैं, जिसके प्रकट होनेके लिये पूजनीय देवकी गति कारण होती है वह परम आकाशमें सर्वत्र व्यापक विशेष प्रकाशमान देवता है। ' यह परमात्माका वर्णन है, यही सबका पिता और माता है। सभी जगत् इसकी प्रेरणासे चल रहा है, इसीके नियममें रहता है इसने चलाया तो चलता है और नहीं चलाया तो स्तब्ध होता है। ऐसी इसकी अगाध शक्ति है। इसी शक्तिका चिन्तन करना चाहिये। सर्वत्र इसकी शक्ति ही फैल रही है और इस जगत्का सब चमत्कार इसकी शक्तिसे ही हो रहा है। जितना परम आकाश सर्वत्र व्याप्त है उतनी इसकी व्याप्ति है, अर्थात् यह सर्वत्र भरकर भी अवशिष्ट है। अगले मंत्रका वर्णन इससे भी और अधिक विचारणीय है—

अप्राणा प्राणतीनां प्राणेन एति। (मं. ९)

' जो स्वयं प्राणसे जीवित नहीं रहती परंतु अपनी शक्तिसे ही जीवित रहता है, ऐसी विराट् प्राणियोंके साथ लेकर आती है। ' मुख्य देवके लिये प्राणकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, वह तो अपनी ही सत्तासे स्वयं है। इसलिये उसको स्वयंभू कहते हैं। अन्य प्राणियोंके लिये जीवनधारणके अर्थ प्राणकी आवश्यकता होती है। यह प्राण उसीके साथ रहकर प्राणियोंके जीवनका हेतु बनता है। पश्चात् यह—

विराट् स्वराजं अभ्येति। (मं. ९)

' विराट् स्वराज्के पास पहुंचती है ' इस वाक्यमें एक राजनैतिक भाव भी है। (वि-राज्) जहां राजा नहीं है ऐसा राजहीन समाज (स्व-राजं) स्वराज्यशासन अर्थात् स्वसंमत राजशासनको प्राप्त करता है। जहां राजा रूप संस्था उत्पन्न नहीं हुई वहांकी जनता स्वयंशासित होती है, वे अपनी राज्यव्यवस्था स्वयं करते हैं। यह राजनैतिक भाव विचारणीय है।

इस मंत्रभागका दूसरा और एक अर्थ बनता है, वह यह है— (वि-राज्) राज्का अर्थ है प्रकाश, जिसके पास प्रकाश नहीं उसको वि-राज् कहते हैं। जो स्वयंप्रकाशी नहीं है वह (स्वराजं) अपने तेजसे जो प्रकाशता है उसके पास (अभ्येति) आता है, और उससे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होता है।

परंतु यहांका अर्थ इस प्रकार दीखता है-विराट् अर्थात् जो आत्मा जगद्व्यवहारमें लगा है वह शुद्धात्माके पास जाता है। जो त्रिपाद आत्मा अवशिष्ट है। उसको ' स्वराट् ' कहते हैं क्योंकि वह अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है। उसकी अपेक्षा जो एकपाद आत्मा जगत्में वारवार आता जाता है, वह वैसा स्वयंप्रभावान् नहीं दिखाई देता। यह भाव केवल लक्षणासे ही समझना चाहिये। इस प्रकार यह आत्मा है—

एके विश्वं मृतान्तीं अभिरूपां विराजं पश्यन्ति, एके एनां न पश्यन्ति। (मं. ९)

' कई लोग इस सर्व जगत्को सुंदरताके साथ प्रकाशित करनेवाले आत्माको देखते हैं, परंतु कई उसको देख नहीं सकते। ' यह सर्वत्र उपस्थित है, परंतु कई तो उसका साक्षात्कार कर सकते हैं और कई ऐसे अन्धे होते हैं कि वे सब जगत्के प्रकाशकको भी नहीं देख सकते!! प्रायः सब प्राणी ऐसे ही अन्धे होते हैं, विरला ही कोई उसको देख सकता है।

विराजः मिथुनत्वं कः प्रवेद? कः ऋतून् वेद? कः अस्याः कल्पं वेद। (मं. १०)

" इस विराट्से उत्पन्न होनेवाले स्त्री पुरुषके भेदको कौन जानता है? कौन ऋतुओंकी उत्पत्तिको जानता है और कौन कल्पके समयको जानता है। " तत्वज्ञानकी दृष्टिसे इन बातोंका ज्ञान मनुष्यको होना चाहिये। तथा—

अस्याः कतिधा विदुग्धान् क्रमान् कः वेद? अस्याः धाम कः वेद? अस्याः कतिधा व्युष्टिः? (मं. १०)

" इसके अनादि रस देनेवाले ऋतु आदिके क्रमोंको कौन जानता है, इसका मूल स्थान किसने जाना है और इस सृष्टिके

प्रभात कालको कौन जानता है ? " तत्त्वविचारकको इन प्रश्नों का विचार करना योग्य है और इनका ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिये। इसमेंसे कुछ प्रश्नोंका उत्तर आगे आवेगा—

इयं एव सा या प्रथमा व्यौच्छत्। (मं ११)

' यही वह है कि जो पहिले प्रकाश करती है। " पहिली उषा यही करती है, जगत्में प्रकाशका संचार इसीसे होता है। यह—

आसु इतरासु प्रविष्टा चरति। (मं ११)

" इसमें और अन्योंमें व्यापकर यह चलती है। " यह सर्वत्र व्यापक है और सर्वत्र संचार करता हुई सब जगत्का कार्य करता है। इसकी शक्तिसे हि संपूर्ण जगत्के कार्य सुव्यवस्थित रीतिसे हो रहे हैं। तथा—

अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः। (मं. ११)

" इसके अन्दर बडी बडी महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। " और इन शक्तियोंसे ही इस जगत्के संपूर्ण कार्य करनेमें यह समर्थ होती है। (**नवगत् जनित्री वधूः जिगाय**) घरमें नवीन आयी पुत्रको प्रसव करनेवाली जैसी सुंदर कुलवधू घरमें स्वामिनी होती है, उसी प्रकार यह विराट् इस जगत्में सर्वोपरि विराजमान है, जानते हुए या न जानते हुए सभी इस पर प्रेम करते हैं।

जिस प्रकार एक ही छन्दमें पूर्व और उत्तर ऐसे दो चरण (**छन्दःपक्षे**) होते हैं, और वे एक ही छन्दमें समान अधिकारसे रहते हुए परस्परकी अनुकूलताके साथ छन्दकी शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार इस जगत्में स्त्री और पुरुष ये इस संसार रूपी छंदके दो पक्ष हैं, दोनों परस्परकी सहायता और पूर्तिके लिये हैं, अलग होनेके लिये नहीं हैं। वे इस गृहस्थके संसारमें समान अधिकारसे रहते हुए (**समाने योनि**) अपने समान अधिकारके गृहस्थानके अन्दर (**अनुसंचरेते**) अनुकूलतासे रहते हुए इस जगत्में संचार करते हैं। इसके लिये उदाहरण सूर्य पत्नीका है—

सूर्यपत्नी प्रजानती केतुमती अजरा भूरिरेतसा संचरति। (मं १२)

' जैसी सूर्यकी धर्मपत्नी प्रभा ज्ञान प्राप्त करके, विज्ञानयुक्त होकर, क्षीण न होती हुई, विशेष पराक्रमी बनकर इस जगत्में *संचार करती है।* ' ठीक इस प्रकार गृहस्थकी *धर्मपत्नी ज्ञान-*विज्ञानयुक्त, बलयुक्त, पराक्रमयुक्त होकर अपने संसारके कार्य दक्षताके साथ करे। गृहस्थका गृहस्थाश्रम धर्मपत्नीके होनेसे ही होता है, इसलिये धर्मपत्नीका *निर्देश यहां किया है।* परंतु ये ही शब्द धर्मपतिका भी कर्तव्य बताते हैं। पति भी ज्ञान-विज्ञानयुक्त बने, हृष्टपुष्ट होकर विशेष पराक्रमके कार्य करता *हुआ इस संसारमें विविध कार्य कर और अपने गृहस्थधर्मकी* उन्नति करे। पति और पत्नीके धर्म साधारणतया पूर्वोक्त विषयोंमें समान ही हैं, इसलिये एकका निर्देश करनेसे दूसरेके धर्मका भी ज्ञान हो जाता है पूर्वोक्त स्थानमें इनके सामान्य धर्मका उल्लेख है, न कि विशेष धर्मोंका। अस्तु। अब इस गृहस्थधर्मका प्रसंग प्राप्त थोडासा वर्णन अगले मंत्रमें करते हैं—

तिस्रः ऋतस्य पन्थां अनु आगुः।
त्रयो घर्माः रेत अनु आगुः। (मं १३)

' तीनों शक्तियां सत्यकी अनुकूलताके साथ रहती हैं और तीनों धर्म वीर्यकी अनुकूलताके साथ होते हैं। ' यह सिद्धान्त गृहस्थोंको सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। शरीरकी, अन्तःकरणकी और आत्माकी ये तीनों शक्तियां सत्यके आधारसे प्राप्त होती हैं। जो सत्यका पूजक नहीं है उसके पास कोई शक्ति नहीं रह सकता। तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थके तीनों धर्म वीर्य-बल-पराक्रमके साथ सिद्ध किये जा सकते हैं। अशक्त मनुष्य इनको सिद्ध नहीं कर सकता। हरएक मनुष्यके लिये ये *दोनों उपदेश सदा चित्तमें धारण करने योग्य हैं। सन्यास* धर्म तो विशेष योग्यतावाले मनुष्यके लिये सिद्ध होनेवाला है, अतः सर्वसाधारणके लिये उसका निर्देश यहां नहीं किया है। इसीका आगे और स्पष्टीकरण दिया है—

एका प्रजां जिन्वति। एका ऊर्जं जिन्वति।
एका देवयूनां राष्ट्रं रक्षति। (मं. १३)

' एक प्रजाकी रक्षा, दूसरी बलकी वृद्धि और तीसरी देवोपासकोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ' इस प्रकार सन्तानरक्षा, बल-*रक्षा और राष्ट्ररक्षा करनेका भार गृहस्थियोंपर है,* यह गृहस्थ धर्म है। जो अपनी प्रजाका संवर्धन, पालन, पोषण और उत्तम शिक्षादि प्रबंध नहीं करता, वह अपने गृहस्थधर्मसे भ्रष्ट होता है, जो अपना बल नहीं बढाता और उसस अपने राष्ट्रका रक्षा नहीं करता, वह भी वैसा ही गृहस्थधर्मसे च्युत होता है। गृहस्थमें जो तीन शक्तियां हैं, उन शक्तियोंका उपयोग यह है। हरएक गृहस्थको इनका उपयोग करके अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। सत्य और वीर्यके अनुकूल जो गृहस्थके धर्म हैं, वे ये धर्म हैं।

अग्नीषोमौ यज्ञस्य पक्षौ। (मं १४)

' अग्नि और सोम ये दो यज्ञके पक्ष हैं ' जिस प्रकार पक्षीके दो *पंख होते हैं उसी प्रकार ये यज्ञके दो पंख हैं।* हवन रूप यज्ञमें अग्नि मुख्य है क्योंकि अग्निके बिना यज्ञ हो नहीं सकता।

और सोमरस भी प्रधान द्रव्य है। इस रीतिसे हवनरूप यज्ञमें ये दो पदार्थ मुख्य हैं। परंतु यहां केवल यज्ञ नहीं है। मनुष्यका जीवन एक महान् यज्ञ है, इसमें भी अग्नि और सोम मुख्य हैं। यहां सोमका रूप मनुष्यमें मन है और अग्निका रूप वाणी है। मनुष्यमें मन और वाणी ही सब कुछ है। इस ढगसे इसका और भी विचार हो सकता है। सोम एक शान्ति और अहिंसाकी सूचना देता है और अग्नि उग्रता और प्रतापकी सूचना देता है। मनुष्यके व्यवहार इनसे हो रहे हैं। यह यज्ञ जहांतक हो सके, वहांतक पूर्ण और उत्तम हो ऐसा करना हरएक मनुष्यका कर्तव्य है।

पूर्व स्थानमें तीन शक्तियोंका वर्णन है। यहां एक (तुरीया आसीत्) चतुर्थ शक्ति कही है वह पारमात्मिक विश्वव्यापिनी शक्ति है। जिस शक्तिको ऋषि लोग प्राप्त करते हैं और जिससे यजमानको (स्व) स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इस मंत्रमें तथा इस सूक्तमें अन्यत्र जो छन्दोंके नाम हैं वे वेदमंत्रोंके उपासनाके योग्य छन्द हैं। यह मंत्रोक्त उपासना मनुष्यको (स्व आम रन्ती) स्वर्गको पहुचाती है। "स्व" का अर्थ (स्व-र) आत्म प्रकाश है। इस उपासनासे आत्माका प्रकाश अधिकाधिक उज्ज्वल होता है।

आगे मंत्र १५ से मंत्र २१ तक पांच, छ, सात और आठ संख्याके गण कहे हैं। ये गण बार बार वैदिक मंत्रोंमें आते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रिय, छ ऋतु, सप्त ऋषि, अष्टवसु आदि इन गणोंकी गणना अनेक स्थानपर है। इनमेंसे कई गण मनुष्य शरीरमें हैं, कई कालविभागके हैं, कई बाह्य देवताओंके हैं। इन सबका मिलकर एक संपूर्ण जगत् होता है और एक दूसरेके साथ अनुकूलतासे रहकर उन्नति करनेसे सबकी उच्च अवस्था होती है। अलग होनेसे हानि और मिलकर रहनेसे उन्नति वह नियम साधारणतया सर्वत्र है।

सात गीध।

अठारहवें मन्त्रमें 'सप्त गृध्रा' पद है। ये सात गीध भी मानवीय शरीरमें ही हैं। जैसे सप्त ऋषि यहां हैं वैसे ही सात गीध भी यहां हैं। जो ऋषि हैं वे ही गीध बनते हैं। दो नाक, दो कान, दो आंख और एक मुख ये अच्छे कर्ममें प्रवृत्त हुए तो ऋषि कहलाते हैं और येही स्वार्थान्ध हुए तो गीध या राक्षस बनते हैं। पाठक अपने शरीरमें देखें कि ये ऋषि हैं या गीध। और यदि गीध हों तो उनको ऋषि बनानेका यत्न करें।

जब मनुष्य अनासक्ति भावसे बर्तता है, तब सब संसार या प्रकृति उसकी सेवाके लिये तत्पर रहती है, वह कहती है—

श्रेय मन्यमाना युष्माक सख्ये आगमं, अहं शेवा अस्मि। (म २२)

"तुम्हारा कल्याण करनेकी इच्छासे तुम्हारे पास मैं आयी हू, मैं तुम्हारी सेवा करनेवाली दासी हू।" जब प्रकृति इस प्रकार अनुकूल होती है, तब समझना चाहिये कि इसका योग सफलताको पहुंचने लगा है। जो प्रकृति प्रारंभमें जीवपर आधिकार चलाती थी, वही उदासीन भावके कारण सेविका बनकर कैसे अनुकूल होती है यह यहां देखने योग्य है। उसके वशीभूत होनेका एक और भी कारण है—

यः समानजन्मा क्रतु शिवः अस्तु स वः सर्वा. संचरति। (म. २२)

"तुम्हारे साथ जन्मा हुआ यज्ञ तुम्हारे लिये कल्याण करनेवाला होवे और वह तुम्हारे अन्दर संचार करे" भगवद्गीतामें "**सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा** (भ. गी. ३।१०)" कहा है। प्रजाके साथ यज्ञ उत्पन्न होनेका वर्णन वहां है। यही बात इस मंत्रके "**समानजन्मा क्रतुः**" शब्दोंके द्वारा कही है। मनुष्यके साथ ही यज्ञ उत्पन्न हुआ है, उसके करनेसे मनुष्यकी उन्नति व न करनेसे उसका नाश निःसंदेह होना है।

गोमहिमा।

केवली गृष्टिः प्रथमं इन्द्राय पीयूष दुदुहे। अथ देवान् ऋषीन् मनुष्यान् असुरान् अतर्पयत्। (म. २४)

"अकेली गाय सबसे पहिले अपना अमृतरूपी दूध इन्द्रके यज्ञकर्मके लिये देती है, और पश्चात् जो दूध बचता है उससे देव, ऋषि, मनुष्य और असुरोंकी तृप्ति करती है।" यज्ञके लिये इस प्रकार गौकी उत्पत्ति हुई है। इस हवनरूपी यज्ञसे वायुशुद्धि, जलशुद्धि, नीरोगता आदि होती है और मनुष्यका जीवन सुखपूर्ण होता है। इस कारण यज्ञयाग होमहवन करना मनुष्यका धर्म है और वह उसकी उन्नतिका एक उत्तम साधन है। आगेके दो मंत्रोंमें—

को नु गौः कः एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमोऽनु सः ॥ २५॥
एको गौरेकऋषिरेकं धामैका आशिष।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६॥

यहां एक ही प्रकृतिरूपी गौ है, जो जीवात्माओंकी पुष्टि करनेके लिये दूध देती है। इस सबका निरीक्षक सबका एक

मात्र निरीक्षक-परमात्मा ही परम ऋषि है। इस पूर्वापर सर्वव्यापक एक ही परमात्मदेव सबका उपास्य है। और उसका सेवक लिये उत्तम आशीर्वाद है। इस प्रकार विचार करके इन मन्त्रोंका आशय जानना चाहिये।

एक प्रकृतिरूपी गौ एक दिव्य दृष्टिरूपी ऋषि एक परमात्माका धाम, एक स्वस्तिरूप आशीर्वाद, और इस भूमिपर व्यापक एक ही पूज्य देव है ये बातें यहां कही हैं। पूर्वोक्त वर्णनसे इनका सहज बोध हो सकता है।

इस सूक्तमें पञ्च, षष्ठ सप्त और अष्ट शब्दों द्वारा वेदोक्त अनेक कोष्टक बनते हैं, परन्तु वे अभीतक पूर्ण नहीं हुए, इस लिये यहां नहीं दिये। जब पूर्णतासे तैयार होंगे तब उनका प्रकाशन किया जायगा।

विश्वका सञ्चालक देव।

(का. ६, सू. ३५)

(ऋषिः— कौशिकः। देवता— वैश्वानरः।)

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥
वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप । अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥
वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत्। ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैश्वानर) विश्वका नेता ईश्वर (ऊतये) हमारी रक्षा करनेके लिये (परावतः न प्र आयातु) अपने श्रेष्ठ स्थानसे हमारे पास आवे और वह (अग्निः न सुष्टुतीः उप) प्रकाशका देव हमारी उत्तम स्तुतियां स्वीकार करे ॥ १ ॥ (उक्थेषु अंहसु) स्तुति करनेके समय (अग्निः सजूः वैश्वानरः) वह तेजस्वी विश्वका चालक प्रेमपूर्ण ईश्वर (इमं नः यज्ञं उप आगमत्) इस हमारे यज्ञके पास आवे ॥ २ ॥ (वैश्वानरः) विश्वका चालक देव (अंगिरसां स्तोमं उक्थं च) ज्ञानी ऋषियोंके स्तुतिस्तोत्रोंको (अक्लृपत्) समर्थ करता आया है। और वह (एषु द्युम्नं स्वः आयमत्) इनमें प्रकाशित होनेवाला आत्मतेज स्थिर करता है ॥ ३ ॥

विश्वका सञ्चालक देव जो विश्वके संपूर्ण पदार्थोंका संचालन करता है, वह एक तेजस्वी प्रेममय, प्रशंसनीय और श्रेष्ठ देव है। वह उपासकोंका श्रेष्ठ आत्मतेज देता है।

सर्वव्यापक ईश्वर।

(काण्ड ७, सूक्त २६ [२७])

(ऋषि — मेधातिथि । देवता— विष्णु ।)

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

अर्थ— (विष्णोः वीर्याणि) सर्व व्यापक ईश्वरके पराक्रमोंका (कं नु प्रावोचं) सुख बढानेवाला वर्णन निश्चयपूर्वक करता हूं। (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जो पृथ्वीपरके लोकोंको विशेष रातिसे बनाता है। (यः उरुगायः) जो बहुत प्रकार प्रशंसित होता हुआ (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकारसे पराक्रम करता हुआ। (उत्तरं सधस्थं अस्कभायत्) उच्चतर स्वर्गीय प्रकाशस्थानको स्थिर करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— सर्वव्यापक परमेश्वरके पराक्रम बहुत हैं। जो अपना सुख बढाना चाहते हैं वे उनका वर्णन करें, उनका गायन करें। उसा परमेश्वरने तो सब पार्थिव पदार्थोंका विशेष कुशलतासे निर्माण किया है। इसीलिये उसकी सर्वत्र बहुत प्रशंसा होती है। वह तीनों लोकोंमें तीन प्रकारका पराक्रम करता है और उसीने सबसे ऊपरका द्युलोक निराधार स्थिर किया है ॥ १ ॥

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

अर्थ— (तत् वीर्याणि) उसके पराक्रम दर्शानेके लिये (विष्णुः स्तवते) वही व्यापक ईश्वर प्रशंसित होता है। वह (भीमः मृगः न) भयानक सिंह जैसा (कु-चरः गिरि-ष्ठाः) सर्वत्र संचार करनेवाला और गिरि गुहाओंमें रहनेवाला है। वह (परस्याः परावतः) दूरसे दूरके प्रदेशसे भी (आजगम्यात्) समीप आ जाता है ॥ २ ॥

(यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु) जिसके विशाल तीन विक्रमोंमें (विश्वा भुवनानि अधि क्षियन्ति) सब भुवन रहते हैं। हे (विष्णो, उरु विक्रमस्व) व्यापक देव ! विशेष विक्रम कर। (नः क्षयाय उरु कृधि) हमारे निवासके लिये विस्तृत स्थान दे। हे (घृतयोने, घृत पिब) रसको उत्पन्न करनेवाले ! रसका पान कर और (यज्ञपतिं प्र प्र तिर) यज्ञकर्ताको दुःखोंसे पार ले जा ॥ ३ ॥

(विष्णुः इदं विचक्रमे) व्यापक देव इस जगतमें विक्रम कर रहा है। (पदा त्रेधा निदधे) अपने पांवसे तीन प्रकारसे कदम रखा है। (अस्य पांसुरे समूढं) इसका जो पांव बीचके लोकमें है वह गुप्त है ॥ ४ ॥

(अदाभ्यः गोपाः विष्णुः) न दबनेवाला पालक और व्यापक देव (त्रीणि पदा विचक्रमे) तीन पांवोंको इस जगतमें रखता है और (इतः धर्माणि धारयन्) यहांसे सब धर्मोंको धारण करता है ॥ ५ ॥

(विष्णोः कर्माणि पश्यत) व्यापक देवके ये कार्य देखो। (यत व्रतानि पस्पशे) जहांसे सब गुणधर्मोंको वह देखता है। (इन्द्रस्य युज्यः सखा) वह जीवात्माका योग्य मित्र है ॥ ६ ॥

भावार्थ— इस परमेश्वरका गुणसंकीर्तन करनेसे उसके पराक्रमोंका ज्ञान प्राप्त होता है और उससे उसका महत्त्व अनुभव करना सुगम होता है। जैसे सिंह गिरिकंदराओंमें संचार करता है, और भूमिपर घूमता है, उसी प्रकार यह भी हृदयगुफामें संचार करता है और इस लोकको व्यापता है। वह दूरसे दूर रहनेपर भी भक्ति करनेपर समीपसे समीप आ जाता है ॥ २ ॥

पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंमें इस ईश्वरके तीन पराक्रम दिखाई देते हैं। उन पराक्रमोंसे ही इन तीन लोकोंका अस्तित्व है। इसलिये उस प्रभुकी विशेष प्रार्थना करते हैं कि वह हमें उत्तम और विस्तृत स्थान कार्य करनेके लिये अर्पण करे। हे प्रभो ! यजमान जो सत्कर्म करता है उसका रस ग्रहण करके तू यजमानको इस दुःखसागरसे पार कर ॥ ३ ॥

व्यापक देवका कार्य इस त्रिलोकीमें देख, उसने अपने तीन पांव तीन लोकोंमें रखकर वहांका कार्य किया है। पृथ्वीपर उसका कार्य दिखाई देता है, द्युलोकमें भी वैसा ही अनुभवमें आता है। परन्तु मध्यस्थानीय अन्तरिक्ष लोकमें उसका जो कार्य हो रहा है वह दिखाई नहीं देता ॥ ४ ॥

यह व्यापक देव किसी कारण भी न दबनेवाला और सबकी रक्षा करनेवाला है। इन तीनों लोकोंमें अपने तीन पांव रखता है और वहांका सब कार्य करता है। यहींसे उसके सब गुणधर्म प्रकट होते हैं ॥ ५ ॥

हे लोगो ! इस सर्वव्यापक ईश्वरके ये चमत्कार देखो। जिसके प्रभावसे उसके सब व्रत यथायोग्य रीतिसे चल रहे हैं। हरएक जीवका यह परमेश्वर एक उत्तम मित्र है ॥ ६ ॥

❀

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥
दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ— (दिवि आततं चक्षुः इव) जैसे द्युलोकमें फैले हुए चक्षुरूपी सूर्यको देखते हैं उसी तरह (विष्णोः तद् परमं पदं) व्यापक देवका वह परम स्थान (सूरयः सदा पश्यन्ति) ज्ञानी जन सदा देखते हैं ॥ ७ ॥

हे (विष्णो) व्यापक देव ! (दिवः उत पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवीसे तथा (महः उरोः अन्तरिक्षात्) बडे विस्तृत अन्तरिक्षसे (बहुभिः वसव्यैः हस्तौ पृणस्व) बहुत धनोंसे अपने दोनों हाथ भर ले और (दक्षिणात् उत सव्यात्) दायें तथा बायें हाथोंसे उन्हें हमें (आ प्रयच्छ) प्रदान कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार द्युलोकमें सूर्यको सब लोग देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग सदा उस परमात्माको देखते हैं। अर्थात् वह ईश्वर इस प्रकार उनको प्रत्यक्ष होता है ॥ ७ ॥

हे सर्वव्यापक प्रभो ! पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकमेंसे बहुतसा धन तू अपने हाथमें लेकर अपने दोनों हाथोंसे उस धनको हमें प्रदान कर ॥ ८ ॥

इस सूक्तमें सर्वव्यापक ईश्वरका वर्णन है । तीनों लोकोंमें जो विलक्षण चमत्कार दिखाई देते हैं, वे सब उसीकी शक्तिसे हो रहे हैं । उसीने ये तीनों लोक रचे, उसीने उनको धारण किया और वही यहांका सब चमत्कार कर रहा है । यह सर्वव्यापक होनेपर भी साधारण लोगोंको वह प्रत्यक्ष नहीं होता है । परन्तु ज्ञानी लोगोंको वह वैसा ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जैसा दोषहरता सूर्य आकाशमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है । यह इसकी महिमा सब लोग देखें और अनुभव करें ।

व्यापक देव ।

(काण्ड ७, सूक्त ८७ (९२))

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— रुद्र)

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश ।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

अर्थ— (यः रुद्रः अग्नौ) जो वाणीका प्रवर्तक देव अग्निमें (यः अप्सु अन्तः) जो जलोंके अन्दर तथा (यः ओषधीः वीरुधः आविवेश) जो औषधी और वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हुआ है, (यः इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे) जो इन सब भुवनोंको रचता है, (तस्मै अग्नये रुद्राय नमः अस्तु) उस अग्निके समान तेजस्वी, वाणीके प्रवर्तक देवको नमस्कार है ॥ १ ॥

(रुद्र=रुद्+र) रुद् अर्थात् वाणी किंवा शब्द इसका जो प्रवर्तक आत्मा है, वह सब स्थिर चर पदार्थोंमें व्याप्त है, वह जल, अग्नि, औषधि, वनस्पति, सब भुवन आदिमें है, वही सबका रचयिता है । उस तेजस्वी आत्मदेवको मेरा नमस्कार है ।

एक आत्माके अनेक नाम।

(काण्ड ९, सूक्त १०)

(ऋषि:— ब्रह्मा। देवता— गौः, विराट् अध्यात्मम्।)

यद् गा॒य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत् तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥ १ ॥
गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम्।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॑ ॥ २ ॥
जग॑ता॒ सिन्धुं॑ दि॒व्य॑स्कभायद् रथन्त॒रे सूर्यं॒ पर्य॑पश्यत्।
गा॒य॒त्रस्य॑ स॒मिध॑स्ति॒स्र आ॑हु॒स्ततो॑ म॒ह्ना प्र रि॑रिचे महि॒त्वा ॥ ३ ॥
उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत्) जो (गायत्रे) गायत्रमें (गायत्रं अधि आहितं) गायत्र रखा है। और (त्रैष्टुभात् वा त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभसे त्रैष्टुभकी (निरतक्षत) रचना की है, (यत् वा) अथवा जो (जगत् जगति आहितं) जगत् जगतिमें रखा है, (ये इत्) जो (तत् पदं विदुः) इस पदको जानते हैं (ते अमृतत्वं आनशुः) अमरत्वको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवका प्रतिमापन अर्थात् गुणवर्णन करता है, (अर्केण साम) अर्चनीय देवताके द्वारा साम अर्थात् शान्तिको प्राप्त करता है। (त्रैष्टुभेन वाक्) त्रिष्टुप् छन्दसे वाणीका मापन करता है और (वाकेन वाकं) वाणीसे वर्णन करता है। इस प्रकार (द्विपदा चतुष्पदा सप्त वाणीः अक्षरेण मिमते) दो चरणों और चार चरणोंवाले सात छन्दोंको अक्षरोंकी गिनतीसे गिनते हैं ॥ २ ॥

(जगता सिन्धुं दिवि अस्कभायत्) जगति छन्द द्वारा समुद्रको द्युलोकमें थाम रखा है, द्युलोकका समुद्रके समान वर्णन किया है। (रथन्तरे सूर्यं परि अपश्यत्) रथन्तरमें सूर्यका दर्शन किया है, सूर्यका वर्णन है। (गायत्रस्य तिस्रः समिधः आहुः) गायत्री छन्दकी तीन समिधायें—तीन पाद— हैं ऐसा कहते हैं। (ततः मह्ना महित्वा प्ररिरिचे) उसके बाद बड़ा महिमासे संयुक्त होता है ॥ ३ ॥

(सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला मैं इस सुखसे दोहने योग्य धेनुको बुलाता हूं। (उत गोधुक् एनां दोहत्) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। (सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्) सबका उत्पन्न करनेवाला सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्) प्रदीप्त तेजस्वी दूध यही बता देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— गायत्री, त्रिष्टुप् और जगति आदि छंदों में जो महत्वपूर्ण ज्ञान रखा है, उस ज्ञानको जो जानते हैं, वे अमृतत्वमोक्ष-को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

गायत्री छन्दसे पूज्य ईश्वरका वर्णन होता है, इसकी उपासनासे शान्ति प्राप्त होती है। त्रिष्टुप् छन्दसे भी उसी वर्णनीय देवका वर्णन होता है और इसी तरह दो चरण और चार चरणोंवाले सब छंदोंसे इसीका वर्णन होता है। ये सातों छन्द अक्षरोंकी गिनतीसे मापे जाते हैं ॥ २ ॥

जगति छन्दमें उसका वर्णन है कि जिसने इस द्युलोकको आधार दिया है। रथन्तर साम मंत्रमें सबके प्रकाशक सूर्यका वर्णन होता है। गायत्री छन्दमें तीन पाद होते हैं और उस छन्दमें महत्वपूर्ण ज्ञान भरा हुआ है ॥ ३ ॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ ५ ॥
गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ६ ॥
अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥ ७ ॥
अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥

अर्थ— (हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी) रंभानेवाली, ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली (मनसा वत्सं इच्छन्ती) मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली गाय (नि आगात्) समीप आगई है । (इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां) यह अवध्य गौ अश्विदेवोंके लिए दूध देवे । (सा महते सौभगाय वर्धतां) और यह बडे सौभाग्यके लिए बढे ॥ ५ ॥

(गौः मिषन्तं वत्सं अभि अमीमेत्) गाय उत्सुक बछडेको चारों ओरसे प्रेम करती है । और (मातवै उ मूर्धानं हिङ् अकृणोत्) मान्यताके लिए अपने सिरको हिंकारसे युक्त करती है । (सृकाणं घर्मं वावशाना) उत्पादक उष्णताको चाहती हुई (पयोभिः मायुं अभिमिमाति पयते) दूधके साथ प्रकाशको चारों ओर फैलाती और साथ साथ दूध भी देती है ॥ ६ ॥

(अयं सः शिङ्क्ते) यही वह शब्द करता है । (येन अभीवृता गौः) जिससे संयुक्त हुई गौ (ध्वसनौ अधिश्रिता) प्रलयमें आश्रित होती हुई (मायुं मिमाति) प्रकाशका मापन करती है । (सा चित्तिभिः मर्त्यान् नि चकार) वह चिन्तनशक्तियोंके साथ मनुष्योंको युक्त करती है और (विद्युत् भवन्ती वव्रिं प्रति औहत) बिजलीके समान चमकदार होकर उत्तम रूपको प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

(पस्त्यानां मध्ये) लोगोंके बीचमें (ध्रुवं एजत् जीवं) स्थिर चालक जीव (तुरगातु अनत् शये) तीव्र गतिमान् और प्राणशक्तिवाला होकर रहता है । यह (मृतस्य जीवः) मरे मनुष्यका जीव (अमर्त्यः) स्वयं अमर होता हुआ भी (मर्त्येन सयोनिः) मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें प्रविष्ट होकर (स्व-धाभिः चरति) अपनी धारक शक्तियोंसे चलता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— मैं उत्तम स्वच्छ हाथोंसे युक्त होकर इस अमृत–मोक्ष–रूपी दूधको देनेवाली ज्ञानमयी वाणीरूप धेनुकी प्रार्थना करता हूं । जो इस गायका दोहन करना जानता है वही इसका दोहन करे । सबका उत्पादक देव हमें यह ज्ञानरूपी अन्न देवे और इससे प्रकाशमय यज्ञरूपी घर्म हमारे द्वारा सिद्ध होवे ॥ ४ ॥

हिंकारसे युक्त और मनसे शिष्यरूपी वत्सकी कामना करती हुई यह दिव्यज्ञानपूर्ण वेदवाणी रूपी गौ हमारे पास आयी है । यह अवध्य गौ हमें अमृत जैसा ज्ञानरूपी दूध देवे और महान् सौभाग्य बढावे ॥ ५ ॥

यह गौ उसी बच्चेको दूध देती है जो बडा उत्सुक है । उसीके यह अनुकूल रहती है । यह यज्ञरूप घर्मको फैलाना चाहती है और जो यज्ञरूप जीवन बनाता है उसीको अपने अमृतरसधाराओंसे पुष्ट करती है ॥ ६ ॥

यही वह एक शब्द है जिससे युक्त हुई यह वाणीरूपी धेनु प्रलयकालमें भी अर्थात् मृत्युके अनंतर भी प्रकाश देती है । यह मननशक्तियोंसे मनुष्योंको युक्त करती है और विद्युत्के समान विशेष प्रकाश देकर मार्ग बताती है ॥ ७ ॥

मनुष्योंके शरीरमें एक जीव है, जो स्थिर है, तथापि चलनेवाला है, यह शीघ्रगति है, और प्राणको भी अपने साथ शरीरमें रखता है । यही जीव इस शरीरमें रहता है । मरे हुए मनुष्यका यह जीव स्वयं अमर है, इसलिए वह अपनी निज शक्तिसे चलता है और दूसरे मर्त्य देहको धारण करनेके लिये किसी योनिमें देह धारण करता है ॥ ८ ॥

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ ९ ॥
य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥ १० ॥
अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥
द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥

अर्थ— (सलिलस्य पृष्ठे) प्रकृतिसमुद्रकी पीठपर (दद्राणं विधुं) गतिमान विधान-कर्म कर्ता (युवानं सन्तं)
युवा सत् पदार्थको (पलितः जगार) एक वृद्ध निगलता है । (देवस्य पश्य काव्यं) ईश्वरका यह काव्य देख ।
(महित्वा) महिमासे जो (ह्यः सं आन) कल प्राण धारण करता था । (सः अद्य ममार) वह आज मर गया ॥ ९ ॥
(यः ईं चकार) जो इसे करता है, (सः अस्य न वेद) वह इसको जानता नहीं । (यः ईं ददर्श) जो देखता है
(तस्मात् हिरुग् इत् नु) उसके नीचे ही वह है । (सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः) वह माताकी योनिके अन्दर
परिवेष्टित होकर (बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश) बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली इस प्रकृतिमें प्रविष्ट होता है ॥ १० ॥

(गो-पां अनिपद्यमानं) इंद्रियोंके रक्षक तथा पतनको न प्राप्त होनेवाले (पथिभिः आ च परा च चरन्तं)
अपने मार्गोंसे पास और दूर जानेवालेको (अपश्यं) मैंने देखा । (सः सध्रीचीः) वह साथ विराजमान है, (सः विषूचीः)
वह सर्वत्र है, वह (भुवनेषु अन्तः वसानः) भुवनोंके अन्दर बसता हुआ (आ वरीवर्ति) वारंवार आवर्तन
करता है ॥ ११ ॥

(द्यौः नः पिता जनिता) प्रकाशक देव हमारा रक्षक और उत्पादक है, वहीं (नाभिः) हमारा मध्य है और (नः
बन्धुः) हमारा बन्धु है । तथा (इयं मही पृथिवी माता) यह बडी पृथिवी माता है । (उत्तानयोः चम्वोः योनिः
अत्र) ऊपर चौडे मुखवाले इन दोनों बर्तनोंका मूल उत्पत्तिस्थान यहां ही है । यहां (पिता दुहितुः गर्भं आधात्) पालक
दूर स्थित प्रकृतिमें गर्भकी स्थापना करता है ॥ १२ ॥

भावार्थ— इस प्राकृतिक संसारसागरमें यह जीव प्रगति करता है और विशेष कर्म भी करता है । यह जीवात्मा युवा
होता हुआ भी दूसरे बडे वृद्ध परमात्माके अन्दर प्रविष्ट होता है । यह उस देवकी काव्यमय शक्ति देखने योग्य है । जो जीव कल
जीवित होता है वही आज मरता है (और पश्चात् दूसरा शरीर भी धारण करता है) यह सब उस देवकी महिमा है ॥ ९ ॥

जो कर्ममार्गी कर्म करता, वह इस देवके महत्त्वको नहीं जानता । परन्तु जो ज्ञानमार्गी इस देवका साक्षात्कार करता है,
उसके नीचे अर्थात् उसके अन्दर ही वह देव उसको दीखता है । यह जीव दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब माताके गर्भमें
प्रविष्ट होता है, तब बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली प्रकृति उसको घेरती है और इस प्रकार उसको नया शरीर मिलता है ॥ १० ॥

यह जीवात्मा इंद्रियोंका रक्षक है और स्वयं पतनशील नहीं है । यह शरीरमें आता है और शरीरसे दूर भी जाता है वह
परमात्मा इसके साथ है सर्वत्र व्यापक है और सब पदार्थोंमें विराजमान है ॥ ११ ॥

वह परमात्मा द्यु अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशमान् है, वही हम सबका पिता, जनक, बन्धु और केन्द्र है । यह पृथ्वी अर्थात्
प्रकृति हमारी बडी माता है । यह पिता इस दुहिता रूपी प्रकृतिमें गर्भका आधान करता है जिससे यह सब सृष्टि उत्पन्न होती
है । इन दोनों प्रकृति पुरुषमें सबका उत्पत्ति स्थान है ॥ १२ ॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ १३ ॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ १४ ॥
न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ १५ ॥
अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ— (**पृथिव्याः परं अन्तः त्वा पृच्छामि**) पृथ्वीका परला अन्त कौनसा है यह मैं तुझे पूछता हूं। (**वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि**) बलवान् अश्वके वीर्यके विषयमें मैं पूछता हूं। (**विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि**) सब भुवनके केन्द्रके विषयमें पूछता हूं। (**वाचः परमं व्योम पृच्छामि**) वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान पूछता हूं ॥ १३ ॥

(**इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः**) यह वेदी भूमिका परला अन्त भाग है। (**अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः**) यह सोम बलवान् अश्वका वीर्य है। (**अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः**) यह यज्ञ सब भुवनोंका मध्य है। और (**अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम**) वह ब्रह्मा वाणीका परम स्थान है ॥ १४ ॥

(**न विजानामि यत् इव इदं अस्मि**) मैं नहीं जानता कि मैं किसके सदृश हूं। (**निण्यः संनद्धः मनसा चरामि**) अंदर बधा हुआ मैं मनसे चलता हूं। (**यदा ऋतस्य प्रथमजाः मा अगन्**) जब सत्यका पहिला प्रवर्तक मेरे समीप आया, (**आत् इत् अस्याः वाचः भागं अश्नुवे**) उसी समय इसके वाणीके भागको मैंने प्राप्त किया ॥ १५ ॥

(**अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः**) अमर आत्मा मरणधर्मवाले शरीरके साथ एक उत्पत्तिस्थानमें प्राप्त होकर (**स्वधया गृभीतः अपाङ् प्राङ् एति**) अपनी धारणा शक्तिसे युक्त होकर नीचे तथा ऊपर जाता है। (**ता शश्वन्ता विषूचीना**) वे दोनों शाश्वत रहनेवाले, विविध गतिवाले तथा (**वियन्ता**) विरुद्ध गतिवाले हैं, लोग उनमेंसे (**अन्यं निचिक्युः**) एकको जानते हैं और (**अन्यं न निचिक्युः**) दूसरेको नहीं जानते ॥ १६ ॥

भावार्थ— इस पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है? बलवान् अश्वका वीर्य कौनसा है? संपूर्ण जगत्का केन्द्र कौनसा है? और वाणीका परम उत्पत्तिस्थान कौनसा है? ॥ १३ ॥

यही यज्ञकी वेदी इस भूमिका परला अन्तभाग है। बलवान् अश्वका वीर्य यह सोम है। यज्ञ ही सब जगत्का केन्द्र है और यह ब्रह्मा-आत्मा-ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है ॥ १४ ॥

यह आत्मा किसके समान है यह विदित नहीं है। यह आत्मा इस शरीरमें बद्ध होकर रहता हुआ भी मनसे बडी हलचल करता है। जिस समय सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक परमात्माको प्राप्त होता है, उसी समय इस दिव्य मंत्रकी वाणीका भाग्य इसको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

यह आत्मा अमर है। तथापि मरण धर्मवाले शरीरके साथ रहनेके कारण यह विविध योनियोंमें जन्मता है। यह अपनी धारक शक्तिके साथ ही शरीरमें आता तथा शरीरसे पृथक् होता है। ये दोनों शाश्वत हैं और गतिमान् भी हैं, तथापि उनकी गतियोंमें अन्तर है। लोग उनमेंसे एकको जानते हैं, परंतु दूसरेका ज्ञान नहीं होता है ॥ १६ ॥

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥ १७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ १८ ॥

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥

अर्थ— (भुवनस्य रेत सप्त अर्धगर्भाः) सब भुवनोंका वीर्य सात अर्ध गर्भमें परिणत होकर (विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति) व्यापक देवकी आज्ञामें रहकर विशेष गुणधर्मोमें ठहरता है। (ते धीतिभिः मनसा) वे बुद्धि और मनसे युक्त होकर तथा (ते विपश्चितः परिभुव) वे ज्ञानी और सर्वत्र उपस्थित होकर (विश्वतः परिभवन्ति) सब ओरसे घेरते हैं ॥ १७ ॥

(परमे व्योमन्) परम आकाशमें उत्पन्न होनेवाले (यस्मिन् ऋचः अक्षरे) जिस मन्त्रके अक्षरमें (विश्वे देवा अधिनिषेदुः) सब देव निवास करते हैं (यः तत् न वेद) जो यह बात नहीं जानता वह (ऋचा किं करिष्यति) वेद मन्त्र लेकर क्या करेगा ! (ये इत् तत् विदु ते इमे समासते) जो निश्चयसे उसको जानते हैं वे इस उत्तम स्थानमें बैठते हैं ॥ १८ ॥

(ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्त) मन्त्रके पदको मात्रासे समर्थ बनाते हैं। (अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः) आधे मन्त्रसे चलनेवाले जगतको समर्थ करते हैं। इस प्रकार (त्रिपात् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे) तीन पादोंवाला ज्ञान बहुत रूपोंसे ठहरा हुआ है। (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसीसे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं। १९ ॥

हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य गौ ! तू (सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः) उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो। (अधा वयं भगवन्तः स्याम) और हम भी भाग्यवान् हों। (विश्वदानीं तृणं अद्धि) सर्वदा तृण भक्षण कर और (आचरन्ती शुद्धं उदकं पिब) भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ २० ॥

भावार्थ— सब बने हुए पदार्थोंका मूल बीज सात तत्त्वोंमें है। ये सातों मूल तत्त्व व्यापक परमात्माकी आज्ञामें कार्य करते हैं। ज्ञानी लोग मनसे इस ज्ञानको प्राप्त करके सर्वत्र उपस्थित होनेके समान ज्ञानवान् होते हैं ॥ १७ ॥

इस बडे आकाशमें शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्दसे बननेवाली ऋचाके अक्षरोंमें अनेक देवताओंका निवास होता है। जो मनुष्य इस बातको नहीं जानता, वह केवल मंत्रको लेकर क्या करेगा ? परंतु जो इस तत्त्वको जानते हैं, वे परम पदमें आकर विराजमान होते हैं ॥ १८ ॥

मंत्रोंके पद मात्राओंकी संख्यासे गिने जाते हैं। इस मन्त्रके आधे भागसे ही संपूर्ण चेतन और विश्व सामर्थ्यवान् बनता है। यह त्रिपाद ब्रह्म अनेक रूपोंमें ठहरा हुआ है और इसीसे चारों दिशा उपदिशाओंको जीवन प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

हे अवध्य दूध देनेवाली गौ ! तू अर्थात् तुम्हारा प्रयुक्तकर्ता बछडा उत्तम सात्त्विक अन्नसे युक्त तथा उत्तम भाग्ययुक्त होवे और तेरे भाग्यसे हम भी भाग्ययुक्त बनें। सर्वदा शुद्ध अन्न और जलका सेवन कर ॥ २० ॥

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा
अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू दुः ॥ २२ ॥
अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥ २३ ॥
विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे
स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

अर्थ— (गौः इत् सलिलानी तक्षती) गौ निश्चयसे जलोंको हिलाती हुई (मिमाय) शब्द करती है । (सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी) वह एक पादवाली, दो पादवाली, चार पादवाली, (अष्टापदी नवपदी) आठ पादवाली, नौ पादवाली (बभूवुषी) बहुत होनेकी इच्छा करनेवाली (सहस्र-अक्षरा) हजारों अक्षरोंवाली (भुवनस्य पंक्तिः) भुवनकी पंक्ति है । (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति) उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ २१ ॥

(अपः वसाना) जलको अपने साथ लेती हुई (सुपर्णाः हरयः) उत्तम गतिशील सूर्यकिरणें, (कृष्णं नियानं दिवं) सबका आकर्षण करनेवाले सबके यान रूप सूर्यपर (उत्पतंति) चढती हैं । (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थान रूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आती हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे भूमिको भिगाती हैं ॥२२॥

(पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति) पांववाली प्राकृत मूर्तियोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहनेवाली शक्ति पादरहित है । हे मित्र और वरुणो ! (वां कः तत् चिकेत) तुम दोनोंमेंसे कौन उसको जानता है। (गर्भः अस्याः भारं आभरति चित्) गर्भमें रहनेवाला इस प्रकृतिका भार उठाता है । वही (ऋतं पिपर्ति) सत्यकी पूर्णता करता है और (अनृतं नि पाति) असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

विराट् वाणी, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति और मृत्यु है । वही विराट् (साध्यानां अधिराजः बभूव) साध्योंका आधिराजा है । (तस्य वशे भूतं भव्यं) उसके आधीन भूत और भविष्य है । (सः मे वशे भूतं भव्यं कृणोतु) वह मेरे आधीन भूत और भविष्य करे ॥ २४ ॥

भावार्थ— यह वाक्रूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाक् एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पदोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है, वह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरोंतक इसकी मर्यादा है । यह मानो सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध रस स्रवते हैं ॥ २१ ॥

सूर्यकिरणें अपने साथ जलको उठाती हैं वह जल उनके साथ ऊपर मेघमडलमें पहुंचता है, वहांसे फिर वृष्टिद्वारा वह नीचे आता है और भूमिको भिगाता है ॥ २२ ॥

पांववाले शरीरोंका चालक पांवरहित आत्मा है । कौन इस चालक आत्माको जानता है ? वह चालक आत्मा इस स्थूलका सब भार सहन करता है और सत्यकी रक्षा करके असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

इस विराट् आत्माका रूप वाणी, भूमि, अन्तरिक्ष, प्रजापालक और प्रजासंहारक मृत्यु भी है । यह सबका राजाधिराज है और इसीके आधीन सब भूत भविष्य वर्तमान है । वह मेरे आधीन सब भूत भविष्य वर्तमानको करे ॥ २४ ॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ २५ ॥
त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥ २६ ॥
चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ २७ ॥
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ २८ ॥

अर्थ— (**विषूवता पर आरात् अवरेण**) अनेक रूपोंसे बहुत दूर और पास भी (**एना शकमय धूम अपश्य**) इस शक्तिवाले धूमको मैंने देखा। वहां (*वीराः पृश्नि उक्षाण अपचन्त*) वीर छोट वक्षाको परिपक्व बना रहे थे। (*तानि* **धर्माणि प्रथमानि आसन्**) वे धर्म प्रथम थे ॥ २५ ॥

(**त्रय. केशिन ऋतुथा विचक्षते**) तीन किरणवाले पदार्थ ऋतुके अनुसार दिखाई देते हैं। (**एषां एक संव त्सरे वपते**) इनमेंसे एक वर्षमें एकवार उपजता है। (**अन्यः शचीभि विश्व अभिचष्टे**) दूसरा शक्तियोंसे विश्वका प्रकाशित करता है (**एकस्य ध्राजि ददृशे**) एककी गति दीखती है परंतु उसका (**रूप न**) रूप नहीं दीखता ॥ २६ ॥

(**वाक् चत्वारि पदानि परिमिता**) वाणीके चार स्थान परिमित हुए हैं। (**ये मनीषिणः ब्राह्मणा**) जो ज्ञानी ब्राह्मण हैं वे (**तानिः विदु**) उनको जानते हैं। उनमेंसे (**त्रीणि गुहा॰ निहिता**) तीन गुप्त स्थानमें हैं वे (**न इंग-यन्ति**) नहीं प्रकट होते। (**मनुष्याः वाचः तुरीय वदन्ति**) मनुष्य वाणीके चतुर्थ रूपको बोलते हैं ॥ २७ ॥

(**एकं सत्**) एक सत् वस्तु है उसीका (**विप्राः बहुधा वदन्ति**) ज्ञानी लोग अनेक प्रकार वर्णन करते हैं। उसी एकको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा (**अथो आहु**) कहते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— पास और बहुत दूर भी मैंने धूवेंको देखा और उससे अग्निका अनुमान किया। उसी अग्निपर वीर लोग छोट वक्षाको परिपक्व बनाते हैं। ये यज्ञकर्म सबके प्रारंभमें होते थे ॥ २५ ॥

तीन देव किरणोंवाले अर्थात् प्रकाशमान हैं। इनमेंसे एक वर्षमें एक समय प्रकटता है, दूसरा अपना निज शक्तियोंसे सब विश्वको प्रकाशित करता है और तीसरकी केवल गति प्रतीत होती है परंतु उसका रूप नहीं दिखाई देता ॥ २६ ॥

वाणीके चार स्थान हैं इनको मननशील ब्रह्मज्ञानी जानते हैं, इनमेंसे तीन स्थान हृदयमें गुप्त हैं और जो मनुष्य बोलते हैं वह चतुर्थ स्थानमें उत्पन्न व्यक्त वाणी है ॥ २७ ॥

सत्य तत्त्व केवल एक ही है, परंतु ज्ञानी लोग उसी एक सत्य तत्त्वका वर्णन गुणबोधक अनेक नामोंसे करते हैं। उसी एक सत्य तत्त्वको वे इन्द्र मित्र, वरुण आदि भिन्न भिन्न नाम देते हैं ॥ २८ ॥

एक आत्माके अनेक नाम।

छन्दोंका महत्त्व।

वाणी और गोरक्षण।

गायत्री, त्रिष्टुप, जगती आदि सात छंद मुख्य हैं। इनके भेद और भी बहुत हैं। इन सात छन्दोंमें वेदका ज्ञान भरा हुआ है, इसीलिए कहा है कि अज्ञानका आच्छादन करके ज्ञानका प्रकाशन करनेवाले ये छन्द हैं। इन छन्दोंमें किस प्रकारका ज्ञान है इस विषयमें थोडासा विवरण प्रथम मंत्रमें है। उसमें कहा है—

(**गायत्रे गाय-त्र**) गायत्री छन्दमें (**गाय**) प्राणोंकी (**त्रं**) रक्षा करनेका ज्ञान है। जो लोग गायत्री छंदवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे, वे प्राणरक्षा करनेकी विद्या उत्तम रीतिसे जान सकते हैं। (**त्रैष्टुभात्**) त्रिष्टुप् छन्दमें (**त्रै-ष्टुभं**) तीनोंका अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माका गुणवर्णन है, इस कारण जो लोग त्रिष्टुप् छन्दोंवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे उनको प्रकृतिविद्या आत्मविद्या और ब्रह्मविद्याका ज्ञान हो सकता है और वे प्रकृतिविद्यासे ऐहिक सुख और आत्मविद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति कर सकते हैं। इस प्रकार यह वेदमंत्रोंकी विद्या इहपरलोकके सुखका साधन होती है।

(**जगति जगत्**) जगति छन्दमें जगत् संबंधी अद्भुत ज्ञान भरा है। जिसका ज्ञान प्राप्त करनेमें मनुष्य इस जगतमें विजयी हो सकता है। इसीलिए इसी मंत्रमें आगे कहा है कि-

य इत् तत् विदुः ते अमृतत्वं आनशुः। (मं. १)

'जो ज्ञानी इस ज्ञानको- इस वैदिक ज्ञानको-यथावत् जानते हैं, वे अमृतको अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं।' उक्त प्रकार छंदोविद्याको जाननेवाले मोक्षके अधिकारी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे केवल मोक्षके ही अधिकारी हैं और इस जगत्की उन्नतिको वे नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत वे जागतिक उन्नतिको जैसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार आत्मिक उन्नतिको भी प्राप्त होते हैं। जो मोक्षके अथवा अमृतत्वके [illegible] होते हैं वे सामान्य भौतिक उन्नतिको प्राप्त कर सकते [illegible] कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि श्रीकृष्ण [illegible]न्, राजा जनक, श्रीरामचन्द्र आदि मुक्त पुरुष इह [illegible] व्यवहार करनेमें भी उत्तम दक्ष थे और उन्होंने ऐहिक [illegible] उत्तम तरह किये थे। और वे तो अमृतत्वके अधिकारी थे इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं है। इस प्रकार इस वेदमंत्रोंके ज्ञानको प्राप्त करनेवाले मनुष्य इह परलोकमें परमोच्च गतिको प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य जो इस भूलोकमें देहधारण करके आया है वह अमरत्व प्राप्त करनेके लिये ही है। इसीलिए कहा जाता है कि वेदका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यके लिये उन्नतिका मार्ग बतानेमें समर्थ है।

(**गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते**) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवकी शब्दरूपी प्रतिमा बनाई है। प्रत्येक मनुष्यके द्वारा जिस एक अद्वितीय देवकी अर्चा करनी अत्यंत आवश्यक है, उस देवकी वस्तुतः प्रतिमा तो नहीं है, परंतु उसकी शब्दमयी प्रतिमा 'गायत्री छंद' है। इस कारण पाठक यदि किसी स्थानपर परमात्म देवकी प्रतिमा देख सकते हैं तो वे इस छंदमें ही देख सकते हैं।

(**अर्केण साम**) इस अर्चनीय अर्थात् पूजनीय देवकी सहायतासे 'साम' अर्थात् शान्ति प्राप्त होती है। इस शान्तिका ही दूसरा नाम 'अमृत' है। अमृत और साम एक ही अवस्थाके वाचक शब्द हैं। अस्तु, इसी तरह, त्रिष्टुप् छन्दसे भी वर्णनीय देवताका वर्णन किया जाता है। त्रिष्टुप् छन्दकी वाणी उसीका वर्णन करती है। पूर्व मंत्रमें कहा है कि त्रिष्टुप छन्दसे प्रकृति, जीव और परमात्माका वर्णन होता है, वही बात यहां इस मत्रमें अनुसंधेय है। इस प्रकार—

सात छन्द।

द्विपदा चतुष्पदा सप्तवाणीः अक्षरेण मिमते। (मं २)

" दो चरण और चार चरणोंवाले जो सात छन्द हैं, उनके प्रत्येक चरण अक्षरोंकी संख्यासे नापे जाते हैं " जैसा अनुष्टुप् में चरणमें आठ अक्षर, इसी प्रकार अन्यान्य छन्दोंके पादोंमें भी अक्षरोंकी संख्या होती है। इस प्रकार अक्षर संख्याकी न्यूनाधिकतासे ये छन्द होते हैं।

(**गायत्रस्य तिस्रः समिधः**) गायत्री छन्दके तीन पाद हैं। प्रत्येकमें आठ अक्षर होते हैं। जगती छंदसे जगत्का वर्णन है यह बात प्रथम मंत्रमें कही है, वही फिर इस तृतीय मंत्रमें दुहराते हैं और कहते हैं कि (**जगता दिवि सिंधुं अस्कभायत्**) जगति छन्दसे मानो द्युलोकमें महासागरको फैला रखा है। अर्थात् जैसा महासागरका वर्णन होता है वैसा

ही द्युलोकका वर्णन किया है। इस महासागरमें ये नक्षत्र छोटे छोटे द्वीपोंके समान हैं इत्यादि आलंकारिक वर्णन यहां समझना उचित है।

इसी प्रकार (**रथंतरेण सूर्यं पर्यपश्यत्**) रथन्तरसे सूर्यका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि उसमें यह वर्णन अति-स्पष्ट है। इस ज्ञानकी (*महा महित्वा*) *महत्ता क्या कथन करनी है,* यह ज्ञान तो मनुष्यको अन्तिम मंजिलतक पहुंचा देता है। यह ज्ञान तो मनुष्यको इस जगत्में और उस स्वर्गमें और अन्तमें मोक्षतक उत्तम मार्ग दर्शक होता है। अत. यही वेदमंत्रोंका ज्ञान सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण है।

सुहस्त गोरक्षक।

जिस प्रकार (**सुहस्त सुदुघां धेनुं उपह्वये**) उत्तम हाथवाला उत्तम दोहन करने योग्य धेनुको पुकारता है, उसी प्रकार मनुष्य इस वेदवाणी रूपी कामधेनुको अपने पास बुलावे। गायका दूध निचोडनेवाला ' सुहस्त ' अर्थात् उत्तम प्रेम पूर्ण हाथवाला होना चाहिये। ' दुर्हस्त ' नहीं होना चाहिये। दुर्हस्त मनुष्य वह है कि जो गौको कष्ट पहुंचाता है, ऐसा दुर्हस्त मनुष्य कभी गायको अपने पास न बुलावे। परंतु जो हाथ *सदा गायकी सेवाके लिये तत्पर रहता है, गायका प्रिय करनेमें* जो दक्ष है, *वही मनुष्य गायको बुलावे। गौ अवध्य होनेसे* गायके साथ किसी प्रकार भी ' दुर्हस्त ' का संबंध नहीं आना चाहिये। ' सुहस्त ' होकर ही मनुष्य गायके पास जावे, यह वेदका उपदेश स्पष्टतासे कहता है कि ' गोरक्षण ' करना मनुष्यका वेदोक्त धर्म है। जो प्रेमसे गोपालन करता है वही सच्चा वैदिक धर्मी है, क्योंकि गौ नाम जैसा गायका वाचक है वैसा ही वह ' वेदवाणी ' का भी वाचक है। अत ' गोरक्षा ' का अर्थ ' गायकी रक्षा ' और ' वेदज्ञानकी रक्षा ' है इसलिये कहा जाता है कि गोरक्षक ही वैदिक धर्मी हो सकता है।

(**गोधुक् एनां दोहत**) गायका दोहन करनेवाला इस *गौका और इस वेदवाणीका दोहन करे। गौका दोहन करनेसे* अमृत रूपी दूध प्राप्त होता है और वेदवाणी रूपी गौका दोहन करनेसे अमृत जैसा ज्ञान प्राप्त होता है। गायके दूधसे जैसे यज्ञ होता है, वैसे ही वेदज्ञानसे भी होता है। यहां यज्ञ करनेके दोनों साधन हैं। इसीलिये कहा है कि (**तत् धर्मः सुप्रवोचत्**) यज्ञका ही वे मंत्र वर्णन करते हैं। वेदवाणी रूपी गौ अपने ज्ञानसे यज्ञका मार्ग बता रही है और यह गौ अपने दूधसे यज्ञ करती है। इस तरह दोनों गौओंकी समानता है।

(**वसूनां वसुपत्नी**) *यह गौ-वेदवाणी और गोमाता-* वसुओंकी पालनेहारी है। वसु नाम ऐश्वर्यका वाचक है। सब प्रकारके ऐश्वर्य ज्ञानसे और बलसे ही प्राप्त होते हैं। वेदवाणी रूपी गौसे ज्ञान मिलता और गोमातासे पोषक अन्न मिलता है। इस प्रकार ये दोनों गौवें ऐश्वर्योंका प्रदान करती हैं। जिस प्रकार यह गोमाता अपने (**वत्सं इच्छन्ती**) बछडेकी इच्छा करती हुई घरमें आता है, *उसी प्रकार यह वेदवाणी भी इस भूमंडल पर इसलिए अवतीर्ण हुई है कि ये अनन्त मानवजीव इस ज्ञानामृतका पान करें और अमर बनें।* इस प्रकार दोनों गौवोंमें अपने बछडोंके पालन पोषणकी इच्छा है। ये गौवें (**महते सौभगाय वर्धतां**) हमारा बडा सौभाग्य बढावें। ये तो बढाती ही हैं। परंतु मनुष्योंको भी चाहिए कि वे उन गौवोंके पास जावें और उनका अमृत रस पीवें और पुष्ट होवें। ये गौवें तो हमारा कल्याण करनेके लिए तैयार हैं, परंतु मनुष्य ही ऐसे मदमति हैं, कि वे गौका दूध नहीं पीते और भैंसके पाछे लगते हैं, इसी तरह वेदवाणीकी शरण नहीं लेते, प्रत्युत किसी *अन्य मतवाले ग्रन्थोंकी शरणमें जाते हैं और भ्रममें फसते हैं। अत.* यहां यह उपदेश सब मनुष्योंको लेना चाहिये कि जो मनुष्य उन्नति चाहता है वह गौका दूध पावे और वेदका उपदेश ग्रहण करे।

गाय भी (**गौ मिमन्तं वत्सं अभीमेत्**) उत्सुक बछडेपर ही प्रेम कर सकती है। यदि प्रेमसे बच्चा माताके पास न जाए अथवा कुछ पेटकी अस्वस्थतासे वह दूध न पीवे तो माता *क्या करेगी? इसलिये बच्चेमें उत्सुकता चाहिये। जिन बच्चोंका* पेट ठीक है, भूख अच्छी लगती है और जिनकी पाचन शक्ति ठीक है उन्हीं बच्चोंको माताके दूधसे लाभ होता है। इसी प्रकार वेदवाणी रूपी गौमा उत्सुक शिष्यको ही लाभ पहुंचा सकती है। जो मनुष्य वेद न पढे, पढनेपर उसके समझनेका कष्ट न उठावे, समझनेपर अनुष्ठान न करे, अनुष्ठान करनेके समय तत्पर न होवे, उसको वेदवाणी रूपी गौसे क्या लाभ होगा। इस प्रकार मुमुक्षु होना भी आवश्यक है। यह गौ (**पयोभिः मायुं अभिमिमीते**) *अपने दूधके साथ प्रकाशको फैलाती* है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि सबेरे गोदोहन होते ही सूर्योदय होता है और विश्वमें सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश होता है। वेदवाणी रूपी गौभी अपना ज्ञानामृत देती है और ज्ञानका ही प्रकाश उपासकके मनमें फैलाती है। इस प्रकार दोनों स्थानोंमें दूधको देना और प्रकाशको फैलाना समान है।

गौकी सहायता।

यह गौ (**व्यसनी अधिश्रिता**) *विनाशके समय आश्रय* करने योग्य है। रोग, क्षीणता, अपचन आदिके समय गायका

दूध ही अमृतके समान है। रोगी होनेके समय अथवा बालक होनेके समय भी गायका दूध ही लाभप्रद है। इसी तरह उदासी होनेसे जगत्का नाश होनेके पश्चात् जो मोक्षमार्गका मार्ग आक्रमण करता है, उस समय वेदरूपी गौका ही आश्रय लिया जाता है। वहां वेदके मंत्र ही (**मायु मिमाति**) मार्गमें दीप जैसे सहायक होते हैं। (**सा चित्तिभिः मर्त्यान् निचकार**) वह गौ मनुष्योंमें चिन्तन मनन शक्तियोंसे सहायक होती है। अर्थात् गायके दूधसे मनुष्योंकी बुद्धि तीव्र और सूक्ष्म होती है और मनुष्य बुद्धिमान् होता है। वेद रूपी गौसे भी मनुष्य मनन कर सकता है। मनन शक्ति बढानेके कारण ही छन्दको मंत्र कहा जाता है। इस प्रकार दोनों स्थानोंमें गौ मनन शक्तियोंसे *मनुष्यका साथ* देती है। (**विद्युत् भवन्ती**) वह बिजली जैसी होती है। जिस प्रकार बिजली वेग बढाती है, उसी प्रकार गौके दूधसे भी मनुष्यमें स्फूर्ति आती है और वेदज्ञानसे बुद्धिकी तीव्रता बढती है। विद्युत्के समान प्रकाश किंवा तेज बढानेका कार्य दोनों गौओंसे होता है।

यहां तक सात मंत्रोंमें गौ और वेदवाणीका एक जैसा वर्णन किया है और आगे २० और २१ इन दो मंत्रोंमें ऐसा ही *वर्णन है। अतः विषय सादृश्यके कारण वे दो मंत्र यहां देखते* हैं—

यह गौ (**सु-यवस-अद्**) उत्तम जौ खानेवाली होनेसे (**भगवती भूयाः**) भाग्यवाली होती है। यदि वह अन्यान्य पदार्थ खाने लगे तो उसका दूध वैसा हितकर नहीं होगा। वेदवाणी रूपी गौके पक्षमें भी जौ भक्षण करनेसे भी वर्णोच्चार उत्तम शुद्ध होता है। यहां भी देखा गया है कि जौ और चावल खानेवाले वर्णोच्चारण ठीक कर सकते हैं और उत्तम सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धिवाले भी होते हैं। इसी रीतिसे हम—

अधा वयं भगवन्तः स्याम। (मं. २०)

" इससे हम भी भाग्यवान् बनें। " अर्थात् हम भी जौका अन्न खाकर बुद्धिमान् बनें और गौ भी जौका भक्षण करके उत्तम दूध देनेवाली हो। जौका घास गौ खाय और मनुष्य जौका आटा अर्थात् सत्तू खावें। श्रावणी उत्सवके समय सत्तू भक्षण आवश्यक कहा है और सूचित किया है कि यह शुद्ध और सात्विक अन्न है। वेदमें भी (**सक्तुमिव तितउना पुनन्तः** ऋ. १०।७१।२) इत्यादि मंत्रोंमें सत्तूका अन्न ही निर्दिष्ट है। इससे इस अन्नका महत्व स्पष्ट हो जाता है। गौ जौका घास (**तृणं आदि**) खावे और (**शुद्ध उदकं पिब**) शुद्ध निर्मल जल पीवे। मनुष्यको भी शुद्ध सत्तू खाना और छाना हुआ वस्त्रपूत जल पीना योग्य है। इस प्रकार गौ और वाणीका एक ही पथ्य है। मनुष्यका खानपान सात्विक होनेसे उसकी वाणी पवित्र होती है, यह यहां तात्पर्य है। मनुष्य जिस गौका दूध पीते हैं वह गौ भी उक्त पदार्थ ही खावे और अन्य अमेध्य पदार्थोंका भक्षण न करे। इस विचारसे पता लग सकता है कि बाजारोंमें जो दूध प्राप्त होता है वह दूध अमृत नहीं है, प्रत्युत घरमें गौ पाली जाय, उसको मेध्य पदार्थ खिलाये जायें और शुद्ध उदक पिलाया जाय, तब उसका दूध ' अमृत ' पदवीको प्राप्त हो सकता है। वेद जिस प्रकार गोरक्षण करना चाहता है वह विधि यह है। पाठक विचारें और समझें कि वेदमें गोरक्षणकी विधि कैसी है।

आगेके मंत्रमें (**गौः सलिलानि तक्षति**) *गौ जलोंको* हिलाती है ऐसा कहा है, गौ शुद्ध जलमें प्रविष्ट होनेसे जल हिलने लगता है वह शुद्ध जल गौ पीती है और तृप्त होती है। यह सामान्य वर्णन करके यह गौ (**एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी सहस्राक्षरा**) एक, दो, चार, आठ, नौ पांववली है और सहस्र अक्षरोंसे युक्त है ऐसा जो कहा है वह स्पष्टतया वेदवाणीका ही केवल वर्णन है। वेदके छंद एक चरणवाले, दो चरणोंवाले, आठ चरणोंवाले, नौ चरणोंवाले और सहस्र अक्षरोंवाले होते हैं। क्योंकि गाय सदा चतुष्पाद अर्थात् चार चरणोंवाली ही होती है, और कभी आठ नौ पांववाली नहीं होती। चरण और पाद ये नाम मंत्रोंके भागोंके हैं। इसलिये यह मंत्रभाग वेदवाणी रूपी गौका ही वर्णन कर रहा है। *यह वेदवाणी रूपी गौ* (**सहस्र अक्षरा**) हजारों अक्षय अमृत धाराओंको प्रदान करती है और (**भुवनस्य पंक्तिः**) सब भुवनोंको पूर्णतया पावन करती है। और (**तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति**) इससे समुद्रके समान रसप्रवाह पर्याप्त प्रमाणमें लोगोंको प्राप्त होते हैं। इस*लिये मनुष्योंको उचित है कि वे इस वेदवाणी रूपी गौका* ज्ञानामृत प्राशन करें और मोक्षमार्गपर चलकर अमरत्व प्राप्त करें।

यहांतक गौके वर्णनके मिषसे— अर्थात् गोरक्षणके मिषसे वेदज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है। आगे यह ज्ञान मनुष्यकी उन्नतिके पथमें चलानेमें किस तरह सहायक होता है यह बताया है—

जीवात्मा।

प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है और वही यहांके जीवनका कार्य करता है इस विषयमें अष्टममंत्रका विधान देखिए—

पश्यानां मध्ये ध्रुवं एजत् जीवं तुरगातु अनत् शये। (मं ८)

'प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है अर्थात् स्थिर, चालक, वेगवान्, प्राणको चलानेवाला है और वह इस शरीरमें रहता है।' यह शरीरमें शयन करनेवाले जीवात्माका वर्णन है। '**पुरि शेते इति पुरुषः**' शरीररूपी नगरीमें यह शयन करता है इसलिए इस आत्माको 'पुरुष' (**पुरि शय**) कहते हैं। इस जीवात्माके विशेषण '**ध्रुव, एजत्, जीव, तुरगातु, अनत्**' ये विचार करने योग्य हैं। ये विशेषण अन्यत्र भी आये हैं। जबतक शरीरमें यह जीवात्मा रहता है तबतक चक्र कार्य शरीरमें दिखाई देते हैं। यह शरीरसे भिन्न है अतः शरीरके क्षीण और निकम्मा होनेपर शरीरको यह छोड देता है इस विषयमें इसी मंत्रमें कहा है—

मृतस्य जीवः अमर्त्यः स्वधाभिः चरति मर्त्येन सयोनिः (म. ८)
अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः अपाङ् प्राङ् एति। (म १५)

'मृत मनुष्यका जीव वास्तविक रीतिसे अमर है, वह अपनी निज शक्तियोंसे कार्य करता है और इस देहको छोड देनेके बाद दूसरे मर्त्य देहके साथ संयुक्त होता है।' मनुष्यदेह मरनेवाला है, परंतु उसका आत्मा अमर है, अर्थात् देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है। इन दो परस्पर भिन्न पदार्थोंका संयोग किसी कारण वश हो गया है। इसी संबंधके कारणका विचार करना इस तत्त्वज्ञानका मुख्य प्रयोजन है। (**मृतस्य जीवः अमर्त्यः**) मरे हुए प्राणीका जीवात्मा अमर है, *यह महासिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिये। यदि जीवात्मा अमर है तो वह देहप्राप्तिके पूर्व और देहपातके पश्चात् भी रहेगा। वह न देहके मरनेसे मरेगा और न देहके जन्मसे जन्मेगा।* यह जीव अपनी निजशक्तियोंसे रहता है। इसकी यह (**स्व-धा**) निज शक्ति है अतः यह सदा इसके साथ रहती है और कभी दूर नहीं होती। परंतु शरीरकी शक्ति अन्नादि पदार्थोंपर अवलंबित है। इसलिये शरीरकी शक्तियोंको 'स्वधा' नहीं कहते। केवल आत्माकी शक्तिका ही नाम 'स्वधा' है क्योंकि किसी बाह्य कारणपर यह अवलंबित नहीं है। शरीर मिला या न मिला तो भी वह इसके साथ एक जैसा रहता है। पूर्व शरीर छोडनेसे लेकर दूसरा शरीर प्राप्त होनेतक जिस प्रकार आत्मा अपनी निज शक्तियोंके साथ विचरता है, उसी प्रकार शरीरमें आनेपर भी उन्हीं शक्तियोंको शरीरमें नियुक्त करके कार्य लेता है। *यही अमर होता हुआ भी (**मर्त्येन सयोनिः**) मर्त्य शरीरके* साथ समान योनिमें आता है। अर्थात् जिस योनिमें जिस जातिके प्राणीमें आत्मा जाता है उस जातिकी योनिमें जाकर उस शरीरको प्राप्त होता है। *इस मृत्युलोकका जीवन क्षणभंगुर होता है, क्योंकि शरीर कितनी भी रक्षा करनेपर किसी न किसी समय मर ही जायगा, अतः कहा है—*

ह्यः सं आन, सः अद्य ममार। (मं. ९)

'जो कल उत्तम प्रकार जीवित था, वह आज मर जाता है।' आज सबेरे जो जीवित होता है वह शामके समय मर जाता है। इस प्रकार पिता, माता, पुत्र, भाई आदि मर रहे हैं, यह देखकर अपनेको भी किसी न किसी समय मरना अवश्य है ऐसा प्रतीत होता है। *यद्यपि यह अपना शरीर मरेगा, तथापि इस शरीरका अधिष्ठाता कदापि मरनेवाला नहीं है, यह अमर है, यह न कभी बाल होता है, और न वृद्ध। यह सदा एक अवस्थामें रहता है इसीलिये इसको (**युवानं सन्तं**) युवा* है ऐसा कहते हैं। इस जीवात्माको युवा कहा जाय, तो परमात्माको वृद्ध किंवा पुराण पुरुष कहना योग्य है। इसीका नाम इस मंत्रमें '**पलित**' अर्थात् श्वेतबाल हुआ वृद्ध कहा है। यह पलित पूर्वोक्त युवाको निगल जाता है। परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिये इस एकदेशीय जीवात्माको चारों ओरसे घेरता है इसलिये कहा जाता है कि वह परमात्मा इस जीवात्माको निगल जाता है, अपने पेटमें रखता है। (**युवानं संतं पलितः जगार**) तरुणको वृद्ध निगल जाता है, इस विधानसे दोनोंके आकारका प्रमाण स्पष्ट होता है। तरुण जीवात्माको वृद्ध परमात्मा निगल जाता है, अतः वह वृद्ध तरुणसे कई गुणा बडा है यह बात स्पष्ट है।

यह जीवात्मा 'विधु है' अर्थात् कर्मशील है। कर्म करनेवाला है और विविध कर्म करनेके लिये ही शरीर धारण करता है और जब शरीर जीर्ण होनेके कारण कर्म करनेमें असमर्थ हो जाता है उस समय यह शरीरको छोडता है और दूसरे समर्थ शरीर धारण करता है। शरीर धारण करनेका हेतु यह है—

सः मातुः योना अन्तः परिवीतः बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश। (मं. १०)

'वह जीवात्मा उस माताकी योनिमें–गर्भाशयमें–होता है उस समय प्रकृतिके शरीरसे परिवेष्टित होता है, और पश्चात् *अनुकूल समयमें बहुत प्रजा प्रसवनेहारी इस भूमिपर अथवा इस प्रकृतिमें आविष्ट होकर पृथ्वीपर अवतीर्ण होता है। यही विवाहादि द्वारा यह अपने संतानादि बहुत बढाता है, वंशका* विस्तार करता है और समय आनेपर मर जाता है। फिर इसको

ऐसा ही नवीन शरीर मिल जाता है। यह क्रम बारबार होता है। यह इसका आना और जाना नियमके अनुसार करनेवाला जो कोई है, उसके नियमको यह नहीं जानता—

यः ईं चकार अस्य सः न वेद। (म १०)

'जो यह सब करता है, उसके उस कर्तृत्वको यह नहीं जानता।' प्रत्येक मनुष्य इसका विचार करके जान सकते हैं। मनुष्यको यहां कौन लाया, कौन भवितव्य नियत करता है, इत्यादि विषय हरएक मनुष्य जान नहीं सकता। परंतु—

यः ईं ददर्श तस्मात् हिरुग् इत् नु। (म. १०)

'जो इसको देखता है अर्थात् इसका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे ही– उसके अति समीप ही– वह विद्यमान रहता है।' उसके लिये वह समीपसे समीप है। परंतु अन्य मनुष्योंके लिये यह बहुत दूर होता है। अर्थात् इसकी दूरता और समीपता मनुष्यके प्रयत्नपर निर्भर है।

यह जीवात्मा (**गो-पां**) इंद्रियोंका पालन करनेवाला है, अपने शरीरमें जीवनशक्तिका संचार करके सब शरीरको जीवित रखनेवाला है अतः यह (**अनिपद्यमानं**) न गिरानेवाला है, शरीर जीवित रखनेके कारण यह शरीरको न गिरानेवाला है। शरीर उठानेवाला और चलानेवाला यही जीवात्मा है। '**तनू न-पात्**' यह नाम भी इसी अर्थका सूचक है। (**तनु**) शरीरको (**न**) न (**पात्**) गिरानेवाला आत्मा है, वही भाव '**अनिपद्यमान**' शब्दमें है। इतना होनेपर भी—

पथिभिः आ च परा च चरन्तं। (मं. ११)

'निश्चित मार्गोंसे पास और दूर जानेवाला' अर्थात् इस शरीरके पास और शरीरसे दूर जानेवाला यह आत्मा है। जन्म लेनेके समय शरीरके पास आता है और शरीरकी मृत्यु होते ही यह शरीरसे दूर जाता है इस प्रकार पास आना और दूर जाना जिन मार्गोंसे होता है, उन मार्गोंका ज्ञान हमें हो सकता। वे अदृश्य मार्ग हैं, और परमात्मा ही इसको उन मार्गोंसे चलाता है। यह परमात्मा—

स सध्रीचीः विषूची भुवनेषु अन्तः वसानः।
(मं. ११)

'इस जीवात्माके साथ रहता है, सर्वत्र विराजमान है और संपूर्ण पदार्थमात्रमें भी बसनेवाला वह है।' ऐसा कोई स्थान नहीं जिस स्थानपर वह न हो। प्रत्येक पदार्थके अन्दर, बाहर और चारों ओर वह विराजमान है, इसलिये वह इस जीवात्माको अपने अन्दर लेकर जहां जानेसे इसका कल्याण होगा वहां इसको पहुंचा देता है।

यही देव (**नः पिता जनिता नाभिः बन्धुः**) हम सबका पिता, जनक, सर्वधी और भाई है। (**पृथ्वी माता**) यह भूमि हमारी मातृभूमि है। इन पिता और माताकी उपासना हमको करनी चाहिये। उक्त देवसे जो इस प्रकृतिमाताम गर्भका आधान होता है, उससे सब सृष्टिकी रचना होती है।

प्रश्नोत्तर।

आगे तेरहवें और चौदहवें मन्त्रमें क्रमश कुछ प्रश्न और उनके उत्तर आये हैं, यह मनोरंजक प्रश्नोत्तरका विषय अब देखते हैं—

प्रश्न— *पृथिव्याः परं अन्तः पृच्छामि।* (मं. १३)

उत्तर— इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः।
(मं. १४)

'पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है? यह वेदी ही पृथ्वीका परला अन्तिम भाग है।' यज्ञवेदीके पास खडा होकर एक प्रश्न पूछ रहा है कि पृथ्वीका उरला अन्त वह है कि जिस पर हम खडे हैं, परंतु इसका परला अन्त कौनसा है? यह भूमि कहां समाप्त हुई है? इस प्रश्नका उत्तर है कि यह अपने पासके वेदीका भाग ही भूमिकी अन्तिम सीमा है। इस उत्तरके देखनेसे *पता लगता है कि वेदके अनुसार भूमि गोल–गेंदके* समान ही है। यदि यह भूमि फलकके समान होती तो यह उत्तर आना संभव ही नहीं है। यदि भूमि गेंदके समान गोल होगी तभी जिस बिंदुसे प्रारंभ होगा उसी बिंदुमें अन्त होनेकी संभावना होगी। पृथ्वी गेंदके समान गोल होनेसे यदि किसी स्थानसे सीधी लकीर खींची जायगी तो उस रेखाका अन्तिम बिन्दु प्रारंभिक बिन्दुमें ही मिल जायगा। इसी नियमको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रमें कहा है इस पृथ्वीका प्रारंभ इस वेदीमें है और अन्तिम भाग भी यही वेदी है। पृथ्वीको गेंदके समान गोल माननेपर ही यह बात सिद्ध हो सकती है।

सृष्टिका प्रारंभ यज्ञमें और अन्त भी यज्ञमें हो सकता है। परमेश्वरके यज्ञसे इस सृष्टिका प्रारंभ हुआ है, यज्ञपर ही यह सृष्टि निर्भर है और अन्तमें इसकी समाप्ति भी यज्ञमें ही होगी। इस प्रकार कर्मभूमिका प्रारंभ और अन्त यज्ञमें ही होता है। इस दृष्टिसे भी यह प्रश्नोत्तर विचार करने योग्य है। अब दूसरा प्रश्न देखिये—

अश्वशक्ति।

प्रश्न— वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि। (मं. १३)

उत्तर— अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः।

'बलवान् अश्वका वीर्य कौनसा है? यह सोम ही बलवान् अश्वका वीर्य है।' अश्ववाचक शब्द वीर्य, पराक्रम और बलके सूचक हैं। 'वाजीकरण' शब्दका अर्थ वीर्यवर्धक उपाय है। अश्वशक्ति, अश्वबल, अश्वरेत, अश्ववीर्य शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। बलवती अश्वशक्ति किससे प्राप्त होती है यह प्रश्नका आशय है। इसका उत्तर यह है कि 'सोम वनस्पति ही अश्वशक्ति है' सोमका अर्थ सोमवल्ली, किंवा वनस्पति है। ये वनस्पति ही अश्ववीर्य देनेमें समर्थ हैं।

यहां वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, शरीरमें अश्ववीर्य बढानेकी इच्छा है तो वनस्पतिके सेवनसे ही वह बढ सकता है। क्योंकि सोमादि औषधियोंमें ही (अश्वस्य रेतः) अश्ववीर्य है। जो लोग मांसभक्षणके पक्षमें हैं वे यहां वेदके उपदेशसे बोध लें। वेदमें 'सोम' को ही अन्न कहा है, मांसको नहीं। सोमको ही अश्ववीर्य कहा है, मांसको नहीं। जिस वाजीकरणके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है वह (वाजी) घोडा केवल घास अर्थात् वनस्पति खाकर ही वाजी बना है, मांस खाकर नहीं। अतः स्पष्ट कहा है कि जो बल औषधि वनस्पतिके अन्नमें है, वह मांसमें नहीं है। अतः जो अपना बल बढाना चाहते हैं, वे मांसभक्षण न करें और योग्य वनस्पतियोंका सेवन करके अपना वीर्य बढावें। जो लोग पूछते हैं कि वेदमें मांसभक्षणके लिये अनुकूल संमति है वा प्रतिकूल? उनको इस प्रश्नोत्तरका विचार करना चाहिये और जानना चाहिये कि सोमादि औषधियोंका रसरूप अन्न ही वेदानुकूल मनुष्योंका भक्ष्य अन्न है। वेदमें मांसको भक्ष्य अन्न कहीं नहीं कहा है।

प्रश्न— विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि।
(मं. १३)

उत्तर— अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।
(मं. १४)

'सब भुवनोंका केन्द्र कौनसा है। यज्ञ ही सब भुवनोंका केन्द्र है।' केन्द्र कहते हैं मध्यबिंदुको, इस मध्यबिंदुपर ही सब बाह्य रचना रची जाती है। मध्यबिंदुपर ही संपूर्ण चक्रकी स्थिति होती है, यदि मध्यबिंदु अपने स्थानसे च्युत हो जाये, तो चक्रकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इसलिये इस प्रश्नमें पृच्छा की है कि इस विश्वका केन्द्र कौनसा है अर्थात् किस केन्द्रपर यह विश्व रह रहा है? उत्तरमें कहा है कि इस विश्वका केन्द्र यज्ञ है। अर्थात् यज्ञपर यह सब विश्व स्थिर है। यज्ञ कम हुआ तो यह विश्व नहीं रहेगा। यज्ञ विधिहीन हुआ तो विश्वकी रचना बिगड जायगी। यह बतानेके लिये यहां कहा है कि इस संपूर्ण विश्वकी स्थिति यज्ञपर है। श्रीमद्भगवद्गीतामें—

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।
(भ. गी. ३।१०)

'इस यज्ञद्वारा तुम वृद्धिको प्राप्त होवो, वह यज्ञ तुम्हें सब कामना देनेवाला होवे।' ऐसा जो कहा है उसका कारण यही है कि वह विश्वकी उत्पत्तिका केन्द्र है। संपूर्ण वेदोंमें 'यज्ञ' विषय ही कहा है, इसका भी कारण यह है कि यज्ञ सब विश्वका केन्द्र है, उस केन्द्रको जाननेके लिये सब उत्पन्न हुए हैं। अब अन्तिम प्रश्न देखिये—

प्रश्न— वाचः परमं व्योम पृच्छामि। (मं. १३)

उत्तर— अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम। (मं. १४)

'वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान कहां है? यह ब्रह्मा ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है।' आकाशका गुण शब्द है और शब्द आकाशसे उत्पन्न होता है। यहां केवल (**वाचः व्योमः**) वाणीका आकाश पूछा नहीं है, प्रत्युत (**वाचः परमं व्योम**) वाणीका परम आकाश पूछा है। आकाशका भी जो आकाश हो इसको परम आकाश कहना योग्य है। अग्निका अग्नि, वायुका वायु, और आकाशका आकाश वह परमात्मा ही है। देवका भी देव वही है। उस आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।
(तै. उ. २।१।१)

'उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ है' और उस आकाशसे शब्द उत्पन्न होता है। अतः शब्दके आकाशका जो उत्पत्तिस्थान है उसका नाम 'परम व्योम' है। यह वाणीका मूल उत्पत्तिस्थान और परम आकाश परमात्मा है। इसीलिये कहते हैं कि वेद परमात्माका निश्वसित है, अर्थात् उसीका यह शब्द है। इसी तरह सामान्य शब्द भी आत्माका शब्द है और यही ब्रह्मा वाणीका परम आकाश है। आत्मा बुद्धिसे मिलकर बोलनेकी कामना करता है, व मनको प्रेरणा करता है, मन शारीरिक उष्णताको हिलाता है, वह अग्नि वायुको चलाता है, वह छातीसे मुखमें आकर स्थानोंमें आघात करता हुआ अनेक शब्द उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मासे शब्द उत्पन्न होता है। इसलिये यहां ब्रह्माको शब्दका महा आकाश कहा है। यह बात स्मरणमें रखना चाहिये और शब्दमें आत्माकी शक्ति है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्माकी

शक्ति क्षीण नहीं करनी चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि—

न विजानामि यत् इव इद अस्मि। (मं. १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं, परंतु मैं कैसा हूं? किसके समान हूं? मेरा गुण धर्म क्या है? मेरा स्वरूप क्या है? इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित् कोई जानता है। इसीलिये इस आत्माके लिए अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है उस समय वह—

निण्यः संनद्धः। (मं. १५)

" अन्दर गुप्त और बंधा हुआ रहता है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्माकी स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माका बंधन कैसा है? इसकी मुक्ति कैसे हो सकती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है? यह विषय तत्वज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धमें इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा आगन्। आत् इत् अस्या वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं. १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका-देववाणीका-भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वरका साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका अमृत्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके बिना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह ' मर्त्य और अमर्त्य ' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता। अन्यं निचिक्युः। अन्यं न निचिक्युः॥ (मं. १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं। इनमेंसे लोग एकको जानते हैं, परंतु दूसरेका ज्ञान नहीं होता। " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं। मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है, जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ है।

जगत्‌की रचना।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलाकर इस जगतकी रचना हुई है। इस विषयमें अगले ही मंत्रमें इस तरह कहा है—

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति। (मं. १७)

" सब सृष्टिके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं। " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं। इन सात तत्वोंको जानना तथा आत्माको जानना इतना ही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है। इस ज्ञानके बिना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता। ऐसे—

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति। (मं. १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचारसे विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं। " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं। सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं। यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है। इस ज्ञानका महत्व यह है कि—

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः। (मं. १८)

' ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं। " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है। एक वेदमंत्रके ज्ञान होनेका मतलब इतने देवताओंका ज्ञान होना है। वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष देवताओंका ही ज्ञान है। अग्निमंत्रसे अग्निविद्या, वायुके मंत्रोंसे वायुविद्या, इसी प्रकार अन्यान्य मंत्रोंसे अन्यान्य देवताओंकी विद्या जानी जाती है। यह विद्या जिस प्रकार प्राकृतिक पदार्थोंका ज्ञान देती है उसी प्रकार आत्माका भी ज्ञान देती है। अग्नि, वायु, रवि, इन्द्र आदि शब्दोंसे एक सत्य आत्माका बोध होता है, यह बात इसी सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है। वह अत्यंत महत्वका मंत्र यह है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (म २८)

" एक ही सत्य आत्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक प्रकारसे करते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि नाम वे देते हैं। " अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम एक आत्माके हैं, प्रत्येक नामसे व्यक्त होनेवाला गुण उसमें है, वह शत्रुनाशक होनेसे इन्द्र, सबका हितचिन्तक होनेसे मित्र, सबसे वरिष्ठ होनेसे वरुण, गतिमान् होनेसे अग्नि, द्युस्थानमें होनेसे दिव्य, उत्तम पूर्ण होनेसे सुपर्ण, श्रेष्ठ होनेसे गरुत्मान्, एक अद्वितीय होनेसे एक, तीनों कालोंमें सत्य होनेसे सत्, सबका नियामक होनेसे यम, अन्तरालमें रहनेसे मातरिश्वा कहा जाता है। उसी एकके ये अनेक नाम हैं। और वेदमन्त्रमें उस सत्य आत्माकी विद्या इस तरह है।

इसके साथ-साथ ये नाम अग्नि, वायु आदि भौतिक पदार्थोंके भी वाचक हैं, इसलिये इन देवताओंके नामोंसे और मंत्रोंसे इन पदार्थोंका भी ज्ञान होता है। इस तरह इन्हीं मंत्रोंसे इन देवोंकी विद्या, भूत विद्या, और प्राकृतिक विज्ञानका प्राप्त होना संभव है। अतः कहा है कि वेदमन्त्रोंके अक्षरोंमें देव उपस्थित हैं, वहां देवोंका ज्ञान रूपसे उपस्थिति समझना योग्य है।

यः तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति ? (मं १८)

" जो इस विद्याको नहीं जानता वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा ? " अर्थात् केवल कंठ करना, अथवा केवल शब्दका अर्थ जानना व्यर्थ है। अब पाठकको मंत्रवर्णित देवताका साक्षात्कार यथावत् हो जाये तभी मन्त्रका ठीक ठीक अर्थ विदित हो सकता है। भौतिक देवताके साक्षात्कार होनेपर भूतविद्या समझमें आ जाती है और आत्माके साक्षात्कार होनेपर आत्मविद्या समझमें आ जाती है। ज्ञानीकी योग्यता श्रेष्ठ है वह ऐसे साक्षात्कार हुए ज्ञानीकी है, न कि केवल शब्दशास्त्री की। अतः कहा है—

ये इत् तत् विदुः, ते इमे समासते (म. १८)

" जो ज्ञानी पूर्वोक्त विद्याको यथावत् जानते हैं वे ही श्रेष्ठ स्थानमें विराजमान हो सकते हैं। सुखात्मक उत्तम या परम स्थानको प्राप्त हो सकते हैं। सत्य ज्ञानका इतना महत्व है। इसी विषयमें यह मंत्र अब देखिये—

अर्धर्चेन एजत विश्वं चाक्लृपुः (मं १९)

" *आधे मंत्र मात्रसे चेतन आत्मा और सब जगत् समर्थ बन सकता है।* " आधे मंत्रका ठीक ठीक ज्ञान होनेसे आत्मा भी बलवान् होता है और जगतके पदार्थ भी सामर्थ्यवान् होते हैं। आधे मंत्रमें यदि इतना विलक्षण ज्ञान है तो सूक्तमें और अनुवाकमें कितना ज्ञान होगा और वह मनुष्यका कैसे उद्धार कर सकता है, इस विषयकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। इसीलिये वेदके ज्ञानका गौरव सर्वत्र आर्य शास्त्रोंमें किया है। परंतु यह ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये, वेदकी परंपरासे मिलना चाहिये और उससे मनन द्वारा वह आत्मसात् होना चाहिये और अन्तमें देवताका साक्षात्कार होना चाहिये। साक्षात्कारके पश्चात् उस ज्ञानसे पूर्वोक्त लाभ हो सकता है, केवल शब्दज्ञानसे नहीं। सारांशरूपसे जानना हो तो इतनी बात पाठक ध्यानमें धारण करें—

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे, तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्रः । (मं. १९)

' त्रिपाद ब्रह्म विविध रूपसे जगत्में विशेष रीतिसे ठहरा हुआ है, और इसके जीवनसे चारों दिशाओंमें रहनेवाले पदार्थ जीवित रहते हैं। ' यह ब्रह्म अथवा परमात्मा सर्व पदार्थोंके अन्दर व्यापक है और उसकी अगाध शक्तिसे यह सब जगत् जीवित रह रहा है। यदि उस ब्रह्मकी शक्ति इस जगत्को आधार न दे, तो इस जगत्मेंसे कोई पदार्थ जीवित नहीं रहेगा। सबका जीवनाधार वही श्रेष्ठ ब्रह्म है।

जगत्का चक्र ।

जगत्का चक्र किस तरह घूमता है यह बतलानेके लिये बाईसवें मन्त्रमें वृष्टिका उदाहरण दिया है, पृथ्वीपरके पानीकी भाप सूर्यकिरणोंसे होकर ऊपर जाती है, वहां उसके मेघ बनते हैं और योग्य समयमें वृष्टि होकर पृथ्वीपर जल होता है, फिर भाप, मेघ और वृष्टि ऐसा यह चक्र सनातन रूपसे चल रहा है। इसी प्रकार अनेक चक्र हैं और उनमें जगचक्र भी एक है। पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय और लयके पश्चात् फिर उत्पत्ति इस प्रकार यह जगचक्र चल रहा है। चक्रका एक बिन्दु एक समय ऊपर होता और दूसरे समय वही नीचे आता है इसी प्रकार जिसका जन्म होता है वही योग्य कालमें युवा होता है, और पश्चात् नाशको प्राप्त होता है और पश्चात् नवीन बनता है। इस तरह जगत्के सब चक्र चल रहे हैं। प्रवाहसे जगत् सनातन किंवा अनादि अनन्त है, ऐसा जो कहते हैं उसका कारण यही है, परंतु प्रत्येक पदार्थकी दृष्टिसे देखा जाय तो जगत् उत्पत्तिवाला और नाशवान् है। मनुष्य व्यक्तिशः मरता है तथापि मानव समाज अनादि कालसे चला आता है और भविष्यमें भी रहेगा। इसी तरह जगत्के विषयमें जानना योग्य है।

इस जगत्में एक और विलक्षण बात है, वह यह है कि—

पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति । (म. २३)

'पांवरहित होता हुआ भी पांववालोंके पहिले दौडता है।' वस्तुतः पांववालेकी दौड तेज होनी चाहिए, परंतु यहां पांववाला चलनेमें असमर्थ है और पांवरहित दौड लगाता है, इतना ही नहीं, प्रत्युत पांववालेको हा यह पांवरहित चलाता है। यहां अपने शरीरमें ही देखिय, शरीरके पांव हैं परंतु वह शरीर स्वय चल नहीं सकता और आत्माके पांव नहीं हैं परंतु वह इस पांववाले शरीरको चला सकता है, कितना यह आश्चर्य है। इसीलिये एक सुभाषितमें कहा है—

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरीन् ।

'मूक शरीरको यह आत्मा वाचाल करता है और पंगुको पहाडोंकी सैर कराता है।' ऐसी अद्भुत शक्ति इस आत्मामें है। इस बातको यथावत्—

क तत् चिकेत ? (म २३)

'कौन जानता है?' बहुत लोग तो शब्दोंसे जानते हैं, परंतु साक्षात्कारके समान जानना कठिन है। यह ज्ञान यद्यपि हरएकको प्राप्त करना आवश्यक है, तथापि मनुष्य ऐसे भ्रमचक्रमें गोते खाते हैं कि उनमेंसे बहुत ही थोडे मनुष्य इस सत्य ज्ञानको यथावत् जान सकते हैं। इस आत्माकी शक्तिके विषयमें देखिये—

गर्भं अस्या भारं आभरति । (म २३)

'मध्यमें स्थित आत्मा-प्रत्येकका केन्द्र-इस प्रकृतिका सब भार उठाता है।' इस जड शरीरका भार वह चेतन आत्मा उठा रहा है। यही इस शरीरका कुदवाता है, दौडाता है, छलांगें मरवाता है, यह सब इस शरीरसे होना सर्वथा असंभव है, परंतु ये सब बातें इस शरीरसे हो रहीं हैं, ये इस आत्माकी शक्तिसे ही हो रहीं हैं। जडको चेतनवत् चलानेका कार्य करना यह इसकी अद्भुत शक्तिका द्योतक है। इतना करता हुआ यह आत्मा—

ऋतं पिपर्ति, अनृतं निपाति । (म. २३)

'सत्यकी पूर्णता करता है और असत्यको नीचे दबाता है।' जगत्में इसकी हलचल इसीलिये हो रही है कि सत्यकी विजय हो और असत्यकी विजय न हो, यही बात भगवद्गीतामें इस प्रकार कही है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(भ. गी. ४।८)

'सत्यमार्गियोंकी रक्षा करनेके लिये और असत्यमार्गियोंका नाश करनेके लिये अर्थात् सत्यधर्मकी स्थापनाके लिये आत्मा सत्य और असत्यके संयुग अर्थात् युद्धके समयमें प्रकट होता है।' सत्य और असत्यका युद्ध चल रहा है, वह हमेशा चलता रहता है। और यह आत्मा अपनी शक्ति इस प्रकारके युद्ध छिडनेपर सत्यकी रक्षा करनेके लिये प्रकट करता है। और अपनी शक्तिसे सत्यका रक्षा करता है, असत्यका नाश करता है और सत्य धर्मका संस्थापन करता है।

इसी आत्माका नाम विराट है और यह पृथ्वी, आप् आदि जगत्में जगद्रूप बना हुआ है और यह (**अधिराजः बभूव**) सबका राजाधिराज है। यही सबका ईश्वर है और इसके (**वशे भूतं भव्यं**) आधीन भूत, भविष्य और वर्तमानका संपूर्ण जगत् है। सब पर इसीका शासन चल रहा है। यही सबका एक ईश्वर है और इसीके शासनमें सब जगत् चल रहा है। यह प्रसन्न हो गया तो वह (**मे वशे भूतं भव्यं**) मुझ जैसे मनुष्यके वशमें भी भूत भविष्य वर्तमान करता है। उसकी कृपा होनेकी ही केवल आवश्यकता है। इसकी कृपा यज्ञीय जीवन करनेसे ही हो सकती है दूसरा कोई मार्ग नहीं है। पहिले समयमें यज्ञ इसी ईशकृपा संपादन करनेके लिये किये जाते थे (**त्रीणि धर्माणि प्रथमानि आसन्**) येही पहिले शुद्ध आत्माओंके धर्म थे। (**वीराः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त**) ये वीर लोग छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते थे। अर्थात् इन यज्ञकर्मोंसे छोटे उक्षाकी परिपक्वता होती है। यहां (**पृश्निं उक्षाणं**) छोटा उक्षा कौन है इसका विचार करना चाहिये। वेदमें अन्यत्र कहा है कि—

उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति । (ऋ १०।३१।८)
अभिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ॥
(ऋ. ५।८३।१)

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम् । अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमाविवेश ॥
(अथर्व ४।११।१)

'उक्षा द्युलोकका और पृथ्वीका भरण पोषण करता है। बडा भारी उक्षा अन्न देता हुआ सब भुवनोंका धारण पोषण करता है। अनड्वान् पृथ्वी, अन्तरिक्ष द्यु, सब दिशाओं, छ पृथ्वियों और सब भुवनोंका धारण पोषण करता है।' यहां उक्षा और अनड्वान् एक ही है यह सब जानते हैं। भाषामें इन शब्दोंका अर्थ 'बैल' है और इनका यौगिक अर्थ 'उठानेवाला, खींचनेवाला, शकट चलानेवाला' है। उक्त मन्त्रोंमें त्रिभुवनको चलानेवाला, सब भुवनोंको चलानेवाला, सबको

आधार उक्षा है ऐसा कहा है। इसलिए यहांका उक्षा या अनड्वान शब्द निश्चयसे बैलवाचक नहीं है।

उक्त ऋग्वेदके मन्त्रमें ' अग्रिय उक्षा ' शब्द है, इसका अर्थ ' बडा भाई उक्षा ' है। अर्थात् जो सब भुवनोंका आधार है वह बडा भाई उक्षा है। इससे सिद्ध होता है कि इस बडे भाई उक्षाका कोई दूसरा छोटा भाई उक्षा है। निःसंदेह ही इस छोटे भाईके वाचक ही यहां ' पृश्नि उक्षाणं ' ये शब्द हैं। पृश्निका अर्थ 'छोटा' है।

अग्रिय उक्षा। (१।८३।३)

पृश्निः उक्षा। अथर्व ९।१० (१५) ।२५

ये दो मंत्रोक्त शब्द स्पष्ट बता रहे हैं कि इनमेंसे एक बडा भाई और दूसरा छोटा भाई है। बडाभाई पहिलेसे परिपक्व है परंतु दूसरा भाई परिपक्व बननेवाला है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह परिपक्व होनेवाला वर्णन जीवात्माका है। परमात्मा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अत एव परिपक्व है और जीवात्मा अशुद्ध और अमुक्त होनेसे अपरिपक्वको परिपक्व बनाना होता है, यही कार्य वीर अर्थात् बलवान् लोग करते है, क्योंकि (**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।** कठ उ. १।२।२२) बलहीन मनुष्यसे इसके परिपक्व बनानेका अनुष्ठान नहीं हो सकता है। इस हेतुसे कहा है कि वीरलोग ही इस छोटेभाई उक्षाको परिपक्व बनानेका कार्य करते हैं। अर्थात् यह (**पृश्नि उक्षा**) छोटाभाई उक्षा, जीवात्मा है। दो सुपर्ण, दो उक्षा ये वर्णन जीवात्मा परमात्माके ही वाचक हैं। अस्तु। यहां छोटे उक्षा-जीवात्मा-के परिपक्व बनानेका साधन ' यज्ञ ' कहा है।

विषूवता आरात् शकमयं धूम अपश्यं (मं. २५)

" सर्वत्र दूर और समीप शक्तिमान् यज्ञाग्निका धूवां मैं देखता हूं। " और इस यज्ञाग्नि द्वारा ही वीर लोग इस छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते हैं। यज्ञसे ही इसकी परिपक्वता होती है। अग्निमें हवन करना यह यज्ञका उपलक्षण है। यज्ञका मुख्यार्थ ' देव पूजा, संगतिकरण और दान ' है। इस मुख्यार्थको लेकर और उपलक्षणको सूचक मानकर ही इसका अर्थ करना उचित है, कई लोग यहां ' उक्षा, धूम और पचन्ति शब्द देखकर प्राचीन लोग बैलको अग्निपर पकाते थे, ऐसा भाव निकालते हैं। परतु यहां किसीको ऐसा संदेह न हो इसलिये इस मत्रका इतना स्पष्टीकरण करना पडा है। आशा है कि इस स्पष्टीकरणसे किसी वाचकके मनमें इस विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

किरणवाले तीन देव।

(**त्रयः केशिनः**) किरणवाले अर्थात् प्रकाशमान तीन देव हैं। ये तीनों देव (**ऋतुथा विचक्षते**) ऋतुके अनुसार प्रकाशते हैं। यहां इस प्रकारके कई देवोंके गण हैं, पहिला सूर्य गण है, इसमें सूर्य, विद्युत् और अग्नि ये तीन देव क्रमशः द्यु अन्तरिक्ष और भू स्थानमें हैं। तीनों प्रकाशमान होनेसे ' केशी ' अर्थात किरणोंसे युक्त किंवा बालोंवाले हैं।

(**एकः वपते संवत्सरे वपते**) इनमेंसे एक वर्षमें एक बार अन्नादिका बीजारोपण करता है, सूर्यके कारण वर्षमें एक बार भूमिमें बीजक्षेप करके धन्य उत्पन्न होता है। (**अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे**) दूसरा तेजस्वी देव अपने किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है यह अग्नि अपने तेजसे रात्रीके समयमें भी जगत्में प्रकाश करता है। तीसरा देव विद्युत् है (**एकस्य ध्राजिः ददृशे**) उसकी गति दिखाई देती है परंतु (**न रूपं**) उसका रूप नहीं दीखता, क्योंकि यह क्षणमात्र प्रकाशता है और पश्चात् किस स्थानपर जाता है इसका पता भी नहीं लगता। यन्त्रद्वारा दीप आदि जलानेका कार्य करनेवाली बिजली भी दिखाई नहीं देती, परतु उसका वेग अनुभवमें आता है।

इसी प्रकार अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन देव उक्त तीन स्थानोंमें हैं जिनमें वायुका नहीं दीखता है और अन्य देव दीखते हैं। शरीरमें भी वाणी, प्राण और नेत्र हैं जिनमेंसे प्राण मध्यस्थानीय देव नहीं दीखता, परतु वेगसे अनुभूत होता है। इस प्रकार तीन तीन देवोंके अनेक गण हैं। पाठक इस प्रकार विचार करेंगे तो उनको इन गणोंका ज्ञान होगा। यहां स्मरण रखना चाहिये कि ये तीन यद्यपि स्थूल दृष्टिसे विभिन्न प्रतीत होते हैं तथापि एकके ही ये तीन रूप हैं।

चतुष्पाद गौ।

" गौ " का अर्थ ' वाणी ' है। यह वाक् चतुष्पाद अर्थात् चार पादवाली है। (**वाक् चत्वारि पदानि परिमिता**) नाभि, उर और कण्ठमें तीन पाद गुप्त हैं और मुखमें जो चतुर्थ पाद है वह व्यक्त है। इस प्रकार ये वाणीके चार पाद हैं। इन चार पादों अर्थात स्थानोंमें यह वाणी उत्पन्न होती है, परतु ये वाणीके स्थान साधारण मनुष्य जान नहीं सकते, क्योंकि इन्हें योगी ही ध्यान धारणासे जान सकते हैं। ये (**मनीषिणः ब्राह्मणाः विदुः**) ज्ञानी ब्रह्मको जाननेवाले ही इस बातको जान सकते हैं। अर्थात वाणीकी उत्पत्तिका इस प्रकार विचार करनेसे मनुष्य आत्मा तक पहुंच सकता है।

पाठक इस तरह मनन करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

एक वृक्षपर दो सुपर्ण।

(काण्ड ९, सूक्त ९)

(ऋषि — ब्रह्मा। देवता — वाम, अध्यात्म, आदित्य, ।)

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ॥ ३ ॥
को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥

अर्थ— **(तस्य अस्य वामस्य पलितस्य)** उस इस सुंदर अति वृद्ध **(होतुः)** दान कर्ताका **(मध्यम भ्राता)** बीचका भाई **(अश्न अस्ति)** बडा खानेवाला है। **(अस्य तृतीय भ्राता)** इसका तीसरा भाई अपने **(घृतपृष्ठ)** पृष्ठ भागपर पुष्टिकारक घी रखता है। **(अत्र)** यहाँ मैंने **(सप्तपुत्र विश्पतिं अपश्य)** सात पुत्रोंवाले प्रजापालकको देखा है ॥ १ ॥ (ऋ १।१६४।१)

(एकचक्र रथ सप्त युंजन्ति) एक चक्रवाले रथमें सात घोडे जोते जाते हैं, **(सप्तनामा एक अश्वः वहति)** सात नामवाला एक घोडा उसको खींचता है। इसका **(त्रिनाभि अजर अनर्व चक्र)** तीन केंद्रोंवाला जरारहित और नाश रहित यह चक्र **(यत्र)** जिसमें **(इमा विश्वा भुवना)** ये सब भुवन **(अधि तस्थु)** ठहरे हुए हैं ॥२॥ (ऋ १।१६४।२)

(इम सप्तचक्र रथ) इस सात चक्रोंवाले रथके ऊपर **(ये सप्त अधि तस्थुः)** जो सात रहते हैं उसको **(सप्त अश्वाः वहन्ति)** सात घोडे खींचते हैं। **(सप्त स्वसार)** सात बहिनें **(अभि स नवन्ते)** जिसके साथ रहती हैं। **(यत्र)** और जहां **(गवां सप्त नामा निहिता)** गौओंके सात यश रहते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ १।१६४।३)

(प्रथम जायमान) पहिले प्रकट होनेवालेको **(कः ददर्श)** किसने देखा है? **(यत् अनस्था अस्थन्वन्त बिभर्ति)** जो स्वयं हड्डी रहित होते हुए भी हड्डीवालेको धारण करता है। **(भूम्या असुः असृक आत्मा क स्वित्)** इस मिट्टीके अन्दर प्राण रक्त और आत्मा कहां भला रहते हैं? **(क विद्वांस)** कौनसा मनुष्य किस ज्ञानीके पास **(एतत् प्रष्टु उपगात्)** यह पूछनेके लिए गया? ॥ ४ ॥ (ऋ १।१६४।४)

भावार्थ— इस अलौकिक सुंदर दाता पुराण पुरुषका बीचका भाई भोक्ता जीवात्मा है और इसका एक तीसरा भाई भी है जो अपनी पीठपर घृतादि पोषक पदार्थ धारण करता है यही संसार है। इसी स्थानपर सब प्रजाओंका पालनहारा एक देव है जिसके सात पुत्र हैं ॥ १ ॥

इस एकचक्रवाले रथमें सात घोडे जोते हैं, परंतु वस्तुत सात नामोंवाला एक ही घोडा इस रथको खींचता है। इसी तीन केंद्रोंवाले जरारहित अविनाशी चक्रमें ये संपूर्ण भुवन रह रहे हैं ॥ २ ॥

इन सातचक्रोंसे युक्त रथके ऊपर सात वीर खडे हुए हैं इस रथको सात घोडे खींच रहे हैं। इस रथपर सात बहिनें भी उनके साथ रही हैं जहां गौओंके साथ उनके सात यश भी विराजमान हैं ॥ ३ ॥

सबसे प्रथम प्रकट होनेके समय इस आत्माको किसने देखा है? यहां तो हड्डीवाले शरीरको हड्डीरहित आत्मा धारण करता है। इस पार्थिव शरीरमें प्राण, रक्त और आत्मा-मन-कहां रहता है? मनुष्य किस विद्वान्से इसके विषयमें पूछनेके लिए आता है ॥ ४ ॥

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥
पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥
अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ७ ॥
माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अंग) प्रिय मनुष्य ! (यः अस्य वामस्य वेः) जो इस प्रिय सुपर्णके (निहित पदं वेद) रखे हुए पदको जानता है, वह आकर (इह ब्रवीतु) यहां कहे । (गावः अस्य शीर्ष्णः) गौवें, किरणें, इसके शिरोभागसे (क्षीरं दुह्रते) दूध, अमृत दुहती हैं, व (वव्रिं वसानाः) रूपको धारण करती हुई (पदा उदकं अपुः) अपने पदसे जलका पान करती हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. १।१६४।७)

(पाकः) परिपक्व होनेवाला और (मनसा अविजानन्) मनसे न जाननेवाला मैं (देवानां एना निहिता पदानि) देवताओंके इन रखे हुए पदोंके विषयमें (पृच्छामि) पूछता हूं । (कवयः) कवि लोगोंने (बष्कये वत्से अधि) बडे हुये बछडेके ऊपर (ओतवै उ) बुननेके लिए (सप्त तन्तून् वि तत्निरे) सात तन्तुओंको फैलाया है ॥ ६ ॥ (ऋ. १।१६४।५)

(अचिकित्वान्, न विद्वान् चित्) अज्ञानी और विद्या न जाननेवाला मैं *(चिकितुषः विद्मनः कवीन् चित्)* ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे ही *(पृच्छामि)* पूछता हूं । *(यः इमा षट् रजांसि तस्तम्भ)* जो इन छः लोकोंको आधार देता है, उस *(अजस्य रूपे)* अजन्माके रूपमें *(किं अपि एक स्वित्)* एक कौनसा तत्त्व है ? ॥ ७ ॥ (ऋ. १।१६४।६)

(माता पितरं ऋते आबभाज) माता बालकके पिताको अर्थात् अपने पतिको सत्यधर्ममें भाग देती है । (अग्रे धीती) प्रारंभमें बुद्धिसे और (मनसा) मनसे वह (हि सं जग्मे) निश्चयपूर्वक संगति करती है । (सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा) वह भरण करनेवाली अपने बीच रस धारण करनेवाली सिद्ध हुई है । जो (नमस्वन्तः इत् उपवाकं ईयुः) नमस्कार करनेवाले भक्त निश्चयसे उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८ ॥ (ऋ. १।१६४।८)

भावार्थ— हे प्रिय शिष्य ! जो इस परम रमणीय सुपर्ण-आत्माका परम पद यथावत् जानता है, वही इस विषयमें उपदेश करे । इसी आत्माके मुख्य भागसे संपूर्ण गौवोंमें अमृत जैसा दूध आता है, उन गौवोंमें जलपान करके लोगोंको सुंदर रूप और रस देनेका सामर्थ्य है ॥ ५ ॥

हे गुरुजी ! मैं परिपक्व नहीं हूं और मनसे भी कुछ जानता नहीं । इसलिए आपसे देवोंके रखे हुए पदोंके विषयमें पूछता हूं । आप इस विषयमें कहिए । कवि लोग जो सात धागे वस्त्र बुननेके लिये बछडेके ऊपर फैलाते हैं, उनका क्या आशय है ? ॥ ६ ॥

मैं अज्ञानी और निर्बुद्ध सा हूं अतः आप जैसे ज्ञानी और सुबुद्धसे प्रश्न कर रहा हूं । जिसने ये छः लोक धारण किए हैं, उस अजन्मा आत्माका एक सत्य स्वरूप कौनसा है ? ॥ ७ ॥

माता प्रकृति परमात्मारूपी पिताको सत्यधर्मका भाग समर्पण करती है, अर्थात् सत्यधर्म उसीका है ऐसा दर्शाती है । सबसे पहिले बुद्धि, कर्म और विचारशक्तिका संगतीकरण हुआ, जिससे इसकी रचना हुई है । यह प्रकृति सबका पोषण करनेमें समर्थ है, उसीमें सब प्रकारके उत्तम पोषक रस हैं । जो भक्त नमस्कारपूर्वक इसकी भक्ति करते हैं, वे निश्चय पूर्वक इनकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥ ८ ॥

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥
तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥ १० ॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ॥ ११ ॥
पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥

अर्थ— (**दक्षिणायाः धुरि माता युक्ता आसीत्**) दक्षिणाकी धुरामें माता जोती गई थी, तथा उसका (**गर्भः वृजनीषु अन्त-अतिष्ठत्**) बछडा अपनी शक्तियोंमें था। (**वत्सः गां अनु अमीमेत्**) बछडा गौको देखकर जाता है और (**त्रिषु योजनेषु**) तीनों योजनाओंमें (**विश्वरूप्य अपश्यत्**) संपूर्ण रूपोंको देखता है ॥ ९ ॥ (ऋ. १।१६४।९)

(**एकः तिस्रः मातॄः**) अकेला तीन माताओंको और (**त्रीन् पितॄन्**) तीन पिताओंको (**बिभ्रत्**) धारण करता हुआ (**ऊर्ध्वः तस्थौ**) सीधा खडा है। वे (**न ईं अव ग्लापयन्त**) इसको ग्लानीको प्राप्त नहीं होने देते। (**अमुष्य दिवः पृष्ठे**) उस द्युलोककी पीठपर विराजमान होकर (**विश्वविदः**) सर्वज्ञ लोग (**अ-विश्व-विन्नां वाचं मन्त्रयन्ते**) सबको न समझनेवाले गूढ वचनका मनन करते हैं ॥ १० ॥ (ऋ. १।१६४।१०)

(**यस्मिन् परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे**) जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें (**विश्वा भुवनानि आतस्थुः**) सब भुवन ठहरे हुए हैं। (**तस्य भूरिभारः अक्षः न तप्यते**) उस चक्रका बहुत भारवाला अक्षदण्ड नहीं तपता और (**सनात् एव सनाभिः न छिद्यते**) चिरकालसे केन्द्रस्थान होनेपर भी छिन्नभिन्न नहीं होता है ॥ ११ ॥ (ऋ. १।१६४।१३)

(**पञ्चपादं द्वादशाकृतिं पितरं**) पांच पांववाला और बारह आकारवाला पिता (**दिवः परे अर्धे पुरीषिणं आहुः**) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं। (**अथ इमे अन्य आहुः**) और ये दूसरे कहते हैं कि वह (**उपरे विचक्षणे**) अति विलक्षण (**सप्तचक्रे षडरे आर्पितं**) सात चक्रोंवाले और छः आरोंवाले रथमें रह रहा है ॥ १२ ॥ (ऋ. १।१६४।१२)

भावार्थ— माता इस यज्ञरूप रथमें प्रमुख स्थानमें जोती गई है। उसके गर्भका धारण अनेक शक्तियोंसे होता है। जब वह जन्मता है, तो गौके पीछे पीछे चलता है। और बढकर पूर्वोक्त तीन केन्द्रोंमें सब विश्वके रूपको देखता है ॥ ९ ॥

अकेला एक अपनी तीनों माताओंको और तीनों पिताओंको धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। इसको कोई ग्लानि नहीं उत्पन्न कर सकता। अन्तमें इसको इस बातका ज्ञान होता है कि द्युलोकके ऊपर सर्वज्ञ लोग गुप्त मंत्रोंका विचार करते हैं ॥ १० ॥

जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन ठहरे हुए हैं, उसका बहुत भारवाला अक्षदण्ड सतत घूमता हुआ भी नहीं तपता और चिरकालसे चक्रकी नाभिमें घूमता हुआ भी नहीं टूटता ॥ ११ ॥

पिताके पांच पांव हैं, उसके बारह रूप हैं, और वह द्युलोकके परले आधे भागमें रहता है, एक प्रकारके लोग उसका इस प्रकारका वर्णन करते हैं, परंतु कई दूसरे ज्ञानी उसीका ऐसा वर्णन करते हैं कि वह अतिविलक्षण छः आरोंवाले सात चक्रोंमें रहता है ॥ १२ ॥

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥
साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १६ ॥

अर्थ— (**द्वादशार तत् चक्र**) बारह आरोंवाला चक्र (**नहि जराय**) जीर्ण नहीं होता, वह (**ऋतस्य द्यां परि वर्वर्ति**) सत्यके द्युलोकके ऊपर घूमता है। हे (**अग्ने**) अग्ने! (**अत्र सप्त शतानि विंशतिः च**) यहां सात सौ बीस (**मिथुनासः पुत्राः आ तस्थुः**) जुडे हुए पुत्र ठहरे हुए हैं ॥ १३ ॥ (ऋ १।१६४।११)

(**सनेमि अजर चक्रं**) परिघवाला अविनाशी चक्र (**वि-वावृते**) विशेष रीतिसे घूम रहा है। (**उत्तानायां दश युक्ताः वहन्ति**) तनी हुई धुराको दश जोडे हुए खींचते हैं। (**सूर्यस्य रजसा आवृतं चक्षुः**) सूर्यकी रजसे व्याप्त हुई आंख (**एति**) चलती है (**यस्मिन् विश्वा भुवना आतस्थु**) जिसमें सब भुवन रह रहे हैं ॥ १४ ॥ (ऋ १।१६४।१४)

(**स्त्रियः सतीः**) वे स्त्रियां होनेपर भी (**तान् उ पुंसः मे आहुः**) वे पुरुष हैं ऐसा मुझे कहा। यह बात (**अक्षण्वान् पश्यत्**) आँखवाला देखता है, परंतु (**अन्धः न विचेतद्**) अन्धा उसको नहीं जानता। (**यः कविः पुत्रः**) जो पुत्र कवि है (**स ईं आ चिकेत**) वह भली प्रकार इसको जानता है, (**य ताः विजानात्**) जो उनको जानता है (**सः पितुः पिता असत्**) वह पिताका भी पिता होता है ॥ १५ ॥ (ऋ १।१६४।१६)

(**साकंजानां सप्तथं एकजं आहुः**) साथ जन्मे हुओंमें सातवां एक ही जन्मा है ऐसा कहते हैं। (**षट् इत् यमाः**) जो छः निश्चयसे जुडे हैं, वे (**देवजाः ऋषयः इति**) देवोंसे उत्पन्न ऋषि हैं। (**तेषां धामशः**) उनके लिए स्थानसे (**इष्टानि विहितानि** इष्ट बातें बनाई हैं। (**स्थात्रे रूपशः विकृतानि रेजन्ते**) ठहरनेवाले एकके लिए आकारसे विकृत होकर कांपते हैं ॥ १६ ॥ (ऋ. १।१६४।१५)

भावार्थ— बारह आरोंवाला वह चक्र कभी क्षीण नहीं होता है, वह सत्यमय द्युलोकमें बारबार घूमता है। इसमें सातसौ बीस जुडवें भाई उसके पुत्र विराजमान हैं ॥ १३ ॥

यह परिघवाला नाशरहित चक्र बारबार घूमता है। इस रथकी तनी हुई महती धुरामें जुते हुए दस घोडे इस रथको खींचते हैं। जिससे संपूर्ण भुवन ठहरे हुए हैं, वह सूर्यका चक्षु रजसे व्याप्त है ॥ १४ ॥

वस्तुत स्त्रियां होनेपर भी उनको पुरुष कहते हैं। जिसकी आंखें अच्छी होंगी वही देख सकता है, अन्धेको यह नहीं दीखता। इनमेंसे जो कवि होगा वही सत्य बातको जान सकेगा, और जो जानता है वही पिताका भी पिता बन जाता है ॥ १५ ॥

एक साथ सात उत्पन्न हुए हैं, उनमें एक ऐसा है कि जो अकेला जन्मा है। इनमें छ जुडवें हैं, उनको देवताओंसे उत्पन्न ऋषि कहा जाता है। उनका स्थानस्थानसे इष्ट करना योग्य है। एक जो सदा रहनेवाला है उसके लिए आकारसे बनाये विविध पदार्थ कंप उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ १७ ॥

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥

अर्थ— (एना गौः) यह गाय (अवः परेण) निम्न स्थानके दूरके पदसे और (परः अवरेण) परलेके पासवाले (पदा) पदसे (वत्सं बिभ्रती) बछडेको धारण करती हुई (उत् अस्थात्) ऊपर उठती है । (सा कद्रीची) वह कहांसे आती है और (कं स्वित् अर्धं परा अगात्) किस अर्ध भागके पास जाती है ? वह (क स्वित् सूते) कहां प्रसूत होती है ? (अस्मिन् यूथे न) इस संघमें तो नहीं होती ॥ १७ ॥ (ऋ. १।१६४।१७)

(परेण अवः अस्य पितरं) ऊपरसे नीचे तक इसके पिताको (य. वेद) जो जानता है तथा (परेण अवः एना अवरेण पर.) ऊपरसे नीचेतक इसको नीचेसे ऊपरतक जो जानता है, (कवीयमानः कः इह प्रवोचत्) कविके समान आचरण करनेवाला कौन यहां कहेगा ? (देवं मनः कुतः अधिजातं) दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ! ॥ १८ ॥ (ऋ. १।१६४।१८)

(ये अर्वाञ्चः) जो यहांके हैं (तान् उ पराचः आहुः) उनको दूरका कहा जाता है तथा (ये पराञ्च तान् उ) जो दूरके हैं उनको (अर्वाचः आहु) समीपका कहा जाता है । हे (सोम) सोम ! तू और (इन्द्रः च) इन्द्र (या चक्रथुः) जिनकी रचना करते हैं, (तानि) उनको (धुरा युक्ता न) धुरामें जोडे हुओंके समान (रजसः वहन्ति) लोकोंमें खींचते हैं ॥ १९ ॥ (ऋ. १।१६४।१९)

(द्वा सुपर्णा) दो उत्तम पंखवाले पक्षी (सयुजा सखाया) साथ रहनेवाले मित्र हैं, वे (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) एक ही वृक्षपर मिलकर रहते हैं । (तयोः अन्यः) उनमेंसे एक (स्वादु पिप्पलं अत्ति) मीठा फल खाता है, (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाता हुआ (अभि चाकशीति) चमकता है ॥ २० ॥ (ऋ १।१६४।२०)

भावार्थ— यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासके पदसे दूरवाले बच्चेका धारण पोषण करती है । यह कहांसे आई, किस आधे भागमें पास पहुंचती है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिए । वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ १७ ॥

दूरसे पास तक इसके पिताको जो जानता है वह सबको नीचेसे ऊपर तक और ऊपरसे नीचे तक जानता है । कौन कवि इसको जानकर यहां आकर कहेगा ? हमारा दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥

जो यहांके होते हैं, इनको दूरके हैं ऐसा कहते हैं, और जो दूरके होते हैं उनको समीपके हैं, ऐसा मानते हैं । सोम और इन्द्र यहांकी सब रचना करते हैं, ये सब इस विश्वकी धुरामें जुट कर संपूर्ण लोकोंको चलाते हैं ॥ १९ ॥

दो आत्मा हैं, वे साथ रहनेवाले परस्परके परम मित्र हैं । ये दोनों संसाररूपी वृक्षपर मिल जुलकर रहते हैं । इनमेंसे एक इस संसारवृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा भोग न करता हुआ केवल चमकता रहता है ॥ २० ॥

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २१ ॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ २२ ॥

अर्थ— (यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्षपर (मध्वदः सुपर्णा) मधुर रस खानेवाले पक्षी (निविशन्ते) निवास करते हैं, और (*विश्वे अधि सुवते*) सब सतान उत्पन्न करते हैं, (तस्य यत् अग्रे स्वादु पिप्पलं आहुः) उसका जो प्रारभमें माठा फल है ऐसा कहते हैं, (तत् न उत् नशत्) वह उसको नहीं मिलता, (यः पितरं न वेद) जो पिताको नहीं जानता ॥ २१ ॥ (ऋ १।१६४।२२)

(सुपर्णाः) ये पक्षी (यत्र अमृतस्य भक्षं) जहां अमृतका अन्न (विदथाभिः अनिमेषं अभिस्वरन्ति) ज्ञान पूर्वक विश्राम न लेते हुए एकस्वरसे प्राप्त करते हैं, (एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः) वह सब भुवनोंका रक्षक (सः धीरः) वह धैर्यशाली (अत्र मा पाकं आविवेश) यहां मुझ परिपक्व होनेवालेमें प्रविष्ट होता है ॥ २२ ॥

(ऋ. १।१६४।२१)

भावार्थ— इस संसाररूपी वृक्षका मीठा फल खानेवाले अनंत आत्मारूपी पक्षी निवास करते हैं। ये सब यहां सतान उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे जो अपने पिताको नहीं जानता उसके सामनेका मीठा फल भी उनको नहीं मिलता ॥ २१ ॥

ये सब आत्मारूपी अनंत पक्षी अमृतरूप फल खानेकी इच्छासे विश्राम न लेते हुए ज्ञानपूर्वक पुकारते हैं। संपूर्ण भुवनोंका रक्षक वह धैर्यशाली परमात्मा इस जगत्में मुझ जैसे अपरिपक्वमें अर्थात् प्रत्येक प्राणीमें प्रविष्ट हुआ है ॥ २२ ॥

एक वृक्षपर दो सुपर्ण।

जीवात्मा, परमात्मा और संसार।

इस सूक्तमें अध्यात्मविद्याका उत्तम विचार हुआ है। ऋग्वेद (*१।१६४ स्थानपर*) यही सूक्त है। वहां इस सूक्तके ५२ मन्त्र हैं, ऋग्वेदके एक ही सूक्तके दो भाग करके अथर्ववेद कां ९ के नवम और दशम ये दो सूक्त बने हैं। नवम सूक्तके २२ मंत्र हैं और दशम सूक्तके २८ मन्त्र हैं। इन दोनों सूक्तोंके ५० मन्त्र होते हैं। *पूर्वोक्त ऋग्वेद १।१६४ के ५२ मन्त्र हैं। कुछ पाठभेद, मन्त्रक्रम भेद और मंत्रोंकी न्यूनाधिकता* भी है। तथापि सर्वसाधारण रीतिसे ऐसा कह सकते हैं कि, इस ऋग्वेद सूक्तके अथर्ववेदके दो सूक्त बने हैं। अथर्ववेदमें ऋग्वेदके कई सूक्त हैं, उनमें यह भी एक सूक्त है।

ऋग्वेदके इस सूक्तके पहिले २२ मन्त्र कुछ थोडे क्रमभेदसे यहां हैं। और अगले मन्त्रोंका अगला सूक्त बना है। इस सूक्तमें जीवात्मा, परमात्मा, और संसारवृक्षका उत्तम वर्णन है। वेदका जो उत्तम विषय है वह यही है। जो ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या कही गई है वह ऐसे ही सूक्तोंमें कही है। यह *गुप्तविद्या है, इसीलिए आलंकारिक शब्दोंकी योजना द्वारा वह* अध्यात्मविद्या यहां कही है, स्पष्ट शब्दोंसे नहीं कही है। इसी कारण मन्त्रोंके शब्दोंसे स्पष्ट बोध नहीं होता, परंतु सूक्ष्म विचार करने पर ही बोध होने लगता है। इस सूक्तका विचार करनेके लिए अन्तिम मन्त्रोंका विचार सबसे प्रथम करना चाहिए, इसका कारण यह है कि इन तीन मन्त्रोंमें वक्तव्य बात अधिक स्पष्ट शब्दोंद्वारा व्यक्त की गई है। इसलिए इन तीन मंत्रोंका विचार हम यहां पर प्रथम करते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। (म. २०)

इस मंत्र भागका स्पष्ट अर्थ यह है कि " दो उत्तम पंख वाले पक्षी साथ साथ रहनेवाले और परस्परके मित्र हैं और वे

दोनों एक ही वृक्षपर एक दूसरेको आलिंगन देकर रहते हैं।" यहां जिन पक्षियोंका वर्णन है वे केवल दो ही नहीं हैं, परंतु अगले ही मंत्रमें कहा है कि (मध्वदः सुपर्णाः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी बहुत हैं, असंख्य हैं, अनंत हैं। यहां (मधु-अदः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं ऐसा कहा है, परंतु दूसरा पक्षी मीठा फल खानेका इच्छुक नहीं है और जो केवल इसका हमेशाका साथी है, वह (अभि-चाकशीति) प्रकाशता तो है, परंतु (अन्-अश्नन्) भोग नहीं करता। यह पक्षी एक ही है। इस संपूर्ण वृक्षपर भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं परंतु भोग न करनेवाला पक्षी एक ही है, तथापि यह एक होता हुआ भी, सब अन्य भोगी पक्षियोंको ऐसा प्रतीत होता रहता है कि यह हमारा (सयुज् सखा) साथी मित्र है। यह पक्षी एक होते हुए भी सबके साथ रहता और सबका प्यारा मित्र बना रहता है, यह बात कैसे बनती है, यह विचार करके ही समझना चाहिये।

यह वृक्ष 'संसार वृक्ष' ही है। इस संसार वृक्षपर बहुत फल लगते हैं, कई फल पकते हैं और कई कच्चे भी रहते हैं। इसी संसार वृक्षपर एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक होकर रहता है, इस संसार वृक्षकी हरएक शाखापर यह विराजमान है। यह संसार वृक्षका एक भी फल नहीं खाता, परंतु अपने तेजसे चमकता रहता है, क्योंकि इसके समान किसीका भी तेज नहीं है।

इसी संसारवृक्ष पर सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करनेवाले अनंत जीवात्मा रहते हैं, इनके विषयमें ऐसा वर्णन है—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते
सुवते चाधि विश्वे ॥ (मं. २१)

" इस संसार वृक्षपर मीठे फल खानेवाले अनंत पक्षी निवास करते हैं, यहां अपनी संतानवृद्धि करते हैं और सब इस वृक्षपर ही रहते हैं।" ये पक्षी निःसंदेह जीवात्मा ही हैं। क्योंकि यही जीवात्मा बारबार जन्म लेता है, सुखभोगकी लालसा धारण करता है, संसारमें रहता है और संतान उत्पन्न करता है। यही जीवात्मा—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभि
चाकशीति। (मं. २०)

" उनमेंसे एक मीठा फल खाता है, परंतु दूसरा फलभोग न करता हुआ केवल प्रकाशता है।" मीठा फल खानेवाला जीवात्मा है और फलभोग न करनेवाला परमात्मा है। इसका वर्णन वेदमें अन्यत्र इस तरह आया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न
कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो
रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ (अथर्व. १०।८।४४)

" भोगकी कामनारहित, धैर्यवान्, अमर, स्वयंभु, रससे तृप्त, कहीं भी न्यून नहीं, जरारहित तरुण इस परम आत्माको जानकर ही मृत्युका भय दूर होता है।" यह परमात्मा 'अकाम' होनेके कारण फलका भोग नहीं करता और इसका मित्र जीवात्मा सकाम होनेके कारण सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करता है। तथापि इसको सदा मीठे फल मिलते ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं। यह जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार इसको मीठे या कडुवे फल मिलते रहते हैं और जो मिलते हैं उनका भोग यह करता रहता है।

जीवात्मा और परमात्मा 'स-युज्' अर्थात् एक दूसरेके साथ रहते हैं, इनके मध्यमें कोई स्थानका अन्तर नहीं है। जिस स्थानमें एक है उसी स्थानमें उसके साथ दूसरा है। (मध्वदः सुपर्णाः) मीठा भोग करनेवाले ये जीव अनंत हैं, अनंत होनेके कारण इनका आकार अणु है, अर्थात् ये छोटे छोटे परिच्छिन्न हैं। परंतु परमात्मा प्रत्येकके साथ समानतया होनेके कारण विभु (न कुतश्चन ऊन.) सर्वत्र व्यापक और पूर्ण है। यह परमात्मा हरएकमें व्यापक है, देखिये इसका वर्णन—

एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः
पाकमत्रा विवेश। (मं. २१)

" यह संपूर्ण भुवनोंका रक्षक धैर्यशाली परमात्मा यहां मुझ जैसे अपरिपक्व जीवनमें भी प्रविष्ट हुआ है।" जैसा मुझमें है वैसा ही सबमें है। सर्व व्यापक होनेसे ही यह सबके साथ मिला जुला रह सकता है। इस तरह यह परमात्मा एक, सर्वव्यापक और सर्वत्र परिपूर्ण है, और जीवात्मा अनेक, परिच्छिन्न, अपूर्ण और भोगी है। अतः इनकी सदा इच्छा रहती है कि—

सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्व-
रन्ति। (मं. २२)

" ये जीवात्मा अमृतका भक्ष सदा प्राप्त करनेके लिये पुकारते रहते हैं।" यदि इन जीवात्माओंकी कोई पुकार है तो 'अमृत चाहिये' यही एक पुकार है, मुझे ऐसा अन्नभोग चाहिये कि जिससे मैं नीरोग होकर अमर बनूं सदा यही पुकार प्रत्येककी है। पाठक इस जगत्में देखेंगे तो प्रत्येक जीवकी यही पुकार है, यह बात प्रत्यक्ष हो जायगी। प्रत्येक मनुष्यकी अथवा प्रत्येक प्राणीकी यह पुकार है। और उसका प्रयत्न भी इसीलिये हो रहा है। मुझे सदा टिकनेवाला सुख मिल जावे, दुः-

लिये प्रयत्न होता है। सुखकी इसको इच्छा है और दुःखकी अनिच्छा है परंतु दुःख मिलता है और सुख दूर होता है, इससे भी स्पष्ट होता है कि इससे नियामक शक्ति कोई दूसरी है।

यह जीवात्मा परमात्माके साथ रहता है, उसके पास है, अत्यंत समीप है, जीवात्मा परमात्मा (परिषस्वजाते) आलिंगन देनेके समान रहते हैं अथवा (आविवेश) जीवात्मामें परमात्मा है, इतनी इसकी समीपता होनेपर भी यह जीवात्मा परमात्माको नहीं जानता। और परमात्माको अपने परम पिताको न जाननेके कारण इसका सुख दूर हो जाता है, इसी उद्देश्यसे यह बात कही है—

तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद। (मं २१)

" जो अपने पिताको नहीं जानता उसके पास मीठा फल हुआ तो भी वह उसके लिये नष्ट हो जाता है। ' हरएकके पास मीठा फल होता है, परंतु वह उसीको प्राप्त होता है कि जो अपने पिताको जानता है। जो नहीं जानता फल उसके पास होनेपर भी भोगनेको नहीं प्राप्त होता। जीवात्मा और परमात्माके इतने समीप होनेपर भी और परमात्मा जैसा हितकर्ता समर्थ मित्र बिलकुल साथ रहनेपर भी, यह जीव उस परम पिताको नहीं जानता और दुःख भोगता रहता है, इससे और ज्यादा शोककी बात कौनसी हो सकती है? जीवात्मा परमात्माको जान सकता है और जानकर परम सुख भी निश्चय पूर्वक प्राप्त कर सकता है, परंतु कितने ही जीवात्मा ऐसे हैं कि जो इस ज्ञानको प्राप्त करनेका यत्न तक नहीं करते और दुःख भोगते हुए संतप्त होते हैं। यह मनुष्य इतने समीप स्थितको नहीं जानता, परंतु इस सृष्टिमें दूर स्थित पदार्थोंको जाननेका यत्न करता है, ऐसी विपरीत इसकी बुद्धि है, देखिये—

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः। (मं. १९)

" जो पासके हैं वे इसको दूरके प्रतीत होते हैं और जो दूरके हैं वे ही इसको समीप दीखते हैं। यही मिथ्या ज्ञान इसके दुःखका कारण है। परमात्मा इतना समीपसे समीप होनेपर भी वह इसको अतिदूर प्रतीत होता है और जगत्‌के भोग अतिदूर होने पर भी इसको समीप होते हैं। इसलिये यह परमात्माको जाननेका यत्न नहीं करता और जागतिक भोग प्राप्त करनेमें दत्तचित्त होता है। परंतु इससे यह होता है कि अपने पिताको न जाननेके कारण इसको किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होता और बारबार दुःखके भवरमें पड़ता है। इसलिये—

अथ परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण। (मं १८)

" अपना पिता ऊपरसे नीचे तक है ऐसा जो जानता है " वही निःसंदेह सुखका भागी हो सकता है। परमपिता परमात्माकी शक्ति विशाल है, वह अपना साथी और सत्य मित्र है, वह मेरा साथी है, सदा हितकर्ता है वह मेरे अन्दर है, वह निष्काम, अकाम और सदा तृप्त होता हुआ भी मेरे अन्दर है, यह बात जो जानता है वही उच्च सुखका भागी है। इस परम पिताका ज्ञान प्राप्त होनेके लिये अपना मन दिव्य शक्तिसे युक्त अथवा पवित्र होना चाहिये। यह मन—

देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्? (मं. १८)

' यह मन किस तरह दिव्य बनता है? " राक्षसी मन तो हरएकका बन सकता है। विशेष स्वार्थसे तो मनमें राक्षसी वृत्ति आ सकती है, परंतु दिव्य भाव मनमें किस रीतिसे आ सकते हैं, इसका विचार हरएक मनुष्यको करना चाहिये। क्योंकि मनुष्यका देव बनना अथवा राक्षस बनना यह केवल मनकी अवस्थापर ही निर्भर है, इस मनको देव बनाना किस तरह होगा इसका विचार—

कवीयमानः क इह प्रवोचत्। (मं. १८)

" कौनसा श्रेष्ठ विद्वान् यहां आकर हमें कहेगा? " हरएकको करना चाहिये और जो विद्वान् इस प्रकारका उपदेश करनेमें समर्थ हो उसके पास जाकर उससे इस विद्याको ग्रहण करना चाहिये, तथा उसका अनुष्ठान करके अपना मन सुसंस्कारोंसे दैवीगुणोंसे युक्त बनाना चाहिये। जिसका मन दिव्य गुणोंसे युक्त होता है और जिसके मनसे राक्षसी भाव सचमुच नष्ट हो जाते हैं, वही अपने पिताको अपने अन्दर प्रविष्ट देख सकता है। और परम सुखका भागी बन सकता है। इस प्रकार यहां गुरुकी तलाश करनेकी सूचना है।

इतने विवरणसे पाठकोंको पता चला होगा कि एक विभु परमात्मा, दूसरा परिच्छिन्न जीवात्मा और तीसरा यह संसार ये तीन पदार्थ यहां कहे हैं। इनमें जीवात्मा और परमात्मा आत्मा होनेसे एक जैसे है, परंतु तीसरा संसारवृक्ष जीवात्माको भोग देनेके कार्यमें उपयुक्त है। इन तीनोंका वर्णन इस सूक्तके प्रारंभिक मंत्रमें एक नये ही ढंगसे किया है। देखिये—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। (मं १)

" एक दाता सुन्दर पुराण पुरुष है और उसका बीचका भाई भोक्ता है " यहां दो पदार्थोंका वर्णन है। पहिला (पलित)

अतिवृद्ध पुराण पुरुष है, यद्यपि इसको ' वृद्ध स्थविर पलित पुराण ' आदि नामासे पुकारा गया है, तथापि यह ' युवा ' [अ १०। ८।४४] भी है अर्थात् सबसे पूर्व कालसे वर्तमान होनेके कारण ही यह पुराण है, न कि पुराण जीर्ण होनेके कारण इसको कोई वृद्ध कहते हैं । परमात्मा सबसे पुराण होता हुआ भी तरुण है, अतएव इसको यहां ' वाम ' अर्थात् सुन्दर, रमणीय कहा है । यह ' होता ' अर्थात् सब पर दानसे अनुग्रह करनेवाला है, सब जगत्के ऊपर इसका बडा अनुग्रह है उसीके अनुग्रहसे सब संसार चल रहा है । यह सबसे वृद्ध अर्थात् बडा भाई है । इसका बीचका मझला भाई [मध्यमः भ्राता] एक है । वह [अश्नः] बडा खानेवाला है, भोग भोगनेवाला है, भोगके बिना रह नहीं सकता । बडा भाई तो भोग नहीं भोगता, वह विरक्त है विरक्तिके कारण बलिष्ठ है पर यह भोग भोगनेसे रोगोंसे ग्रस्त होकर निर्बल रहता है । इस प्रकार यहां इन दो भाइयोंका वर्णन किया है । ये ' द्वौ सुपर्णौ ' द्वारा वर्णित जीव और शिव ही हैं । इनका एक तीसरा भी भाई है, उसका वर्णन ऐसा होता है—

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य । (म १)

" इसका एक तीसरा भाई है जो पीठपर घी लेकर रहता है । " इन तीनों भाइयोंमें बडा भाई तो कुछ भी खाता नहीं है, बीचका भाई तरुण होनेसे बहुत खाता रहता है, और जो यह तीसरा भाई है वह अपने पीठपर घी जैसे पौष्टिक पदार्थ अथवा रस धारण करता है और बीचके भाईको खिलाता रहता है । अन्नरस तैयार करनेका कार्य इस तीसरे भाईके आधीन है, ज्ञान, सुख तथा शान्ति प्रदान करना वृद्ध भाईके आधीन है और बीचका भाई इन दोनों भाइयोंकी सहायता लेता हुआ अपनी उन्नति करता रहता है । इस प्रकार यहां तीन भाइयोंका वर्णन है वह १८ वें मन्त्रके वर्णनके साथ मिलता जुलता है ।

इसी वर्णन पर तीन तेजोंकी कल्पना करके यज्ञोंकी रचना की है । सूर्य द्युस्थानमें, विद्युत् अन्तरिक्षमें और अग्नि भूस्थानमें, ये तीन तेज हैं । सूर्य सबसे बडा भाई है [वाम] सुंदर भी है और [पलित] श्वेत किरणोंसे युक्त है । उसका मध्यम भाई विद्युत् तेज है यह बडा खानेवाला है, जहां बिजली गिरती है वहां उस चीजको वह खा जाती है, इनका एक सबसे छोटा भाई इस पृथ्वीपर अग्नि रूपसे है यह अपने पीठपर आहुतियोंसे डाला हुआ घी तथा हवन सामग्रीका भार लेकर खडा रहता है और अन्यान्य देवताओंको वह भाग देकर उनका पोषण करता है । इससे भाग लेकर अन्यान्य देवतांश पुष्ट होते हैं । अग्नि यहां भूस्थानका प्रतिनिधि है । सब यज्ञकी उत्पत्ति इस विधानको दर्शानेके लिये हुई है । सूर्य प्रकाश देनेवाला, अग्नि पोषक घी देनेवाला और इन दोनोंसे शक्तियां प्राप्त करके पुष्ट होनेवाला तीसरा मध्यम भाई है । यह वर्णन भी पूर्वोक्त जीवात्मा, परमात्मा और पोषक संसारका ही सूचक है । विद्युत्से मन और जीवात्माका भी वर्णन किया जाता है, क्षणमात्र चमकनेका धर्म इनमें समान है । जिस तरह विद्युत् एकक्षणमें चमकती है पूर्व क्षणमें नहीं होता और उत्तर क्षणमें भी नहीं होती, उसी प्रकार जीव भी जन्मसे मृत्युतक चमकता है और पूर्व तथा उत्तर कालमें छिपा रहता है । अस्तु । इस रीतिसे इस *प्रथम मन्त्रमें सूर्यादि तीन तेजोंके वर्णनके मिषसे जीवात्मा*, परमात्मा और संसारका वर्णन किया है, सो पाठक देखें । इसी मन्त्रमें और कहा है कि—

अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् । (मं १)

" यहां सात पुत्रोंवाले प्रजापतिका मैंने दर्शन किया " पूर्वोक्त वर्णनमें विश्पति अर्थात् प्रजापतिका वर्णन है यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट होती है । यहां विश्पति प्रजापति ये नाम सब जगत्के पालनेवालेके सूचक हैं । इसके सात पुत्र हैं, इसके सात पुत्र ये ही सात लोक हैं क्योंकि इसीने इनकी उत्पत्ति की है । यह उन सात लोकोंका पिता है और ये उसके पुत्र हैं । जो " वाम पलित " आदि नामोंसे प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है, वही जगत्पालक सबका पिता और जेठा भाई परमेश्वर है। उसके भाई अथवा पुत्र सब जीव हैं और इन जीवोंको भोग देनेवाला यह सब संसार है । यह बात इस प्रथम मन्त्रके मननसे स्पष्ट हो गई है । आगे कहा है कि—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम् । एको अश्वो वहति सप्त नामा (म २)

" एक रथमें सात जुडे हुए है । " अर्थात् इस शरीर रूपी रथमें सात घोडे जुडे हुए हैं परन्तु ये सात घोडे होते हुए भी वस्तुतः " सप्त " नामक एक ही घोडा इसको चलाता है । अर्थात् इस रथको चलानेवाली गति एक ही है, परंतु वह सात प्रकारके रूपोंमें दीखती है । जैसे आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा, मन ये सात ज्ञानेंद्रिय है, ये ज्ञानेंद्रियरूपी सात घोडे इस शरीरमें जुते हैं, परंतु देखा जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा कि आत्माकी एक चित् शक्ति इन सातों इंद्रियोंमें विभक्त हो गई है अतः यहां कह सकते हैं कि यहां घोडे सात भी हैं और सात नामोंवाला एक ही घोडा है । एक कथनमें स्थूलकी और दूसरे कथनमें सूक्ष्मकी ओरसे देखा गया है ।

इसी प्रकार दो हाथ, दो पांव, मुख, गुदा और शिश्न ये कर्मेंद्रियां भी यद्यपि सात हैं, तथापि आत्माकी कर्मशक्तिके ही

ये सात विभाग हुए हैं इसलिये स्थूल दृष्टिसे ये सात घोडे इस शरीर रूपी रथमें जोते गए हैं, ऐसा हम कह सकते हैं तथापि आत्माकी दृष्टिसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि आत्माकी कर्मशक्ति यही सात रीतिसे विभक्त होकर कार्य कर रही है।

कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, प्राण, मन, चित्त अहंकार, बुद्धि ये भी सात घोडे इस शरीरके साथ जोते गये हैं परंतु आत्माकी ओरसे देखनेसे ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही इन्द्रशक्ति इन सब इंद्रियोंमें कार्य कर रही है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबधमें समझना योग्य है। जैसे एक ही प्राण शरीरमें ग्यारह स्थानोंमें रहनेसे प्राण अपान आदि नामोंको प्राप्त करता है। यह भाव शारीरिक विषयोंके संबंधमें हुआ, परंतु जैसा यह शरीर छोटा ब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह संपूर्ण जगत् भी एक बडा शरीर ही है। अतः दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा है, अत. ' एक रथमें सात घोडे जोते गये हैं, परंतु सात नामोंवाला एक ही घोडा इस रथको खींचता है ' इस बातको भी देखना चाहिये।

यह जगत् पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और महत्तत्त्व इन सातोंके द्वारा चलाया जाता है यह सत्य है, तथापि एक ही महत्तत्त्व इन सातोंमें परिणत होकर इस जगत्को चलाता है यह भी उतना ही सत्य है। सूर्यके किरणोंमें सात रंगोंके सात किरण हैं यह बात जैसी सत्य है उसी प्रकार सूर्यका एक ही किरण उन सात प्रकाश किरणोंमें विभक्त हुई है यह भी उतना ही सत्य है। इसी कारण सूर्यको सप्ताश्व, सप्तरश्मि इत्यादि नाम दिये गये हैं।

एक संवत्सर कालके सात ऋतु हैं, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमंत शिशिर ये छः और अधिक मासका एक मिलकर सात ऋतु हैं। तथापि इन सातों ऋतुओंमें एक ही कालव्यापता है और सात ऋतुओंमें परिणत होता है।

बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, यौवन, परिहाण, वार्धक्य, जरा ये सात आयुके जैसे सात भाग हैं और इनमें एक ही जीवनकी अवधि अर्थात् आयु व्यतीत होती है, उसी प्रकार इस जगत्की आयुके भी सात भाग हैं और उनमें जगत्की आयु विभक्त होती है। इस दृष्टिसे सर्वत्र देखना योग्य है। तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टिसे विभक्त अवस्था ज्ञात होती है और सूक्ष्म दृष्टिसे एकावस्था किंवा साम्यावस्था प्रतीत होती है। इसके लिये और भी एक उदाहरण देते हैं। मिट्टी एक है परंतु उसके पात्र अनंत होते हैं, सोना एक है परंतु उसके आभूषण होते हैं। यहां मिट्टी और सोनेकी दृष्टिसे सब पात्र और आभूषण एक ही हैं, तथापि व्यवहारके आकार भेदसे उनमें भेद भी हैं। इसी प्रकार ' एक रथको ढोनेवाले सात घोडे हैं तथापि उन सातोंका नाम धारण करनेवाली एक ही खींचनेवाली शक्ति है। ' इस मंत्रके कथनमें " एक ही शक्ति सात स्थानोंमें विभक्त होकर इस जगतमें कार्य कर रही है " इतना ही विषय मुख्य है, फिर पाठक इसको शरीरमें देखें अथवा जगत्में देखें।

जिस रथमें ये सात घोडे जोते गए हैं उस रथका एक ही चक्र है। और वह चक्र—

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम्। (मं. २)

" तीन नाभिवाला यह एक जरारहित और अप्रतिबंधगतिसे चलनेवाला है। " इसका विचार प्रथम हम जगत्में देखेंगे, कालचक्र एक है, और उसके भूत, भविष्य, वर्तमान ये तीन केन्द्र हैं। यह चक्र कदापि क्षीण नहीं होता और न इसका कोई प्रतिबंध करता है। संवत्सर चक्र एक है और उसके शीत, उष्ण और वृष्टिके तीन केन्द्र हैं। इनमें यह घूम रहा है। प्रकृतिचक्र एक ही है और उसके सत्व, रज और तम ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है। जगत् चक्र एक है और उसके उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है, इस तरह सृष्टिके अन्दर इस एकचक्रकी बातको पाठक देखें और अनुभव करें।

इसी ढंगसे मनुष्यके अंन्दर भी इस चक्रको देखना उचित है। एक ही शरीरचक्र कफ, पित्त, वात इन तीन केन्द्रों पर चल रहा है। यही प्रवृत्तिचक्र सत्व, रज, तमके ऊपर घूम रहा है। इसी तरह और कई नाभियां यहां भी हैं।

यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः। (मं. २)

" इसके अन्दर सब भुवन ठहरे हुए हैं। " यह जो चक्र पूर्वस्थानमें कहा है उसमें सब भुवन रह रहे हैं। जगत्के पक्षमें संपूर्ण भुवन रह रहे हैं यह बात स्पष्ट ही है। शरीरके पक्षमें शरीरान्तर्गत सब अंग और अवयव ही यहां भुवन लेनेसे मंत्रमें कहा तत्त्व शरीरमें अनुभव हो सकता है। शरीरमें कफपित्तवात नामक तीनों नाभियोंमें भ्रमण करनेवाले चक्रमें ये सब अंग और अवयव कार्य करते हैं। इसी ढंगसे अन्यान्य चक्रोंके विषयमें जानना योग्य है।

अगले तृतीय मंत्रमें (**इमं रथं ये सप्त अधितस्थुः**) इस रथके आश्रयपर जो सात तत्व अधिष्ठित हुए हैं, ऐसा कहकर आगे सप्तचक्र रथ, सप्त अश्व, सात (**स्वसारः**) बहिनें तथा (**गावः सप्त**) सात गौवें ' हैं ऐसा कहा है यह रथ सात चक्रोंवाला है, इसके सात गति-साधन हैं, ये ही सात गतियां इसके अश्व हैं, गौ नाम वाणीका है इस शरीरमें इस वाणीके सात भेद हैं, इंद्रियां सात, सात विभक्तियां, सात काल-

विभाग, (अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्री, मुहूर्त ये सात कालविभाग) हैं। सात नदियें यहाँ शरीरमें सात मज्जा केन्द्रोंसे चलनेवाले प्रवाह हैं, सात इंद्रियोंमें चलनेवाले प्रवाह हैं। बाह्य जगत्में सप्त लोक, सप्त अवस्था, सात किरणें, सात नदियां आदिकी कल्पना करना योग्य है।

यह कूटमंत्र है और इसका अर्थ इस प्रकारके मननसे जाना जा सकता है। आगे चतुर्थ मंत्र देखिये—

अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति (मं. ४)

" (अन्-अस्था) जिसमें हड्डी नहीं है ऐसी आत्मा (अस्थन्-वन्तं) हड्डीवाले शरीरको धारण करती है।" यह महत्त्वपूर्ण कथन इस मंत्रमें कहा है। आत्माके लिए 'अनस्था' शब्द है और शरीरके लिए 'अस्थन्वान्' शब्द है। इसी प्रकारका भाव निम्नलिखित यजुर्वेदके मंत्रमें है—

अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

वा. यजु. ४०।८

" वह आत्मा शरीररहित, व्रणरहित, स्नायु-मांस-रहित है, अतएव शुद्ध और पापरहित है।" यह 'अन्-अस्था' (अस्थिरहित) शब्दका ही अधिक विवरण है, अधिक अर्थका विस्तार है। वह आत्मा हड्डीरहित, मांसरहित, शरीररहित, व्रणरहित, रक्तरहित, धमनारहित, चर्मरहित है, इसी प्रकार और भी वर्णन हो सकता है। शरीर हड्डी, मांस, व्रण, रक्त, धमनी आदिसे युक्त है। इस शरीरका धारण उक्त प्रकारकी आत्मा कर रही है। जड शरीरका धारण चेतन आत्मा करती है। इसको कौन देखता है?—

कः जायमानं प्रथमं ददर्श? (मं. ४)

" इस प्रकट होनेवाले आत्माका सबसे प्रथम किसने दर्शन किया?" इसके अस्तित्वके विषयमें किसने सर्व प्रथम अनुभव किया? किसने निश्चित रूपसे इसको जाना? किसने इसकी आश्चर्यमयी शक्तियोंका सबसे पहिले अनुभव किया? अर्थात् कौन इसको पूर्णतासे जानता है? और—

भूम्याः असृक् असुः आत्मा क्वस्वित्? (४)

" इस भूमिके अन्दर अर्थात् स्थूल शरीरके अन्दर रक्त, मांस, प्राण और आत्मा कहां भला निवास करते हैं।" यह स्थूल शरीर पृथ्वीतत्त्वका बना हुआ है। उससे भिन्न अप्तत्त्व है, वायुतत्त्व भी भिन्न है, तथापि इस शरीरके अन्दर ये पञ्चतत्त्व एक स्थानपर विराजमान हुए हैं और एक उद्देश्यसे कार्य कर रहे हैं। इन विभिन्न तत्त्वोंको एक उद्देश्यसे चलानेवाला यहां कौन है? यहां पृथ्वी तत्त्वसे हड्डी आदि कठिन पदार्थ, जलतत्त्वसे रक्त, रेत आदि प्रवाही पदार्थ, अग्नि तत्त्वसे पाचन शक्ति, उष्णता आदिकी स्थिति, वायुतत्त्वसे प्राण आदिकी स्थिति और परमात्मासे आत्माका प्रकटीकरण इस शरीरमें हुआ है। परंतु ये कहां कैसे रहते हैं? कौन इनका संचालक है? इसी विषयका एक मंत्र अथर्ववेदमें है वह यहां देखिये—

को अस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिंधुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥ अथर्व. १०।२।११

" किस देवताने इस शरीरमें शीघ्र गतिवाले, लाल रंगवाले और तांबेके धूम्रके समान रंगवाले ऊपर, नीचे और तिरछे चलनेवाले जलप्रवाह शुरू किए हैं?" यह रक्तके अभिसरणके संबंधमें वर्णन है, इसी (१०। २) केन सूक्तमें शरीरके अन्यान्य अवयवोंके विषयमें भी पृच्छा की है। इस प्रकार किस देवताके द्वारा इस सब शरीरका धारण हुआ है? यह तत्त्वज्ञानके विषयमें एक महत्त्वका प्रश्न है।

कः विद्वांसं प्रष्टुं उपगात्? (मं. ४)

" कौन शिष्य इसके विषयमें पूछनेके लिये विद्वान्के पास जाता है" और कौन इसके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और कौन इसके विषयमें निश्चित ज्ञान देता है?

यः वेद इह ब्रवीतु। (मं. ५)

" जो इस आत्माके विषयमें ठीक ठीक ज्ञान जानता है वह यहां आवे, और हम सब शिष्योंसे उपदेश करे" और हमको बतावे कि यह आत्मा इस शरीरका धारण किस प्रकार करता है? यह आत्मा अस्थिरहित होता हुआ अस्थिवाले शरीरको चलाता है, मूक शरीरसे यही वार्तालाप करता है और पंगु शरीरको यही चलाता है। पांवोंसे चलना होता है, परंतु ये पांव शरीरके पास हैं और आत्मामें नहीं हैं, तथापि शरीर आत्माकी प्रेरणाके बिना चल नहीं सकता। इसी प्रकार शब्दोच्चार करनेवाला मुख है सो शरीरके पास, परंतु आत्माकी प्रेरणाके बिना केवल शरीरसे शब्दोच्चार हो नहीं सकता। इसीलिये—

अस्य वामस्य वेः निहितं पदं वेद। (मं. ५)

" इस परमप्रिय गतिमान् आत्माका इस शरीरमें रखा हुआ जो पद है," उसको जानना चाहिये। यही पद प्राप्त करना चाहिये, यह गुप्त है इसीलिये इसकी खोज करनी होती है। सब योगी मुनि, ऋषि, सन्त महन्त इसीकी खोज करते हैं, प्राप्ति करते हैं और आनन्दके भागी बनते हैं।

गावः अस्य शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते। (मं. ५)

'इंद्रियरूपी गौंवे इसके सिरके स्थानसे दूध निचोडती हैं।' आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा आदि इन्द्रियरूपी गौवें रूप, गंध, शब्द, रस और स्पर्श रूपी दूध निकालती हैं और इन विषयरूपी दूधको यह प्राप्त करके सुखका भागी होता है। इसके विषयमें जिज्ञासु पुरुषके मनमें बहुतवार अनेक प्रश्न पूछनेके लिये उपस्थित होते हैं और वह पूछता भी है—

पाकः मनसा अविजानन् पृच्छामि।
देवानां एना निहिता पदानि ॥ (मं ६)

'**(पाकः)** पक कर तैयार होनेवाला मुमुक्षु मनुष्य **(मनसा अविजानन्)** मनसे कुछ भी आत्मज्ञान नहीं जानता है इसलिये पूछता है कि इस देहके अन्दर (**देवानां पदानि**) अनेक देवोंके स्थान कहां कहां हैं।' मनुष्य पक कर परिपक्व अर्थात् पूर्ण होनेके लिये यहां है, इनमें जिसको अपने अज्ञानका पता लगता है, वह मुमुक्षु बनता है और वह *सद्गुरुके पास जाकर उससे प्रश्न पूछता है कि 'हे गुरो! जो* अनेक देवताओंके पद इस शरीरमें हैं वे कहां हैं? किस देवताका पद यहां किस स्थानपर है? यहां सूर्यदेव चक्षुस्थानमें हैं, वायुदेव फेफडोंमें हैं, जलदेव जिह्वास्थानमें तथा रक्तमें हैं इसी प्रकार अन्यान्य देव अन्य स्थानोंमें हैं। इस तरह इस शरीरमें अनेक देवताओंके पद *अर्थात् स्थान किंवा निवासस्थान हैं।* पाठक इनका अनुभव करें और यह किस प्रकार देवमंदिर है इसका ज्ञान प्राप्त करें। यही बात अन्यत्र निम्न प्रकार कही है—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८॥
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९॥
तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२॥
अथर्व. ११।८

'दस देवोंसे दस देवपुत्र उत्पन्न हुए, जो इनको प्रत्यक्ष देखता है वह बडा तत्त्वज्ञान कह सकता है। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अमरत्व, नाश, व्यान, उदान, वाणी और मन ये दस तेरे सत्कल्पको चलाते हैं। दस देवोंसे जो दस देवपुत्र हुए, वे अपने पुत्रोंको स्थान देकर किस लोकमें चले गये? सिंचन करनेवाले देव हैं जो सब सभार इकट्ठा करते हैं, सब *मर्त्य देहको सिंचन* करके ये देव *मनुष्य देहमें घुसे हैं।* देहरूपी मर्त्य घर करके इसमें देव रहने लगे हैं, रेतका घी बनाकर देव इस पुरुषमें आये हैं। जो ज्ञानी है वह इस पुरुषको ब्रह्म करके मानता है, क्योंकि इसमें सब देवताएं रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें ॥'

इस प्रकार *इस शरीररूपी देवशालाका वर्णन है। यहां* आंखमें सूर्य, फेफडोंमें प्राण किंवा वायु, इस प्रकार अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें विराजते हैं। बडे सूर्य, वायु आदि देव बाह्य विश्वमें हैं और उनके छोटे पुत्र नेत्रादि स्थानपर निवास करते हैं। यहीं मानों उनके पद हैं अर्थात् सूर्य नेत्रस्थानमें है, वायु फेफडोंमें है, जल जिह्वाग्र है इसी प्रकार अन्यान्य देव शरीरस्थानीय अन्यान्य अन्यान्य भागोंमें हैं। इन्हींका वर्णन (**देवानां निहिता पदानि**) देवोंके पद यहां रखे हुए हैं इन शब्दोंसे हुआ है। तथा—

कवयः ओतवै उ सप्त तन्तून् वितत्निरे। (मं. ६)

'कवि लोग जीवनका वस्त्र बुननेके लिये सात धागोंको फैलाते हैं।' *जिस प्रकार जुलाहा ताना फैलाता है और उसमें* बानेके धागे रखकर उत्तम वस्त्र तैयार करता है, उसी प्रकार नेत्रसे रूपके, कानसे शब्दके, नाकसे गंधके, जिह्वासे आस्वादके, त्वचासे स्पर्शके, मनसे ज्ञानके और बुद्धिसे विज्ञानके धागे फैलाकर इस तानेमें *कर्मयोग और ज्ञानयोगका बाना मिलाकर* सुंदर जीवनका वस्त्र बनाता है। यही पुरुषार्थी जीवनका वर्णन है। ये सात तन्तु हैं प्रायः हरएक मनुष्यकी खुड्डीपर ताना फैलाया गया है, जो इसमें पुरुषार्थका बाना मिलायेगा वही उत्तम जीवनवस्त्र बना सकता है। इस प्रकार तन्तुओंका वर्णन पाठक देखें और इससे पूर्व जो 'सात' संख्यावाले पदार्थोंका वर्णन आया है उसके साथ इसका अनुसन्धान करें।

अचिकित्वान् न विद्वान्, चिकितुषः विद्वनः कवीन् पृच्छामि। (मं. ७)

अज्ञानी अविद्वान् मैं ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे पूछता हूं। ये *ज्ञानी लोग मेरी आशंका को दूर करें। अज्ञान ज्ञानीसे पूछे,* अविद्वान् विद्वान्के पास जाय, साधारण मनुष्य कविके साथ रहे और अपनी आशंकाएँ पूछे और इस तरह ज्ञान प्राप्त करे। विद्वान्से पूछने योग्य प्रश्न यह है—

य इमा षट् रजांसि तस्तंभ (मं. ७)

' किस एकने इन छ लोकोंको आधार दिया है? ' किस एकका आधार इस संपूर्ण जगत्‌को प्राप्त होता है ? किसके आधार पर यह विश्व है और चल रहा है? यह प्रश्न विद्वान्‌को प्राप्त कर उससे पूछना योग्य है, और आ एक प्रश्न पूछना योग्य है—

अजस्य रूपे किं एकं स्वित्। (मं. ७)

' अजन्मा आत्माके रूपमें एक रूप कौनसा है ? अनेक अजन्मा जीवात्मा हैं, इनकी संख्या अनन्त है। इन अनन्त जीवात्माओंमें एक तत्त्व जो है वह कौनसा है। एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। यह एकत्व और सर्वत्र अनुस्यूत है। जीवोंमें अनेकत्व और अणुत्व है। इसमें अनेकत्व नहीं और अणुत्व भी नहीं है। प्रत्युत इसमें एकत्व और सर्वव्यापकत्व है। यही एक तत्त्व सर्वत्र भरपूर है। कोई पदार्थ इससे खाली नहीं है। यह परमात्मा अपनी प्रकृतिके साथ रहता है, यह एक गृहस्थके समान है। प्रकृति उसकी धर्मपत्नी है और वह उस प्रकृतिका धर्मपति है। ये किस प्रकार बर्ताव करते हैं देखिये—

माता पितरं ऋते आबभाज। (मं. ८)

' माता पिताकी सत्यधर्ममें-यज्ञमें-सेवा करती है, सहायता करती है। ' धर्मपत्नी अपने पतिकी सेवा करे और उसकी यज्ञ करनेमें सहायक बने। यह गृहस्थ धर्मका उपदेश यहां मिलता है सबकी माता प्रकृति परमपिता परमात्माकी सहायता करती है और सृष्टिरूप यज्ञ सिद्ध करनेमें सहायक होती है। यह आदर्श गृहस्थाश्रम है। हरएक गृहस्थी इस प्रकार अपना व्यवहार करे।

धीती अग्रे मनसा सं जग्मे। (म ८)

' यह गृहस्थाश्रमको धारण करनेवाली धर्मपत्नी पहिलेसे ही मनसे उसके साथ मिलती है। ' वह केवल बाहरके दिखावेके लिये ही पतिके साथ मिलकर रहती है, ऐसी बात नहीं अपितु वह मनके आन्तरिक भावसे भी पतिके साथ मिलकर रहती है। गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष इसी प्रकार मनसे एकरूप होकर अपना गृहस्थाश्रम चलावें और कृतकृत्य बनें। प्रकृति माता तो अपने मनसे परमात्माके साथ ऐसी मिलजुल कर रहती है कि कभी उसका विरोध नहीं करती। जो परमात्माकी इच्छा होती है वैसा विश्वरचनाका कार्य करती है। यहां भी गृहस्थाश्रमियोंको बडा अनुकरणीय उदाहरण मिलता है।

सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा। (मं. ८)

' वह माता गर्भका धारण पोषण करनेवाली गर्भके रससे रंगी गर्भके पोषणमें लगी रहती है। ' दूसरा कोई कार्य उनको सूझता नहीं है। हरएक स्त्री जो गृहस्थाश्रममें है इसी प्रकार गृहमें रहनेवाले पुत्रादिकोंकी पालना करनेमें दत्तचित्त रहे, गर्भधारण होनेपर गर्भके पालनमें योग्य रीतिसे दत्तचित हो और ऐसे किसी भी कार्यमें व्यग्र न हो कि जो गर्भके पोषणके प्रतिकूल हो। प्रकृतिमाता अपने गर्भका धारण पोषण और उत्पत्ति आदिके विषयमें कैसी दत्तचित्त होती है और किसी भी प्रकार प्रमाद न करती हुई अपना कार्य तत्परतासे करती है।

नमस्वन्त उपवाकं ईयुः। (मं ८)

(नमस्वन्तः) नमस्कार करते हुए अथवा अन्नसे युक्त पुरुष उनकी प्रशंसा करते हुए उनके पास जाते हैं। ' उक्त प्रकारके गृहस्थी जहां होते हैं वहां सब अन्य लोग उनको नमस्कार करते हैं और उनके सत्संगमें रहना चाहते हैं। अथवा अन्नकी भेंट लेकर उनके पास उपस्थित होते हैं और उनका उस भेंटसे सत्कार करते हैं। आदर्श गृहस्थीका इस प्रकार सत्कार होता है और आदर्श गृहस्थका घर कैसा होता है, इस विषयमें प्रकृति पुरुषके दृष्टान्तसे ऊपर लिखा ही है। पाठक इसका विचार करें। और देखिये—

माता धुरि युक्ता आसीत्। (मं. ९)

' माता गृहस्थके कार्यकी धुरामें लगी हुई है। ' माता पीछे रहनेवाली नहीं है। वह धुरामें रहकर कार्य करनेवाली है। गृहस्थाश्रममें धर्मपत्नीका यही कार्य है। गृहस्थके सब कार्योंमें यह धुरामें रहकर दत्तचित्त होकर कार्यका भार उठाती है, इसीलिये उसको सहधर्मचारिणी गृहिणी कहते हैं। गर्भवती होनेपर भी वह इसी प्रकार धुरामें रहकर कार्य करती है।

गर्भो वृजनीष्वन्तः अतिष्ठत्। (मं. ९)

' गर्भ अपने अन्दर अन्त शक्तियोंके आधारपर रहता है। ' गर्भको अन्दर धारण करती हुई गृहिणी धुरामें रहकर सब कार्यका भार उठाती है। इसी प्रकार गृहिणी अपने घरमें कार्य करे। पतिके अनुकूल धर्मपत्नी रहनेपर बच्चे भी पिता माताके (अनु) अनुकूल होते हैं, जिस प्रकार (गां अनु वत्सः) गौके अनुकूल बछडा होता है, ठीक उसी प्रकार उनके सद्वर्तनी गृहिणीके बालबच्चे उनके अनुकूल रहते हैं और इस प्रकार अपने पुत्रोंमें वे माता पिता (विश्वरूप्यं अपश्यत्) सब अपना रूप देखते हैं। मातापिताका सब प्रकारका रूप पुत्रोंमें आता है। जैसे मातापिताके शरीर, मन और बुद्धिके भाव होते हैं वैसे ही पुत्र और पुत्रियोंमें होते हैं। अतः कहा है (त्रिषु योजनेषु) तीनों शरीर मन बुद्धिमें सब प्रकारकी सारूप्यता दिखाई देती है। पूर्ण गृहस्थाश्रमका यह फल है। इसमें माता पिता, पुत्र और पुत्रियां एक विचारसे परिपूर्ण होती हैं और किसी प्रकार इनमें आपसी विरोध नहीं होता है।

एकः तिस्रः मातॄन् त्रीन् पितॄन् बिभ्रत् ऊर्ध्वः तस्थौ ॥ (मं. १०)

' अकेला वह सुपुत्र तीन माताओंको और तीन पिताओंको अपने अन्दर धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है । ' अर्थात् टेढी चाल नहीं चलता । तीन माताएं ये हैं— ' प्रकृतिमाता, विद्यामाता और अपनी माता । ' तीन पिता ये हैं— ' परमात्मा, गुरु और अपना जनक । ' इन तीनोंको वह अपने अन्दर धारण करता है और साथे व्यवहार करता है। और कभी (न अवग्लापयन्त) ग्लानिको प्राप्त नहीं होता । इस प्रकार उपासना और आचरणसे इनकी उच्च योग्यता होती है । और ये स्वर्गमें जाते हैं और वहां—

अमुष्य दिवः पृष्ठे विश्वविदः अविश्वविन्नां वाचं मन्त्रयन्ते । (मं. १०)

' उस द्युलोकके पृष्ठभागपर विराजते हुए ये ज्ञानी लोग सबके ध्यानमें न आनेवाली बातोंका मनन करते हैं । ' वहां स्वर्गमें रहकर ऐसे तत्वोंका विचार करते हैं कि जिनका ज्ञान साधारण मनुष्यके ध्यानमें भी नहीं आ सकता ।

परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रं विश्वा भुवनानि आतस्थुः । (मं ११)

' घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन रह रहे हैं ' अर्थात् इस चक्रके आधारसे सब भुवन रहते हैं । पञ्च प्राणोंका जो पांच आरोंवाला प्राणचक्र है उसके आधारसे संपूर्ण भुवन ठहरे हुए हैं । यहां शरीरमें प्राणचक्रके आधारपर सब शरीरके अवयव रहते हैं । प्राणके चले जानेपर कोई रह नहीं सकता । इसी प्रकार यह संपूर्ण विश्व भी बृहत्प्राणचक्रपर रह रहा है, विश्वव्यापक महाप्राण जगतके सब भुवनोंका धारण करता है । यह चक्र भ्रमण कर रहा है, तथापि इसका मध्य-दण्ड (अक्षः न तप्यते) नहीं तपता है । अनादि कालसे इस विश्वके घूमते रहनेपर भी इसका कोई भाग तपता नहीं । कोई चक्र जब घूमता है, तब उसका मध्यदण्ड न तपे, इसलिये तेल डालना पडता है, परंतु यहां तेल न डालते हुए भी यह मध्य-दण्ड नहीं तपता है, यह परमात्माका अद्भुत सामर्थ्य देखने योग्य है । ये जगत्के सब लोकलोकान्तर एक गतिसे घूम रहे हैं, ये कभी ठहरते नहीं, न कभी इनकी गतिमें विघ्न होता है । इस चक्रके मध्यदण्डपर (भूरिभारः) बहुत ही भार है । जो ये लोकलोकांतर हैं उनका भार बहुत ही है, इस भारकी कल्पना भी नहीं हो सकती । इतना भार होनेपर भी यह विश्वचक्र विलक्षण शान्तिसे और गतिसे चल रहा है । और अनादि-कालसे घूमनेपर भी (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) छिन्नभिन्न नहीं होता है । इस प्रकार यह जगच्चक्र विलक्षण सामर्थ्यसे धारण किया हुआ है ।

आगे बारहवें मंत्रमें ' कालचक्र ' का वर्णन है (द्वादश आकृति) बारह मासोंकी बारह अवस्थाओंवाला यह कालचक्र अथवा संवत्सरचक्र है । यह सवत्सरचक्र (षड्-अरे) छः अरोंमें विभक्त हुआ है, छः ऋतु येही इसके छः आरे हैं । अधिक मासका और एक ऋतु माना जाता है, इसके साथ सात ऋतु होते हैं, यहां दर्शानेके लिये (सप्तचक्रे) शब्द आया है । अथवा संवत्सर, अयन, ऋतु मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त, ये भी कालचक्रके अन्तर्गत सात छोटे चक्र हैं, यह भी अधिक योग्य प्रतीत होता है । यह संवत्सर (पञ्चपाद) पांच पांव वाला है, शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल और ये तीन काल वर्षके हैं इनमें चान्द्रमान और सौरमान ये दो गणनात्मक विभाग माननेसे ये संवत्सरके पांच पांव होते हैं, क्योंकि इन्हीं पांवोंसे यह सबका पिता चलता है और सबका (पिता-माता) संरक्षण करता है । इस प्रकारका यह कालचक्र एक वर्षमें घूमता है और सब संसारका कल्याण करता है । इस चक्रमें—

मिथुनासः पुत्राः अत्र सप्तशतानि विंशतिः च आतस्थुः ॥ (मं. १३)

' मिथुन अर्थात् दो दो जुडे हुए पुत्र सातसौ बीस हैं । ' ये दिन और रात ही हैं । दिनके साथ रात्री और रात्रीके साथ दिन जुडे हुए हैं । चान्द्रवर्षका और सौर वर्षका मध्य अर्थात् ३६० दिनोंका मध्यम वर्ष है । इसके दिन और रात्री ऐसे प्रत्येक दिनके दो जुडे पुत्र माननेसे ७२० होते हैं । अर्थात् यह न चान्द्रवर्ष है और न सौर, परंतु दोनों वर्षोंके मध्यम परिमाणका यह वर्ष है । यह द्वादश महिनोंका (द्वादशारं चक्रं न हि जराय) बारह आरोंवाला चक्र कदाचित् भी जीर्ण नहीं होता है । यह जैसा पहिले था वैसा ही आज भी चल रहा है, कभी जीर्ण (सनेमि अजरं चक्रं) अथवा क्षीण नहीं होता है । ऐसा यह सामर्थ्यवाला कालचक्र है, और इसमें (विश्वा भुवनानि आतस्थु) सब भुवन ठहरे हुए हैं । सभीकी आयु इस कालचक्रसे गिनी जाती है । जो ज्ञानी है (अक्षण्वान् पश्यन् , न अन्धः) जिसकी आंखें उत्तम हैं, वह इस बातको देख सकता है, परंतु जो अन्धा होगा, वह कैसे देख सकेगा ?

यः कविः स आचिकेत, यः ता विजानात्, स. पितुः पिता असत् । (मं. १५)

' जो कवि है वही यह सब ज्ञान प्राप्त करता है, और जो इस ज्ञानको यथावत् जानता है वह पिताका भी पिता होता

है।' अर्थात् उसकी योग्यता बहुत ही बडी होती है। वह मानों मुक्त होता है। यहां एक आश्चर्य है कि—

स्त्रियः सतीः ताँ उ पुंसः आहुः। (मं. १५)

'कई स्त्रियां होती हुई उनको पुरुष कहा जाता है' ऐसा ही जगत्‌में व्यवहार हो रहा है। मनुष्योंमें भी कईयोंको पुरुष और कईयोंको स्त्रियां कहा जाता है, परन्तु आत्माकी दृष्टिसे सब एक जैसे हैं और शरीरकी दृष्टिसे भी सब एक जैसे ही हैं। अतः न कोई स्त्री है और न कोई पुरुष है। वस्तुतः आत्मा पुरुष है और सब प्रकृति स्त्री है। जीवात्मा तो स्त्रीशरीरमें भी जाता है और पुरुषशरीरमें भी जाता है। यह सिद्धांत सत्य होता हुआ भी जगत्‌में भ्रमसे स्त्री पुरुषका व्यवहार चल ही रहा है। इस वर्णनके पश्चात् सोलहवें मंत्रमें पुनः कालचक्रका और एक प्रकारसे वर्णन करते हैं—

षड् यमाः एकः एकजः देवजाः ऋषयः। (मं. १६)

'देवतासे उत्पन्न हुए ऋषि हैं, उनमें छः जुडे हुए हैं और एक अकेला है।' छः ऋतु प्रत्येक दो दो मासोंवाला होता है और तेरहवें मासका ऋतु होता है वह अकेला ही एक होता है। ये सब ऋतु सूर्य देवसे उत्पन्न होते हैं और (ऋषयः=रश्मयः) सूर्यकिरणोंके संबंधसे इनमें उष्णताकी न्यूनाधिकता होती है। अतः इन ऋतुओंको (सप्तथं) सात प्रकारका कहा जाता है। आगे सत्रहवें मंत्रमें प्रकृतिरूपी गौका वर्णन है यह अद्भुत गौ अपने सूर्यादि बच्चोंको साथ लेकर कहां रहती, क्या करती, और अपने पदसे बच्चेको किस प्रकार धारण करती है, इत्यादि कहा है वह यद्यपि संदिग्धसा है, तथापि पूर्व स्थानके वर्णनका विचार और मनन करनेसे कुछ बोध हो सकता है।

इसके आगेके मंत्रोंका विवरण सबसे प्रथम हो चुका है। अतः उनका अधिक विचार फिर करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार इस सूक्तकी संगति है। आत्मा, परमात्मा, काल और विश्वके सब भूतोंका सुन्दर वर्णन यहां है। पाठक इन मन्त्रोंका मनन करें और आध्यात्मिक आशय जानें।

सर्वाधारका वर्णन।

(का. १०, सू. ७)

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— स्कम्भः आत्मा वा।)

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धाऽस्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा।
कस्मादङ्गाद वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

अर्थ— (अस्य कस्मिन् अंगे तपः अधितिष्ठति) इस मनुष्यके किस अवयवमें तप करनेकी शक्ति रहती है? (अस्य कस्मिन् अंगे ऋतं अध्याहितं) इस मनुष्यके किस भागमें ऋत- सरलताका भाव रहता है? (अस्य श्रद्धा व्रतं क तिष्ठति) इसमें श्रद्धा और व्रत कहां रहते हैं? (अस्य कस्मिन् अंगे सत्यं प्रतिष्ठितम्) इसके किस अवयवमें सत्य रहता है? ॥ १ ॥

(अस्य कस्मात् अंगात् अग्निः दीप्यते) इस परमात्माके किस अंगसे अग्नि प्रदीप्त होता है? (कस्मात् अंगात् मातरिश्वा पवते) इसके किस अवयवसे वायु बहता है? (कस्मात् अंगात् चन्द्रमा अधि वि मिमीते) किस अवयवसे चन्द्रमा प्रकाशित होता है? (महः स्कंभस्य अंगं मिमानः) और महान् स्कंभ अर्थात् विश्वाधारके किस अंगका मापन वह करता है? ॥ २ ॥

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥
क्वे प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्वे प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥
क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः ।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ५ ॥
क्वे प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ६ ॥
यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥
यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव ॥ ८ ॥

अर्थ— (अस्य कस्मिन् अंगे भूमि तिष्ठति) इस परमात्माके किस अंगमें भूमि रहती है? (कस्मिन् अंगे अन्तरिक्षं तिष्ठति) किस अंगमें अन्तरिक्ष रहता है? (कस्मिन् अंगे आहिता द्यौः तिष्ठति) किस अंगमें यह सुरक्षित द्युलोक रहता है? और (कस्मिन् अंगे उत्तरं दिवः तिष्ठति) किस अंगमें उच्चतर द्युलोकका परला भाग रहता है? ॥ ३ ॥

(ऊर्ध्वः अग्निः क्व प्र-ईप्सन् दीप्यते) ऊपरका अग्नि अर्थात् सूर्य किस ओर देखता हुआ प्रकाशता है? (मातरिश्वा क्व प्र-ईप्सन् पवते) वायु कहां दृष्टि रखकर बहता है? (यत्र प्र-ईप्सन्तीः आवृतः अभियन्ति) जहां दृष्टि रखते हुए ये जलप्रवाह चल रहे हैं, (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सर्वाधारके विषयमें मुझे बता कि (सः कतमः स्वित् एव) वह कौनसा है? ॥ ४ ॥

(अर्धमासाः मासाः) पक्ष और महीने (संवत्सरेण सह संविदानाः) वर्षके साथ मिलते हुए (क्व क्व यन्ति) कहां कहां भला चल रहे हैं? (यत्र ऋतवः यत्र आर्तवाः यन्ति) जहां ये ऋतु और ऋतुमें उत्पन्न पदार्थ चल रहे हैं, (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सर्वाधारके विषयमें बता कि वह कौनसा पदार्थ है? ॥ ५ ॥

(क्व प्र-ईप्सन्ती विरूपे युवती) किस ओर लक्ष्य रखकर ये विरुद्ध रूपवाली स्त्रियें अर्थात् (अहोरात्रे) दिन और रात्री (संविदाने द्रवतः) मिलकर दौड रही हैं? (यत्र प्र-ईप्सन्तीः आपः अभियन्ति) जिसे लक्ष्य बनाकर जल जा रहे हैं, (स्कंभं०) उसी सर्वाधारके विषयमें बता कि वह कौनसा पदार्थ है? ॥ ६ ॥

(यस्मिन् स्तब्ध्वा) जिस आधारपर रहकर (प्रजापतिः सर्वान् लोकान् अधारयत्) प्रजापतिने सब लोकोंको धारण किया (तं स्कंभ०) उस सर्वाधारके विषयमें बता कि वह कौन है? ॥ ७ ॥

(यत् परमं अवमं यत् च मध्यमं) जो श्रेष्ठ, निकृष्ट और जो मध्यम (विश्वरूपं प्रजापतिः ससृजे) विश्वरूप प्रजापतिने उत्पन्न किया है, (तत्र स्कम्भः कियता प्रविवेश) वहां सर्वाधारने कितना प्रवेश किया है और (यत् न प्राविशत् तत् कियत् बभूव) जहां वह प्रविष्ट नहीं हुआ वह कितना बचा हुआ है? ॥ ८ ॥

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥ ९ ॥
यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १० ॥
यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ११ ॥
यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १२ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥
यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १४ ॥

अर्थ— (स्कम्भ भूत कियता प्रविवेश) यह सर्वाधार भूतकालके विश्वमें कितने अंशसे प्रविष्ट हुवा था ? (अस्य कियत् भविष्यत् अनु-आशये) इसका कितना अंश भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले विश्वमें प्रविष्ट होगा ? (यत् एकं अंगं सहस्रधा अकृणोत्) जिसने अपने एक अंगको ही हजारों प्रकारोंमें वर्तमानकालमें प्रकट किया है (तत्र स्कंभः कियता प्रविवेश) वहां सर्वाधार कितना प्रविष्ट हुआ है ? ॥ ९ ॥

(यत्र लोकान् कोशान्) जिसमें सब लोक और कोश रहते हैं और (आपः ब्रह्म) जहां जल और ब्रह्म रहता है ऐसा (जनाः विदुः) लोग जानते हैं (असत् च सत् च यत्र अन्तः) सत् और असत् जहां मिला है (तं स्कंभं ब्रूहि) उस सर्वाधारका वर्णन मुझे कह (सः कतम स्वित् एव) वह भला कौन है ? ॥ १० ॥

(यत्र) जिसके आधारसे (पराक्रम्य तपः) बडा प्रयत्न करके तप (उत्तरं व्रतं धारयति) उच्चतर व्रतका धारण करता है तथा जहां (यत्र ऋतं श्रद्धा च आपः ब्रह्म) ऋत, श्रद्धा, आप, और ब्रह्म (समाहिताः) सुस्थिर रह रहे हैं (तं स्कंभ ब्रूहि०) उस सर्वाधारके विषयमें बता कि वह कौन है ? ॥ ११ ॥

(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः अन्तरिक्षं द्यौः) पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक (अध्याहिता) टिके हुए हैं और (यत्र अग्निः चन्द्रमाः सूर्यः वातः) जिसमें अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायु (आर्पिताः तिष्ठन्ति) आश्रय लेकर रहते हैं उस (तं स्कंभं) सर्वाधारके विषयमें बता कि वह कौन है ? ॥ १२ ॥

(सर्वे त्रयस्त्रिंशत् देवाः) सब तैंतीस देव (यस्य अंगे समाहिताः) जिसके शरीरमें स्थिर हुए हैं (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें बता कि वह कौन है ? ॥ १३ ॥

(यत्र प्रथमजाः ऋषयः) जिसमें पहिले बने हुए ऋषि तथा (ऋचः साम यजुः मही) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद व बडा ब्रह्मविद्या अर्थात् अथर्ववेद स्थित हैं, (यस्मिन् एक ऋषिः आर्पितः) जिसमें एक मुख्य ऋषि आधार लिये हुए है, (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १४ ॥

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १५ ॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥
ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥
यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥
यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १९ ॥
यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥

अर्थ—(यत्र पुरुषे) जिस पुरुषमें (अमृतं च मृत्युः च समाहिते) अमरत्व और मरण रहता है, (यस्य नाड्यः समुद्रः) जिसकी नाडियां समुद्र हैं, जो (पुरुषे अधि समाहिताः) जो पुरुषके शरीरमें हैं, (तं स्कम्भं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १५ ॥

(चतस्रः प्रथमाः प्रदिशः) चारों पाहली दिशाएं (यत्र नाड्यः तिष्ठन्ति) जहां नाडियां होकर रह रही हैं, (यत्र यज्ञः पराक्रान्तः) जहां यज्ञ पराक्रम कर रहा है (तं स्कंभं०) उस स्कम्भके विषयमें बता कि वह कौनसा है ? ॥ १६ ॥

(ये पुरुषे ब्रह्म विदुः) जो इस मनुष्यके मध्यमें ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं (ते विदुः परमेष्ठिनं) वे परमेष्ठीको जानते हैं, (यः वेद परमेष्ठिनं) जो परमेष्ठीको जानता है और (यः च प्रजापतिं वेद) जो प्रजापतिको जानता है, और (ये ज्येष्ठं ब्राह्मणं विदुः) जो ज्येष्ठ ब्राह्मणको जानते हैं (ते स्कम्भं अनुसंविदुः) वे सर्वाधारको अच्छी तरह जानते हैं ॥ १७ ॥

(यस्य शिरः वैश्वानरः) जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, (चक्षुः अंगिरसः अभवन्) और आंख अंगिरस हैं, (यस्य अंगानि यातवः) जिसके अवयव यातु-राक्षस-हैं (तं स्कंभं०) उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १८ ॥

(यस्य मुखं ब्रह्म आहुः) जिसका मुख ब्रह्म है ऐसा कहते हैं, (उत मधुकशां जिह्वां) और जिह्वा मधुकशा है । (यस्य ऊधः विराजं) जिसके स्तन-दुग्धाशय यह विराट् स्वरूप है (तं स्कंभं०) उस स्कंभके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ १९ ॥

(यस्मात् ऋचः अपातक्षन्) जिससे ऋचाएं बनीं, (यस्मात् यजुः अपाकषन्) जिससे यजु बने, (यस्य लोमानि सामानि) जिसके लोम साम हैं, जिसका (मुखं अथर्वा आंगिरसः) मुख आंगिरस अथर्वा है, (तं स्कंभं०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ? ॥ २० ॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ २४ ॥

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

अर्थ— (असत्-शाखां प्रतिष्ठन्तीं) असत्से उत्पन्न हुई और स्थिरतासे रहनेवाली एक शाखा है उसे (जनाः परमं इव विदु) मनुष्य परमश्रेष्ठ तत्त्व है ऐसा मानते हैं। (उत ये अवरे सत् मन्यन्ते) और जो दूसरे लोग हैं वे उसको सत् ही मानते हैं (ते शाखां उपासते) वे उसी शाखाकी उपासना करते हैं ॥ २१ ॥

(यत्र) जहां आदित्य, रुद्र और वसु (समाहिताः) रहते हैं, (भूत भव्य च) भूत, वर्तमान और भविष्य तथा (यत्र सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः) जहां ये सब लोक आधार लिये हुए हैं (तं स्कम्भ०) उस सर्वाधारके विषयमें कह कि वह कौन है ॥ २२ ॥

(त्रय त्रिंशत् देवाः) तेंतीस देव (यस्य निधिं सर्वदा रक्षन्ति) जिसके निधिकी सर्वदा रक्षा करते हैं, हे देवो! (यं अभिरक्षथ) जिसकी तुम रक्षा करते हो, (तं निधिं अद्य कः वेद) उस निधिको आज कौन जानता है? ॥ २३ ॥

(यत्र ब्रह्मविदः देवाः) जहां ब्रह्म जाननेवाले विद्वान् ज्ञानी (ज्येष्ठं ब्रह्म उपासते) श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयपूर्वक उनको प्रत्यक्ष जानेगा (सः वेदिता ब्रह्मा स्यात्) वह ज्ञाता ब्रह्मा हो जायगा ॥ २४ ॥

(ते देवाः बृहन्तः नाम) वे देव बडे प्रसिद्ध हैं, (ये असतः परि जज्ञिरे) जो असत् से अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, (तत् एकं स्कम्भस्य अंगं) वह स्कंभका एक अंग है, जिसको (जनाः असत् परः आहुः) ज्ञानी लोग असत् परंतु श्रेष्ठ कहते हैं ॥ २५ ॥

(यत्र स्कंभः प्रजनयन्) जहां सर्वाधार आत्मा सृष्टि-उत्पत्ति करता हुआ (पुराणं व्यवर्तयत्) पुराणको ही विवर्तित करता है, (तत् स्कम्भस्य एकं अंगं) वह सर्वाधार आत्माका एक अंग (पुराणं अनुसंविदुः) पुराण करके ही जानते हैं ॥ २६ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥
स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥
इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥
नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥
यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

अर्थ— (अस्य अंगे गात्रा) जिसके शरीरके अवयवोंमें (त्रय त्रिंशत् देवा विभेजिरे) तैंतीस देव विभक्त होकर रह रहे हैं, (तान् वै त्रय त्रिंशत् देवान्) उन तैंतीस देवोंको (एके ब्रह्मविदः विदुः) अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं ॥ २७ ॥

(जनाः हिरण्यगर्भं) लोग हिरण्यगर्भको (परमं अनति-उद्यं विदुः) श्रेष्ठ और उच्च जानते हैं, (लोके अन्तरा) इस लोकके बीचमें (अग्रे स्कम्भः तत् हिरण्य प्रासिञ्चत्) प्रारंभमें सर्वाधार आत्माने ही इस सुवर्णमय हिरण्यगर्भका निर्माण किया ॥ २८ ॥

(स्कंभे लोकाः) स्कम्भ सर्वाधार परमात्मा है, उसके आधारसे सब लोक रह रहे हैं, (स्कंभे तपः) उसीमें तप रहता है, (स्कंभे अधि ऋत आहित) उसीके आधारसे ऋत रहता है, हे (स्कंभ) सर्वाधार ! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) में तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं, कि तुझ (इन्द्रे सर्वं समाहितं) इन्द्रमें ही यह सब समाया हुआ है ॥ २९ ॥

(इन्द्रे) इन्द्रमें सब लोक, तप और ऋत रहते हैं। हे इन्द्र ! मैं (त्वा प्रत्यक्षं वेद) तुझे प्रत्यक्ष जानता हूं कि तू ही (स्कंभे सर्वं प्रतिष्ठितम्) स्कंभ है जिसमें यह सब समाया हुआ है ॥ ३० ॥

(सूर्यात् पुरा उषसः पुरा) सूर्योदयके पूर्व उषःकालके भी पूर्व (नाम्ना नाम जोहवीति) नामके साथ ईश्वरके यशका गान करता है, ईशभक्ति करता है। (यत् अजः प्रथमं स बभूव) जब इस प्रकार प्रयत्नशील आत्मा प्रथम ईश्वरसे सम्यक् संगत होता है, (सः ह तत् स्वराज्यं इयाय) वही उस स्वराज्य-स्वात्मानंद स्वराज्यको प्राप्त करता है कि (यस्मात् अन्यत् परं भूत न अस्ति) जिससे दूसरा श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है ॥ ३१ ॥

(यस्य भूमिः प्रमा) जिसकी भूमि एक पांवका प्रमाण है, (उत अन्तरिक्ष उदरं) और अन्तरिक्ष उदर है, (यः दिवं मूर्धानं चक्रे) जिसने द्युलोकको अपना सिर बनाया है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३२ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥
स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥ ३५ ॥
यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥
कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥ ३७ ॥
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—(यस्य सूर्यः चक्षुः) जिसकी आंख सूर्य, (पुनः नवः चन्द्रमाः च) और फिर फिर नया बननेवाला चन्द्रमा है, (यः अग्निं आस्यं चक्रे) जिसने अग्निको अपना मुख बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३३ ॥

(यस्य प्राणापानौ वातः) जिसके प्राण और अपान वायु हैं, और (चक्षुः अंगिरसः अभवन्) आंख आंगिरस बने हुए हैं, (यः दिशः प्रज्ञानीः चक्रे) जिसने दिशाओंको प्रज्ञा साधन करनेवाली बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३४ ॥

(स्कंभः इमे उभे द्यावापृथिवी दाधार) इस सर्वाधारने ये पृथ्वी और द्युलोक धारण किये हैं, (स्कंभः उरु अन्तरिक्षं दाधार) उसीने विस्तृत अन्तरिक्ष धारण किया है, (स्कम्भः षट् उर्वीः प्रदिशः दाधार) उसीने ये छः बडी दिशाएं धारण की हैं, (स्कम्भः इदं विश्वं भुवनं आविवेश) वही इस सब विश्वमें प्रविष्ट हुआ है ॥ ३५ ॥

(यः तपसः श्रमात् जातः) जो तापके श्रमसे प्रकट होकर (सर्वान् लोकान् सं आनशे) सब लोकोंको व्यापता है, (यः सोमं केवलं चक्रे) जिसने सोमको ही केवल (एक ही उत्तम औषधि) बनाया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३६ ॥

(कथं वातः न ईलयति) क्यों वायु स्थिर नहीं रहता ? (कथं मनः न रमते) क्यों मन नहीं रमता ? (किं सत्यं प्र-ईप्सन्तीः आपः) क्या सत्यको प्राप्त करनेकी इच्छासे जल (कदा चन न ईलयन्ति) कभी स्थिर नहीं रहता ॥ ३७ ॥

(भुवनस्य मध्ये महत् यक्षं) इस विश्वके मध्यमें बडा पूज्य एक देव है, (तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे) ताप उष्णता देनेमें विशेष क्रमणवाला और जलके पृष्ठभागमें है, (वृक्षस्य स्कन्धः परितः शाखाः इव) जिस तरह वृक्षका स्कन्ध और उसके चारों ओर शाखा होती हैं उसी तरह (तस्मिन् ये उ के च देवाः श्रयन्ते) उसीमें जो कोई देव हैं, रहते हैं ॥ ३८ ॥

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥
अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥
यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद ।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥
तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् ।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥ ४२ ॥
तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात् ।
पुमानेनद्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद्वि जभाराधि नाके ॥ ४३ ॥
इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥

अर्थ— (**यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां**) जिसके लिये हाथों पाओं (**वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा**) वाणी, कानों और आंखोंसे (**देवाः सदा अमितं बलिं यस्मै विमिते प्रयच्छन्ति**) देव सदा अपरिमित उपहार जिस अपरिमितके लिये देते हैं, (**स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्वित् एव सः**) उस सर्वाधारके विषयमें कह, कि वह कौन है ? ॥ ३९ ॥

(**तस्य तमः अपहतं**) उसका अज्ञान दूर हो चुका है, (**सः पाप्मना व्यावृत्तः**) वह पापसे दूर हो चुका है, (**यानि त्रीणि ज्योतींषि**) जो तीन ज्योतियां हैं, (**सर्वाणि तस्मिन् प्रजापतौ**) वे सब प्रजापतिमें हैं ॥ ४० ॥

(**यः सलिले तिष्ठन्तं हिरण्ययं वेतसं वेद**) जो जलमें रखे हुए सुवर्णके वेतसको जानता है, (**सः वै गुह्यः प्रजापतिः**) वही गुह्य प्रजापति है ॥ ४१ ॥

(**एके विरूपे युवती**) दो विरुद्ध रूपवाली स्त्रियां (**षट् मयूख तंत्र**) छ खूंटियोंवाला ताना (**अभि आ क्रामं वयतः**) बारबार घूमघूमकर बुनती है, उनमेंसे (**अन्या तन्तून् प्रतिरते**) दूसरी धागोंको फैलाती है और (**अन्या धत्ते**) दूसरी उनको धारण करती है, (**न अपवृञ्जाते**) न विश्राम करती हैं और (**न गमातो अन्तं**) न समाप्त करती हैं ॥ ४२ ॥

(**परिनृत्यन्त्योः इव तयोः**) नाचती हुई सी उन दोनों स्त्रियोंमेंसे (**यतरा परस्तात् न विजानामि**) कौनसी परली है, यह मैं नहीं जानता । (**एनत् पुमान् वयति**) इसको एक पुरुष बुनता है (**एनत् पुमान् उद्गृणत्ति**) इसको दूसरा पुरुष उधेडता है और वह (**अधि नाके विजभार**) स्वर्गमें इसको धारण करता है ॥ ४३ ॥

(**इमे मयूखाः दिवं उप तस्तभुः**) ये खूंटियां द्युलोकको थाम कर धारण करती हैं । (**सामानि वातवे तसराणि चक्रुः**) सामोंको बुननेके लिये तन्तुजाल बनाये हैं ॥ ४४ ॥

ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य ।

(का. ६, सू. ३३)

(ऋषिः— जाटिकायन । देवता— इन्द्रः)

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः । इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ १ ॥
नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥ २ ॥
स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम् ।
इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (जनाः) लोगो ! (अस्य तुजे) इस प्रभुके बलसे (इदं रजः) यह लोकलोकान्तर, (वनं स्वः) यह वन अर्थात् पृथ्वी और यह स्वर्ग (आ युजः) संयुक्त हुए हैं। इतना (इन्द्रस्य बृहत् रन्त्यं) इस प्रभुका बडा रमणीय सामर्थ्य है ॥ १ ॥

(धृषितः) पराजित हुआ शत्रु (धृषणः शवः न आधृषे) हरानेवालेके बलकी बराबरी नहीं कर सकता और न (आदधृषते) उसको हरा सकता है। (यथा पुरा व्यथिः) जिस प्रकार पहिले पीडासे थका हुआ शत्रु (इन्द्रस्य श्रवः शवः न आधृषे) प्रभुके प्रशंसनीय बलको गिरा नहीं सकता ॥ २ ॥

(इन्द्रः जनेषु तुविष्टमः पतिः आ) ईश्वर सब जन्म लेनेवालोंसे भी बडा समर्थ प्रभु है। (सः नः तां उरुं पिशङ्गसदृशं रयिं ददातु) वह हम सबको उस बडे सुवर्णसदृश धनको देवे ॥ ३ ॥

इसके सामर्थ्यसे यह भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और स्वर्ग लोक स्थिर हैं। ऐसा प्रचण्ड सामर्थ्य उस प्रभुका है। कोई शत्रु उस प्रभुका पराजय नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी शक्ति ही विलक्षण प्रभावशाली है। सब उत्पन्न हुए पदार्थोंसे वह प्रभु अधिक समर्थ है, इसलिये वह हमें उत्तम धन देवे ॥

परमेश्वरकी महिमा ।

(काण्ड ६, सूक्त ६१)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— रुद्रः)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् ।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥

अर्थ— (आपः मह्यं मधुमत् आ ईरयन्तां) जल मेरे लिये मधुररससे युक्त होकर बहें। (सूरः मह्यं ज्योतिषे कं अभरत्) सूर्यने मेरे कारण प्रकाशके लिये अपनी किरणें चारों ओर भर दी हैं। (उत विश्वे तपोजाः देवाः) और सब प्रकाश देनेवाले देव (सविता देवः च: मह्यं व्यचः धात्) और सूर्य देव भी मेरे लिये विस्तारको धारण करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— जल परमेश्वरकी प्रेरणासे मधुररसके साथ बह रहा है, सूर्य उसीके लिये प्रकाशता है। सब अन्य देव उसीकी महिमाका विस्तार कर रहे हैं ॥ १ ॥

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥
अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

अर्थ— (अहं पृथिवीं उत द्यां विवेच) मैंने पृथ्वी और द्युलोकको अलग अलग किया है। (अहं सप्त ऋतून् साकं अजनयं) मैंने सात ऋतुओंको साथ साथ बनाया है। (अह सत्यं अनृतं यत्) सत्य और अनृत जो भी वाणी बोली जाती है वह (विशः दैवीं वाचं अहं परिवदामि) मनुष्योंकी दैवी वाणी मैं ही सब प्रकारसे बोलता हूं ॥ २ ॥

(अहं पृथिवीं उत द्यां जजान) मैंने पृथ्वी और द्युलोकको उत्पन्न किया है। (अहं सप्त ऋतून् सिंधून् अजनयम्) मैंने सात ऋतुओं और सिंधुओंको बनाया है। (अहं सत्यं अनृतं यत् वदामि) मैं सत्य या अनृत जो भी बोलना होता है वह बोलता हू। और (सखायौ अग्नीषोमौ अजुषे) मित्र, अग्नि और सोमको एक दूसरेके साथ मिलाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— पृथ्वी, द्युलोक उसी ईश्वरने बनाये हैं, छः ऋतु और अधिकमास मिलकर सात उसी द्वारा बनाये गये हैं। मनुष्योंकी वाणी उसीकी प्रेरणासे बोली जाती है ॥ २ ॥

सप्त समुद्र और सात नदियां उसीकी आज्ञासे उत्पन्न हुई हैं, अंदरकी प्रेरणा वही करता है और अग्निके साथ सोमशक्ति उसने ही जोडी है ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना परमेश्वर करता है यह बात स्वयं परमेश्वरने इस सूक्तमें कही है।

तेजस्वी ईश्वर।

(काण्ड ६, सूक्त ३४)

(ऋषिः— चातनः । देवता— अग्निः ।)

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् । स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥
यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा । स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत । स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

अर्थ — (क्षितीनां वृषभाय अग्नये) पृथ्वी आदि सब लोकोंके महाबलवान् तेजस्वी ईश्वरके लिये (वाचं प्र ईरय) स्तुतिरूप अपनी वाणीको प्रेरित करो। (यः अग्निः) जो तेजस्वी प्रभु (तिग्मेन शोचिषा रक्षांसि निजूर्वति) अपने तीक्ष्ण प्रकाशसे राक्षसोंको नष्ट करता है। (यः परस्याः परावतः धन्व) जो दूरसे दूरवाले स्थानको (तिरः अतिरोचते) पार करके चमकता है। (यः विश्वा भुवना अभिविपश्यति) जो सब भुवनोंको अलग अलग भी देखता है और (सं पश्यति) मिले जुले भी देखता है। (यः शुक्रः अग्निः) जो तेजस्वी प्रकाशक देव (अस्य रजसः पारे अजायत) इस लोकलोकान्तरके परे प्रकट रहता है (सः नः द्विषः अति पर्षद्) वह हमें सब शत्रुओंसे दूर करके परिपूर्ण बनावे ॥ १-५ ॥

ईश्वर सबसे महाबलवान् है, वह अपने तेजसे ही सब दुष्टोंको नष्टभ्रष्ट कर देता है। वह जैसा पास है उसी प्रकार दूरसे दूरवाले स्थानपर भी है। वह सब पदार्थमात्रको अलग अलग और मिलोजुली अवस्थामें भी यथावत् जानता है। वह अत्यंत तेजस्वी है और इस दृश्य जगत्के परे विराजमान है। वह सब दुष्टोंका शत्रुओंसे बचा कर परिपूर्ण बनाता है।

विजयी इन्द्र ।

(कां. ६, सू. २)

(ऋषि — अथर्वा । देवता — सोम , वनस्पति ।)

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत । स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥
आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः । विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥
सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे । युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ऋत्विजः) ऋतुओंके अनुकूल यज्ञ करनेवालो ! (इन्द्राय सोमं सुनोत) इन्द्रके लिये सोमरस निचोडो, (च आ धावत) और उसको अच्छा प्रकार शोधो । (यः स्तोतुः मे वचः) जो स्तुति करनेवाले मेरी स्तुति और (हवं च) मेरी प्रार्थना (शृणवत्) सुने ॥ १ ॥

(यं अन्धसः इन्दवः) जिसके प्रति अन्नरसके अंश (आविशन्ति) पहुंच जाते हैं (वृक्षं वयः न) वृक्षके प्रति जैसे पक्षी जाते हैं । हे (विरप्शिन्) विशालयुक्त वीर ! (रक्षस्विनीः मृधः वि जहि) आसुरी शक्तिके शत्रुओंका नाश कर ॥ २ ॥

(सोमपाव्ने वज्रिणे इन्द्राय) सोमपान करनेवाले शस्त्रधारी इन्द्रके लिये (सोमं सुनोत) सोमका रस निचोडो । (सः पुरुष्टुत जेता युवा ईशान) वह प्रशंसनीय विजयी युवा ईश है ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे याजको ! इन्द्र देवके लिये सोमरस निचोडो और उस रसको छानकर पवित्र बनाओ । वह प्रभु ऐसा है कि जो हमारी प्रार्थना सुनता है और हमारे मनोरथ पूर्ण करता है ॥ १ ॥

उसी प्रभुके प्रति यह सोमयज्ञ पहुंचता है । हे वीर ! आसुरी भाववाले शत्रुओंको परास्त कर ॥ २ ॥

सोमपान करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये सोमरस तैयार करो । वही इन्द्र प्रशंसनीय विजयी युवा वीर है और वही सबका प्रभु है ॥ ३ ॥

इन्द्रके लिये सोमरस ।

सोमरस निकालकर उसको छानकर पवित्र करके उसका प्रभुके लिये समर्पण करना चाहिये और अवशिष्ट रहे हुए रसका स्वयं सेवन करना चाहिये । यह सोमरस बडा बलवर्धक, पौष्टिक आरोग्यवर्धक, उत्साहवर्धक और तेजस्विता बढानेवाला है । ईश्वरको भक्तिपूर्वक समर्पण करनेके बाद अवशिष्ट भक्षण करनेका महत्व इस सूक्तमें है ।

तृतीय मंत्रमें ' ईशान ' शब्द है जो इन्द्र शब्दका विशेषण होनेसे यहांका वर्णन परमात्मपरक होनेका निश्चय कराता है । ' युवा, जेता, इन्द्र ' आदि शब्द भी उसी प्रभुके वाचक प्रसिद्ध हैं ।

विजयी देव।

(काण्ड ७, सूक्त ४४ [४५])

(ऋषिः— प्रस्कण्वः । देवता— इन्द्रः, विष्णु ।)

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥ १ ॥

अर्थ— (उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं। वे कभी (न परा जयेथे) पराजित नहीं होते। (एनयोः कतरः चन न पराजिग्ये) इनमेंसे एक भी कभी पराजित नहीं होता। (इन्द्र· विष्णो च) हे इन्द्र और हे विष्णु! (यत् अपस्पृधेथां) जब तुम दोनों स्पर्धासे युद्ध करते हो, (तत् सहस्रं त्रेधा वि ऐरयेथां) तब हजारों शत्रुओंको तीन प्रकारसे भगा देते हैं ॥ १ ॥

'विष्णु' नाम व्यापक परमात्माका है और 'इन्द्र' नाम शरीरस्थ इंद्रियोंको अपनी शक्तिका प्रदान करनेवाले जीवात्माका है। ये दोनों विजयी हैं। ये ही नर और नारायण हैं ये शरीररूपी एक ही रथपर रहते हैं और विजय प्राप्त करते हैं। ये दोनों तथा इनमेंसे प्रत्येक विजयशाली है। ये अपने शत्रुको अनेक प्रकारसे भगा देते हैं। पाठक इस मंत्रसे यह भाव मनमें समझें कि विजयी इन्द्र तो उन्हींका जीवात्मा है और विष्णु उसका परम मित्र परमात्मा है। इनकी विजयी शक्ति इनके अन्दर है, इस लिये यदि वे इस शक्तिका योग्य उपयोग कर सकेंगे, तो उनकी निःसन्देह विजय होगी।

प्रभुका ध्यान।

(काण्ड ७, सूक्त ७१,(७४))

(ऋषि — अथर्वा । देवता— अग्निः ।)

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि । धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सहस्य अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव! (वयं पुरं विप्रं धृषद्वर्णं) हम सब परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका धर्षण करनेवाले (भंगुरावतः हन्तारं) विनाशकको मारनेवाले (त्वा दिवे दिवे परि धीमहि) तुम ईश्वरको प्रतिदिन सब ओरसे स्तुति गाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— परमेश्वर बलवान्, अग्नि समान तेजस्वी, सर्वत्र परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका पराजय करनेवाला, घातपात करने वालेका विनाश करनेवाला है, अतः उसकी सब प्रकारसे स्तुति करना योग्य है ॥ १ ॥

मनुष्य ईश्वरके गुणगान गावे, उन गुणोंको अपने अंदर धारण करे और ईश्वरके गुणोंको अपनेमें बढावे। मनुष्य इन गुणोंको धारण करे यह बतानेके लिये ही ईश्वरके गुणोंका वर्णन स्थान स्थानपर किया होता है। यहां अग्नि नामसे ईश्वरका वर्णन है। अग्नि भी उसी प्रभुकी अमितशक्ति लेकर अग्नि गुणसे युक्त बना है। इसी प्रकार अन्यान्य नाम उसी एक प्रभुके लिये प्रयुक्त होते हैं।

बचानेवाला देव ।

(काण्ड ७, सूक्त ६३, (६५))

(ऋषि — मारीच कश्यप । देवता— जातवेदा ।)

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात् ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

अर्थ— (पृतनाजित सहमान अग्नि) शत्रुसेनाका पराजय करनेवाले सामर्थ्यवान् तेजस्वी देवको हम (उक्थैः परमात् सधस्थात् हवामहे) स्तोत्रोंसे उत्कृष्ट स्थानसे बुलाते हैं । (स नः विश्वा दुर्गाणि अति पर्षत्) वह हमें सब दुःखोंसे पार ले जावें । और (वह अग्निः देव) तेजस्वी देव (दुरितानि अति क्षामत्) दुरवस्थाओंका नाश करे ॥१॥

भावार्थ— शत्रुका पराभव करनेवाला और शत्रुके आक्रमणोंको सहनेवाला तेजस्वी प्रभु है, उसका हम गुणगान करते हैं और उसको अपने श्रेष्ठ स्थानसे यहां अपने पास बुलाते हैं । वह निःसन्देह हमें कष्टोंसे बचावेगा और कठिनताओंसे पार करेगा ॥ १ ॥

इस प्रभुकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना हरएक मनुष्य करे और उसके ये गुण अपनेमें बढावे । अर्थात् उपासक भी शत्रु सेनाका पराभव करे, शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् न भाग जावे दूसरोंको कष्टोंसे बचावे और दुरावस्थामें उनका सहायक बने ।

मनुष्योंका निरीक्षक देव ।

(का. ७, सू. ४१, (४२))

(ऋषि — प्रस्कण्वः । देवता— श्येन ।)

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥ १ ॥
श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥ २ ॥

अर्थ— (अवसान-दर्शः, नृचक्षाः, श्येनः) अन्तिम अवस्थाको समझनेवाला, सब मनुष्योंको यथावत् जाननेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान ईश्वर, (धन्वानि अति अपः अति ततर्द) रेतीले देशोंके ऊपर भी अत्यत जलकी वृष्टि करता है । तथा (विश्वानि अवरा रजांसि) सब निम्न भागके लोकोंके प्रति (इन्द्रेण सख्या शिवः) अपने मित्र इन्द्रके साथ कल्याण रूप होकर (तरन्) सबको पार करता हुआ (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(नृचक्षाः दिव्य सुपर्णः) मनुष्योंका निरीक्षक, द्युलोकमें रहनेवाला, जिसकी उत्तम किरण हैं, (सहस्रपात् शत योनिः) सहस्र पावोंसे सर्वत्र संचार करनेवाला, सेकडों प्रकारका उत्पादक शक्तियोंसे युक्त, (वयोधाः श्येनः) अन्नको देनेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान देव (यत् पराभृत वसु) जो अन्योंसे प्राप्त होनेवाला धन है, वह धन (सः न नियच्छात्) वह देव हमें देवे । (अस्माक पितृषु स्वधावत् अस्तु) हमारे पितरोंमें अन्नवाला भोग सदा रहे ॥ २ ॥

सब मनुष्योंकी अन्तिम अवस्था कैसी होगी इसका यथार्थ ज्ञान रखनेवाला, सब मनुष्योंके कर्मोंका योग्य निरीक्षण करनेवाला, द्युलोकमें प्रकाशसे पूर्ण होनेवाला, जो हजारों प्रकारकी गतियोंमें सर्वत्र सचार कर सकता है, और जो सैकडों प्रकारकी उत्पादक शक्तियोंसे विविध पदार्थोंका उत्पन्न कर सकता है, जो सबको धन देता है, ऐसा प्रकाशमय देव रेतील प्रदेशोंपर भी बहुत वृष्टि करता है, अर्थात् अन्यत्र वृक्षवनस्पतियोंपर तो करता ही है। यह देव द्युलोकसे अपनी ओर जो अन्यान्य लोक लोकान्तर हैं, उनका धारण करता है, उनका कल्याण करता है, सबको दु खसे पार करता है। इन्द्र अर्थात् जीवात्माका परम मित्र यह है और यह भूमिपर भी सर्वत्र उपस्थित होता है। यह देव अन्योंसे जो धन प्राप्त होता है वह सब उपासकोंको देता ही है, परतु अन्य भी बहुत कल्याणकारी धन देता है। वह देव हमारे पितरोंको तथा हम सबको अन्नादि पदार्थ देवे।

आत्माकी उपासना।

(काण्ड ७, सूक्त २१, (२२))

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— आत्मा)

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥ १ ॥

अर्थ— (विश्वे) आप सब लोग (दिवः पतिं वचसा समेत) प्रकाशलोकके स्वामी आत्माको स्तुतिके वचनोंसे प्राप्त करो। वह (एकः जनानां विभूः अ-तिथिः) एक है, सब जनों अर्थात् प्राणियोंमें विभू है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है। (सः पूर्व्यः) वह सबसे पूर्व अवस्थित होता हुआ (नूतनं आविवासत्) नूतन उत्पन्न शरीरोंमें भी बसता है। (तं एकं इत्) उस एकके प्रति (पुरु वर्तनि) बहुत प्रकारके मार्ग (अनुवावृते) पहुचते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— सब लोग इकट्ठे होकर प्रकाशक स्वामी आत्माकी अपने शब्दोंसे स्तुति करें। वह आत्मा एक है, और सब जनों तथा प्राणियोंके अन्दर विद्यमान है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है। सबसे पूर्व वह विद्यमान था तथापि नूतनसे नूतन पदार्थमें भी वह रहता है। वह एकही है तथापि अनेक प्रकारके मार्ग उसके पास पहुचते हैं ॥ १ ॥

सब लोग आत्माका विचार करें। यह आत्मा एकही है अर्थात् सपूर्ण विश्वमें एकही है। यही स्वर्ग किंवा प्रकाशलोकका स्वामी है। हरएक मनुष्य इसके गुणोंका गान करे। यह अनेक उत्पन्न हुए पदार्थोंमें (विभुः) विद्यमान है और (अतिथिः) इसके आनेजानेकी तिथि किसीको पता नहीं लगती, अथवा (अतिथिः) यह सतत प्रेरणा करता है, सतत गति दे रहा है, विश्वको सतत घुमा रहा है किंवा यह अतिथिवत् पूज्य है। यह सब जगत् (पूर्व्य) पूर्व भी था, यह कभी नहीं था ऐसा नहीं, यह पुराण पुरुष होता हुआ भी नूतन शरीरोंमें, नूतनसे नूतन पदार्थमें रहता है। सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण यह किसी स्थानपर नहीं ऐसी बात नहीं, इसलिये पुरातन और नूतन सबही पदार्थोंमें रहता है। वह आत्मा यद्यपि एक है तथापि उसके पास पहुचनेके मार्ग अनेक हैं। किसी मार्गसे गये तो अन्तमें उसी एककी प्राप्ति होती है। कोई मार्ग दूरका हो या कोई समीपका हो, परतु प्रत्येक मार्ग वहांतक पहुचता है इसमें सदेह नहीं है।

इस सूक्तका वर्णन परमात्माका और कुछ मर्यादासे जीवात्माका भी है। परमात्माका क्षेत्र बडा और जीवात्माका छोटा है और इस रीतिसे क्षेत्रोंकी न्यूनाधिक मर्यादासे यह एकही वर्णन दोनोंका हो सकता है यह बात पाठक इस सूक्तके विचारके समय ध्यानमें धारण करें। जीवात्मापरक ' अतिथि ' शब्द ' अनिश्चित तिथिवाला ' इस अर्थमें होगा, और परमात्मापरक अर्थ होनेपर ' गतिमान् ' इस अर्थमें होगा। इस प्रकार पाठक अर्थ समझकर आत्माका गुणवर्णन दोनों क्षेत्रोंमें कैसा है, यह जानें और इसके विचारसे आत्माके गुणोंका अनुभव करें।

उपासना ।

(काण्ड ७, सूक्त १४, (१५))

(ऋषि — अथर्वा । देवता— सविता ।)

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् । अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि । हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥
सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥ ३ ॥
दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

अर्थ— (ओण्योः सवितारं) रक्षा करनेवाले द्युलोक और पृथ्वी लोकके (सवितारं) उत्पादक सूर्य, जो (कवि-क्रतुं) ज्ञानी और कर्मकर्ता है, (सत्य-सवं रत्नधां) सत्यका प्रेरक और रमणीयताका धारक है और जो (प्रियं मतिं) प्रिय और मननीय है, (त्यं देवं अभि अर्चामि) उस देवकी मैं पूजा करता हूं ॥ १ ॥

(यस्य अमति भाः) जिसका अपरिमित तेज (सवीमनि ऊर्ध्वा अदिद्युतत्) उसकी आज्ञामें रहकर ऊपर फैलता हुआ सर्वत्र प्रकाशित होता है । यह (सुक्रतुः हिरण्यपाणिः) उत्तम कर्म करनेवाला तेज ही जिसका हस्त है, ऐसा यह देव (कृपात् स्वः अभिमीत) अपनी शक्तिसे प्रकाशको निर्माण करता है ॥ २ ॥

हे देव ! तू (प्रथमाय पित्रे हि सावीः) पहिले पालकके लिये ही इसको उत्पन्न करता है । और (अस्मै वर्ष्माणं) इसको देह (अस्मै वरिमाणं) इसको श्रेष्ठता, हे (सवितः) सविता देव ! (अथ अस्मभ्यं वार्याणि) और हमारे लिये बहुत वरणीय पदार्थ, (भूरि पश्वः) बहुत पशु आदि सब (दिवः दिवः आसुव) प्रतिदिन प्रदान कर ॥ ३ ॥

हे देव ! तू (सविता वरेण्यः) सबका प्रेरक, श्रेष्ठ, और (दमूनाः) शमदमयुक्त मनवाला है । तू (पितृभ्यः रत्नं दक्षं आयूंषि) पिताओंको रत्न, बल और आयु (दधत्) धारण कराता रहा है । (अस्य धर्माणि सोमं पिबात्) इसीके धर्म शासनमें सोमरसरूपी अन्न लेते हैं। वह (एनं ममदत्) इसको आनंदित करता है । (परिज्मा इष्टे चित् क्रमते) वह गतिमान् इष्ट स्थानके प्रति संचार करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— संपूर्ण जगत्‌की रक्षा करनेवाला, सबका उत्पादक, ज्ञानी, जगत्कर्ता, सत्यका प्रेरक, रमणीय पदार्थोंका धार-णकर्ता, सबका प्यारा सबके द्वारा ध्यान करने योग्य जो सविता देव है, उसकी मैं उपासना करता हूं ॥ १ ॥

जिसकी कान्ति अपरिमित है, जिसकी आज्ञामें रहकर उसीका तेज सर्वत्र फैलाता है, जो उत्तम कार्य करता है और तेजके किरण ही जिसके हाथ हैं, वह अपनी शक्तिसे आत्मतेज फैलाता है ॥ २ ॥

इस देवने जो प्रारंभमें मनुष्य जन्मे थे, उनके लिये सब कुछ आवश्यक पदार्थ उत्पन्न किये थे । इन मनुष्योंके लिये देह, श्रेष्ठता, आदि वही देता है । वही हमारे लिये बहुत पदार्थ, पशु आदि सब प्रतिदिन देता ॥ ३ ॥

यह देव सबका प्रेरक, सबसे श्रेष्ठ, मानसिक शक्तियोंका दमन करनेवाला है । इसीने पूर्वकालके मनुष्योंको धन बल और आयु दी थी । इसीकी शक्तिसे प्रभावित हुई वनस्पतियां मनुष्यादि प्राणियोंको अन्नरस देकर पुष्ट करती हैं । इसीसे सबको आनंद मिलता है । यह देव सर्वत्र अप्रतिबद्ध रीतिसे संचार करता है ॥ ४ ॥

उपास्य देवका यह वर्णन स्पष्ट है । अतः इसका विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है । द्विजोंके गायत्री मंत्रकी जो देवता है, वही ' सविता ' देवता इसकी है और गायत्री मंत्रके " देव, सविता, वरेण्य, " इत्यादि शब्द जैसेके वैसे ही इस सूक्तमें हैं, मानो गायत्री मंत्रका ही अधिक स्पष्टीकरण इस सूक्तमें है । यदि पाठक गायत्रीमंत्रके साथ इस सूक्तकी तुलना करके देखेंगे, तो उनको अर्थज्ञानके विषयमें बहुत लाभ हो सकता है ।

सबका उत्पादक देव

(कां. ७, सू. १५ (१६))

(ऋषिः— भृगु । देवता—सविता)

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १ ॥

अर्थ— हे (**सवितः**) उत्पादक प्रभो ! (**अहं सत्यसवां**) मैं सत्यकी प्रेरणा करनेवाली, (**सुचित्रां विश्ववारां तां सुमतिं**) विलक्षण, सबकी रक्षा करनेवाली उस उत्तम बुद्धिको (**आवृणे**) स्वीकारता हूं, (**यां सहस्रधारां प्रपीनां**) जिस सहस्रधाराओंसे पुष्ट करनेवाली शक्तिको (**अस्य भगाय**) अपने भाग्यके लिये (**महिषः कण्वः अदुहत्**) बलवान् ज्ञानी दोहन करता है, प्राप्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस शक्तिको ज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं और श्रेष्ठ बनते हैं, उस सत्यप्रेरक विलक्षण शक्तिवाली, सबकी रक्षा करनेवाली, उत्तम मति रूप बुद्धि शक्तिको मैं स्वीकारता हूं ॥ १ ॥

गायत्री मंत्रमें कहा है कि, (**धियो यो नः प्रचोदयात्**) अपनी बुद्धियोंको सवितादेव चेतना देता है । वही वर्णन अन्य शब्दोंसे यहां है । गायत्रीमंत्रमें ' धी, धियः ' शब्द है, उसके बदले यहां ' सुमति ' शब्द है । पूर्व सूक्तके समान ही यह मंत्र गायत्री मंत्रका ही आशय विशेष स्पष्ट करता है ।

आत्माका प्रकाश

(काण्ड ६, सूक्त २२ [२३])

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— ब्रध्नः)

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥ १ ॥
ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन् ।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

अर्थ— (**अयं**) यह परमात्मा (**वि—धर्मणि**) विरुद्ध अथवा विविध धर्मवाले पदार्थोंकी संकीर्णतामें (**नः कवीनां सहस्रं दृशे**) हमारे ज्ञानियोंके हजारों प्रकारके दर्शनके लिये (**मतिः ज्योतिः आ**) उत्तम बुद्धि और ज्योतिरूप होता है ॥ १ ॥

वह (**ब्रध्नः**) बडा आत्मा रूपी सूर्य (**समीचीः अरेपसः**) उत्तम रीतिसे चलनेवाली, निर्दोष (**सचेतसः मन्युमत्तमाः**) ज्ञान देनेवाली, उत्साह बढानेवाली (**उषसः**) उष कालकी किरणोंको (**गोः स्वसरे चिते**) इंद्रियोंके स्वसंचारके मार्गको बतलानेके कार्यमें (**समैरयन्**) प्रेरित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ— विरुद्ध गुण धर्मवाले पदार्थोंमें व्यापनेवाला एक परमात्मा है । वह ज्ञानियोंको उत्तम मार्ग हजारों रीतियोंसे बताता है और उनको उत्तम बुद्धि तथा ज्योति देता है ॥ १ ॥

यह परमात्मा एक बडा सूर्य ही है, उसकी ज्ञान देनेवाली किरणें अत्यंत निर्मल, उत्साह बढानेवाली, प्रकाश देनेवाली, हमारे इंद्रियोंको संचारका मार्ग बतानेवाली हैं, अर्थात् उनसे शक्ति प्राप्त करके हमारी इंद्रियां कार्य करती हैं ॥ २ ॥

इस सूक्तमें जगत्का भी वर्णन है और उसमें व्यापनेवाले परमात्माका भी वर्णन है और उसकी उपासना करनेवाले भक्तोंका भी वर्णन है।

जगत्का वर्णन करनेवाला शब्द यह है- (विधर्माणि) विरुद्ध गुणधर्मवाला जगत् है, देखिये इसमें अग्नि उष्ण है और जल शीत है, पृथ्वी स्थिर है और वायु चंचल है, पृथ्वी आदि पदार्थ सावयव हैं तो आकाश निरवयव है। ऐसे विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंमें एक रस व्यापनेवाला यह आत्मा है। विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंकी सगतिमें सदा रहनेपर भी इसके गुणधर्मोंमें अदल बदल नहीं होता है। इसी प्रकार विरुद्ध गुणधर्मवाले लोगोंको अपने पास रखकर स्वयं उनके दुर्गुणोंसे दूर रखकर शुभगुणोंसे उनको उत्तेजित करना चाहिये।

जिस प्रकार परमात्मा सबको (मतिः ज्योतिः) सद्बुद्धि और प्रकाश देता है, उसी प्रकार अपने पास जो ज्ञान हो वह अन्योंको देना और अपने पास जितना प्रकाश हो उतना अंधेरेमें चलनेवाले दूसरे लोगोंको बतलाना चाहिये।

वह बडा है, उसकी किरणें निर्दोष हैं, मलहीन है, उत्साह देनेवाला है; इसी प्रकार मनुष्योंको उचित है कि, वे उच्च बनें, निर्दोष बनें, शुद्ध और पवित्र बनें, उत्साही बनें और दूसरोंको उच्च, निर्दोष शुद्ध, पवित्र और उत्साही बनावें। इस प्रकार आत्माके गुणोंका विचार करके वे गुण अपनेमें बढाने चाहिये।

ईश्वरकी भक्ति।

(काण्ड ७, सूक्त ९ (१०))

(ऋषि — उपरिबभ्रवः। देवता-पूषा)

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥
पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

अर्थ— (पूषा) पोषक ईश्वर (दिवः प्रपथे) द्युलोकके मार्गमें (पथां प्रपथे) अन्तरिक्षके विविध मार्गोंमें और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथ्वीके ऊपरके मार्गमें (अजनिष्ट) प्रकट होता है। (उभे प्रियतमे सधस्थे अभि) दोनों अत्यन्त प्रिय स्थानोंमें (प्रजानन् आ च परा च चरति) सबको ठीक ठीक जानता हुआ समीप और दूर विचरता है ॥ १ ॥

(पूषा सर्वाः इमाः आशाः अनुवेद) पोषणकर्ता देव सब इन दिशाओंको यथावत् जानता है। (सः अस्मान् अभयतमेन नेषत्) वह हम सबको उत्तम निर्भयताके मार्गसे ले जाता है। वह (स्वस्ति दाः आघृणिः) कल्याण करनेवाला, तेजस्वी, (सर्ववीरः) सब प्रकारके वीर, (प्रजानन्) सबको यथावत् जानता हुआ और (अप्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करनेवाला (पुरः एतु) हमारा अगुवा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— परमेश्वर इस त्रिलोकीके संपूर्ण स्थानोंमें उपस्थित है। वह सब सुखदायक स्थानोंको अथवा अवस्थाओंको जानता है और वह हम सबके पास भी है और दूर भी है ॥ १ ॥

वह सबका पोषण करता है और सबको यथावत् जानता है। वही हमको निर्भयताके मार्गसे ठीक प्रकार और सुरक्षित ले जाता है। वह हम सबका कल्याण करनेवाला, सबको तेज देनेवाला, सबमें वीरवृत्ति उत्पन्न करनेवाला, सबकी उन्नतिका मार्ग जाननेवाला, और कभी प्रमाद न करनेवाला है, वही हम सबका मार्गदर्शक होवे, अर्थात् हम सब उसको अपना मार्गदर्शक मानें ॥ २ ॥

पूषन्तव॑ व्रते व॒यं न रि॑ष्येम क॒दा च॒न । स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि ॥ ३ ॥
परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम् । पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु॒ सं न॒ष्टेन॑ गमेमहि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (पूषन्) पोषक देव ! (वयं तव व्रते कदाचन न रिष्येम) हम तेरे व्रतमें रहनेसे कभी नष्ट नहीं होंगे। (इह ते स्तोतारः स्मसि) यहां तेरे गुणोंका गान करते हुए हम रहेंगे ॥ ३ ॥

(पूषा परस्तात् दक्षिण हस्तं परि दधातु) पोषक देव अपना दायां हाथ हमें देवे। (नः नष्टं पुनः न. आजतु) हमारा विनष्ट हुआ पदार्थ पुन हमें प्राप्त होवे। (नष्टेन सं गमेमहि) हम विनष्ट हुवे पदार्थको पुन प्राप्त करेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस ईश्वरके मतानुष्ठानमें हम रहेंगे तो हम कभी विनाशको प्राप्त नहीं होंगे, इसलिये हम उसी ईश्वरके गुणगान करते हैं ॥ ३ ॥

वह पोषक ईश्वर अपना उत्तम सहारा हमें देवे। हमारे साधनोंमें जो विनष्ट हुआ हो, वह योग्य समयमें हमें पुनः प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

भक्तका विश्वास।

भक्तका ऐसा विश्वास होना चाहिये कि, परमेश्वर (पूषा) सबका पोषणकर्ता है। सबकी पुष्टि उसीकी पोषकशक्तिसे हो रही है। वह ईश्वर सर्वत्र उपस्थित है यह दूसरा विश्वास होना चाहिये कि, कोई स्थान उससे भिन्न नहीं है। तीसरा विश्वास ऐसा चाहिये कि वह हमारे सब बुरे भले कर्मोंको यथावत् जानता है और वह जैसे हमारे पास है वैसे ही दूर है। चौथा विश्वास ऐसा चाहिये कि, वह ईश्वर ही हमें निर्भयता देकर उत्तमसे उत्तम मार्गसे ले जाता है और कभी बुरे मार्गको नहीं बताता। वह सबका कल्याण करता है और सबको प्रकाशित करता है। कभी प्रमाद नहीं करता और सबको उत्तम प्रकार चलाता है।

पांचवां विश्वास ऐसा चाहिये कि, उसके मतानुसार चलनेसे किसीका कभी नाश नहीं होगा। छठा विश्वास ऐसा चाहिये कि, वह हमें उत्तम प्रकार सहारा देता रहता है, हमको ही उसके सहारेकी अपेक्षा करनी चाहिये। सातवां विश्वास ऐसा चाहिये कि, यदि किसी कारण हमारा कुछ नाश हो तो उसकी सहायतासे वह सब ठीक हो सकता है। ये विश्वास रखकर सब मनुष्योंको उचित है कि, वे ईश्वरके गुणगान करें और उन गुणोंकी धारणा अपने अन्दर करके अपनी उन्नतिका साधन करें।

अन्तर्यामी ईश्वरको नमन।

(कां. १ सूक्त १३)

(ऋषि:— भृग्वङ्गिराः। देवता- विद्युत)

नम॑स्ते अस्तु वि॒द्युते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑ । नम॑स्ते अस्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दू॒डाशे॒ अस्य॑सि ॥१॥

अर्थ— (विद्युते ते) विशेष प्रकाशमान तुझको (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे। (स्तनयित्नवे ते नमः) गडगडानेवाले तुझको नमस्कार होवे। (अश्मने ते नमः अस्तु) ओले रूप तुझको नमस्कार होवे। (येन) जिससे तू (दूडाशे अस्यसि) दुःखदायीको दूर फेंकता है ॥ १ ॥

भावार्थ— हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजली आदिमें अपना तेज प्रकट करती है, मेघोंमें गर्जना कराती है और अपनी शक्तिसे ओले भी बरसाती है, इन सब बातोंसे तू हमारे सब दुःखोंको दूर करती है, इसलिये तुझे हम सब प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि । मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२॥
प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः ।
विद्म ते धाम परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ ३ ॥
यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (**प्रवतः नपात्**) उच्चताको न गिरानेवाले ! (**ते नमः**) तेरे लिये नमस्कार होवे। (**यतः**) क्योंकि तू (**तपः समूहसि**) तपको इकट्ठा करता है। (**नः तनूभ्यः मृडय**) हमारे शरीरोंको सुख दे और (**तोकेभ्यः मयः कृधि**) बच्चोंके लिये सुख प्रदान कर ॥ २ ॥

हे (**प्रवतः नपात्**) उच्चतासे न गिरानेवाले ! (**तुभ्यं एव नमः अस्तु**) तुम्हारे लिये ही नमस्कार होवे। (**ते हेतये तपुषे च नमः कृण्मः**) तेरे वज्र और तेजके लिये नमस्कार करते हैं। (**यत् ते धाम**) जो तेरा स्थान (**परमं गुहा**) परम गुहा अर्थात् हृदयरूपी गुहामें है वह हम (**विद्म**) जानते हैं। उस (**समुद्रे अंतः**) समुद्रके अंदर (**नाभिः निहिता असि**) तू नाभिरूप रहा है ॥ ३ ॥

हे (**देवि**) देवी ! (**असनाय**) शत्रुपर फेंकनेके लिये (**धृष्णुं इषुं कृण्वानाः**) बलवान् सुदृढ बाण करनेवाले (**विश्वे देवाः**) सब देव (**यां त्वा**) जिस तुझको (**असृजन्त**) प्रकट करते हैं, (**तस्यै ते नमः अस्तु**) उस तेरे लिये नमस्कार होवे। (**सा**) वह तू (**विदथे गृणाना**) युद्धमें प्रशंसित होनेवाली (**नः मृड**) हमें सुख दे ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! तू तपोमय जीवनको हमारे अंदर इकट्ठा करती है अर्थात् हमारेमें तप.शक्ति बढाती है, उस तपसे हमें तथा हमारी संतानोंको सुखी कर, तेरे लिये प्रणाम करते हैं ॥ २ ॥

हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवी ईश्वरी ! हम जानते हैं कि तेरा स्थान हृदयरूपी श्रेष्ठ गुफामें है, वहांके समुद्रके अंदर तू मध्य आधाररूप होकर रहती है, इसलिये तेरा तेज और तेरे दुष्ट विघातक शस्त्रास्त्र अर्थात् तेरी शक्तिके सन्मुख हम सिर झुकाते हैं ॥ ३ ॥

हे देवी ईश्वरी ! शत्रुको दूर करनेके लिये शस्त्रास्त्र बनानेवाले सब विजयेच्छु लोग सदा तेरी भक्ति करते हैं इस कारण युद्धोंमें प्रशंसित होनेवाली तू हमें सुख दे। हम सब तुझे प्रणाम करते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तकी देवता ।

इस सूक्तकी देवता " विद्युत् " है। यद्यपि विद्युत्का अर्थ बिजली है, और इस सूक्तका प्रारंभ मेघस्थानीय विद्युत्के वर्णन से ही हुआ है, तथापि विद्युत्का वर्णन करना मुख्य उद्देश्य इस सूक्तमें नहीं है। जिस प्रकार अन्यान्य सूक्तोंमें अग्नि आदि देवताओंके मिषसे परमात्माका वर्णन होता है, उसी प्रकार विद्युत् रूप वो देवताके मिषसे जगन्माता, आदिमाता देवीके रूपमें, परमात्माका ही वर्णन यहां हुआ है, इस बातको स्पष्ट व्यक्त करनेवाले इसी सूक्तके निम्न मन्त्रभाग यहां देखने-योग्य हैं

१ " **प्रवतः न-पात्** " ' प्रवत् ' शब्दका अर्थ उच्च स्थान है। उच्च अवस्था, उच्चता आदि भाव इस शब्दसे प्रकट होते हैं। उच्चतासे न गिरानेवाला यह " प्रवतो न-पात् " का भावार्थ है। परमात्मा ही मनुष्यमात्रको उच्च अवस्थामें रख नेवाला और वहांसे न गिरानेवाला है। (मं. २, ३)

२ " **ते परमं धाम गुहा** "– तेरा परम धाम हृदयकी गुफामें है। हृदयमें आत्माका निवास है, वही उसका परम पवित्र निवास-स्थान है, यह उपनिषदादिमें अनेक बार आ गया है।

३ " समुद्रे अन्तः नाभिः निहितोऽसि। "— उसी समुद्रमें मध्यभाग तू है। हृदय गुफामें मानस सरोवर है, समुद्र है, विचारोंका अथवा भावनाओंका महासागर है। उसकी नाभि उसका आधार स्थान, वही आत्मा है। क्योंकि इस समुद्रकी सब लहरें उसकी ही प्रेरणासे अथवा शक्तिसे उठती हैं और उसीकी भक्तिसे इस समुद्रमें शांति स्थापित होती है।

४ " यां त्वा देवा असृजन्त विश्वे। "— जिस तुझको सब देव प्रकट करते हैं। आत्माका देवोंद्वारा प्रकाशित होना वेदमें अनंत स्थानोंमें स्पष्ट हुआ है। शरीरमें नेत्रादि सब इंद्रियोंद्वारा आत्माका प्रकाशन हो रहा है। यदि नेत्रादि इंद्रियाँ न हों, तो आत्माका अस्तित्व भी ज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार सब इंद्रियादि देव शरीरमें आत्माको प्रकट करते हैं। विश्वमें सूर्यचंद्रादि देव परमात्माकी महिमा प्रकट कर रहे हैं। मनुष्य समाजमें सब विद्वान् परमेश्वरकी प्रशंसा कह रहे हैं। इस प्रकार सर्वत्र देवोंद्वारा आत्मा प्रकाशित होता है।

५ " विदथे गृणाना। " युद्धके समय इसकी भक्ति की जाती है। मनुष्य संकटमें पडनेपर उसकी सहायताके लिये प्रार्थना करता है। थोडे सज्जनोंको छोड दिया जाय तो प्रायः साधारण मनुष्य संकट समयमें ही ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं। मनुष्य पर संकट न आ जाय, तो वह ईश्वरकी पर्वाह भी नहीं करेगा। युद्धमें सच्ची भक्ति होती है। मुख्य युद्ध जीवन-युद्ध है। मनुष्य युद्ध करके ही जीवित रहता है। विरोधीशक्तिसे सामना करना युद्ध है।

इन सब मंत्रभागोंका वर्णन देखनेसे पता लगता है, कि इस सूक्तमें परमात्माकी तैजस शक्तिकाही मुख्यतया वर्णन करना है। और वह वर्णन अग्निरूप देवोंके वर्णन द्वारा यहां किया है।

जिस प्रकार मनुष्यका नेत्र देखता है, परंतु अपनी शक्तिसे वह देख नहीं सकता, किंतु हृदयस्थानीय आत्माकी शक्तिसे ही देख सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियाँ आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर ही अपना कार्य करती हैं। जैसी यह बात शरीरमें है, उसी प्रकार जगत्‌की सूर्यादि देवताएँ तेज फैलाना आदि कार्य अपनी शक्तिसे नहीं कर सकतीं। विश्वव्यापी परमात्माकी शक्ति लेकर ही सूर्य प्रकाशता, विद्युत् चमकती और वायु बहता है। इसलिये सूर्य प्रकाशसे, विद्युत्‌की चमकाहटसे अथवा वायुके वेगसे न केवल इन देवताओंकी शक्तियां प्रकट हो रही हैं, परंतु परमात्माकी ही विविध शक्तियां प्रकट हो रही हैं। यह भाव ध्यानमें रखकर यदि पाठक इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तमें विद्युत्‌की चमकाहटसे परमात्माका तेज फैल रहा है यही भाव विदित होगा। इसी रीतिसे इस सूक्तका विचार करना चाहिये।

प्रथम मंत्रमें विद्युत्‌की चमकाहट, मेघोंकी प्रचंड गर्जना मेघोंसे वर्षकी वृष्टि अथवा जलकी वृष्टि आदि द्वारा परमात्माके प्रचंड कार्य देखना उचित है। इसीसे परमात्मा प्राणिमात्रके दुःख दूर करता है। वृष्टिसे अन्न और जल प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंके अनंत क्लेश दूर हो रहे हैं। यही परमात्माकी कृपा है।

तपका महत्त्व।

द्वितीय मंत्रमें तपका महत्त्व वर्णन किया है। तप अपने हर-एक शक्तिसे किया जाता है, वाणीका तप, मनका तप, शरीरका तप, ब्रह्मचर्यका तप, हरएक इन्द्रियका तप आदि अनेक तप मनुष्यको करने चाहिये। इन सब तपोंका जितना बड़ा (तपः समूहसि) समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्यको प्राप्त होगा। अर्थात् तपके जीवनपर मनुष्यका महत्त्व अवलंबित है।

जिस कारण तपके प्रभावसे मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तपके प्रभावसे ही मनुष्य नहीं गिरता। इसीलिये इस द्वितीय मंत्रमें उच्चतासे न गिरनेका हेतु तपका प्रभाव (यस्मात् न-पात्, यत् तप समूहसि) कहा है। यहां पाठक इनका परस्पर संबंध देखें और गिरावटसे बचनेका कारण जान जाने आपको गिरावटसे बचावें। जो स्वयं अपने आपको गिरा-वटसे बचा सकता है, वह दूसरोंको सुखी कर सकता है।

परमधाम।

तृतीय मंत्रमें परमेश्वरके परम धामका पता दिया है। परमेश्वरका परम धाम हरएकके हृदयमें है, विशेषतः भक्तोंके हृदयमें ही है। परमेश्वरके भक्त ही उस धामको जानते हैं और वर्णन करते हैं। कौन दूसरा उसको जान सकता है और वर्णन कर सकता है? यही स्थान जानना और इसीका अनुभव लेना मनुष्यका साध्य है।

मनुष्य समुद्रके अंदर गिर पडा है, इस समुद्रकी लहरें बडी भारी लहरा रहीं हैं, प्रचंड वायु चल रहा है, धुवांधार मेघ बरस रहे हैं, बिजलियां चकचका रहीं हैं, और यह मनुष्य ऐसे प्रक्षुब्ध समुद्रमें सहायताके लिये पुकार रहा है। उसका ख्याल है, कि सहायता बाहरसे आनेवाली है। यही मनुष्यका भ्रम है, यही अज्ञान है और यही कमजोरी है।

यह तृतीय मंत्र स्पष्ट शब्दोंसे कह रहा है, कि उस प्रक्षुब्ध समुद्रका केन्द्र वही परमात्मा है और वह भक्तोंके हृदयमें विरा-जता है। हे भक्त! यदि तू सचमुच उसकी सहायताके लिये पुकार रहा है तो अपने हृदयमें ही उसे ढूंढनेका यत्न कर, वही उसका परम धाम है। और वहां ही अपने वैभवसे प्रकाश रहा है।

युद्धमें सहायता ।

युद्धके समय, शत्रुका हमला होनेके प्रसंगमें डरके समयमें इस परमात्माकी सहायता सब चाहते हैं । मरण, दुःख आदिके कारण मनुष्य परमात्माकी खोज करते हैं । इसीलिये बडे सत्पुरुष दुःखको स्वीकारते हैं और अन्योंको सुख देते हैं । यही दुःखका महत्त्व है ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है, कि " सब देव उसको प्रकट करते हैं । " इसीका स्पष्टीकरण इससे पूर्व किया जा चुका है । " युद्धमें उसकी प्रशंसा या स्तुति प्रार्थना होती है " इसका भी कारण स्पष्टतापूर्वक हमने देखा है । यह सब इसलिये करते हैं कि " शत्रुको दूर भगानेके लिये प्रबल शक्ति प्राप्त हो । " जो परमात्माके सच्चे भक्त होते हैं, या तो उनके सन्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता, अथवा जो उनकी शत्रुता करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है । अर्थात् परमेश्वरकी भक्ति ही एक बडी भारी शक्ति है, जो संपूर्ण शत्रुओंका नाश कर सकती है ।

नमन ।

इस चार मंत्रोंके सूक्तमें परमेश्वरको सात बार नमन किया है अर्थात् यहांका अनेक बारका नमन सिद्ध कर रहा है, कि परमेश्वरकी सार्वभौम सत्ताके सामने सिर झुकाना, उसको सर्वत्र उपस्थित समझना, उसीको सर्वतोपरि समझना मनुष्यकी उन्नतिके लिये अत्यावश्यक है । उसको छोडकर किसी दूसरेको नमन न करनेके संबंधमें ' तुभ्यं एव नमोऽस्तु ' (मं. ३) यह मंत्रभाग देखने योग्य है । " मैं तुझे ही नमन करता हूं । ' तेरेसे भिन्न किसी अन्यकी उपासना मैं नहीं करता, हे ईश्वर ! तेरे सामने ही मैं सिर झुकाता हूं । मुझे अनुगृहीत कर और कृतार्थ कर । इस सूक्तमें सर्वोत्कृष्ट उपासना कही है, पाठक इसका उपयोग उपासनाके समय कर सकते हैं ।

पाठको ! आप यह ध्यानमें रखिये कि आपमेंसे हरएकके हृदयमें वह आत्मज्योति है । वही सब उन्नतिकी सहायक शक्ति है । आप उसे पकड लीजिये, तो आपकी उन्नति निःसंदेह हो जायगी । सब जगत् अंदरसे बढ रहा है, बाहरसे नहीं । आपकी उन्नतिका भी यही नियम है ।

विश्वंभर की भक्ति ।

(का. २ सूक्त १६)

(ऋषि — ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

प्राणा॑पानौ मृ॒त्योर्मा॑ पा॒तं स्वाहा॑ ॥ १ ॥ द्यावा॑पृथिवी॒ उप॑श्रुत्या मा पा॒तं स्वाहा॑ ॥ २ ॥
सूर्य॒ चक्षु॑षा मा पाहि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥
अग्ने॑ वैश्वानर॒ विश्वै॑र्मा दे॒वैः पा॑हि॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
विश्व॑म्भर॒ विश्वे॑न मा॒ भर॑सा पाहि॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (*मृत्योः मा पातं*) मृत्युसे मुझे बचाओ (स्वा-हा) मैं आत्म समर्पण करता हूं ॥ १ ॥

हे द्युलोक और पृथ्वी लोक ! (उपश्रुत्या मा पातं) श्रवण शक्तिसे मेरी रक्षा करो० ॥ २ ॥

हे सूर्य ! (चक्षुषा मा पाहि) दर्शन शक्तिसे मेरी रक्षा कर० ॥ ३ ॥

हे वैश्वानर अग्ने ! (विश्वैः देवैः मा पाहि) संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर० ॥ ४ ॥

हे विश्वंभर ! (विश्वेन भरसा मा पाहि) संपूर्ण पोषक शक्तिसे मेरी रक्षा कर, (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिसे मेरा बचाव करें ॥ २-३ ॥

विश्वव्यापक पुरुष सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करें । मैं अपने आपको उसीकी रक्षामें समर्पित करता हूं ॥ ४-५ ॥

विश्वंभर देव !

इस सूक्तके अंतिम पचम मंत्रमें " विश्वं- मर " शब्द है, विश्वका भरण और पोषण करनेवाला देव यह इसका अर्थ है। सम्पूर्ण जगत्का भरण पोषण करनेवाला एक देव यहां ' विश्वंभर ' शब्दसे कहा है। यह विश्वंभर शब्द परमात्मविषयक होनेमें शंका ही नहीं है। और इस शब्द द्वारा यहां जगत्के एक देवकी उत्तम कल्पना व्यक्त की गई है। (मं. ५)

इस जगत्के भरण पोषण करनेवाले इस देवके पास (विश्वेन भरसा) विश्वव्यापक पोषक रस है जिससे यह देव सब जगत्का पोषण करता है। (मं॰ ५)

वैश्वानर।

चतुर्थ मंत्रमें इसीका नाम " वैश्वा-नर " है इसका अर्थ है विश्वका नेता, विश्वका चालक, संपूर्ण जगत्का नर, सब जगत्में मुख्य, सब जगत्में मुख्य पुरुष। यही विश्वंभर नामसे आगे वर्णन किया गया है। जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्यापता है इसी प्रकार यह जगच्चालक मुख्य पुरुष भी सर्व जगत्में व्यापक हो रहा है। सूर्य चंद्रादि सब (विश्वैः देवैः) अन्य देव इसीके वशमें रहते हैं और अपना अपना कार्य करते हैं। इसीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं। ये अन्य देव इसीके सहचारी देव हैं।

एक उपास्य।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द " विश्वंभर और वैश्वानर " देखें और इनके मननसे अद्वितीय उपास्य परमात्म देवकी भक्ति करना सीखें। वह सब जगत्का भरण पोषण करनेवाला है इस लिये वह हमारा भी भरण पोषण करेगा ही इसमें क्या संदेह है। जिसने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें बालकके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी सार्वत्रिक भरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इसकी कल्पना हो सकती है। ऐसे अनंत सामर्थ्य शाली विश्वंभरकी भक्ति करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है।

देवोंद्वारा रक्षा।

सूर्य नेत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रखकर मनुष्यकी रक्षा कर रहा है, द्यावापृथिवीमें चारों ओर फैली हुई दिशाएं कर्ण इंद्रियकी श्रवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही हैं। इसी प्रकार प्राण और अपान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएकको यहां प्रत्यक्ष हो सकती है। इसी तरह अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं।

यह सब उसी विश्वंभरकी कृपासे हो रहा है इसका अनुभव करके उसी एक अद्वितीय प्रभुकी भक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है। आशा है कि इस रीतिसे विश्वंभरकी भक्ति करके पाठक शाश्वत कल्याणके भागी होंगे।

किस देवताकी उपासना करें ?

(कां. ४, सूक्त २)

(ऋषि — वेनः। देवता — आत्मा)

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी समर्पण द्वारा हम सब पूजा करें ? (यः आत्म-दाः बल-दाः) जो आत्मिक बल देनेवाला और अन्य सब बल देनेवाला है, तथा (यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते) जिसकी आज्ञा सब देव मानते हैं, और (यः अस्य द्विपदः, यः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादका स्वामी है। इसीकी पूजा सबको करनी योग्य है॥ १ ॥

भावार्थ— किस देवताकी हम पूजा करें ? जो देव आत्मिक बल देनेवाला है, तथा जो अन्य बल भी देता है, जिसकी आज्ञाका पालन संपूर्ण अन्य देव करते हैं, जो द्विपाद और चतुष्पादोंका एक मात्र प्रभु है ॥ १ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम् ।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी उपासना यजनद्वारा हम सब करें ? (यः प्राणतः निमिषतः जगतः) जो श्वास उच्छ्वास करनेवाले और आंखें मूदनेवाले जगत्का (महित्वा एक राजा बभूव) अपनी महिमासे एक ही राजा हुआ है (यस्य छाया अमृतं) जिसका आश्रय अमृतत्व देनेवाला है और (यस्य मृत्युः) जिसका आश्रय न करना ही मृत्यु है, उस देवताकी पूजा हम सबको करनी चाहिये ॥ २ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम उपासना यज्ञ द्वारा करें। (चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः) लडने भिडनेवाली दो सेनायें जिसकी शरण आती हैं और (भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्) डरनेवाले द्युलोक और पृथ्वीलोक जिसको पुकारते हैं, (यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः) जिसके लोकको जानेका यह मार्ग विशेष सम्मान बढानेवाला है, उस देवताकी हम सबको पूजा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम यजनद्वारा उपासना करें ? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (उर्वी द्यौः) विस्तीर्ण द्युलोक, (च मही पृथिवी) और बडी पृथ्वी तथा (यस्य अदः उरु अन्तरिक्षं) जिसकी महिमासे यह लंबाचौडा अन्तरिक्ष और (यस्य असौ सूरः विततः) जिसकी महिमासे यह सूर्य अपने प्रकाशसे फैल रहा है, उस देवताकी हम पूजा करें ॥ ४ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम पूजा करें ? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (विश्वे हिमवन्तः) सब हिमवाले पहाड खडे हैं और (यस्य समुद्रे इत् रसां आहुः) जिसकी महिमासे समुद्रमें भी भूमि रही है। (इमाः च प्रदिशः यस्य बाहू) और ये दिशायें जिसकी बाहू हैं उस देवकी हम सब पूजा करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अपने सामर्थ्यके कारण श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आंख मूदने और न मूदनेवालोंका एक मात्र राजा है, जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है और जिससे दूर होना ही मृत्यु है ॥ २ ॥

लडनेवाली दोनों सेनाएं विजय प्राप्त्यर्थ जिसकी शरण आती हैं, ये द्यावापृथ्वी डरके समय जिसको सहायताके लिये पुकारते हैं, तथा जिसकी प्राप्तिका मार्ग उस परसे चलनेवालेकी योग्यता बढानेवाला होता है ॥ ३ ॥

जिसकी महिमासे द्युलोक विस्तीर्ण हुआ है, यह पृथ्वी बडी बनी है और यह अंतरिक्ष लंबा चौडा बना है तथा जिसके सामर्थ्यसे सूर्य प्रकाशता है ॥ ४ ॥

जिसके बलसे ये हिमयुक्त ऊचे पर्वत खडे हुए हैं, प्राणियोंके रहनेके लिये समुद्रमें भूमि बना है और सब दिशा उपदिशाएं जिसकी बाहुओंके समान फैली हैं ॥ ५ ॥

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः ।
यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥
आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? (ऋतज्ञाः अमृताः) सत्य नियमसे चलनेवाली जीवनशक्ति युक्त और (गर्भं दधानाः आपः) गर्भको धारण करनेवाले जलने (अग्रे विश्वं आवन्) प्रारंभमें विश्वको गति दी थी । (यासु देवीषु अधि देवः आसीत्) जिन दैवी शक्तियोंके ऊपर एक देव विराजता है उस देवताकी हम सब पूजा करें ॥ ६ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? जो (अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत) प्रारंभमें सुवर्ण जैसे चमकनेवाले पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाला था, (भूतस्य एकः पतिः आसीत्) भूतमात्रका एक ही स्वामी था, (सः दाधार पृथिवीं उत द्यां) उसीने भूमि और द्युलोकको धारण किया है, उस एक देवकी हम सब पूजा करें ॥ ७ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम उपासना करें ? (अग्रे वत्सं जनयन्तीः) जगत्के प्रारंभमें बालकको जन्म देनेवाली (आपः गर्भं समैरयन्) जल धाराओंने गर्भको प्रेरित किया (उत तस्य जायमानस्य) उस उत्पन्न होनेवाले बालकका जो (हिरण्ययः उल्वः आसीत्) सुवर्ण जैसा झिल्लीरूप था, उसकी हम सब उपासना करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— सत्य नियमसे चलनेवाली, जीवन देनेवाली, गर्भ धारण करके प्रजा उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिरूप जलकी धाराएं जब विश्वरचनाके लिये आगे बढीं तब उनका सचालन करनेवाला जो एक देव था ॥ ६ ॥

जिसके अन्दर सूर्यके समान हजारों चमकनेवाले गोले रहते हैं, इस उत्पन्न हुए संपूर्ण जगत्का जो एक ही सच्चा स्वामी है और जिसने द्यावापृथिवीको धारण किया है ॥ ७ ॥

प्रारंभमें सृष्टिकी उत्पत्ति करनेवाले मूल प्रकृतिके प्रवाह जब प्रेरित हुए, उस समय उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रका, गर्भके ऊपरकी झिल्लीके समान जो तेजस्वी संरक्षक था; उसीकी सबको उपासना करनी चाहिये ॥ ८ ॥

हम किस देवताकी उपासना करें ?

हरएक उपासकके सन्मुख ' हम किस देवताकी उपासना करें ' यह प्रश्न आता है, और हरएक धर्मने इसका उत्तर अनेक प्रकारसे दिया है । वेदके सन्मुख भी यही प्रश्न आया है, चारों वेदोंमें यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर बडी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे दिया है । इस सूक्तमें यह प्रश्न आठवार उठाया है और इतनेही मंत्रोंद्वारा विभिन्न पहलुओंसे इसका उत्तर दिया है । यह विषय बडे महत्त्वका है इसलिये इसका विचार यहां करना अत्यंत आवश्यक है ।

वस्तुतः यह सूक्त अति सरल है; तथापि इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख है, इसलिये ' कस्मै देवाय हविषा विधेम ? ' इस प्रश्नके प्रत्येक उत्तरका आवश्यक विचार हम यहां करते हैं ।

प्रश्नका महत्त्व ।

इसमें जो प्रश्न किया है वह यह है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (मं. १-८)

' किस देवके लिये हविसे करें ' यह प्रश्नके शब्दोंका अर्थ है। हविसे क्या करें वह यहां कहा नहीं है। हविसे हवन करते हैं, हवनका अर्थ ' आहुति समर्पण ' है। हवनमें हवन सामग्रीकी आहुतियां डाल देते हैं और प्रत्येक आहुति देनेके समय कहते हैं कि—

अग्नये स्वाहा, अग्नय इदं, न मम।

इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राय इदं, न मम।

' अग्निके लिये यह अर्पण है, यह अग्निका है, मेरा नहीं। इन्द्रके लिये यह समर्पण है, यह इन्द्रका है, मेरा नहीं है।' ये हविके हवनके मंत्र बताते हैं कि हविसे जो हवन किया जाता है, वह पूर्णतया समर्पण किया जाता है अर्थात् उस परका अपना अधिकार छोडा जाता है। यह यज्ञका आशय मनमें लाकर इस प्रश्नका विचार कीजिये तो आपको प्रतीत होगा कि ' किस देवताके लिये हम अपना समर्पण करें; किस देवताके हेतु हम अपना त्याग करें, किस (देवाय इदं) देवताके लिये यह है और (न मम) मेरा नहीं ऐसा हम कहें ' यह सार इस प्रश्नका है। जिस देवताने यह सब हमें दिया है उसके लिये अपना समर्पण करना हमारा कर्तव्य ही है, इसलिये उस देवताका पता हमें कैसे लगेगा इसकी खोज करनी चाहिये, इस खोजके लिये उस देवताके निम्न लिखित लक्षण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ **यः आत्म-दाः**— जो आत्माका देनेवाला है, जिसने आत्मा दिया है, अर्थात् अपने समान बननेकी योग्यतासे युक्त आत्मा जिसने हम मनुष्यों या प्राणियोंके अन्दर रखा है।

२ **यः बल-दाः**— जो बल देनेवाला है। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक बल जिससे प्राप्त होता है।

३ **विश्वेदेवाः यस्य प्रशिषं उपासते**— सब अन्य देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवता जगत्में, ब्राह्मण क्षत्रियादि विद्वान् राष्ट्रमें और नेत्रादि इंद्रिय शक्तियां शरीरमें जिसके नियमानुसार चलते हैं। तीन स्थानोंमें ये तीन देव हैं और ये उसके नियममें रहकर अपना कार्य करते हैं।

४ **यः द्विपदः चतुष्पदः ईशे**— जो द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है। सब पशुपक्षियोंका जो एक जैसा पालन करता है।

५ **यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः राजा बभूव**— जो प्राणियों तथा अन्योंका अपने निज सामर्थ्यसे एकमात्र राजा है, जिसके ऊपर किसीका भी शासन नहीं है। इसीका शासन सर्वोपरि है।

६ **यस्य छाया अमृतं**— जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है, जिसकी प्राप्तिसे अमरत्व प्राप्त होता है।

७ **यस्य (अच्छाया) मृत्युः**— जिससे विमुख होना मृत्यु है। यहां विमुख होनेका तात्पर्य उसकी भक्ति छोडना आदि समझना चाहिये।

८ **चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः**— परस्पर विरोध करनेवाले और आक्रोशके साथ युद्ध करनेवाले दोनों ओरके सैनिक अपनी रक्षाके लिये जिसकी शरण जाते हैं अर्थात् दोनों पक्षोंके लोग जिसपर विश्वास रखते हैं और जिससे बलकी याचना करते हैं।

९ **भियसाने रोदसी यं अह्वयेतां**— भय प्राप्त होनेपर द्यावापृथिवीमें रहनेवाले सब जिसको अपनी सहायताके लिये पुकारते हैं। भयके समय किसी दूसरेकी शरण न जाते हुए सब एकमतसे इसका नाम लेते हैं।

१० **यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः**— जिसके लोकको प्राप्त करनेका यह प्रसिद्ध मार्ग जिसपरसे कि आक्रमण करनेवालेकी योग्यता बढती है, अर्थात् जिसके स्थानको पहुंचानेवाले मार्गका आक्रमण करनेवालोंकी योग्यता प्रतिदिन उच्च होती जाती है। जितना मार्गका आक्रमण होगा उतनी योग्यता बढ जाएगी।

११ **यस्य द्यौः उर्वी, पृथिवी च मही, यस्य अदः अन्तरिक्षं उरु**— जिसके प्रभावसे द्यौ, पृथ्वी और अन्तरिक्ष विस्तीर्ण हुए हैं, अर्थात् जैसे चाहिये वैसे खुले हुए हैं।

१२ **यस्य महित्वा असौ सूरः विततः**— जिसके प्रभावसे यह सूर्य अपने प्रकाशसे चारों दिशाओंमें फैल रहा है।

१३ **यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः**— जिसकी महिमासे ये सब हिमाच्छादित पर्वत खडे हुए हैं।

१४ **यस्य महित्वा समुद्रे रसां आहुः**— जिसके सामर्थ्यसे समुद्रके जलमें भी भूमी होती है, ऐसा कहते हैं।

१५ **यस्य बाहू इमाः प्रदिशः**— जिसके बाहु ये सब दिशा उपदिशाएं हैं।

१६ **ऋतुभाः अमृताः आपः अग्रे गर्भं दधानाः विश्वं आयन्, यासु देवीषु अधिदेवः आसीत्**— सत्य नियमसे चलनेवाली जीवन देनेवाली मूलप्रकृतिकी प्रवाहकी धाराएं जगत्के गर्भको धारण करती हुई विश्वको उत्पन्न करनेके लिये जब आगे बढीं, तब उन दिव्य धाराओंमें जो अधिष्ठाता एक देव था।

१७ **हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत**— जिसके अन्दर प्रकाशमान अनेक गोले हैं ऐसा जो देव पहलेसे विद्यमान है।

१८ भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्— सब जगत्का जो एकमात्र स्वामी प्रसिद्ध है।

१९ स दाधार पृथिवीं उत द्याम्— जिसने पृथ्वी और द्युलोकको अर्थात् सब विश्वको धारण किया है।

२० आप॰ गर्भं वत्सं जनयन्ती अग्रे समैरयन्, उत तस्य जायमानस्य यः हिरण्ययः उल्बः आसीत् मूल प्रकृतिकी जलधाराएं अपने अन्दरसे-गर्भसे-जगत रूपी बछडा उत्पन्न करती हुई जब आगे बढीं तब उस जन्मे हुए विश्वरूपी बछडेका सुवर्णके समान चमकनेवाला झिल्लीके समान संरक्षक था।

उसकी उपासना करो।

पूर्वोक्त बीस लक्षणोंसे जिस परमेश्वरका बोध होता है उसकी उपासना सबको करनी चाहिये। इससे भिन्न किसीकी भी उपासना करनी योग्य नहीं है।

ये सब बीस लक्षण सरल और सुबोध हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक इससे अपने उपास्य देवको जानें और उसकी उपासना करके उत्तम गति प्राप्त करें।

इन बीस लक्षणोंमें पहिले दो लक्षण मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। मनुष्यके अन्दरकी शक्तियोंके साथ परमात्माका संबंध इसमें पाठक देख सकते हैं। इसके पश्चात्‌के पांच लक्षणोंमें वह परमात्मा प्राणिमात्रका राजा है और मनुष्यको अन्तिम सुख अर्थात् मोक्ष देनेवाला है यह बात कही है। शेष लक्षणोंमें प्रायः परमात्माका विश्वधारक गुण विविध प्रकारसे कहा है। दसवें लक्षणमें परमात्मप्राप्तिके मार्गका महत्व बताया है। जो इस मार्गसे जाते हैं उनका सम्मान बढ जाता है। यह विशेष बात इसमें कही है। यह एकाग्र चित्तसे मनन करने योग्य है।

कई लोग ' कस्मै देवाय हविषा विधेम। ' इस वाक्यसे यह अनुमान करते हैं कि इस सूक्तकी रचना करनेवालेको ईश्वरके विषयका निश्चित ज्ञान नहीं था, वह ईश्वरकी खोज कर रहा था। परंतु यह कथन निर्मूल है क्योंकि पूर्वोक्त बीस लक्षण परमेश्वरका निश्चित स्वरूप बता रहे हैं, और इसके पूर्व ' ब्रह्म जज्ञानं॰ ' (सू॰ १) सूक्तमें तो ब्रह्म विषयक उल्लेख स्पष्टतासे किया हुआ है। इसलिये ' अज्ञात देव ' की प्रार्थना इस सूक्तमें है ऐसा मानना बडी भारी भूल है।

अतः इस सूक्तसे पूर्वोक्त बीस लक्षणोंसे बोधित होनेवाले ' एक अद्वितीय ईश्वरकी पूजा करनी चाहिये, ' यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट है। जो उपासकोंके लिये बडा बोधप्रद और असंदिग्ध रीतिसे मार्गदर्शक है। आशा है कि विचारशील पाठक इससे उचित बोध प्राप्त करेंगे।

केन-सूक्तम्।

(का. १० सुक्त २)

(ऋषिः— नारायणः। देवताः— पार्ष्णिसूक्तम्, पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्।)

स्थूल शरीरमें अवयवोंके संबंधमें प्रश्न।

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥
कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥

अर्थ— (पुरुषस्य पार्ष्णी केन आभृते?) मनुष्यकी एडियां किसने बनाईं? (केन मांसं संभृतं?) किसने मांस भर दिया? (केन गुल्फौ?) किसने टखने बनाये? (केन पेशनीः अंगुलीः?) किसने सुन्दर अंगुलियां बनाईं? (केन खानि?) किसने इंद्रियोंके सुराख बनाये? (केन उच्छ्लंखौ?) किसने पांवके तलवे जोड दिये? (मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्?) बीचमें कौन आधार देता है? ॥ १ ॥

(नु कस्मात् अधरौ गुल्फौ अकृण्वन्?) भला किसने नीचेके टखने बनाये हैं? और (पुरुषस्य उत्तरौ अष्ठीवन्तौ) मनुष्यके ऊपरके घुटने तथा (जंघे निर्ऋत्य क्व स्वित् न्यदधुः?) जांघें अलग अलग बनाकर कहां भला जड दी हैं (जानुनोः संधी क उ तत् चिकेत?) जानुओंके संधीका ढांचा किसने भला बनाया? ॥ २ ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

अर्थ— (चतुष्टयं संहितान्तं शिथिर कबंधं जानुभ्यां ऊर्ध्वं युज्यते ।) चार प्रकारसे अन्तमें जोडा हुआ शिथिल (ढीला) धड पेट घुटनोंके ऊपर जोडा गया है । (श्रोणी, यत् ऊरू, क उ तत् जजान ? याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव ।) कूल्हे और जांघे, किसने भला यह सब बनाया है जिससे धड बडा दृढ हुआ है ॥ ३ ॥

(ते कति कतमे देवाः आसन् ये पूरुषस्य उरः ग्रीवाः चिक्युः ?) वे कितने और कौनसे देव थे, जिन्होंने मनुष्यकी छाती और गलेको एकत्र किया ? (कति स्तनौ व्यदधुः ?) कितनोंने स्तनोंको बनाया ? (कः कफोडौ ?) किसने कोहनियां बनाई ? (कति स्कंधान् ?) कितनोंने कंधोंको बनाया ? (कति पृष्टीः अचिन्वन् ?) कितनोंने पसलियोंको जोड दिया ? ॥ ४ ॥

(वीर्यं करवात् इति, अस्य बाहू कः समभरत् ?) यह पराक्रम करे इसलिये, इसके बाहू किसने भर दिये ? (कः देवः अस्य तद् अंसौ कुसिंधे अध्यादधौ ?) किस देवने इसके उन कंधोंको धडमें धर दिया है ? ॥ ५ ॥

(इमा कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुख, सप्त खानि शीर्षणि कः वि ततर्द ?) ये दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख मिलकर सात सुराख सिरमें किसने खोदे हैं ? (येषां विजयस्य मह्मनि चतुष्पादः द्विपदः याम पुरुत्रा यन्ति ।) जिनके विजयकी महिमामें चतुष्पाद और द्विपाद अपना मार्ग बहुत प्रकार आक्रमण करते हैं ॥ ६ ॥

(हि पुरूचीं जिह्वां हन्वोः अदधात्) बहुत चलनेवाली जीभको दोनों जबडोंके बीचमें रख दिया है । (अध महीं वाचं अधि शिश्राय) और प्रभावशाली वाणाको उसमें आश्रित किया है । (अपः वसानः स भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति) कर्मोंको धारण करनेवाला वह सब भुवनोंके अन्दर गुप्त रह रहा है । (कः उ तत् चिकेत ?) कौन भला उसको जानता है ? ॥ ७ ॥

(अस्य पूरुषस्य मस्तिष्कं, ललाटं, ककाटिकां, कपालं, हन्वोः चित्यं, यः यतमः प्रथमः चित्वा, दिवं रुरोह, स देव कतम ?) इस मनुष्यका मस्तिष्क, माथा, सिरका पिछला भाग, कपाल और जबडोंका संचय, आदिको जिस पहिले देवने बनाया और जो द्युलोकमें चढ गया, वह देव कौनसा है ? ॥ ८ ॥

प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥ ९ ॥
आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥
को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥
को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥
को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे । ॥ १३ ॥
को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ— (बहुला प्रियाऽप्रियाणि, स्वप्न संबाधनन्द्र्यः आनंदान् नंदान् च, उग्रः पुरुषः कस्माद् वहति ?) बहुत प्रिय और अप्रिय बातें, निद्रा, बाधाओं और थकवटों, आनंदों, और हर्षोंको यह प्रचंड पुरुष किस कारण धारण करता है ? ॥ ९ ॥

(आर्तिः, अवर्तिः, निर्ऋतिः अमतिः, पुरुषे कुतः नु) पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति मनुष्यमें कहांसे होती है (राद्धिः, समृद्धिः, अ-वि-ऋद्धिः, मतिः, उदितयः कुतः ?) पूर्णता, समृद्धि, अ-हीनता, बुद्धि, और उदयकी प्रवृत्ति कहांसे होती है ? ॥ १० ॥

(अस्मिन् पुरुषे वि-सु-वृत , पुरु-वृत सिंधु सृत्याय जाताः, अरुणाः, लोहिनी , ताम्रधूम्राः ऊर्ध्वाः, अवाचीः, तिरश्चीः, तीव्राः अपः कः व्यदधात् ?) इस मनुष्यमें विशेष घूमनेवाले, सर्वत्र घूमनेवाले, नदीके समान बहनेके लिये बने हुए लाल रंगवाले, लोहेको साथ ले जानेवाले, तांबेके धूवेंके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे, वेगसे चलनेवाले जलप्रवाह (अर्थात् रक्तके प्रवाह) किसीने बनाये हैं ? ॥ ११ ॥

(अस्मिन् रूप कः अदधात् ?) इसमें रूप किसने रखा है ? (मह्मानं च नाम च कः अदधात्) महिमा और नाम यश किसने रखा है ? (अस्मिन् गातुं कः ?) इसमें गति किसने रखी है ? (कः केतुं ?) किसने ज्ञान रखा है ? और (पुरुषे चरित्राणि कः अदधात् ?) मनुष्यमें चरित्र किसने रखे हैं ? ॥ १२ ॥

(अस्मिन् कः प्राणं अवयत् ?) इसमें किसने प्राण चलाया है ? (कः अपानं व्यानं उ ?) किसने अपान और व्यानको लगाया है । (अस्मिन् पूरुषे कः देवः समानं अधि शिश्राय ?) इस पुरुषमें किस देवने समानको ठहराया है ? ॥ १३ ॥

(कः एक देवः अस्मिन् पूरुषे यज्ञं अदधात् ?) किस एक देवने इस पुरुषमें यज्ञ रख दिया है ? (कः अस्मिन् सत्यं ?) कौन इसमें सत्य रखता है ? (कः अन्-ऋतम् ?) कौन असत्य रखता है ? (कुतः मृत्युः ?) कहांसे मृत्यु होता है और (कुतः अमृतम् ?) कहांसे अमरपन मिलता है ? ॥ १४ ॥

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥
केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैद्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥
को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥
केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥
केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः ॥ १९ ॥
केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् ।
केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥ २० ॥
ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

अर्थ— (अस्मै वासः कः परि-अदधात्) इसके लिये कपडे किसने पहनाये हैं ? कपडे-शरीर । (अस्य आयुः कः अकल्पयत् ?) इसकी आयु किसने संकल्पित की ? (अस्मै बलं कः प्रायच्छत् ?) इसको बल किसने दिया ? और (अस्य जवं कः अकल्पयत् ?) इसका वेग किसने निश्चित किया है ? ॥ १५ ॥

(केन आपः अन्वतनुत ?) किसने जल फैलाया ? (केन अहः रुचे अकरोत् ?) किसने दिन प्रकाशके लिये बनाया (केन उषसं अनु ऐद्ध ?) किसने उषाको चमकाया ? (केन सायंभवं ददे ?) किसने सायंकाल दिया है ? ॥ १६ ॥

(तन्तुः आ तायतां इति, अस्मिन् रेतः कः नि-अदधात् ?) प्रजातंतु चलता रहे इसलिये, इसमें वीर्य किसने रख दिया है (अस्मिन् मेधां कः अधि-औहत ?) इसमें बुद्धि किसने लगा दी है (कः बाणं ?) किसने वाणी रखी है ? (कः नृतः दधौ ?) किसने नृत्यका भाव रखा है ? ॥ १७ ॥

(केन इमां भूमिं और्णोत् ?) किसने इस भूमिको आच्छादित किया है ? (केन दिवं पर्यभवत् ?) किसने द्युलोकको घेरा है ? (केन मह्ना पर्वतान् अभि ?) किसने महत्त्वसे पहाडोंको ढंका है ? (पूरुषः केन कर्माणि ?) पुरुष किससे कर्मोंको करता है ? ॥ १८ ॥

(पर्जन्यं केन अन्वेति ?) पर्जन्यको किससे प्राप्त करता है ? (विचक्षणं सोमं केन ?) विलक्षण सोमको किससे पाता है ? (केन यज्ञं च श्रद्धां च ?) किससे यज्ञ और श्रद्धाको प्राप्त करता है ? (अस्मिन् मनः केन निहितं) इसमें मन किसने रखा है ? ॥ १९ ॥

(केन श्रोत्रियं आप्नोति ?) किससे ज्ञानीको प्राप्त करता है ? (केन इमं परमेष्ठिनम् ?) किससे इस परमात्माको प्राप्त करता है ? (पूरुषः केन इमं अग्निं) मनुष्य किससे इस अग्निको प्राप्त करता है ? (केन संवत्सरं ममे ?) किससे संवत्सर-कालको मापता है ? ॥ २० ॥

(ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति ।) ज्ञान ज्ञानीको प्राप्त करता है । (ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम् ।) ज्ञान इस परमात्माको प्राप्त करता है । (पूरुषः ब्रह्म इमं अग्निम् ।) मनुष्य ज्ञानसे इस अग्निको प्राप्त करता है । (ब्रह्म संवत्सरं ममे ।) ज्ञान ही कालको मापता है ॥ २१ ॥

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विश॑: ।
केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥
ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विश॑: ।
ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत्क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥
केने॒यं भूमि॒र्विहि॑ता॒ केन॒ द्यौरुत्त॑रा हि॒ता ।
केने॒दमू॒र्ध्वं ति॒र्यक्चा॒न्तरि॑क्षं॒ व्यचो॑ हि॒तम् ॥ २४ ॥
ब्रह्म॑णा॒ भूमि॒र्विहि॑ता॒ ब्रह्म॒ द्यौरुत्त॑रा हि॒ता ।
ब्रह्मे॒दमू॒र्ध्वं ति॒र्यक् चा॒न्तरि॑क्षं॒ व्यचो॑ हि॒तम् ॥ २५ ॥
मू॒र्धान॑मस्य सं॒सीव्याथ॑र्वा॒ हृद॑यं॒ च॒ यत् ।
म॒स्ति॒ष्कादू॒र्ध्वः प्रैर॑य॒त् पव॑मा॒नोऽधि॑ शीर्ष॒तः ॥ २६ ॥
तद्वा अथ॑र्वणः॒ शिरो॑ देवको॒शः समु॑ब्जितः ।
तत्प्रा॒णो अ॒भि र॑क्षति॒ शिरो॒ अन्न॒मथो॒ मन॑: ॥ २७ ॥

अर्थ— (केन देवान् अनु क्षियति ?) किससे देवोंको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है ! (केन दैव-जनीः विशः ?) किससे दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है ? (केन सत् क्षत्रं उच्यते ?) किससे उत्तम क्षात्र कहा जाता है ? (केन इदं अन्यत् न-क्षत्रम् ?) किससे यह दूसरा न-क्षत्र है ऐसा कहते हैं ? ॥ २२ ॥

(ब्रह्म देवान् अनु क्षियति ।) ज्ञान ही देवोंको अनुकूल बनाकर बसाता है। (ब्रह्म दैव-जनीः विशः) ज्ञान ही दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाता है। (ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते ।) ज्ञान ही उत्तम क्षात्र है ऐसा कहा जाता है। (ब्रह्म इदं अन्यत् न-क्षत्रम् ।) ज्ञान यह दूसरा न-क्षत्र अर्थात् क्षात्रसे भिन्न अन्य बल है ॥ २३ ॥

(केन इयं भूमिः विहिता ?) किसने यह भूमि विशेष रीतिसे रखी है। (केन द्यौः उत्तरा हिता ?) किसने द्युलोक ऊपर रखा है ? (केन इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक् व्यचः च हितम् ?) किसने यह अन्तरिक्ष ऊपर और तिरछा फैला हुआ रखा है ? ॥ २४ ॥

(ब्रह्मणा भूमिः विहिता) ब्रह्मने भूमि विशेष प्रकार रखी है (ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता ।) ब्रह्मने द्युलोक ऊपर रखा है। (ब्रह्म इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः च हितम् ।) ब्रह्मने ही यह अन्तरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है ॥ २५ ॥

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं, संसीव्य) अ-थर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपना सिर, और जो हृदय है, उसको आपसमें सीकर; (पवमानः शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत् ।) प्राण सिरके बीचमें, परंतु मस्तिष्कके ऊपर, प्रेरित करता है ॥ २६ ॥

(तद् वा अथर्वणः सिरः समुब्जितः देव-कोशः ।) वह निश्चयसे योगीका सिर देवोंका सुरक्षित खजाना है। (तत् शिरः प्राणः, अन्नं, अथो मनः अभि रक्षति ।) उस सिरका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥ २७ ॥

ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

अर्थ— (पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टा ।) पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है। (तिर्यक् नु सृष्टा) निश्चयसे तिरछा फैला है। तात्पर्य (पुरुष सर्वाः दिशः आबभूव ।) पुरुष सब दिशाओंमें है। (यः ब्रह्मण पुरं वेद ।) जो ब्रह्मकी नगरी जानता है। (यस्याः पुरुषः उच्यते ।) जिस नगरीके कारण ही उसको पुरुष कहा जाता है ॥ २८ ॥

(यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद ।) जो निश्चयसे अमृतसे परिपूर्ण उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है। (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः प्राणं, प्रजां च ददुः ।) उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते आये हैं ॥ २९ ॥

(यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुर यः वेद ।) जिस कारण (आत्माको) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है, (त जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः ।) उसको वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु छोडता नहीं, और न प्राण छोडता है ॥ ३० ॥

(अष्टा-चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या देवानां पूः ।) जिसमें आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवोंकी नगरी है (तस्या हिरण्यय कोशः, ज्योतिषा आवृत स्वर्गः ।) उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है ॥ ३१ ॥

(त्रि-अरे, त्रि-प्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्वत् यक्ष, तद् वै ब्रह्म-विदः विदुः) तीन आरोंसे युक्त, तीन केंद्रोंमें स्थिर, ऐसे उसी तेजस्वी कोशमें, जो आत्मवान् यक्ष है, उसको निश्चयसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ ३२ ॥

(प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा सं परिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आविवेश ।) तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यशसे परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरीमें, ब्रह्म आविष्ट होता है ॥ ३३ ॥

केन-सूक्तका विचार।

(१) किसने अवयव बनाये?

चतुर्थ मंत्रमें '*कति देवाः*' देव कितने हैं, जो मनुष्यके अवयव बनानेवाले हैं? यह प्रश्न आता है। इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमें भी 'देव' शब्दका अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये। 'मनुष्यकी एडियां किस देवने बनायीं हैं?' इत्यादि प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना उचित है। मनुष्यका शरीर बनानेवाले देव एक हैं वा अनेक हैं और किस देवने कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है? यह प्रश्नोंका तात्पर्य है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

(२) ज्ञानेंद्रियों और मानसिक भावनाओंके संबंधमें प्रश्न।

मंत्र छः में सात इंद्रियोंके नाम कहे हैं। दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख। ये सात ज्ञानके इंद्रिय हैं। वेदमें अन्यत्र इनको ही १ सप्त ऋषि, २ सप्त अश्व, ३ सप्त किरण, ४ सप्त अग्नि, ५ सप्त जिह्वा, ६ सप्त प्राण आदि नामोंसे वर्णन किया है। उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मंत्रका अर्थ करना चाहिये। गुदा और मूत्रद्वारके और दो सुराख हैं। सब मिलकर नौ सुराख होते हैं। ये ही इस शरीररूपी नगरीके नौ महाद्वार हैं। मुख पूर्वद्वार है, गुदा पश्चिमद्वार है, अन्यद्वार इनसे छोटे हैं। (इसी सूक्तका मंत्र ३१ देखो)

यद्यपि '**पूरुष**' शब्द (**पुर्-वस**) उक्त नगरीमें बसनेवालेका बोध करता है, इसलिये सर्व साधारण प्राणिमात्रका वाचक होता है, तथापि यहांका वर्णन विशेषतः मनुष्यके शरीरका ही समझना उचित है। 'चतुष्पाद और द्विपाद' शब्दोंसे संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मंत्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इस प्रकार अन्य मंत्रोंमें लेनेसे कोई हानि नहीं है, तथापि मंत्र ७ में जो वाणीका वर्णन है वह मनुष्यकी वाणीका ही है, क्योंकि सब प्राणियोंमें यह वाक्शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणीमें पूर्ण विकसित हो गई है। मंत्र ९, १० में '**मति अमति**' आदि शब्द मनुष्यका ही वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार यद्यपि मुख्यतः सब वर्णन मनुष्यका है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मंत्र सामान्य अर्थके बोधक हैं, वे सर्व सामान्य प्राणिजातिके विषयमें समझनेमें कोई हानि नहीं है।

मंत्र आठमें 'स्वर्गपर चढनेवाला देव कौनसा है?' यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह मंत्र जीवात्माका मार्ग बता रहा है। इस प्रश्नका दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि 'नरकमें कौन गिर जाता है?' तात्पर्य जीव स्वर्गमें क्यों जाता है? और नरकमें क्यों गिरता है?

मंत्र ९ और १० में अच्छे और बुरे दोनों पहलुओंके प्रश्न हैं। १ अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तंद्री, आर्ति, अवर्ति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं, २ और प्रिय, आनंद, नंद, राद्धि, समृद्धि, ऋद्धि, मति, उदिति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं। दोनों स्थानोंमें आठ आठ शब्द हैं और उनका परस्पर संबंध भी है। पाठक विचार करनेपर उस संबंधको जान सकते हैं। तथा—

(३) रुधिर, प्राण, चारित्र्य, अमरत्व आदिके विषयमें प्रश्न।

मंत्र ११ में शरीरमें रक्तका प्रवाह किसने संचारित किया है? यह प्रश्न है। प्रायः लोग समझते हैं, कि शरीरमें रुधिराभिसरणका तत्त्व यूरोपके डाक्टरोंने ढूंढा है। परंतु इस अथर्ववेदके मंत्रोंमें वह स्पष्ट ही है। रुधिरका नाम इस मंत्रमें '***लोहिनीः आपः***' है, इसका अर्थ '(***लोह्-नीः***) लोहेको अपने साथ ले जानेवाले (आपः) जल' ऐसा होता है। अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहा भी है। लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है। लोह जिसमें है वही '***लोहित***' (***लोह्+इत***) होता है। दो प्रकारका रक्त होता है एक '**अरुणाः आपः**' अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा '**ताम्र-धूम्राः आपः**' तांबेके जंगके समान मलिन रंगवाला। पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदयसे बाहिर जाता है और सब शरीरमें ऊपर, नीचे और चारों ओर व्यापता है। दूसरा मलिन रंगका रक्त है, जो शरीरमें भ्रमण करके और वहांकी शुद्धता करनेके पश्चात् हृदयकी ओर वापिस आता है। इस प्रकारकी यह आश्चर्यकारक रुधिराभिसरण की योजना किसने की है, यह प्रश्न यहां किया है। किस देवताका यह कार्य है? पाठको सोचिये।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है, कि 'मनुष्यमें सौंदर्य, महत्त्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवताके प्रभावसे दिखाई देता है?' इस मंत्रके 'चरित्र' शब्दका अर्थ कई लोग 'पांव' ऐसा समझते हैं, परंतु इस मंत्रके पूर्वापर

ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ॥ ३१ ॥

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—(पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टा ।) पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है । (तिर्यङ् नु सृष्टा) निश्चयसे तिरछा फैला है । तात्पर्य (पुरुष सर्वाः दिशः आबभूव ।) पुरुष सब दिशाओंमें है । (य ब्रह्मण पुरं वेद ।) जो ब्रह्मकी नगरी जानता है । (यस्याः पुरुषः उच्यते ।) जिस नगरीके कारण ही उसको पुरुष कहा जाता है ॥ २८ ॥

(यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद ।) जो निश्चयसे अमृतसे परिपूर्ण उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है । (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः प्राणं, प्रजां च ददु ।) उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते आये हैं ॥ २९ ॥

(यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं य वेद ।) जिस कारण (आत्माको) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है, (तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः ।) उसको वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु छोडता नहीं, और न प्राण छोडता है ॥ ३० ॥

(अष्टा-चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या देवानां पूः ।) जिसमें आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवोंकी नगरी है (तस्यां हिरण्ययः कोशः, ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः ।) उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है ॥ ३१ ॥

(त्रि-अरे, त्रि-प्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्वत् यक्ष, तद् वै ब्रह्म-विदः विदुः) तीन आरोंसे युक्त, तीन केंद्रोंमें स्थिर, ऐसे उसी तेजस्वी कोशमें, जो आत्मवान् यक्ष है, उसको निश्चयसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ ३२ ॥

(प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा सं परिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आविवेश ।) तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यशसे परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरीमें, ब्रह्म आविष्ट होता है ॥ ३३ ॥

केन-सूक्तका विचार।

(१) किसने अवयव बनाये ?

चतुर्थ मंत्रमें 'कति देवाः' देव कितने हैं, जो मनुष्यके अवयव बनानेवाले हैं ? *यह प्रश्न आता है।* इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमें भी 'देव' शब्दका अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये। 'मनुष्यकी एडियां किस देवने बनायी हैं ?' इत्यादि प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना उचित है। मनुष्यका शरीर बनानेवाले देव एक हैं वा अनेक हैं और किस देवने कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है ? यह प्रश्नोंका तात्पर्य है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

(२) ज्ञानेंद्रियों और मानसिक भावनाओंके संबंधमें प्रश्न।

मंत्र छः में सात इंद्रियोंके नाम कहे हैं। दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख। ये सात ज्ञानके इंद्रिय हैं। वेदमें अन्यत्र इनको ही १ सप्त ऋषि, २ सप्त अश्व, ३ सप्त किरण, ४ सप्त अग्नि, ५ सप्त जिह्वा, ६ सप्त प्राण आदि नामोंसे वर्णन *किया है। उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मंत्रका अर्थ* करना चाहिये। गुदा और मूत्रद्वारके और दो सुराख हैं। सब मिलकर नौ सुराख होते हैं। ये ही इस शरीररूपी नगरीके नौ महाद्वार हैं। मुख पूर्वद्वार है, गुदा पश्चिमद्वार है, अन्यद्वार इनसे छोटे हैं। (इसी सूक्तका मंत्र ३१ देखो)

यद्यपि 'पुरुष' शब्द (पुर्-वस) उक्त नगरीमें बसनेवालेका बोध करता है, इसलिये सर्व साधारण प्राणिमात्रका वाचक होता है, तथापि यहांका वर्णन *विशेषतः मनुष्यके* शरीरका ही समझना उचित है। 'चतुष्पाद और द्विपाद' शब्दोंसे संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मंत्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इस प्रकार अन्य *मंत्रोंमें लेनेसे कोई हानि नहीं है,* तथापि मंत्र ७ में जो वाणीका वर्णन है वह मनुष्यकी वाणीका ही है, क्योंकि सब प्राणियोंमें यह वाक्शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणीमें पूर्ण विकसित हो गई है। मंत्र ९, १० में 'मति अमति' आदि शब्द *मनुष्यका ही वर्णन* कर रहे हैं। इस प्रकार यद्यपि मुख्यत सब वर्णन मनुष्यका है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मंत्र सामान्य अर्थके बोधक हैं, वे सर्व सामान्य प्राणिजातिके विषयमें समझनेमें कोई हानि नहीं है।

मंत्र आठमें 'स्वर्गपर चढनेवाला देव कौनसा है ?' यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह मंत्र जीवात्माका मार्ग बता रहा है। इस प्रश्नका दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि 'नरकमें कौन गिर जाता है ?' तात्पर्य जीव स्वर्गमें क्यों जाता है ? और नरकमें क्यों गिरता है ?

मंत्र ९ और १० में अच्छे और बुरे दोनों पहलुओंके प्रश्न हैं। १ *अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तंद्री,* आर्ति, अवर्ति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं, २ और प्रिय, आनंद, नंद, रात्रि, समृद्धि, अव्यृद्धि, मति, उदिति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं। दोनों स्थानोंमें आठ आठ शब्द हैं और उनका परस्पर संबंध भी है। पाठक विचार करनेपर उस संबंधको जान सकते हैं। तथा—

(३) रुधिर, प्राण, चारित्र्य, अमरत्व आदिके विषयमें प्रश्न।

मंत्र ११ में शरीरमें रक्तका प्रवाह किसने संचारित किया है ? यह प्रश्न है। प्रायः लोग समझते हैं, कि शरीरमें रुधिराभिसरणका तत्त्व यूरोपके डाक्टरोंने ढूंढा है। परंतु इस अथर्ववेदके मंत्रोंमें वह स्पष्ट ही है। रुधिरका नाम इस मंत्रमें '**लोहिनीः आपः**' है, इसका अर्थ '(लोह-नीः) लोहेको अपने साथ ले जानेवाले (आपः) जल' ऐसा होता है। अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहा भी है। लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है। लोह जिसमें है वही '**लोहित**' (लोह+इत) होता है। दो प्रकारका रक्त होता है एक '**अरुणाः आपः**' अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा '*ताम्र-धूम्राः आपः*' *तांबेके जंगके समान मलिन रंग*वाला। पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदयसे बाहिर जाता है और सब शरीरमें ऊपर, नीचे और चारों ओर व्यापता है। दूसरा *मलिन रंगका रक्त है, जो शरीरमें भ्रमण करके और वहांकी* शुद्धता करनेके पश्चात् हृदयकी ओर वापिस आता है। इस प्रकारकी यह आश्चर्यकारक रुधिराभिसरण की योजना किसने की है, यह प्रश्न यहां किया है। किस देवताका यह कार्य है ? पाठक सोचिये।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है, कि 'मनुष्यमें सौंदर्य, महत्त्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवताके प्रभावसे दिखाई देता है ?' इस मंत्रके 'चरित्र' शब्दका अर्थ कई लोग 'पांव' ऐसा समझते हैं, परंतु इस मंत्रके पूर्वापर

संबंधसे यह अर्थ नहीं दिखाई देता। क्योंकि स्थूल पांवका वर्णन पहिले मंत्रमें हो चुका है। यहां सूक्ष्म गुणधर्मोंका वर्णन चला है। तथा महिमा, यश, ज्ञान आदिके साथ चारित्र्य ही अर्थ ठीक दिखाई देता है।

मंत्र १५ में 'वासः' शब्द 'कपडों' का वाचक है। यह जीवात्माके ऊपर जो शरीररूपी कपडे हैं, उनका संबंध है, धोती आदिका नहीं। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि- 'जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोडकर नये ग्रहण करता है उसी प्रकार शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर नये शरीर धारण करता है। (गीता २।२२)' इसमें शरीरकी तुलना कपडोंके साथ की है। इस गीताके श्लोकमें '**वासांसि**' अर्थात् '**वासः**' यही शब्द है, इसलिये गीताकी यह कल्पना इस अथर्ववेदके मंत्रसे ली हुई है। कई विद्वान् यहां इस मंत्रमें '**वासः**' का अर्थ 'निवास' करते हैं, परंतु '**परि-अद-धात्** (पहनाया)' यह क्रिया बता रही है कि यहां कपडोंका पहनाना अभीष्ट है। इस आत्मापर शरीररूपी कपडे किसने पहनाये ? यह इस प्रश्नका सीधा तात्पर्य है।

(४) मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा तथा बाह्य जगत् के विषयमें प्रश्न।

(समष्टि-व्यष्टिका संबंध)

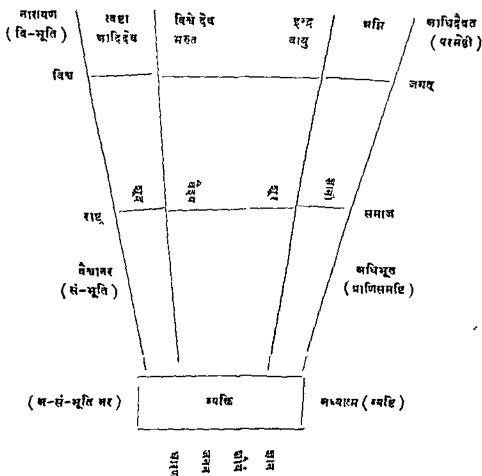
मंत्र १५ तक व्यक्तिके शरीरके संबंधमें विविध प्रश्न हो रहे थे, परंतु अब मंत्र १६ से जगत्‌के विषयमें प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इसके आगे मंत्र २१ और २२ में समाज और राष्ट्रके विषयमें भी प्रश्न आ जायगे। तात्पर्य इससे वेदकी शैलीका पता लगता है, (१) अध्यात्ममें व्यक्तिका संबंध, (२) अधिभूतमें प्राणि-समष्टिका अर्थात् समाजका संबंध, और (३) अधिदैवतमें संपूर्ण जगत्का संबंध है। वेद व्यक्तिसे प्रारंभ करता है और चलते चलते सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान यथाक्रम देता है। यही वेदकी शैली है। जो इसको नहीं समझते, उनके ध्यानमें उक्त प्रश्नोंकी संगति नहीं आती। इसलिये इस शैलीको समझना चाहिये।

वेद समझाता है, कि जैसा एक अवयव हाथ पांव आदि शरीरके साथ जुडा हुआ है, उसी प्रकार एक शरीर समाजके साथ संयुक्त हुआ है और समाज संपूर्ण जगत्‌के साथ मिला हुआ है। 'व्यक्ति समाज और जगत्' ये अलग नहीं हो सकते। हाथ पांव आदि अवयव जैसे शरीरमें हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और कुटुंब समाजके साथ लगे हैं और सब प्राणियोंकी समष्टि संपूर्ण जगतसे संलग्न हो गई है। इसलिये तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसे ही हैं। (चित्र अगले २० में पृष्ठपर देखो)

सोलहवें मंत्रमें '**आप्, अहः उषा, सायंभव**' ये चार शब्द क्रमशः बाह्य जगतमें 'जल, दिन, उषःकाल और सायं-काल' के वाचक हैं, तथा व्यक्तिके शरीरमें 'जीवन, जागृति, इच्छा और विश्रांति' के सूचक हैं। इसलिये इस सोलहवें मंत्रका भाव दोनों प्रकार समझना उचित है। ये चार भाव समाज और राष्ट्रके विषयमें भी होते हैं, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जागृति, जनताकी इच्छा और लोगोंका आराम ये भाव सामुदायिक जीवनमें हैं। पाठक इस प्रकार इस मंत्रका भाव समझें।

मंत्र १७ में फिर वैयक्तिक बातका उल्लेख है। प्रजातंतु अर्थात् संततिका तांता (धागा) टूट न जाय, इसलिये शरीरमें वीर्य है यह बात यहां स्पष्ट कही है। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में '**प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः** (तै. १।११।१)' संततिका तांता न तोड। यह उपदेश है। वही भाव यहां सूचित किया है। यहां दूसरी बात सूचित होती है कि वीर्य योंही खोनेके लिये नहीं है, परंतु उत्तम संतति करनेके लिये ही है। इसलिये कामोपभोगके अतिरेकमें वीर्यका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको सुरक्षित करके उत्तम संतति उत्पन्न करनेमें ही खर्च करना चाहिये। इसी सूक्तमें आगे जाकर मंत्र २९ में कहेंगे कि 'जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव उत्तम इंद्रिय, दीर्घ जीवन और उत्तम संतति देते हैं।' उस मंत्रके अनुसंधानमें इस मंत्रके प्रश्नको देखना चाहिये। वंश अथवा कुलका क्षय नहीं होना चाहिये, और संततिका क्रम चलता रहना चाहिये, इतना नहीं परंतु उत्तरोत्तर संततिमें शुभगुणोंकी वृद्धि होनी चाहिये इसलिये उक्त सूचना दी है। अज्ञानी लोग वीर्यका नाश दुर्व्यसनोंमें कर देते हैं, और उससे अपना और कुलका घात करते हैं, परंतु ज्ञानी लोग वीर्यका संरक्षण करते हैं और सुसंतति निर्माण करनेके द्वारा अपना और कुलका संवर्धन करते हैं। यही धार्मिकों और अधार्मिकोंमें भेद है।

इसी मंत्रमें '**स्तन**' शब्द '**वाणी**' का वाचक और '**नृतः**' शब्द '**नाट्य**' का वाचक है। मनुष्य जिस समय बोलता है उस समय हाथ पांवसे अंगोंके विशेष तथा विशेष प्रकारके आविर्भाव करता है। यही '**नृत्**' है। भाषणके साथ



मनके भाव व्यक्त करनेके लिये अर्गोके विशेष आविर्भाव होने चाहिये, यह आशय यहां स्पष्ट व्यक्त हो रहा है।

मंत्र १८ में जगत्के विषयमें प्रश्न है। भूमि, द्युलोक और पर्वत किसने व्यापे हैं ? अर्थात् व्यापक परमात्मा सब जगत्में व्याप्त हो रहा है, यह इसका उत्तर आगे मिलता है। व्यक्तिमें जैसा आत्मा है, वैसा संपूर्ण जगत्में परमात्मा विद्यमान है। पुरुष शब्दसे दोनोंका बोध होता है। व्यक्तिमें जीवात्मा पुरुष है और जगत्में परमात्मा पुरुष है। यह आत्मा कर्म क्यों करता है ? यह प्रश्न इस मन्त्रमें हुआ है।

मंत्र १९ में यज्ञ करनेका भाव तथा श्रद्धाका श्रेष्ठ भाव मनुष्यमें कैसे आता है, यह प्रश्न है। पाठक भी इसका बहुत विचार करें, क्योंकि इन गुणोंके कारण ही मनुष्यका श्रेष्ठत्व है। ये भाव मनमें रहते हैं और मनके प्रभावके कारण ही मनुष्यश्रेष्ठ होता है। तथा—

(५) ज्ञान और ज्ञानी।

मंत्र २० के चार प्रश्न हैं और उनका उत्तर मंत्र २१ में दिया है। श्रोत्रियको कैसे प्राप्त किया जाता है ? गुरुको किस रीतिसे प्राप्त करना है ? इसका उत्तर 'ज्ञानसे ही प्राप्त करना चाहिये' अर्थात् गुरु पहचाननेका ज्ञान शिष्यमें चाहिये। अन्यथा ढोंगी धूर्तके जालमें फस जाना असंभव नहीं है।

परमात्माको कैसे प्राप्त किया जाता है ? इस प्रश्नका उत्तर 'ज्ञानसे' ही है, ज्ञानसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। 'परमेष्ठी' शब्दका अर्थ 'परम स्थानमें रहनेवाला आत्मा' ऐसा है। परेसे परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण और (४) महाकारण इससे परे वह है, इसलिये उसको '**परमेष्ठी**' किंवा '**पर-तमे-ष्ठी**' परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञानसे ही लगता है। सबसे पहिले अपने ज्ञानसे

प्राप्त करना है, तत्पश्चात् उस सद्गुरुसे दिव्यज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्माको जानना होता है।

तीसरा प्रश्न 'अग्नि कैसे प्राप्त होता है?' यह है; यहां 'अग्नि' शब्दसे सामान्य अग्निय भाव लेना उचित है। ज्ञानाग्नि प्राणाग्नि, आत्माग्नि, ब्रह्माग्नि आदि जो सांकेतिक अग्नि हैं, उनका यहां बोध लेना चाहिये। क्योंकि गुरुका उपदेश और परमात्मज्ञानके साथ संबंध रखनेवाले तेजके भाव ही यहां अपेक्षित हैं। वे सब गुरुके उपदेशसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानसे ही प्राप्त होते हैं।

चौथा प्रश्न संवत्सरकी गिनतीके विषयमें है संवत्सर 'वर्ष' का नाम है। इससे 'काल' का बोध होता है। इसके अतिरिक्त 'सं-वत्सर' का अर्थ ऐसा होता है- (**सं सम्यक् वसति वासयति वा सः संवत्सरः**) जो उत्तम प्रकार सर्वत्र रहता है और सबको उत्तम रीतिसे बसाता है वह-संवत्सर कहलाता है। विष्णुसहस्र-नाममें संवत्सरका अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा किया है। '**सम्यक् निवास**' इतना ही अर्थ यहां अपेक्षित है। सम्यक् निवास अर्थात् उत्तम प्रकारसे रहना सहना किससे होता है? यह प्रश्न है। उसका उत्तर 'ज्ञानसे ही उत्तम निवास हो सकता है' अर्थात् ज्ञानसे ही मनुष्य अपना वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य जानता है, और ज्ञानसे ही उस कर्तव्यका पालन करता है, तात्पर्य व्यक्ति, समाज और जगत्में उत्तम शांतिकी स्थापना उत्तम ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान ही सबकी सुस्थितिका हेतु है। इस प्रकार इन मंत्रों द्वारा ज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है।

ज्ञान गुण आत्माका होनेसे यहां ब्रह्म शब्दसे आत्माका भी बोध होता है, और आत्माके ज्ञानसे यह सब होता है। ऐसा भाव व्यक्त होता है। क्योंकि ज्ञान आत्मासे पृथक् नहीं है। इसी लिये ब्रह्म शब्दके ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म आदि अर्थ हैं।

(६) देव और देवजन।

मंत्र २२ में 'देव' शब्दके तीन अर्थ हैं- (१) इंद्रियां, (२) ज्ञानी वृद्ध आदि सज्जन, (३) और अग्नि इंद्र आदि देवतायें। ये अर्थ लेकर पहिले प्रश्नका अर्थ करना चाहिये। देवोंको अनुकूल बनाना और उनको उत्तम स्थान देना, यह किससे होता है यह प्रश्न है। इसका निम्न प्रकार तात्पर्य है। (१) आध्यात्मिक भाव = (व्यक्तिके देहमें) = किससे इंद्रियों अवयवों और सब अंगोंको अनुकूल बनाया जाता है? और किससे उनका उत्तम प्रकारसे स्वास्थ्यपूर्वक निवास होता है? इसका उत्तर ज्ञानसे इंद्रियोंको अनुकूल बनाया जाता है और उनका निवास उत्तम स्वास्थ्यपूर्वक होनेकी व्यवस्था की जाती है। (२) आधिभौतिक भाव = (राष्ट्रके देहमें) = राष्ट्रमें देवोंका पंचायतन होता है। एक 'ज्ञान-देव' ब्राह्मण होते हैं, दूसरे 'बल-देव' क्षत्रिय होते हैं, तीसरे 'धन-देव' वैश्य होते हैं, चौथे 'कर्म-देव' शूद्र होते हैं, पांचवें 'वन-देव' नगरोंसे बाहिर रहनेवाले लोग होते हैं। इन पांचोंके प्रतिनिधि जिस सभामें होते हैं, उस सभाको 'पंचायत' अथवा 'पंचायतन' कहते हैं और उस सभाके सभासदोंको 'पंच' कहते हैं। ये पांचों प्रकारके देव राष्ट्रपुरुषके शरीरमें अनुकूल बनकर किससे रहते हैं? यह प्रश्नका तात्पर्य है। 'ज्ञानसे ही सब जन अनुकूल व्यवहार करते हैं, और ज्ञानसे ही सबका योग्य निवास होता है।' यह उक्त प्रश्नका उत्तर है। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होनेसे सबका ठीक व्यवहार होता है। इन दोनों मंत्रोंमें '**देव-जनीः विशः**' ये शब्द हैं, इसका अर्थ 'देवसे जन्मी हुई प्रजा' ऐसा होता है। अर्थात् सब प्रजाजनोंकी उत्पत्तिका हेतु देव है। यह सब संतान देवोंकी है। तात्पर्य कोई भी अपने आपको नीच न समझे और दूसरेको भी हीन दीन न माने; क्योंकि सब लोग देवतासे उत्पन्न हुये हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं और समान हैं। इनकी उन्नति ज्ञानसे होती है, (३) आधिदैविक भाव = (जगत्में) = अग्नि, विद्युत्, वायु, सूर्य आदि सब देवताओंको अनुकूल बनाना किससे होता है? और निवासके लिये उनसे सहायता किससे मिलती है। इस प्रश्नका उत्तर भी 'ज्ञानसे यह सब होता है' यही है। ज्ञानसे ही भूमि, जल, तेज, वायु, सूर्य आदि देवताओंकी अनुकूलता संपादन की जाती है और ज्ञानसे ही अपने सुखमय निवासके लिये उनकी सहायता ली जाती है; अथवा जो ज्ञान-स्वरूप परब्रह्म है वही सब करता है। उक्त प्रश्नका तीनों स्थानोंमें अर्थ इस प्रकार होता है। यहां भी 'ब्रह्म' शब्दसे ज्ञान, आत्मा, परमात्मा आदि अर्थ लिये जा सकते हैं, क्योंकि केवल ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं रहता है।

दूसरे प्रश्नमें '**देव-जनीः विशः**' अर्थात् दिव्यप्रजा परस्पर अनुकूल बनकर किस रीतिसे सुखपूर्ण निवास करती है, यह भाव है। इस विषयमें पूर्व स्थलमें लिखा ही है। इस प्रश्नके उत्तर भी 'ज्ञानसे यह सब होता है' यही है।

तीसरे प्रश्नमें पूछा है कि '**सत् क्षत्र**' उत्तम क्षात्र किससे होता? क्षतों अर्थात् दुःखोंसे जो त्राण अर्थात् रक्षण किया जाता है, उसको क्षत्र कहते हैं। दुःख, कष्ट, आपत्ति, हानि, अवनति आदिसे बचाव करनेकी शक्ति, किससे प्राप्त होती

है, यह प्रश्न है। इसका उत्तर 'ज्ञानसे वह शक्ति आती है' यही है। ज्ञानसे सब कष्ट दूर होते हैं, यह बात जैसी व्यक्तिमें वैसीही समाजमें और राष्ट्रमें बिलकुल सत्य है।

'दूसरा न-क्षत्र किससे होता है?' यह चौथा प्रश्न है। यहां 'न-क्षत्र' शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। आकाशमें जो तारागण हैं उनको 'नक्षत्र' कहते हैं, इसलिये कि वे (**न क्षरन्ति**) अपने स्थानसे पतित नहीं होते। अर्थात् अपने स्थानसे पतित न होनेका भाव जो 'न-क्षत्र' शब्दमें है वह यहां अभीष्ट है। यह अर्थ लेनेसे उक्त प्रश्नका तात्पर्य निम्नलिखित प्रकार हो जाता है, 'किससे यह दूसरा न गिरनेका सद्‌गुण प्राप्त होता है?' इसका उत्तर 'ज्ञानसे न गिरनेका सद्‌गुण प्राप्त होता है' यह है। जिसके पास ज्ञान होता है वह अपने स्थानसे कभी गिरता नहीं। यह जैसे एक व्यक्तिमें सत्य है वैसे ही समाजमें और राष्ट्रमें भी है। अर्थात् ज्ञानके कारण एक व्यक्तिमें ऐसा विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त होता है कि वह व्यक्ति कभी स्वकीय उच्च अवस्थासे गिर नहीं सकता। तथा जिस समाज और राष्ट्रमें ज्ञान भरपूर रहेगा, वह समाज भी कभी अवनत नहीं हो सकता।

इन मन्त्रोंमें व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके तत्त्व उत्तम प्रकारसे कहे हैं। ज्ञानके कारण व्यक्तिके इंद्रिय, राष्ट्रके पांच ही जन उत्तम अवस्थामें रहते हैं, प्रजाओंका अभ्युदय होता है, उनमें दुःख दूर करनेका सामर्थ्य आता है और ज्ञानके कारण वे कभी अपनी श्रेष्ठ अवस्थासे गिरते नहीं। यहां ज्ञानवाचक ब्रह्म शब्द है, यह पूर्वोक्त प्रकार हो 'ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म' का वाचक है, क्योंकि सत्य ज्ञान इनमें ही रहता है।

(७) अधिदैवत।

इस प्रश्नोत्तरमें त्रिलोकीका विषय आ गया है, इसका थोडासा विचार सूक्ष्म दृष्टिसे करना चाहिये। भूलोक, अंतरिक्ष लोक और द्युलोक मिलकर त्रिलोकी होती है। यह व्यक्तिमें भी है। और जगत्‌में भी है। देखिये—

लोक	व्यक्तिमें रूप	राष्ट्रमें रूप	जगत्‌में रूप
		(विशः)	
भूः	नाभिसे गुदा तकका प्रदेश, पांव	जनता प्रजा धनी और कारीगर लोग	पृथ्वी (अग्नि)
		(क्षत्रं)	
भुवः	छाति और हृदय	शूर लोग लोकसभा समिति	अंतरिक्ष (वायु) इंद्र
		(ब्रह्म)	
स्वः स्वर्ग	सिर मस्तिष्क	ज्ञानी लोग मन्त्रिमंडल	द्युलोक नभो मंडल (सूर्य)

मंत्र २४ में पूछा है कि, पृथिवी, अंतरिक्ष, और द्युलोकोंको अपने अपने स्थानमें किसने रखा है? उत्तरमें निवेदन किया है कि उक्त तीनों लोकोंको ब्रह्मने अपने अपने स्थानमें रख दिया है। उक्त कोष्टकसे तीनों लोक व्यक्तिमें, राष्ट्रमें और जगत्‌में कहां रहते हैं, इसका पता लग सकता है। व्यक्तिमें सिर, हृदय और नाभिके निचला भाग ये तीन लोक हैं, इनका धारण आत्मा कर रहा है। शरीरमें अधिष्ठाता जो अमूर्त आत्मा है, वह शरीरस्थ इन तीनों केंद्रोंको धारण करता है और वहांका सब कार्य चलाता है। अमूर्त राजशक्ति राष्ट्रीय त्रिलोकीकी सुरक्षितता करती है। तथा अमूर्त व्यापक ब्रह्म जगत्‌की त्रिलोकीका धारण कर रहा है।

इस २४ वें मंत्रके प्रश्नमें पूर्व मंत्रोंमें किये सब ही प्रश्न संग्रहीत हो गये हैं। यह बात यहां विशेष रीतिसे ध्यानमें धरनी चाहिये कि पहिले दो मंत्रोंमें नाभिके निचले भागोंके विषयमें प्रश्न हैं, मंत्र ३ से ५ तक मध्यभाग और छातिके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र ६ से ८ तक सिरके विषयमें प्रश्न हैं।

इस प्रकार ये प्रश्न व्यक्तिके त्रिलोकीके विषयमें स्थूल शरीरके संबंधमें हैं। मंत्र ९, १० में मनकी शक्ति और भावनाके प्रश्न हैं, मंत्र ११ में सर्व शरीरमें व्यापक रसके विषयका प्रश्न है, मंत्र १२ में नाम, रूप, यश, ज्ञान और चारित्र्यके प्रश्न हैं, मंत्र १३ में प्राणके संबंधके प्रश्न हैं, मंत्र १४ और १५ में जन्म मृत्यु आदिके विषयमें प्रश्न हैं। मंत्र १७ में संतति वीर्य आदिके प्रश्न हैं। ये सब मंत्र व्यक्तिके शरीरमें जो त्रिलोकी है, उसके संबंधमें हैं। उक्त मंत्रोंका विचार करनेसे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। इन मंत्रोंके प्रश्नोंका क्रम देखनेसे पता लग जायगा कि वेदने स्थूलसे स्थूल पांवसे प्रारंभ करके कैसे सूक्ष्म आत्म-शक्तिके विचार पाठकोंके मनमें उत्तम रीतिसे जमा दिये हैं। जड शरीरके मोटे भागसे प्रारंभ करके चेतन आत्मातक अनायाससे पाठक आ गये हैं। केवल प्रश्न पूछनेसे ही पाठकोंमें इतना अद्भुत ज्ञान उत्पन्न हुआ है। यह खूबी केवल प्रश्न पूछनेकी और प्रश्नोंके क्रमकी है।

चौबीसवें मंत्रमें प्रश्न किये हैं कि, यह त्रिलोकी किसने धारण की है। इसका उत्तर २५ वें मंत्रमें है कि, 'ब्रह्म ही इस त्रिलोकीका धारण करता है।' अर्थात् शरीरकी त्रिलोकी शरीरके अधिष्ठाता आत्माने धारण की है, यह 'आध्यात्मिक भाव' यहां स्पष्ट हो गया है। इस प्रकार पचास प्रश्नोंका उत्तर इस एकही मंत्रने दिया है।

अन्य मंत्रोंमें (मंत्र १६, १८ से २४ तक) जिनने प्रश्न पूछे हैं उनके 'आधिभौतिक' और 'आधिदैविक' ऐसे दो ही विभाग होते हैं, इनका वैयक्तिक भाग पूर्व विभागमें आ गया है। इनका उत्तर भी २५ वा मंत्र ही दे रहा है। अर्थात् सबका धारण 'ब्रह्म' ही कर रहा है। तात्पर्य संपूर्ण ७१ प्रश्नोंका उत्तर एक ही 'ब्रह्म' शब्दमें समाया है। प्रश्नके अनुसार 'ब्रह्म' शब्दके अर्थ 'ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म' आदि हो सकते हैं। इसका संबंध पूर्व स्थानमें बताया ही है।

व्यक्तिमें और जगत्में जो 'प्रेरक' है उसका 'ब्रह्म' शब्दसे इस प्रकार बोध हो गया। परंतु यह केवल शब्दका ही बोध है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। शब्दसे बोध होनेपर मनमें चिंता उत्पन्न होती है कि, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान किस रीतिसे प्राप्त किया जा सकता है? हमें शरीरका ज्ञान होता है और बाह्य जगत्को भी प्रत्यक्ष करते हैं, परंतु उसके अंतर्यामी प्रेरकको नहीं जानते!! उसको जाननेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है—

ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय।

इस २६ वें मंत्रमें अनुष्ठानकी विधि कही है। यही अनुष्ठान है जो कि, आत्मरूपका दर्शन कराता है। सबसे पहिली बात है 'अथर्वा' बननेकी। 'अ-थर्वा' का अर्थ है निश्चल। थर्व का अर्थ गति अथवा चंचलता। चंचलता सब प्राणियोंमें होती है। शरीर चंचल है, उससे अधिक इंद्रियां चंचल हैं, किसी एक स्थानपर नहीं ठहरतीं। उनसे भी मन अधिक चंचल है, इस मनकी चंचलताकी तो कोई हद्दही नहीं है। इस प्रकार जो चंचलता है उसके कारण आत्मशक्तिका आविर्भाव नहीं होता। जब मन, इंद्रियां और शरीर स्थिर होता है, तब आत्माकी शक्ति विकसित होकर प्रकट होती है।

आसनोंके अभ्याससे शरीरकी स्थिरता होती है, और शारीरिक आरोग्य प्राप्त होनेके कारण सुख मिलता है। ध्यानसे इंद्रियोंकी स्थिरता होती है और भक्तिसे मन शांत होता है। इस प्रकार योगी अपनी चंचलताका निरोध करता है। इसलिये इस योगीको 'अ-थर्वा' अर्थात् 'निश्चल' कहते हैं। यह निश्चलता प्राप्त करना बडे ही अभ्यासका कार्य है। सुगमतासे साध्य नहीं होती। सालोसाल निरंतर और एकनिष्ठासे प्रयत्न करनेपर मनुष्य 'अ-थर्वा' बन सकता है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद कहलाता है। हरएक मनुष्य योगी नहीं होता, इसलिये हरएकके कामका भी अथर्व वेद नहीं है। परंतु इतर तीन वेद 'सद्बोध-सत्कर्म-सदुपासना' रूप होनेसे सब लोगोंके लिये ही हैं। इसलिये वेदको 'त्रयी विद्या' कहते हैं। चतुर्थ 'अथर्ववेद' किंवा 'ब्रह्मवेद' विशिष्ट अवस्थामें पहुंचनेका प्रयत्न करनेवाले विशेष पुरुषोंके लिये होनेसे उनको 'त्रयी' में नहीं गिनते। तात्पर्य इस दृष्टिसे देखनेपर भी 'अथर्वा' की विशेषता स्पष्ट दिखाई देती है।

इस प्रकार 'अ-थर्वा' अर्थात् निश्चल बननेके पश्चात् सिर और हृदयको सीना चाहिये। सीनेका तात्पर्य एक करना अथवा एक ही कार्यमें लगाना है। सिर विचारका कार्य करता है और हृदय भक्तिमें तल्लीन होता है। सिरके तर्क जब चलते हैं, तब वहां हृदयकी भक्ति नहीं रहती; तथा जब हृदय भक्तिसे परिपूर्ण हो जाता है तब वहां तर्क बंद हो जाता है। केवल तर्क बढनेपर नास्तिकता और केवल भक्ति बढनेपर अंधविश्वास होना स्वाभाविक है। इसलिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, सिर और हृदयको सी दो। ऐसा करनेसे सिर अपने तर्क भक्तिके साथ रहते हुए करेगा और नास्तिक बनेगा नहीं, तथा भक्ति करते करते हृदय अंधा बनने लगेगा, तो सिर

उसको ज्ञानके नेत्र देगा। इस प्रकार दोनोंका लाभ है। सिरमें ज्ञान नेत्र हैं और हृदयकी भक्तिमें बड़ा बल है। इसलिये दोनोंके एकत्रित होनेसे बड़ा ही लाभ है।

राष्ट्रीय शिक्षाका विचार करनेवालोंको इस मन्त्रसे बड़ाही बोध मिल सकता है। शिक्षाकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिससे पढनेवालोंके सिरकी विचार शक्ति बढे और साथ साथ हृदयकी भक्ति भी बढे। जिस शिक्षाप्रणालीसे केवल तर्कना-शक्ति बढती है, अथवा केवल भक्ति बढती है वह बडी घातक शिक्षा है।

सिर और हृदयको एक मार्गमें लाकर उनको साथ साथ चलानेका जो स्पष्ट उपदेश इस मंत्रमें है, वह किसी अन्य ग्रंथोंमें नहीं है। किसी अन्य शास्त्रमें यह बात नहीं है। वेदके ज्ञानकी विशेषता इस मंत्रसे ही सिद्ध होती है। उपासनाकी सिद्धि इसीसे होती है। पाठक इस मंत्रमें वेदके ज्ञानकी सचाई देख सकते हैं।

पहिली अवस्था 'अ-थर्वा' बनना है, तत्पश्चात् सिर और हृदयको सीकर एक करना चाहिए। जब दोनों एक ही मार्गसे चलने लगेंगे तब बडी प्रगति होती है। इतनी योग्यता आनेके लिये बडे दृढ अभ्यासकी आवश्यकता है। इसकेपश्चात् प्राणको सिरके अंदर परन्तु मस्तिष्कके परे प्रेरित करना है। सिरमें मस्तिष्कके उच्चतम भागमें ब्रह्मलोक है। इस ब्रह्मलोकमें प्राणके साथ आत्मा जाता है। यह योगसे साध्य अंतिम उच्च तम अवस्था है। यहां प्राण कैसे जाता है? ऐसा प्रश्न यहां पूछा जा सकता है। गुदाके पास मूलाधार स्थान है, वहांसे प्राण पृष्ठ-वंशके बीचमेंसे ऊपर चढने लगता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि आठ चक्र इसी पृष्ठवंश किंवा मेरुदण्डके साथ लगे हुए हैं। इनमेंसे होता हुआ, जैसे जैसे अभ्यास होता है वैसे वैसे प्राण ऊपर चढता, है और अंतमें ब्रह्मलोकमें किंवा सिरमे मस्तिष्कके ऊपर प्राण पहुंचता है। यहां आकर उस उपासकको ब्रह्म स्वरूपका साक्षात् होता है। तात्पर्य जो सबका प्रेरक ब्रह्म है वह यहां पहुंचनेके पश्चात् अनुभवमें आता है। पूर्व पचीस मंत्रोंद्वारा जिसका वर्णन हुआ, उसको जाननेका यह मार्ग है। सिरकी तर्कशक्तिके परे ब्रह्मका स्थान है, इसलिये जबतक तर्क चलते रहते हैं, तबतक ब्रह्मका अनुभव नहीं होता। परंतु जिस समय तर्कसे परे जाना होता है, उस समय उस तत्वका अनुभव होता है। इस अनुष्ठानका फल अगले चार मंत्रोंमें कहा है।

(९) अथर्वाका सिर।

इस २७ वें मंत्रमें अथर्वाके सिरकी योग्यता कही है। स्थिरचित्त योगीका नाम 'अ-थर्वा' है। इस योगीका सिर देवोंका सुरक्षित भण्डार है। अर्थात् देवोंका जो देवपन है वह इसके सिरमें सुरक्षित होता है। शरीरमें ये सब ज्ञान इन्द्रिय और कर्म इंद्रियदेव हैं, तथा पृथिवी, आप, तेज, वायु, विद्युत् सूर्य आदि देवोंके अंश जो शरीरमें अन्य स्थानोंमें हैं, मानो वे भी देव हैं। इन सब देवोंका संबंध सिरमें होता है, सब देवताओंकी मुख्य सभा सिरमें होती है। सब देव अपना सत्त्व सिरमें रख देते हैं। सब देवोंके सत्वांशसे यह सिर बना है और सिरका यह मस्तिष्कका भाग बडा ही सुरक्षित है। इसकी सुरक्षितता 'प्राण, अन्न और मन' के कारण होती है। अर्थात् प्राणायामसे, सात्विक अन्नके सेवनसे और मनकी शांतिसे देवोंका उक्त खजाना सुरक्षित रहता है। प्राणायामसे सब दोष जल जाते हैं, सात्विक अन्नसे शुद्ध परमाणुओंका संचय होता है और मनकी शांतिसे समता रहती है। अर्थात् प्राणायाम न करनेसे मस्तकमें दोष-बीज जैसे के वैसे ही रहते हैं, बुरा अन्न सेवन करनेसे रोग-बीज बढते हैं और मनकी अशांतिसे पागलपन बढ जाता है। इस कारण देवोंका खजाना नष्टभ्रष्ट हो जाता है।

इस मंत्रमें योगीके सिरकी योग्यता बताई है और आरोग्यकी कुंजी प्रकट की है। (१) विधिपूर्वक प्राणायाम, (२) शुद्ध सात्विक अन्नका सेवन और (३) मनकी परिशुद्ध शांति, ये आरोग्यके मूल कारण हैं। योगसाधनकी सिद्धताके लिये तथा बहुत अंशमें पूर्ण स्वास्थ्यके लिये सदा सर्वदा इनकी आवश्यकता है।

अपना सिर देवोंका कोश बनानेके लिये हरएकको प्रयत्न करना चाहिये। अन्यथा वह राक्षसोंका निवास-स्थान बनेगा और फिर कष्टोंकी कोई सीमाही नहीं रहेगी। राक्षस सदा हमला करनेके लिये तत्पर रहते हैं, उनका बल भी बडा होता है। इसलिये सदा तत्परताके साथ दक्षता धारण करके संसरण करना चाहिये। तथा दैवी भावनाका विकास करके राक्षसी भावनाको समूल हटाना चाहिये। ऐसी दैवी भावनाकी स्थिति होनेके पश्चात् जो अनुभव होता है, वह अगले मंत्रमें लिखा है।

(१०) सर्वत्र पुरुष।

जब मंत्र २६ के अनुसार अनुष्ठान किया जाता है और मंत्र २७ के अनुसार 'दैवी संपत्ति' की सुरक्षा की जाती है, तब मंत्र २८ का फल अनुभवमें आता है। 'ऊपर, नीचे,

तिरछा सभी स्थानमें यह पुरुष व्यापक है' ऐसा अनुभव आता है। इसके बिना कोई स्थान रिक्त नहीं है। परमात्माकी सर्वव्यापकता इस प्रकार ज्ञात होती है। पुरीमें वसनेके कारण (पुरि+वस; पुर्+उष=पुरुषः) आत्माको पुरुष कहते हैं। यह पुरुष जैसा बाहर है वैसा इस शरीरमें भी है। इसलिये बाहर ढूंढनेकी अपेक्षा इसको शरीरमें देखना बडा सुगम है। गोपथ ब्राह्मणमें 'अथर्वा' शब्दकी व्युत्पत्ति इसी दृष्टिसे निम्न प्रकार की है—

अथ अर्वाक् एनं एतासु अप्सु अन्विच्छ इति ॥

(गोपथ. १।४)

(अब ईश्वरही इसको तूं इस जलमें ढूंढ।) तात्पर्य बाहिर ढूंढनेसे यह आत्मा प्राप्त नहीं होगा, अंदर ढूंढनेसे ही प्राप्त होगा। यही अथर्ववेदका कार्य बताया है—

अथ+(अ) र्वा (क्) - अथर्वा।

अपने अंदर आत्माको ढूंढनेकी विद्या जिसने बता दी है, वही अथर्ववेद है। सब अथर्ववेदकी यही विद्या है। अथर्ववेद अन्य वेदोंसे पृथक् और वह वेदत्रयीसे बाहिर क्यों है, इसका पता यहां लग सकता है। संपूर्ण जनता अपने अंदर आत्माका अनुभव नहीं कर सकती, इसलिये जो विशेष सज्जन योगमार्गमें प्रगति करना चाहते हैं, उनके लिये तथा जो सिद्ध पुरुष होते हैं उनके लिये यह वेद है।

जो जहां रहता है, उसको वहां देखना चाहिये। चूंकी यह आत्मा पुरिमें रहता है, इसलिये इसको पुरिमें ही ढूंढना चाहिये। इस शरीरको पुरि कहते हैं, क्योंकि यह सप्त धातुओंसे तथा अन्यान्य उपयोगी शक्तियोंसे परिपूर्ण है। इस पुरिमें जो वसता है, उसको पुरुष कहते हैं। पुरुष किंवा पूरुष ये दोनों शब्द हैं और दोनोंका अर्थ एक ही है।

आगे मंत्र ३१ में इस पुरिका वर्णन आ जायगा। ।पाठक वहां ही पुरिका वर्णन देख सकते हैं। इस ब्रह्मपुरी, ब्रह्मनगरी, अमरावती, देवनगरी, अयोध्यानगरी आदिको यथावत् जाननेसे जो फल प्राप्त होता है, उसको इस मत्र २८ ने बताया है। ब्रह्मनगरीको जो उत्तम प्रकारसे जानता है, उसको सर्वात्मभावका अनुभव आता है। जो पुरुष अपने आत्मामें, अपने हृदयाकाशमें है वह ऊपर नीचे तिरछा सब दिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह किसी स्थानपर नहीं ऐसा एक भी स्थान नहीं है। यह अनुभव उपासकको यहां होता है। 'अपने आपको आत्मामें और आत्माको अपनेमें वह देखने लगता है।' (ईश उ. ६) जो इस प्रकार देखता है, उसको शोक मोह नहीं होते और उससे कोई अपवित्र कार्य भी नहीं होता।

इस मंत्रमें 'सृष्ट' शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। (Poured out, connected, abundant, ornamented) फैला हुआ, संबंधित रहा हुआ, विपुल, सुशोभित ये 'सृष्ट' शब्दके यहां अर्थ हैं। (१) जिस प्रकार जल झरनेसे बहता हुआ चारों ओर फैलता है, उस प्रकार आत्मा सर्वत्र फैला है, आत्माको सबका मूल 'स्रोत' कहते ही हैं। स्रोतसे जलका निकलना और फैलना होता है। इसलिये यह अर्थ यहां है। (२) फैलनेसे उसका सबके साथ संबंध आता है। (३) वह विपुल होनेके कारण ही चारों तरफ फैल रहा है। (४) सबकी शोभा उसी कारण होती है, इसलिये वह सुशोभित भी है। ये 'सृष्ट' शब्दके अर्थ सब कोशोंमें हैं और इस प्रसंगमें बडे योग्य हैं। परंतु इसका विचार न करते हुए कईयोंने 'उत्पन्न हुआ' ऐसा प्रसिद्ध अर्थ लेकर इस मंत्रका अर्थ करनेका यत्न किया है। इसका विचार पाठक ही कर सकते हैं।

इस मंत्रमें '**सृष्टा-३ः**' तथा '**बभूवाँ३**' शब्द प्लुत हैं। प्लुत स्वरका उच्चार तीन गुणा लंबा करना चाहिये। प्लुत शब्दका उच्चारण अत्यंत आनंदके समय प्रेमातिशयमें होता है। इसके अन्य भी प्रसंग हैं, परंतु यहां आनंदातिशयके प्रसंगमें इसका उपयोग किया है। ब्रह्मपुरीको जाननेसे अत्यंत आनंद होता है और परमात्माकी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष अनुभव में आनेसे उस आनंदका पारावार ही क्या कहना है! इस परम आनंदको शब्दोंमें व्यक्त करनेके लिये प्लुत स्वरका प्रयोग इस मंत्रमें हुआ है।

जिस पुरुषको परमात्मसाक्षात्कारका अनुभव उक्त प्रकार आ जाता है, वह आनंदसे नाचने लगता है, वह उस आनंदमें मग्न हो जाता है, वह प्रेमसे ओतप्रोत भर जाता है, वह शोकमोहसे रहित अतएव अत्यंत आनंदमय हो जाता है। अब ब्रह्मज्ञानका और एक फल देखिये—

(११) ब्रह्मज्ञानका फल।

ब्रह्मनगरीका थोडासा अधिक वर्णन इस २९ वें मंत्रमें है। '**अमृतेन आवृता ब्रह्मणः पुरिः**' अर्थात 'अमृतसे आवृत ब्रह्मकी नगरी है।' यहां '**अ-मृत**' शब्दसे अज, अमर, अजरामर आत्मा लेना उचित है। इस ब्रह्मपुरिमें आत्मा परिपूर्ण है। आत्मा अ-मृत रूप होनेसे जो उसको प्राप्त करता है, वह अमर बन जाता है। इसलिये हरएकको यथाशक्ति इस मार्गमें प्रयत्न करना चाहिये। यह ब्रह्मकी नगरी कहां है, उस स्थानका पता मंत्र ३१ में पाठक देखेंगे।

ब्रह्मनगरीको यथावत् जाननेसे ब्रह्म और ब्राह्म प्रसन्न होते हैं और उपासकको चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। 'ब्रह्म'

शब्दसे ' आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म ' का बोध होता है और ' ब्राह्मा: ' शब्दसे ' ब्रह्मसे बने हुए इतर देव, अर्थात् अग्नि, वायु, रवि, विद्युत्, इंद्र, वरुण आदि देव बोधित होते हैं। ' ब्रह्मनगरीको जाननेसे ब्रह्मकी प्रसन्नता होती है और संपूर्ण इतर देवोंकी भी प्रसन्नता होती है। प्रसन्न होनेसे ये सब देव और सब देवोंका मूल प्रेरक ब्रह्म इस उपासकको तीन पदार्थोंका अर्पण करते हैं। ये तीन पदार्थ ' चक्षु, प्राण और प्रजा ' नामसे इस मंत्रमें कहे हैं।

' चक्षु ' शब्दसे इंद्रियोंका बोध होता है, सब इंद्रियोंमें चक्षु मुख्य होनेसे, मुख्यका ग्रहण करनेसे गौणोंका स्वयं बोध होता है। ' प्राण ' शब्दसे आयुका बोध होता है। क्योंकि प्राण ही आयु है। ' प्रजा ' शब्दसे ' अपनी औरस संतति ' ली जाती है। तात्पर्य ' चक्षु, प्राण और प्रजा ' शब्दोंसे क्रमश: (१) संपूर्ण इंद्रियोंका स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) उत्तम संततिका बोध होता है। उपासनासे प्रसन्न हुए ब्रह्म और देव उक्त तीन बातें अर्पण करते हैं। *ब्रह्मज्ञानका यह फल है।*

(१) *शरीरका उत्तम बल और आरोग्य*, (२) अतिदीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माण की शक्ति ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होती है। इनमें मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बलकी संपन्नता अंतर्भूत है, यह बात पाठक न भूलें। इनके अतिरिक्त उक्त सिद्धि हो नहीं सकती। मानसिक शांतिके अभावमें, बौद्धिक समता न होनेपर तथा आत्मिक निर्बलताकी अवस्थामें, न तो शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेकी संभावना है और न *दीर्घायुष्य तथा सुप्रजानिर्माण की शक्यता है।* ये सद्‌गुण तथा इनके सिवाय अन्य सब शुभ गुण ब्रह्मज्ञानसे सहज प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मकी कृपा और देवोंकी प्रसन्नता होनेसे जो उत्तम फल मिल सकता है वह यही है। हमारे आर्यराष्ट्रमें प्राचीन कालके लोग अति दीर्घ आयुष्यसे संपन्न थे, बलिष्ठ थे और अपनी इच्छानुसार स्त्रीपुरुष संतानकी उत्पत्ति तथा विद्वान् शूर आदि *जिस चाहे उस प्रकृतिकी संतति उत्पन्न* करते थे। इस विषयमें शतपथ ब्राह्मणके अंतिम अध्यायमें अथवा बृहदारण्यक उपनिषद्‌के अंतिम विभागमें प्रयोग ही स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हैं। इति*हास ग्रंथोंमें इस विषयकी बहुतसी साक्षियां हैं।* पाठक वहां इस बातको देख सकते हैं। उसका यहां उद्धरण करनेके लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही बताना है कि, ब्रह्मज्ञान होनेसे अपना शारीरिक स्वास्थ्य संपादन करके अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके साथ साथ अपनी इच्छाके अनुसार उत्तम संततिकी उत्पत्ति की जा सकती है; जिस कालमें, जिस देशमें, जिन *लोगोंको यह विद्या साध्य होगी* वे लोग ही धन्य हो सकते हैं। एक कालमें आर्योंको यह विद्या प्राप्त थी, आगे भी प्रयत्न करनेपर इस विद्याकी प्राप्ति हो सकती है।

संतान-उत्पत्तिकी संभावना होनेकी आयुमें ही ब्रह्मज्ञान होने योग्य शिक्षाप्रणाली होनी चाहिये। आठ वर्षकी आयुमें उपनयन करके उत्तम गुरुके पास योगादि अभ्यासका प्रारंभ करनेसे २०, २५ वर्षकी अवधिमें ब्रह्मसाक्षात्कार होना असंभव नहीं है। अष्टावक्र, शुकाचार्य, सनत्कुमार आदिकोंको सोलह वर्षके पूर्व ही तत्त्वज्ञान *हुआ था। इससे बडी उमरमें जिनको* तत्त्वज्ञान हो गया था ऐसे सत्पुरुष भरतखंडके इतिहासमें बहुतही हैं। तात्पर्य विशेष योग्यतावाले पुरुष जो कार्य अल्प आयुमें *कर सकते हैं, वही कार्य मध्यम योग्यतावालोंको अधिक* कालमें सिद्ध होगा, और कनिष्ठ योग्यता वालोंको बहुतही काल लगेगा। इसलिये यहां सर्वसाधारण रीतिसे इतना ही कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य-समाप्तितक उक्त योग्यता प्राप्त हो सकती है, और तत्पश्चात् गृहस्थाश्रममें सुयोग्य संतान उत्पन्न करनेकी संभावना कोई अशक्य कोटीकी बात नहीं।

आजकल ब्रह्मज्ञानका विषय वृद्धोंका ही है, ऐसा समझा जाता है, उनके मतका निराकरण इस मंत्रके कथनसे हो गया है। ब्रह्मज्ञानका विषय वास्तविक रीतिसे ' ब्रह्म-चारि ' योंका ही है। वनमें गुरुकुलोंमें रहते हुए ये ' ब्रह्म-चारी ' ही ब्रह्मप्राप्तिका उपाय कर सकते हैं और ब्रह्मचर्य-आश्रम की समाप्तितक ' ब्रह्म-पुरी ' का पता लगा सकते हैं। तथा इसी आयुमें (१) शारीरिक स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माण की शक्ति, आदिकी नींव डाल सकते हैं। इस रीतिसे सच्चे *ब्रह्मचारी ब्रह्मपुरीमें* जाकर, *ब्रह्मज्ञानी* बनकर, *ब्रह्मनिष्ठ* रहते हुए उत्तर तीनों आश्रमोंमें शांतिके साथ त्यागपूर्वक भोग करते हुए *भी कमलपत्रके समान निर्लेप और निर्दोष जीवन व्यतीत* कर सकते हैं। इस विषयके आदर्श *वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य*, जनक, श्रीकृष्ण आदि हैं।

हरएक आयुमें ब्रह्मज्ञानके लिये प्रयत्न होना ही चाहिये। यहां उक्त बात इसलिये लिखी है कि यदि नवयुवकोंकी प्रवृत्ति इस दिशामें हो गई तो उनको अपना जीवन पवित्र बनाकर उत्तम नागरिक बननेद्वारा सब जगत्‌में सच्चा शांति स्थापन करनेके महत्कार्यमें अपना जीवन समर्पण करनेका बडा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। अस्तु। यह मंत्र और भी बहुत बातोंका बोध कर रहा है, परंतु यहां स्थान न होनेसे अधिक स्पष्टीकरण

यहां नहीं हो सकता। आशा है कि पाठक उक्त दृष्टिसे इस मंत्रका अधिक विचार करेंगे। इसी मंत्रका और स्पष्टीकरण अगले मंत्रमें है, देखिये—

मंत्र २९ में जो कथन है उसीका स्पष्टीकरण इस मंत्रमें है। ब्रह्मपुरीका ज्ञान प्राप्त होनेपर जो अपूर्व लाभ होता है उसका वर्णन इस मंत्रमें है (१) अति वृद्ध अवस्थाके पूर्व उसके चक्षु आदि इंद्रिय उसको छोडते नहीं, (२) और न प्राण उसको उस वृद्ध अवस्थाके पूर्व ही छोडता है। प्राण जलदी चला गया तो अकालमें मृत्यु होता है, और अल्प आयुमें इंद्रिय नष्ट होनेसे अधापन आदि शारीरिक न्यूनता कष्ट देती है। ब्रह्मज्ञानीको ये कष्ट नहीं होते।

आठ	वर्षकी	आयुतक	कुमार	अवस्था
सोलह	,,	,,	बाल्य	,,
सत्तर	,,	,,	तारुण्य	,,
सौ	,,	,,	वृद्ध	,,
एकसो बीस	,,	,,	जीर्ण	पश्चात् मृत्यु।

ब्रह्मज्ञानीका प्राण जरा अवस्थाके पूर्व नहीं जाता। इस अवस्थातक वह आरोग्य और शांतिका उपभोग लेता है और तत्पश्चात् अपनी इच्छासे शरीरका त्याग करता है। जैसा कि भीष्मपितामह आदिकोंने किया था। (इस विषयमें ' मानवी आयुष्य ' नामक पुस्तक देखिये)

तात्पर्य यह ब्रह्मविद्या इस प्रकार लाभदायक है। ये लाभ प्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त जो अभौतिक अमृतका लाभ होता है तथा आत्मिक शक्तियोंके विकासका अनुभव होता है वह अलग ही है। पाठक इसका विचार करें। अगले मंत्रमें देवोंकी नगरीका स्वरूप बताया है, देखिये—

(१२) ब्रह्मकी नगरी। अयोध्या नगरी।

यह मनुष्यशरीर ही 'देवोंकी अयोध्या नगरी' है। इसके नौ द्वार हैं। दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदाद्वार मिलकर नौ दरवाजे हैं। पूर्वद्वार मुख है और पश्चिमद्वार गुदा है। पूर्वद्वारसे अंदर प्रवेश होता है और पश्चिमद्वारसे बाहिर गमन होता है। अन्य द्वार छोटे हैं और उनसे करनेके कार्य निश्चितही हैं। प्रत्येक द्वारमें रक्षक देव मौजूद हैं और वे कभी अपना नियोजित कार्य छोडकर अन्य कार्य नहीं करते। इन नौ द्वारोंके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें निम्न प्रकार कहा है— ' जो ब्रह्ममें अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उसको वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमलके पत्तेको पानी नहीं लगता। अतएव कर्मयोगी शरीरसे मनसे, बुद्धिसे और इंद्रियोंसे भी आसक्ति छोडकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं। जो योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोडकर अंतकी पूर्ण शांति पाता है, परंतु जो योगयुक्त नहीं है वह वासनासे फलके विषयमें आसक्त होकर बद्ध हो जाता है। सब कर्मोंका मनसे संन्यास कर, जितेंद्रिय देहवान् पुरुष नौ द्वारोंके इस देहरूपी नगरमें न कुछ करता और न कराता हुआ आनंदसे रहता है। (गीता ५।१०-१३) ' अर्थात् सब कुछ करता हुआ न करनेवालेके समान शांत रहता है। यह श्रेष्ठ सिद्धि इस देहमें रहते हुए प्रयत्नसे प्राप्त हो सकती है।

नौ द्वारोंके अतिरिक्त इस देहमें किंवा इस ब्रह्मपुरीमें आठ चक्र हैं। (१) मूलाधार चक्र- गुदाके पास पृष्ठवंशसमाप्तिके स्थानमें है, यही इस नगरीका मूल आधार है। (२) स्वाधिष्ठान चक्र- उसके ऊपर है। (३) मणिपूरक चक्र- नाभिस्थानमें है। (४) अनाहत चक्र- हृदयस्थानमें है। (५) विशुद्धि चक्र- कंठस्थानमें है। (६) ललना चक्र- जिह्वामूलमें है। (७) आज्ञाचक्र- दोनों भौंहोंके बीचमें है। (८) सहस्रार चक्र- मस्तिष्कमें है। इसके अतिरिक्त और भी चक्र हैं, परंतु ये मुख्य है। इनमेंसे एक एक चक्रका महत्त्व योगसाधनके मार्गमें अत्यंत है, क्योंकि प्रत्येक चक्रमें प्राण पहुंचनेसे वहांसे अद्भुत शक्तिका आविष्कार होता है। इन आठ चक्रोंके कारण यह नगरी बडी शक्तिशाली हुई है। जैसे किलेपर शत्रु निवारणके लिये शस्त्रास्त्र रहते हैं, वैसे ही इस नगरीके संरक्षणके लिये इन आठ चक्रोंमें संपूर्ण शक्तियां शस्त्रास्त्रोंसमेत रखी हैं। इन चक्रोंके द्वारा ही हमारा आरोग्य है और बुद्धि, मन, इंद्रियां और शरीरकी सब शक्ति है। जो मनुष्य ये सब शक्तियोंके आठ केंद्र अपने आधीन कर लेता है, उसको शारीरिक आरोग्य, दीर्घ आयुष्य, सुप्रजा निर्माणकी शक्ति, इंद्रियोंकी स्वाधीनता, मनकी शांति, बुद्धिकी समता और आत्मिक बल सहज प्राप्त होते हैं।

इसमें जो हृदयकोश है, उस कोशमें 'आत्मन्वत् यक्ष' रहता है, इस यक्षको ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। यही यक्ष केन उपनिषद्में है और देवी भागवतकी कथामें भी है। यह यक्ष ही सबका प्रेरक है, यह 'आत्मवान् यक्ष' है। यह सब इंद्रियों, और प्राणोंको प्रेरणा करके सबसे कार्य कराता है। यही अन्य देवोंका अधिदेव है, शरीरमें जो देवोंके अंश हैं, उन सब देवोंकी नियत्रणा करनेवाला यही आत्मदेव है। यही आत्माराम है। इस 'राम' की यह दिव्य नगरी 'अयोध्या' नामसे सुप्रसिद्ध है।

इस नगरीमें तेजोमय स्वर्ग है। स्वर्गधाम यही ही है, स्वर्गप्राप्तिके लिये बाहिर जानेकी जरूरत नहीं हैं। इस पुरीमें ही स्वर्ग है, जो इसको देखना चाहते हैं यहां ही देखें। सात्विक भावना, राजस भावना और तामस भावना ये तीन इसके आरे हैं। इसके कारण इसमें तीन गतियां उत्पन्न होती हैं। इसको देखनेसे इसकी अद्भुत रचनाका पता लग सकता है। इन तीनों गतियोंको शांत करके त्रिगुणोंके परे जानेसे उस 'आत्मवान् यक्ष' का दर्शन होता है।

यह जैसी ब्रह्मकी नगरी (ब्रह्मणः पूः) है, उसी प्रकार यही (देवानां पूः) देवोंकी नगरी भी है। जैसी यह ब्रह्मासे परिपूर्ण है वैसी ही यह देवोंसे परिपूर्ण है। पृथिव्यादि सब देव और देवतायें इसमें रहती हैं, और उनको आकर्षण करनेवाला यह आत्मदेव इसमें अधिष्ठाता रहता है। यह आत्मवान् यक्ष 'आत्मा' शब्दके पुल्लिंग होनेपर न पुरुष है, 'देवी' शब्दके स्त्रीलिंग होनेपर न स्त्री है, और 'यक्षं' शब्द नपुसकलिंग होनेसे न वह नपुंसक है। तीनों लिंगोंसे भिन्न वह शुद्ध तेजस्वी 'केवल आत्मा' है। यही दर्शनीय है। उक्त ब्रह्मपुरीमें जाकर इसका दर्शन कैसे किया जाता है, यह बात अगले मंत्रमें कही है—

(१३) अपनी राजधानीमें ब्रह्माका प्रवेश।

यह ब्रह्मपुरी तेजस्वी है और (हरिणी) दुःखोंका हरण करनेवाली है। इसको प्राप्त करनेसे तथा पूर्णतासे वशीभूत करनेसे सबही दुःख दूर हो जाते हैं। इसी लिये इसको 'पुरी' कहते हैं क्यों कि इसमें पूर्णता है। जो पूर्ण होती है वही 'पुरी' कहलाती है। पूर्ण होना ही यशस्वी बनना है। जो परिपूर्ण बनता है वही यशस्वी होता है। अपूर्णताके साथ यशका संबंध नहीं होता, परंतु सदा पूर्णताके साथ ही यशका संबंध होता है।

जो तेजस्वी, दुःखहारक, पूर्ण और यशस्वी होता है वह कभी पराजित नहीं होता, अर्थात् सदा विजयी होता है। '(१) तेज, (२) निर्दोषता, (३) पूर्णता, (४) यश और (५) विजय' ये पांच गुण एक दूसरेके साथ मिले जुले रहते हैं। (१) भ्राज, (२) हरण, (३) पुरी, (४) यश, (५) अपराजित ये मंत्रके पांच शब्द उक्त पांच गुणोंके सूचक हैं। पाठक इन शब्दोंको स्मरण रखें और उक्त पांच गुणोंको अपनेमें स्थिर करने और बढानेका यत्न करें। जहां ये पांच गुण होंगे, वहां (हिरण्य) धन रहेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है। धन्यता जिससे मिलती है वही धन होता है और उक्त पांच गुणोंके साथ धन्यता अवश्य ही रहेगी।

उक्त पांच गुणोंसे युक्त, ब्रह्म-नगरीमें ब्रह्म प्रविष्ट होता है। पाठक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि अपने अंदर व्यापक यह ब्रह्म हृदयाकाशमें है। जब अपना मन बाहिरके कामधंधे छोडकर एकाग्र हो जाता है तब आत्माका ज्ञान होनेकी संभावना होती है और तभी ब्रह्मका पता लगना संभव है। क्योंकि वेदमें अन्यत्र कहा है कि 'जो पुरुषमें ब्रह्मको देखते हैं वे ही परमेष्ठीको जान सकते हैं। (अथर्व० १०।७।१७)' अर्थात् जो अपने हृदयमें ब्रह्मका आवेश अनुभव करते हैं वेही परमेष्ठी प्रजापतिको जान सकते हैं।

(१४) अयोध्याके मार्गका पता।

प्रिय पाठको! यहांतक आपका मार्ग है। आप कहांतक चले आये हैं और आपके स्थानसे यह अयोध्या नगरी कितनी दूर है, इसका विचार कीजिये। इस अयोध्या नगरीमें पहुंचते ही रामराजाका दर्शन नहीं होगा, क्योंकि राजधानीमें जाते ही महाराजाकी मुलाकात नहीं हो सकती। वहां रहकर उथा वहांके स्थानिक अधिकारी सत्य श्रद्धा आदिकोंकी प्रसन्नता संपादन करके महाराजाके दरबारमें पहुंचना होता है। इसलिये आशा है कि आप जरा शीघ्र गतिसे चलेंगे और वहां जलदी पहुंचेंगे आपके साथी ये ईर्ष्या द्वेष आदि हैं, ये आपको जलदी चलने नहीं देते; प्रतिक्षण इनके कारण आपकी शक्ति क्षीण हो रही है, इसका विचार कीजिये। और सब झंझटोंको दूर कर एक ही उद्देश्यसे अयोध्याजीके मार्गका आक्रमण कीजिये। फिर आपको उसी 'यक्ष' का दर्शन होगा कि जिसका दर्शन एकवार इंद्रने किया था। आपको मार्गमें 'हैमवती उमादेवी' दिखाई देगी। उससे मिलकर आप आगे बढ जाईये। वह देवी आपको ठीक मार्ग बता देगी। इस प्रकार आप भक्तिकी शांत रोशनीमें सुविचारोंके साथ मार्ग आक्रमण कीजिये, तो बडा दूरका मार्ग भी आपके लिये छोटा हो सकता है। आशा है कि आप ऐसा ही करेंगे और फिर भूलकर भटकेंगे नहीं।

(१५) केनसूक्त और केनोपनिषद्।

जैसा यह केनसूक्त अथर्ववेदमें है वैसा ही उपनिषदोंमें केनोपनिषद् है। दोनोंका प्रारंभ 'केन' इस पदसे ही हुआ है। यहां 'केन' पद बडा महत्त्वपूर्ण है, इसका अर्थ 'किससे' ऐसा होता है। सब तत्त्वज्ञानोंका उद्गम इसी पदसे होता है। यह जो संसार दीखता है वह (केन) किसने बनाया, और (केन) किससे बनाया, तथा (केन) किसने इसका विचार किया, (केन) किसकी सहायतासे विचार किया, (केन) किस साधनसे विचार किया, किस कारण विचार किया, इसको

जो बोध हो रहा है वह कैसे होता है, इत्यादि अनेक विचार इस 'केन' शब्दमें हैं।

मनुष्य जो देखता है उसका हेतु जानना चाहता है, छोटेसे छोटा बालक भी जब आश्चर्यसे किसीकी और देखता है, तो उसका कारण जानना चाहता है, यह कौन है, क्या करता है, कहांसे आया, कहां जायगा ऐसे अनेकविध प्रश्न बालक करता है और हरएक प्रश्नका उत्तर जानना चाहता है। उत्तरसे समाधान हुआ तो ही वह चुप रहता है। नहीं तो फिर प्रश्न पूछता ही रहता है। इतनी विलक्षण जिज्ञासा मानवके मनमें स्वभावतया है।

परंतु जब मनुष्य बडा होता है, तब संसारकी चिन्तामें फंसकर इस जिज्ञासाको खो बैठता है और फिर यह (केन) किससे यह हुआ, ऐसा प्रश्न करना भूल जाता है। जब यह प्रश्न करना भूल जाता है तबसे इसको ज्ञान प्राप्त होना भी बंद होता है। क्योंकि ज्ञान तो जिज्ञासा रही तो ही हो सकता है।

इस विश्वमें करोडों मनुष्य हैं, परंतु उनमेंसे कितने लोग 'मैं कहांसे आया क्यों यहां आया हूं, किधर मुझे जाना है' इत्यादि स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले प्रश्नोंको अपने मनमें उत्पन्न होने देते हैं, येही प्रश्न इस 'केन' पदसे यहां किये गये हैं। साधारणतः मनुष्य जागता है, खाता है, सोता है, फिर जागता है और अन्तमें मर जाता है।

यह जीवनमरणका व्यापार इतना आश्चर्यकारक है कि कोई मननशील मनुष्यके मनमें इस संबंधके प्रश्न आये विना नहीं रह सकते। परंतु कितने मनुष्य इसका विचार करते हैं। मनन करनेवाला ही मनुष्य कहलायेगा। जो मनुष्य मनन नहीं करता उसको मनुष्य कहना असंभव है। अतः इस मनुष्यसमाजमें वे ही मनुष्य हैं कि जो 'केन' यह प्रश्न करते हैं, यह है 'केन' शब्दका महत्त्व। यह प्रश्न मनुष्यकी मानवता सिद्ध करनेवाला है, पाठक इस शब्दका महत्त्व जानें और अपने जीवनका विचार करना इससे सीखें।

मैं किस शक्तिसे बोलता हूं, किस शक्तिसे सोचता हूं, किस शक्तिसे जीवित रहता हूं, किस शक्तिसे जन्ममरण तथा प्रजनन हो रहे हैं, इस संपूर्ण संसारके आधारमें कौन है, वह इसका निर्माण क्यों करता है? ये प्रश्न हैं जो हरएक मनुष्यके मनमें उत्पन्न होने चाहिये। परंतु किन मनुष्योंके अन्तःकरणमें ये प्रश्न उठते हैं? पाठको! विचार तो कीजिये।

अर्थात् मनुष्यजाति अगणित वर्षोंसे इस भूमंडलपर उत्पन्न हुई है, परंतु अभीतक सब मनुष्य सच्चे मानव नहीं बने जो 'केन' इस प्रश्नको कर सकते हैं और उत्तर सुयोग्य गुरुसे प्राप्त होनेतक चुप नहीं रह सकते।

जैसे अन्यान्य कृमिकीटक हैं जन्मते और मरते, वैसे ही मनुष्य प्राणी भी जन्मते और मरते और मैं क्यों जन्मको प्राप्त हुआ और क्यों मर गया इसका विचार तक करते नहीं। अपने जीवनके विषयमें कैसे प्रश्न करने चाहिये यह इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। मानवजीवनके विषयमें कई प्रश्न यहां हैं, यदि इतने ही प्रश्न मनुष्य करना सीख जायगे तो उनको आत्मज्ञान हो जायगा और उनका जीवित सफल भी हो जायगा।

अतः पाठक इस जिज्ञासा–बुद्धिकी जाग्रति करनेवाले इस केनसूक्तका मनन करें, और विश्वके अंदर जो अद्भुत शक्ति है उस अद्भुत शक्तिके विषयमें ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन सार्थक करें। मानवी जीवनको सफलता करनेवाला यह ज्ञान है। आशा है कि इस केनसूक्तने जो यह जिज्ञासा जाग्रतिका–साधन बताया है यह आचरणमें लाकर साधक सिद्ध बनेंगे।

आत्मसमर्पणसे ईश्वरकी पूजा।

(कां. ६ सूक्त ८०)

(ऋषि — अथर्वा। देवता— चन्द्रमा।)

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्। शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

अर्थ— जो (विश्वा भूता अवचाकशत्) सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाशसे चलता है उस (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन हविषा ते विधेम) उस हविसे तेरी पूजा हम करते हैं॥ १॥

भावार्थ— सब जगत्को प्रकाशित करनेवाला सूर्य आकाशमें संचार करता है। उसका महत्त्व और तेज विशेष है। वह तेज हमारे अन्दर जितना है उसका समर्पण करके हम ईश्वरकी उपासना करते हैं॥ १॥

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।

तान्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

(ये त्रयः कालकाञ्जाः) जो तीन कालकञ्ज (दिवि देवा इव श्रिताः) द्युलोकमें देवोंके समान रह रहे हैं; (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै ऊतये) इसकी रक्षाके लिये और (अरिष्टतातये अह्वे) कल्याणके लिये बुलाते हैं ॥ २ ॥

(अप्सु ते जन्म) जलमें तेरी उत्पत्ति है, (दिवि ते सधस्थं) द्युलोकमें तेरा स्थान है, तथा (समुद्रे अन्तः पृथिव्यां ते महिमा) समुद्रके बीच और पृथ्वीपर तेरी महिमा है। उस तेरे (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन ते हविषा विधेम) उस महत्त्वसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवताओंके समान तीन काल– अर्थात् उष्णकाल, वृष्टिकाल और शीतकाल ये तीनकाल कञ्ज– द्युलोकमें स्थित सूर्यसे सम्बन्धित हैं। इन तीनों कालोंसे मनुष्य अपनी रक्षा करे और कल्याणसाधन करे ॥ २ ॥

प्रकृतिके प्रारंभिक जलावस्थासे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है, वह द्युलोकमें रहता है, पृथ्वी और समुद्रमें उसका महत्त्व प्रकट होता है। इस सूर्यकी जो शक्ति मेरे अन्दर है, उसे परमेश्वरका पूजाकार्य करनेके लिये समर्पित करता हूं ॥ ३ ॥

सूर्यादिकोंके अंश मनुष्यमें हैं, उन शक्तियोंसे मनुष्य सामर्थ्यशाली बना है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि, वह उक्त शक्तियोंका समर्पण जगत्‌की भलाईके लिये करके उक्त समर्पणद्वारा परमेश्वरकी पूजा करे।

आत्मज्योतिका मार्ग ।

(कां. ४, सू. १४)

(ऋषिः— भृगु । देवता— आज्यं, अग्निः।)

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे ।

तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

अर्थ— (हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) क्योंकि परमात्मारूप विश्व प्रकाश अग्निके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। (सः अग्रे जनितारं अपश्यत्) उसने पहिले अपने उत्पादक प्रभुको देखा, (अग्रे तेन देवाः देवतां आयन्) प्रारंभमें उसीकी सहायतासे देव देवत्वको प्राप्त हुए, (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बनकर उच्च स्थानोंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— परमात्माके जगत्प्रकाशक तेजसे यह अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ। उसी समय उसने अपने पिताका दर्शन किया। देव उसीकी शक्ति प्राप्त करके देवत्वसे युक्त होते हैं। जो उसकी उपासना करते हैं वे पवित्र होते हुए अनेक उच्च अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥
पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम् ॥ ३ ॥
स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥
अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥
अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (**उख्यान् हस्तेषु बिभ्रत**) अन्नोंको हाथोंमें लिये हुए तुम (**अग्निना नाकं क्रमध्वम्**) अग्निकी सहायतासे स्वर्गको प्राप्त करो । (**दिवः पृष्ठं स्वः गत्वा**) द्युलोकके ऊपर जाकर आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करके (**देवेभिः मिश्राः आध्वं**) देवोंके साथ मिलकर बैठो ॥ २ ॥

(**अहं पृथिव्याः पृष्ठात् अन्तरिक्षं आरुहम्**) मैं पृथ्वीके पृष्ठभागसे अन्तरिक्षलोकको चढ गया, । (**अन्तरिक्षात् दिवं आरुहं**) अन्तरिक्षसे द्युलोकपर चढ गया । (**नाकस्य दिवः पृष्ठात्**) सुखमय द्युलोक के पृष्ठ भागसे (**अहं स्वः ज्योति अगाम्**) मैंने आत्मिक ज्योतिको प्राप्त किया ॥ ३ ॥

(**ये सुविद्वांसः**) जो उत्तम विद्वान् (**विश्वतो धारं यज्ञं वितेनिरे**) जो सब प्रकारकी धारणाशक्ति देनेवाले यज्ञको फैलाते हैं वे (**स्वः यन्तः द्यां न अपेक्षन्ते**) आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करनेवाले स्वर्ग सुखकी अपेक्षा नहीं करते, वे (**रोदसी आरोहन्ति**) पृथ्वी और स्वर्गके ऊपर चढ जाते हैं ॥ ४ ॥

हे (**अग्ने**) ! हे प्रकाशक ! (**देवतानां प्रथमः प्रेहि**) तू देवोंमें पहिला हमें प्राप्त हो । तू (**देवानां उत मानुषाणां चक्षुः**) देवों और मनुष्यों का चक्षु ही है । (**इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः**) यज्ञ करनेवाले और समान प्रीतिभाव रखनेवाले यजमान (**भृगुभिः स्वः स्वस्ति यन्तु**) तपस्वियोंके साथ आत्मतेजको सुखसे प्राप्त करें ॥ ५ ॥

(**दिव्यं सुपर्णं पयसं**) दिव्य, अन्नपूर्ण, तेजस्वी, गतिमान् और (**बृहन्तं अजं घृतेन, पयसा अनज्मि**) अजन्मा परम आत्माकी घृत और दुग्धके यज्ञसे पूजा करता हूं । (**उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः**) उत्तम स्वर्गके ऊपर चढते हुए (**तेन सुकृतस्य लोकं स्वः गेष्म**) उससे पुण्य के परम प्रकाशके लोकको प्राप्त करें ॥ ६ ॥

भावार्थ— *अन्नका दान करते हुए तुम इस अग्निकी सहायता से स्वर्गका मार्ग आक्रमण करो । और वहांसे भी अधिक* उच्च भूमिकामें जाकर आत्मिक ज्योतिके स्थानको प्राप्त होकर वहां देवोंके साथ बैठो ॥ २ ॥

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान है । मैंने इसी क्रमसे इन लोकोंको प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

जो ज्ञानी विद्वान् विश्वधारक यज्ञको फैलाते हैं वे पृथ्वीसे द्युलोक तक ऊपर चढते हैं और वहांसे भी ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हुए किसी अन्य सुखकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

हे सर्व प्रकाशक ! तू सब देवोंमें मुख्य है, तू हमें प्राप्त हो । तू जैसा देवोंका आंख है उसी प्रकार मनुष्योंका भी है । यज्ञ करनेवाले और सबके ऊपर समानतया प्रेम करनेवाले जो यजमान होते हैं वे तपस्वी मुनियोंके साथ ही सुख पूर्वक आत्मिक प्रकाशके लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

दिव्य पूर्ण तेजस्वी गतिमान् और अजन्मा परम आत्माकी हो हम घृतादिकी आहुतियोंके यज्ञद्वारा पूजा करते हैं । इससे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करते हुए सबके भी ऊपरके आत्मिक प्रकाशके स्थानको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् ।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि
पाजस्य॒मन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥
शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम् ।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥ ९ ॥

अर्थ— (एतं पञ्चौदन ओदन) इस पांच प्रकारके अन्नको (पञ्चभि अंगुलिभि दर्व्या पञ्चधा उद्धर) पांच अंगुलियोंसे पकडी हुई कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ला। (अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि धेहि) अजन्माका सिर पूर्व दिशामें रख, दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं) दक्षिण दिशामें दाहिने कक्षा भागको रख ॥ ७ ॥

(अस्य भसदं प्रतीच्यां दिशि धेहि) इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें धर, और (उत्तरं पार्श्वं उत्तरस्यां दिशि धेहि) उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें रख। (अजस्य अनूकं उर्ध्वायां दिशि धेहि) अजन्माकी रीढको ऊर्ध्व दिशामें रख, (अस्य पाजस्यं ध्रुवायां दिशि धेहि) और इसके पेटको ध्रुव दिशामें रख, तथा (अस्य मध्यं मध्यतः अन्तरिक्षे) इसका मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार (सर्वैः अंगैः सभृतं) सब अंगोंसे सम्यक्तया भरा हुआ अतएव (विश्वरूपं शृतं अजं) सब विश्वरूप बना हुआ परिपक्व अजन्मा आत्माको (शृतया त्वचा प्र ऊर्णोहि) परिपक्व आच्छादनसे आच्छादित कर। (स) वह तू (इतः उत्तमं नाकं अभि उत्तिष्ठ) यहांसे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करनेके लिये उठ और (चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रतितिष्ठ) चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

भावार्थ— यह पांच प्रकारका यज्ञीय अन्न है। पांच अंगुलियोंद्वारा कडछी पकड कर इस अन्नको पांच प्रकारसे ऊपर ले। इस अजन्माका सिर पूर्व दिशामें और दक्षिण कक्षा दक्षिणदिशामें रख ॥ ७ ॥

इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें, उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें, पीठकी रीढ ऊर्ध्व दिशामें, पेट ध्रुव दिशामें और मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार अपने सब अंगोंसे परिपूर्ण विश्वरूप बने हुए परिपक्व अजन्मा जीवात्माको परिपक्व परमात्माके आच्छादनसे आच्छादित कर और उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त करनेके लिये कटिबद्ध हो और अपने चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

आत्मज्योतिका मार्ग।

स्वर्गधामका मार्ग

इस सूक्तमें ' स्वर्गधाम ' का मार्ग बताया है, इस कारण इस सूक्तका महत्त्व अधिक है। पहिले मन्त्रमें ' परम पिताके अमृत-पुत्र ' की उत्पत्तिका वर्णन है—

परम पिताका अमृतपुत्र

अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट। (मं १)

' अग्निके प्रकाशसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट हुआ है। ' यहां अग्निपदसे सर्व प्रकाशक परमात्माका ग्रहण होता है। अथर्व-

वेदमें काण्ड ९ सू० १० (१५) मंत्र २८ में कहा है कि 'एक ही सत्य स्वरूप परमात्माका कविजन विविध नामोंसे वर्णन करते हैं, उसी एक परमात्माको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा, और सत् कहते हैं।' ये सब एक ही परमात्माके नाम हैं। इनमेंसे इस सूक्तमें 'अग्नि, (मं. १) दिव्य, सुपर्ण, (मं. ६)' ये शब्द आ गये हैं। इस परमात्माके तेजसे इस अमृत पुत्रकी उत्पत्ति है। यह उत्पत्ति कथन करनेका उद्देश्य यह है कि यह अमृत पुत्र अपनी उन्नति करके पिताके समान बन सकता है। प्रत्येक प्राणीका पुत्र पिताके समान बनता है, बीजसे वृक्ष होता है, चिनगारीसे दावाग्नि बन सकता है। पुत्रका यह अधिकार ही है कि वह अपने पिताके समान बने। जीवात्माकी उन्नतिकी यह अन्तिम मर्यादा है। यह मर्यादा बहुत कालके निरन्तरके अनुष्ठानसे समाप्त हो सकती है, तब यह अमृत पुत्र पिताके वैभवसे युक्त हो सकता है। पुत्र पिताके समान आज हो जावे अथवा कुछ कालके पश्चात् हो जावे, 'यह पिताके वैभवको निःसंदेह प्राप्त करेगा' यह सत्य है। वेदने यह विश्वास इस सूक्त द्वारा लोगोंको बताया है। जगत्के दुःख देखकर जन निराश न हों, धर्मानुष्ठान करते हुए बढते जांय, जब उनका अनुष्ठान हो जायगा और जब उनके सब मल धोये जांयगे तब वे परम पिताके वैभवसे संपन्न हो जांयगे। अनुष्ठानकी तीव्रता और निर्दोषताके प्रमाणके अनुसार काल थोडा लगेगा अथवा अधिक लगेगा, यह बात प्रत्येकके ऊपर ही निर्भर है। पिताके गुण न्यून प्रमाणसे पुत्रमें रहते हैं, इन गुणोंका विकास करना ही पुत्रका कर्तव्य है, पिताकी सहायता सदा तैयार है हि। पुत्रके गुणोंके विकासकी परम सीमा उसका 'पिताके समान बनना' ही है।

पिताका दर्शन

इस पुत्रने सबसे प्रथम 'जनितार अपश्यत्' (मं. १) अपने पिताका दर्शन किया था, तत्पश्चात् यह पुत्र संसारमें फंस जानेके कारण उससे विमुख हुआ है। यह विमुखता इस समय इतनी बढ गयी है कि यह पिताको भूल ही गया है। इसलिये यह उस अपने परम पिताका पहले स्मरण करे और पश्चात् दर्शन करे। यही उसकी उन्नतिका मार्ग है। उसीके दर्शनसे—

मेध्यासः रोहान् रुरुहुः। (मं. १)

'पवित्र होते हुए उन्नतिके स्थानों पर चढते हैं।' इसी प्रकार पुत्र एक एक सीढी ऊपर चढता है और विशेष अधिकार प्राप्त करता है। पवित्र बनना ही एकमात्र उपाय है जिससे पुत्रका अधिकार बढ सकता है। पवित्र बननेका उपाय भी 'मेध्य' शब्द द्वारा ही बताया गया है। 'मेध्य' अर्थात् 'मेधके लिये योग्य'। 'मेध' का अर्थ 'सत्कार-संगति-दान रूप कर्म।' जिस कर्मसे सत्कार करने योग्य सत्पुरुषोंका आदर होता है, जनताका संगतिकरण होता है और परोपकारार्थ दान दिया जाता है, आत्मसमर्पण किया जाता है, उसका नाम मेध है। इस प्रकारके कर्मसे मनुष्य पवित्र होता है और उच्च भूमिकाको प्राप्त करता है। और अन्तमें जहांसे आया वहां पहुंचता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि 'इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गके मार्गका आक्रमण करो।' वस्तुतः यज्ञमें जो यजन होता है वह परमात्माका ही होता है, तथापि यज्ञ अग्निमें हवन करनेसे प्रारंभ होता है। इस यज्ञके द्वारा आत्मसमर्पणकी दीक्षा दी जाती है। अपने पासका घृत आदिका अर्पण समष्टिके लिये किया जाता है। इस यज्ञसे अर्थात् आत्मसमर्पणसे ही उन्नति होती है। इस स्थूल यज्ञमें, प्रथम कक्षाके यज्ञमें घृत तथा हवन सामग्रीकी आहुतियोंका अर्थात् अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंका समर्पण होता है, आगे जैसी जैसी योग्यता बढ जाती है, उस प्रमाणसे अपने निजके पदार्थोंका समर्पण करना होता है, अन्तमें सर्वमेध यज्ञमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होता है जिससे परम उच्च अवस्थाकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्निमें घृतादि पदार्थोंकी आहुतियोंका समर्पण किया जाता है उसी प्रकार—

हस्तेषु उख्यान् बिभ्रतः। (मं. २)

'अन्न दान करनेके लिये अपने हाथोंमें पकाया हुआ अन्न लेकर तैयार रहो।' क्षुधासे पीडित मनुष्यको अन्न दान करनेसे बडा पुण्य प्राप्त होता है। यहां यह अन्न दान प्रत्यक्ष फल दायक है। भूखसे पीडितको अन्न देते ही उसका आत्मा संतुष्ट होता है, उसका संतोष देखकर दाताका आत्मा भी कृतार्थ होता है। दानसे दाताकी उन्नति होती है इसका अनुभव अन्न दानसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आजाता है। यहां अन्न उपलक्षण मात्र है। भूखसे पीडितको अन्न दान, तृषासे पीडितको जल दान, अज्ञानसे पीडितको ज्ञानदान, निर्बलतासे पीडितको बल द्वारा सहायता, निर्धनतासे पीडितको धनदान, पारतंत्र्यसे पीडितको स्वातंत्र्य प्राप्ति करनेके कार्यमें सहायता आदि अनेक विध दान होते हैं, ये सब अन्न दानके उपलक्षणसे जानना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं और यज्ञके संगतिकरण कर्मके वे प्रमुख अंग हैं। जनताकी सेवाद्वारा परमात्माका अर्चन इसी

रीतिसे होता है। इस यज्ञ द्वारा मनुष्य स्वर्गमें पंहुचता है इतनाही नहीं, परंतु उसके भी ऊपर जो आत्मप्रकाशका लोक है वहां जाता है और वहां देवोंके साथ बैठ जाता है। इस प्रकार मनुष्यका देवता बनता है। (मं. २)

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक, द्युलोकसे आत्मिक प्रकाशका लोक ऊपर है। यह उच्चता स्थानसे नहीं, प्रत्युत अवस्थासे है। अर्थात ये चार लोक घरके चार मजलोंके समान एक दूसरेके ऊपर नहीं हैं, प्रत्युत एकके अंदर दूसरी और दूसरोंके अंदर तीसरी है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, आत्मा ये चार अवस्थाएं मनुष्यके अंदर ही हैं। इनहींके बाह्य रूप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः (आत्मप्रकाश) हैं और इन्हींका नाम भूः भुवः, स्वः, महः इ० है। जिस प्रकार *स्थूलके अंदर सूक्ष्म शरीर होता है उसी प्रकार पृथ्वी लोकके अंदर अन्तरिक्ष लोक होता है।* इनमेंसे साधारण मनुष्य स्थूल भूलोकमें विचरता है, अन्तरिक्ष आदि उच्च भूमिकाओंपर वह तब कार्य कर सकेगा, जब वह उतना शुद्ध और परिपक्व होगा। बडे महान् तपस्वीयोंके लिये ही यह बात साध्य होती है। (मं. ३)

विश्वधार यज्ञ।

'यह (**विश्वतो धारं यज्ञं**) विश्वको सब प्रकारसे *आधार देने वाला है।' (मं ४) यह चतुर्थ मत्रका कथन पूर्ण रीतिसे सत्य है। यज्ञका अर्थ है त्याग। इस 'त्याग' से* ही जगतकी स्थिति है। हरएक स्थानमें यह सत्य है। पिता अपने वीर्यके त्यागसे संतानको उत्पन्न होनेके लिये आधार देता है और माता अपने गर्भधारणके लिये जो कष्ट होते हैं उनको सहती है और उस प्रमाणमें स्वसुखका त्याग करती है और आगे दुग्धादि पिलाकर भी बहुत त्याग करती है। इस प्रकार मातापिताके अपूर्व त्यागसे संतान निर्माण होता है। इसी प्रकार यह त्याग पशुपक्षी वृक्ष वनस्पति आदि सृष्टिमें भी है, जिससे उनकी सृष्टि रहती है। सूर्य अपने प्रकाशका जगतके लिये अर्पण करता है इसी प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि देवताएं अपनी शक्तियोंका जगतकी भलाईके लिये त्याग करती हैं। इस त्यागसे जगत्की स्थिति हुई है। परमात्माने अपने त्यागसे ही यह संसार बनाया है। इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि इस त्यागसे अर्थात् आत्म समर्पण रूप महायज्ञसे ही विश्व चल रहा है। इसीलिये यज्ञको संपूर्ण विश्वका आधार कहते हैं वह नितान्त सत्य है।

ये सुविद्वांसः विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे। (ते) रोदसी द्यां रोहन्ति, स्वर्यन्तः, न अपेक्षन्ते। (मं. ४)

'जो उत्तम विद्वान् इस विश्वाधार यज्ञको फैलाते हैं अर्थात् अपने आयुभर करते हैं वे इस भूमिसे सीधे द्युलोकपर चढते हैं, वे वहांके स्वर्ग सुखकी भी इच्छा नहीं करते और वे उसके भी ऊपर जाकर आत्मज्योतिके प्रकाशमय स्थानको प्राप्त करते हैं।' यह लोक तो आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

सच्चा चक्षु।

पचम मत्रमें इस परमात्माको 'देवों और मनुष्योंका चक्षु' कहा है—

देवतानां उत मानुषाणां चक्षुः। (मं. ५)

'देवों और मनुष्योंका आंख यह आत्मा है।' मनुष्योंके आंख मनुष्योंके शरीरोंमें रहते ही हैं, परंतु वे स्वयं कार्य नहीं कर सकते। सूर्यके प्रकाशके विना आंख देखनेमें असमर्थ है। इस लिये सूर्यको 'आंखका आंख' कहते हैं। परंतु सूर्य भी परमात्माकी प्रकाश शक्तिके विना प्रकाश देनेका कार्य नहीं कर सकता, इसलिये परमात्माको 'सूर्यका सूर्य' कहते हैं। इससे यह हुआ कि 'आंखका आंख सूर्य और सूर्यका सूर्य परमात्मा' है, इसलिये वस्तुतः 'आंखका सच्चा आंख' परमात्मा ही हुआ। यही भाव ऊपरके मत्र भागका है। यह केवल आंखके विषयमें ही सत्य है ऐसा नहीं परंतु हरएक इंद्रियके विषयमें भी वैसा ही सत्य है, *अर्थात् यह जैसा आंखका आंख है उसी प्रकार कानका कान, नकका नाक, मनका मन और बुद्धिकी बुद्धि है। इसी प्रकार सब इंद्रियोंका यही मूल स्रोत है। इसको ऐसा जानना और अनुभव करना विद्या और अनुष्ठानका साध्य* है। यही—

देवतानां प्रथमः। (मं. ५)

'सब देवताओंमें यह पहिला है' अर्थात इसके पूर्व कोई नहीं है, सबके पूर्व यह था और सबके पश्चात रहेगा। सूर्यादि बडे प्रकाशमान देव भि यद्यपि बडे शक्तिशाली हैं, परंतु इसीकी शक्तिसे वे बने हैं और इसीकी शक्ति लेकर अपना कार्य कर रहे हैं। जिस देवताकी ऐसी महिमा होती है उसीका यजन यज्ञोंमें होता है, इसीलिये 'यज्ञ' नाम आत्माका है। सच्चा यज्ञ पुरुष वही है। जो यज्ञमें इस यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं वे—

इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः स्वः भृगुभिः स्वस्ति यन्तु। (मं. ५)

' यज्ञ करनेवाले, समान प्रेमभाव रखनेवाले यजमान आत्मिक प्रकाशके स्थानको मृगुओंके संग सुगमताके साथ जाते हैं ।' उसकी पूजा करनेका यह फल है । ' मृगु ' उनका नाम होता है कि जो तपश्चर्यासे अपने पापोंका मर्जन करते हैं । तपके सामर्थ्यसे पापका नाश करनेवाले तपस्वियोंको ' मृगु ' कहते हैं । ये तपस्वी सीधे आत्मिक प्रकाशके लोकको जाते हैं, वहांही ये याजक आते हैं कि जो पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं और सब पर समान प्रेम भाव रखते हैं, अर्थात् जिनकी सर्वत्र समदृष्टि हो गई है । अन्य लोग उस आत्मिक लोकको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं हैं । षष्ठ मन्त्रका कथन भी इसी आशयको बता रहा है—

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्त मजं पयसा घृतेन यनजिम । (मं. ६)

' दिव्य पूर्ण वेगवान् बड़े अजन्मा आत्माको दूध और घीसे मैं यज्ञमें पूजा करता हूं ।' यह मन्त्रभाग अत्यन्त स्पष्ट है । यज्ञमें उसीकी पूजा हवनकी आहुतियोंसे होती है । हवनकी आहुतियां देना यह आत्मसमर्पणका प्रारंभ है, इसी यज्ञका रूप अन्तमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होना है । इस पूर्ण समर्पणको पहिली थोडी थोडीसी आहुतियां समर्पित करना है । समर्पण शक्ति बढानेसे ही उसकी सच्ची पूजा होती है और साथ साथ अपनी आत्मिक शक्ति भी बढ जाती है ।

तेन उत्तमं नाकं अभि आरोहन्त सुकृतस्य स्वः लोकं गेष्म । (मं. ६)

' उससे उत्तम स्वर्गधामको प्राप्त होते हुए हम सुकृतके आत्मज्योतिरूप लोकको प्राप्त करेंगे ।' यह पूर्वोक्त प्रकारके आत्मयज्ञका फल है । सच्चे वैदिक यज्ञका यह अन्तिम साध्य है ।

पञ्चामृत भोजन !

यहां पञ्चामृत भोजनका विधान है । लोकमें प्रसिद्ध पञ्चामृत सब जानते ही हैं, दूध, दही, घी, मिश्री और मधु इन पांच पदार्थोंको पंचामृत कहा जाता है । परंतु यहां आत्मसमर्पणरूप महायज्ञमें हमारी इंद्रियां गौवें हैं और इस यज्ञमण्डपमें उनका दोहन होता है, उस दूधसे जो पञ्च अमृत बनता है वह यहां अभीष्ट है । यह ' पञ्च+ओदन ' है । पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे प्राप्त होनेवाला यह पञ्च अमृत है । ज्ञानका नाम अमृत है । यहां पञ्च ज्ञान पञ्चओदन कहा है क्योंकि जैसा ओदन या अन्नसे स्थूल शरीरका पोषक होता है, उसी प्रकारसे यह पांच प्रकारका ज्ञान रस या ' सुधारस ' आत्मबुद्धिमनका पोषण करता है । इसका उद्धार करना चाहिये ।

एतं ओदनं दर्व्या पञ्चधा उद्धर । (मं. ७)

' यह अन्न कडछीसे पांच प्रकारसे ऊपर ले ' अर्थात् पांच प्रकारसे इसका उद्धार कर । यह अन्न पञ्चविध है एक दूसरेसे भिन्न है, पांच प्रकारोंसे इसका उद्धार होना संभव है । इससे ही ज्ञात हो सकता है कि यह पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला पञ्च विध ज्ञान ही है । हरएक इंद्रियसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान उच्चनीच होता है, इसीलिये यहां सूचना दी है कि ' उद्धर ' उद्धार कर अर्थात् पांच प्रकारका ज्ञान ऐसा प्राप्त कर कि जिससे उद्धार हो सके । दो प्रकारका ज्ञान सन्मुख आया तो जिससे उद्धार होगा वही ज्ञान स्वीकार कर और अन्यको दूर कर । हरएक विषयमें ये दोनों प्रकार मनुष्यके सन्मुख आते हैं । उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि यह पांच प्रकारका ज्ञान इस प्रकारसे प्राप्त करे कि जिससे अपना निश्चयसे उद्धार हो सके । अन्नका बर्तनसे उद्धार करनेका कार्य कडछीसे अथवा चमससे होता है, इस लिये इस मंत्रमें भी कडछीसे उद्धार करनेका उपदेश किया है । पञ्च ज्ञान रूपी पञ्च पक्वान्नका उद्धार करनेकी कडछी यहां कौनसी है यह अब विचारणीय प्रश्न है । इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ (अथर्व. १०।८।९)

' तिरछे मुखवाला एक चमस है, जिसका निम्न भाग ऊपरकी ओर है, उसमें विश्वरूप यश रखा है । वहां ही सात ऋषि साथ साथ रहते हैं, जो इसके रक्षक हैं ।' यहां जो चमस कहा है यह मनुष्यका सिर है, इसका मुंह नीचे और निम्न भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश नाम विश्वका ज्ञान और आत्माका विज्ञान इकट्ठा हुआ है, सात ऋषि यहां इस सिरमें रहते हैं जो इसके संरक्षक हैं । इस मंत्रसे चमस या कडछीका ठीक पता लग सकता है । यह सब मस्तकका रूपक है, इसीसे ज्ञान रूप पांच प्रकारका अन्न लिया जाता है, और अच्छे बुरेका विचार भी यहां ही होता है ।

इस सूक्तके ' दर्वी ' शब्दका संबंध इस मंत्रके ' चमस ' शब्दसे जोडकर देखें, पाठक जानें कि ये दर्वी (कडछी) और चमस एकही है । पाठकोंको सूचनार्थ निवेदन यहां है कि यज्ञमें जो जो सामग्री अथवा चमसादि साधन आवश्यक होते हैं वे सब अन्तमें अपने शरीरपर ही घटाये जाते हैं । वेदकी यह परिभाषा है । यहां चमस शब्द शरीरमें घटाया है, समिधा शब्द अन्य स्थानपर घटाये हैं । इस प्रकार सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंके मंत्रोंमें घटाये हैं । इस प्रकार वेद बतायेगा कि अन्तिम यज्ञ

आत्मसर्वस्वके समर्पणसे ही होना है। अस्तु इस प्रकार यहां पञ्चविध ज्ञानको अपने उद्धारके लिये प्राप्त करनेका उपदेश सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें दिया गया। इसके पश्चात् दो मंत्रोंसे अर्थात् सप्तमका उत्तरार्ध और अष्टम पूर्ण मन्त्रसे अपने शरीरको विश्वरूप बनानेका उपदेश कहा है।

विश्वरूप बनो।

अपना शरीर यह केवल अपने लिये नहीं प्रत्युत वह सब विश्वकी भलाईके लिये है, इसको विश्वके लिये समर्पण करना चाहिये। मैं सब जगत्का एक अवयव हूं। अवयवकी पूर्णता *अवयवोंके लिये समर्पित होनेसे ही हो सकती है। जिस प्रकार* शरीरके अवयवकी पूर्णता सब शरीरके भलाईके कार्यमें पूर्णतया समर्पित होनेसे ही सकती है, उसी प्रकार एक मनुष्यकी पूर्णता उसका *समर्पण समष्टिके लिये होनेसे ही हो सकती है।* यही आत्मसमर्पणकी कल्पना यहां इन मंत्रोंसे बताई है जिसका स्वरूप यह है—

१ पूर्व दिशाके लिये मेरा सिर अर्पण किया है,

२ दक्षिण दिशाके लिये *मेरी दक्षिण कक्षा अर्पण की है,*

३ पश्चिम दिशाके लिये मेरा पिछला भाग अर्पण किया है,

४ उत्तर दिशाके लिये मेरी उत्तर कक्षा अर्पण की है,

५ ऊर्ध्व दिशाके लिये मेरी पीठकी रीढ अर्पण की है,

६ ध्रुव दिशाके लिये मेरा पेट समर्पण किया है और

७ मध्य दिशा रूप अंतरिक्षके लिये मेरा मध्य भाग है।

(मं. ७; ८)

इस प्रकार मेरा संपूर्ण शरीर सब दिशाओंके लिये समर्पित होनेसे 'मैं सब विश्वके लिये जीवित हूं।' *मेरा यह यह भाग* विश्वके इस इस भागके लिये समर्पित हुआ है, इस प्रकार संपूर्ण विश्वके लिये मेरा आत्मसमर्पण हो गया है, अब मेरा *जीवन जगत्के लिये हुआ है,* मैंने *सबकी भलाईके लिये यह* आत्मयज्ञ किया है, यह इस उपदेशका तात्पर्य है। इसके पश्चात्—

सर्वैः अंगैः विश्वरूपं संभृतं शृतं अजं

शृतया त्वचा प्रोर्णुहि। (मं. ९)

'अपने सब अंगोंसे विश्वरूप हुए अत एव परिपक्व बने हुए अजन्मा जीवात्माको परमात्माके परिपक्व त्वचा सदृश आच्छादनसे आच्छादित करो।' *अपने आपको चारों ओरसे परमात्माद्वारा* आच्छादित अनुभव करो, अपने चारों ओर परमात्माका अनुभव करो। यह बात स्वभावतया स्वयं ही हो जायगी। इसके नंतर—

चतुर्भिः पद्भिः दिक्षु प्रति तिष्ठ।

इतः उत्तमं नाकं अभि आरोह। (मं. ९)

'अपने चारों पांवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो और यहांसे सीधा उत्तम स्वर्गके लिये चल।' अब तुम्हें कोई बीचमें रुकावट नहीं होगी। यहां वर्णन किये हुए चार पांव जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या हैं। चतुष्पाद अज आत्माका वर्णन माण्डूक्य उपनिषद्में है—

सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ॥२॥ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः ..प्रथमः पादः ॥३॥ स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः...द्वितीयः पादः ॥४॥ सुषुप्तस्थान एकी भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥ अदृष्टमव्यवहार्य. . .... एकात्मप्रत्ययसारं... चतुर्थं मन्यन्ते ॥७॥ (माण्डूक्य उपनिषद्)

'यह अज आत्मा चतुष्पाद है। इसका प्रथम पाद जागृति है जिसमें बाहरके जगत्का ज्ञान होता है। इसका द्वितीय पाद स्वप्न है जिस अवस्थामें इसकी प्रज्ञा अंदर ही अंदर होती है। *इसका तीसरा पाद सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा है, जिस* समय एकी भूत होकर आनन्द अवस्थामें लीन होता है। और इसका चतुर्थ पाद अदृष्ट तथा अव्यवहार्य है।'

यह वर्णन इस आत्माका चतुष्पाद स्वरूप बता रहा है। कई लोग चार पांवोंका वर्णन होनेसे 'चतुष्पाद अज' का तात्पर्य 'चार पांव वाला बकरा' समझते हैं और अर्थका अनर्थ *करते हैं, उनको उचित है कि वे इस उपनिषद्के वचनका भी* यहां मनन करें। सीधा उत्तम स्वर्ग धाममें जाना इनही चार पांवोंसे संभवनीय है यह बात स्पष्ट होनेसे इस विषयमें अधिक *लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है।* जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यामें जो अनुभव मिलते हैं और जाग्रतिमें जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है, इसके बिना कोई *अन्य मार्ग नहीं है।*

एक शंका।

इस सूक्तमें 'भूलोकसे ऊपर अन्तरिक्ष, अंतरिक्षसे ऊपर *स्वर्ग, स्वर्गसे ऊपर आत्म प्रकाशका लोक है, ऐसा कहा है।* (मं. ३)' मंत्रमें 'आरुह' पद भी दर्शाता है कि यहां 'ऊपर चढनेका भाव' है। इस लिये साधारण लोक इन *लोकोंको एकके ऊपर दूसरा मानते हैं।* ये लोक शरीरमें भी हैं गुदासे नाभीतक भूलोक, नाभीसे गलेतक अन्तरिक्ष लोक,

निर स्वर्ग लोक है और आत्म प्रकाशका लोक हृदय स्थानमें कहीं दयुक् होती है वहां है। यहां पता लगता है कि यद्यपि शरीरमें पहिले तीन लोक एक दूसरेके ऊपर हैं तथापि चतुर्थ-लोक निम्न प्रदेशमें अथवा मध्यमें है। अर्थात् यहांका उसका भव स्थानसे ऊपर ऐसा नहीं है, प्रत्युत अवस्था, योग्यता, श्रेष्ठ अनुभव आदिकी उच्चतासे यहां मतलब है। वास्तविक स्थिति यह है कि भूः, भुवः, स्वः, मह आदि लोक किंवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, आत्मज्योति आदि लोक हरएक स्थानमें हैं। जिस प्रकार एक ही स्थानमें पत्थर, रेत, जल, वायु, उष्णता, विद्युत् आदि रहते हैं, उसी प्रकार उक्त सब लोक एक ही स्थानमें हैं, जो मनुष्य अपने सूक्ष्म इंद्रियोंको सूक्ष्म लोकोंमें कार्य करने योग्य सूक्ष्म बनाते हैं, वेही उच्च लोकोंके भागी होते हैं, अर्थात् यहां रहता हुआ मनुष्य भी आ मप्रकाशके लोकका अनुभव ले सकता है।

पाठक इस सूक्तका इस रीतिसे मनन करें और उचित बोध प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग आक्रमण करें।

आत्मोन्नतिका साधन।

(का. ७, सू. १)

(ऋषिः— अथर्वा 'ब्रह्मवर्चसकामः'। देवता— आत्मा।)

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥ १ ॥
स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः ।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥ २ ॥

अर्थ— (ये वा मनसा धीती) जो अपने मनसे ध्यानको (वाचः अग्रं अनयन्) वाणीके मूलस्थान तक पहुंचाते हैं, तथा (ये वा ऋतानि अवदन्) जो सत्य बोलते हैं, वे (तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानाः) तृतीय ज्ञानसे बढते हुए, (तुरीयेण) चतुर्थभागसे (धेनोः नाम अमन्वत) कामधेनुके नामका मनन करते हैं ॥ १ ॥

(सः सूनुः भुवत्) वही उत्पन्न हुआ है, (सः पुत्रः पितरं सः च मातरं वेद) वही अपने मातापिताको जानता है (सः पुनर्मघः भुवत्) वह बारबार दान देनेवाला होता है, (सः द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत्) वह द्युलोक, अन्तरिक्षको और आत्मप्रकाशको अपने आधीन करता है, (सः इदं विश्वं अभवत्) वह यह सब विश्व बनता है, और (सः आभवत्) वह सर्वत्र होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— (१) मनमें ध्यान लगाकर वाणीकी उत्पत्ति जहांसे होती है वह वाणीका मूल देखना, (२) सदा सत्य वचन बोलना, (३) ज्ञानसे उन्नत होना और (४) कामधेनु स्वरूप परमेश्वरके नामका मनन करना, ये चार आत्मोन्नतिके साधन हैं ॥ १ ॥

जो यह चतुर्विध साधन करता है, उसीका जन्म सफल होता है, वह अपने मातापिता स्वरूप परमात्माको जानता है, वह आत्मसर्वस्वका दान करता है, जिससे वह त्रिभुवनको अपनी शक्तिसे घेरता है, मानो वह यह सब विश्वरूप बनता है और वह सर्वत्र होता है ॥ २ ॥

यही आत्मा है, जिससे यह वाणी प्रकट होती है। इसीलिये वाणीके मूलकी खोज करते करते आत्माकी प्राप्ति होती है, ऐसा इस सूक्तमें कहा है।

सारांशसे आत्माकी खोज करनेका मार्ग इस प्रकार इस सूक्तमें कहा है। इसको भी यदि साक्षात करना हो, तो '(१) **सत्यनिष्ठा, (२) सत्य ज्ञान, (३) प्रभुगुण मनन,** और (४) **वाङ्मूलान्वेषण**' इन चार शब्दोंसे सूचित होनेवाला यह आत्मोन्नतिका मार्ग है। मनुष्य इस मार्गसे जाकर अपने आत्माका पता लगा सकता है और सत्यके आश्रयसे और ज्ञानके प्रकाशसे यथेच्छ उन्नति प्राप्त कर सकता है। यहां ज्ञानका 'बंधनसे मुक्त होनेका निश्चित ज्ञान' यह अर्थ विवक्षित है। अन्य पाञ्चभौतिक ज्ञानके लिये संस्कृतमें विज्ञान शब्द है। जो इस प्रकारके श्रेष्ठ ज्ञानसे युक्त होता है, वह मनुष्य—

(५) **सः सुजुः भुवत्**— वही उच्चा उत्पन्न हुआ कहा जाता है। अर्थात् उसीने जन्म लिया और अपने जन्मका सार्थक किया, ऐसा कहा जा सकता है। अन्य लोग जन्म तो लेते ही हैं, परंतु उनका जन्म लेना व्यर्थ होता है, क्योंकि जन्मका प्रयोजन वे सफल नहीं कर सकते, अतः उनके जन्म लेनेका परिश्रम व्यर्थ होता है। उनका जन्म सफल होनेका हेतु यह है—

(६) **सः पुत्रः पितरं मातरं च वेद**— वह पुत्र अपने माता पिताको जानता है। अपने मातापिताको यथावत् जाननेसे पुत्रका जन्म सफल होता है। मातापिताको जानना तब होगा, जब वह अपने मातापिताके गुणोंका मनन करेगा। यह गुणोंके मनन करनेका उपदेश (**नाम अमन्वत**। म. १) प्रथम मंत्रके अन्तिम चरणमें किया है। पिताका या माताका नाम लेना अथवा उनके गुणोंका मनन करना इसीलिये होता है, कि पुत्र अपने आपको सुयोग्य बनाता हुआ पिताके समान बने। माता पिताको जाननेका साध्य यही है। मेरे माता पिता ऐसे शुद्धाचारी थे, मैं भी वैसा ही शुद्धाचारी बनूंगा। मातापिताके जाननेसे पुत्रके अंदर इस प्रकार अपनी उन्नतिकी प्रेरणा होती है। यहां 'पुत्र' शब्द विशेष महत्त्वका अर्थ रखता है। '**पु+त्र**' अर्थात् जो अपने आपको (**पुनाति**) पवित्र करता है और (**त्रायते**) अपनी रक्षा करता है, वह सच्चा पुत्र है। अपने आपको निर्दोष, पवित्र और शुद्ध बनाना, तथा अपने आपकी दोषों और पापोंसे रक्षा करनी, यह कार्य जो करता है वह सच्चा पुत्र है, जो ऐसा नहीं करते, वे केवल जन्तुमात्र हैं। इस प्रकारका सुपुत्र जो होता है, वह जिस समय अपने परम पिताके गुणकर्मोंका मनन करता है, उस समय उसके मनमें यह बात आती है कि, मैं भी अपने परम पिताके समान और अपनी परम माताके समान बनूंगा। यत्न करके वैसा होऊंगा। इस विचारसे वह प्रेरित होता है, इसलिये—

(७) **सः पुनर्मघः भुवत्**— वह वारंवार दान देनेवाला होता है। वह अपनी सब तन, मन, धन आदि शक्तियोंको जनताकी भलाईके लिये वारंवार समर्पित करता है। दान करनेसे वह पीछे नहीं हटता। इसीका नाम यज्ञ है। अपनी शक्तियोंका यज्ञ करनेसे ही मनुष्य उत्पन्न होता जाता है। वह देखता है कि, वह परमपिता अपनी सब शक्तियोंको संपूर्ण प्राणिमात्रकी भलाईके लिये समर्पित कर रहा है, इस बातको देखकर वह उसीका अनुसरण करता है। और इस प्रकार परमपिताके अनुसरणसे वह प्रतिसमय अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता है और इसको जितनी अधिक शक्ति मिल जाती है, उस प्रमाणसे वह उतना ही अधिक कार्यक्षेत्र व्यापता है। उदाहरणके लिये देखिये अनाडी मनुष्य अपने पेटके कार्यक्षेत्रमें कार्य करता है, गृहस्थी मनुष्य अपने कुटुंबके पोषणके कार्यक्षेत्रमें लगा रहता है, नगर सुधारक अपने नगरके कार्यक्षेत्रमें तन्मय होता है, राष्ट्रका नेता राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें अपनी हलचल करता है, इसके पश्चात् वसुधैव कुटुंबक वृत्तीका संन्यासी संपूर्ण जनताको अपने परिवारमें संमिलित करके उनकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करता है, इस प्रकार जिसको जैसी शक्ति प्राप्त होती जाती है, उस प्रकार वह अधिकाधिक विस्तृत कार्यक्षेत्रमें कार्य करता है, इस प्रकार शक्तिकी वृद्धि होते होते अन्तमें—

(८) **सः द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत्**— वह द्युलोक, अन्तरिक्ष और सब प्रकाशमय लोकोंको व्यापता है। मनुष्यकी शक्ति इतनी बढ जाती है। वह जिस समय विशेष उन्नत होता है उस समय संपूर्ण अवकाशमें उसकी व्याप्ति होती है। साधारण आत्माका 'महात्मा' बननेसे यह बात सिद्ध होती है। इससे—

(९) **सः इदं विश्वं अभवत्**— वह यह सब विश्वरूप बनता है, जब उसकी शक्ति परम सीमातक उन्नत होती है, तब उसको अनुभव होता है कि मैं विश्वरूप बना हूं। कई मनुष्य 'शरीररूप होते हैं, उनके शरीरको कष्ट होनेसे वे दुःखी होते हैं, कई लोग 'कुटुंबरूप' होते हैं उनके कुटुंबके किसी मनुष्यको दुःख हुआ तो वे दुःखी होते हैं, कई लोग 'राष्ट्ररूप' बनते हैं उनके राष्ट्रका कोई आदमी दुःखी हुआ तो वे दुःखी

बनते हैं, इसी प्रकार जो ' विश्वरूप ' बनते हैं वे संपूर्ण विश्वमें किसीको भी दुःखी देखनेसे वे दुःखी होते हैं। इसी प्रकार अधिकार भेदसे उनको सुख भी होता है। इस प्रकार मनुष्यकी शक्तिका विस्तार होता जाता है और मनुष्यका विश्वरूप बन जाना उसकी उन्नतिकी परम सीमा है इस समय—

(१०) स' आभवत्— वह सर्वत्र फैलता है अर्थात् विश्वरूप बना हुआ आत्मा विश्वभरमें फैलता है। प्रारंभमें मनुष्यका आत्मा अपने शरीर जितना ही फैला होता है, परंतु इसकी शक्ति बढते बढते और इसके कार्यक्षेत्रका विस्तार होते होते वह अन्तमें विश्वरूप बन जाता है। यह आत्माका फैलाव शक्ति विस्तारसे होता है। इसका उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है, एक दीप है जिसका प्रकाश छोटेसे कमरेमें ही फैलता है, यदि किसी यंत्रप्रयोगसे उसकी प्रकाशशक्तिका विस्तार किया जाय, तो वही दीप दस बीस मील तक प्रकाश देनेमें समर्थ हो सकेगा। अग्निकी छोटीसी चिनगारी दावानलका रूप ले लेती है। इस प्रकार इस जीवात्माकी शक्तिका परम विकास होनेकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

कई मनुष्य होते हैं उनकी आज्ञा पारिवारिक लोग भी सुनते नहीं, इतनी उनकी शक्ति अल्पतर होती है, परंतु कई महात्मा ऐसे होते हैं कि, जिनकी आज्ञा होते ही लाखों और करोडों मनुष्य अपना बलिदान तक देनेको तैयार होते हैं, यह आत्मशक्तिके विस्तारका उदाहरण है। इसी प्रकार आगे परम सीमातक आत्माकी शक्तिका विकास होना संभव है। इसी शक्तिविकासके चार साधन प्रथम मंत्रमें कहे हैं। उन साधनोंका अनुष्ठान जो करेंगे, वे अपनी शक्ति विकसित होनेका अनुभव अवश्य लेनेमें समर्थ होंगे।

आत्मोन्नतिका विचार होनेके कारण यह सूक्त प्रत्यक्ष फलदायी है। आशा है कि, पाठक इसका अधिक मनन करके अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करेंगे।

जीवात्माका वर्णन।

(कां. ७, सू. २)

(ऋषिः— अथर्वा ' ब्रह्मवर्चसकामः ' । देवता— आत्मा ।)

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ १ ॥

अर्थ— (यः मनसा) जो मनसे (इमं यज्ञं अथर्वाणं पितरं) इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाले पिता और (देवबन्धुं) देवोंके साथ संबंध रखनेवाले (मातुः गर्भं) माताके गर्भमें आनेवाले (पितुः असुं) पिताके प्राणरूप (युवानं) सदा तरुण आत्माको (चिकेत) जानता है, वह (इह तं नः प्रवोचः) यहां उसके विषयमें हमें ज्ञान कहे और (इह ब्रवः) यहां उसको बतलावे ॥ १ ॥

भावार्थ— जो ज्ञानी अपनी मननशक्तिद्वारा इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाले, पिताके समान रक्षक, देवोंके साथ संबंध करनेवाले, माताके गर्भमें आनेवाले, पिताके प्राणको धारण करनेवाले, सदा तरुण अर्थात् कभी वृद्ध न होनेवाले और न कभी बालक रहनेवाले आत्माको जानता है, वह उसके विषयका ज्ञान यहां हम सबको कहे और उसका विशेष स्पष्टीकरण भी करे ॥ १ ॥

जीवात्माका वर्णन ।

जीवात्माके गुण ।

इस सूक्तमें मुख्यतया जीवात्माके गुण वर्णन किये हैं। इनका मनन करनेसे जीवात्माका ज्ञान हो सकता है—

मातुः गर्भे— माताके गर्भको प्राप्त होनेवाला जीवात्मा है। *जन्म लेनेके लिये यह माताके गर्भमें आता है।* यजुर्वेदमें इसीके विषयमें ऐसा कहा है—

पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः । वा. यजु ३२।४

" यह पहिले उत्पन्न हुआ था, वही इस समय गर्भमें आया है, वह पहिले जन्मा था और भविष्यमें भी जन्म लेगा। " इस प्रकार यह वारंवार जन्म लेनवाला जीवात्मा है।

२ **पितुः असु**— पितासे यह प्राणशक्तिको धारण करता है। पितासे प्राणशक्ति और मातासे रयिशक्ति प्राप्त करके यह शरीर धारण करता है।

३ **युवानं**— यह सदा जवान है। यह न कभी बूढा होता है और न कभी बालक। इसका शरीर उत्पन्न होता है और छ. विकारोंको प्राप्त होता है। (**जायते**) उत्पन्न होता है, (**अस्ति**) होता है, (**वर्धते**) बढता है, (**विपरिणमते**) परिणत होता है, (**अपक्षीयते**) क्षीण होता है और (**विनश्यति**) नाशको प्राप्त होता है। यह छ. विकार शरीरको प्राप्त होते हैं। इन छ विकारोंको प्राप्त होनेवाले शरीरमें रहता हुआ यह जीवात्मा सदा तरुण रहता है। यह न तो शरीरके साथ बालक बनता है और न शरीर वृद्ध होनेसे वह भी वृद्ध होता है। यह अजर और अबालक है अर्थात् इसको युवावस्थामें रहनेवाला कहते हैं।

४ **देवबंधु**— यह देवोंका भाई है। देवोंको अपने साथ बांध देनेवाला यह जीवात्मा है। पाठक यहां ही अपने देहमें देखें कि इस *जीवात्माने अपने साथ सूर्यका अंश नेत्ररूपसे* आंखके स्थानमें रखा है, वायुका अंश प्राणरूपसे नासिका स्थानमें रखा है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियोंके देवतांशोंको लाकर रखा है। इन सब देवतांशोंको यह अपने साथ लाता है और अपने साथ ले जाता है। जिस प्रकार सब भाई भाई इकट्ठे रहते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा यहां इन देवताओंका बडा भाई है और ये देवतांश इसके छोटे भाई हैं। इस प्रकार यह देवोंका बन्धु है।

अथर्वाणं— (**अथ+अर्वाक्=अथर्वा**) अपने पास अपने अन्दर रहनेवाला यह है। इसको ढूंढनेके लिये बाहर भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यही सबसे समीप है, इससे समीप और कोई पदार्थ नहीं है।

६ **पितरं**— यह पिताके समान है। यह रक्षक है। जबतक यह शरीरमें रहता है तबतक यह शरीरकी रक्षा करता है, मानो इसकी शक्तिसे शरीर रक्षित होता है। जब यह इस शरीरको छोड देता है तब इस शरीरकी कोई रक्षा नहीं कर सकता। इसके इस शरीरको छोड देनेके पश्चात् यह शरीर सडने लगता है।

७ **यज्ञं**— यह महा यजनीय अर्थात् पूजनीय है। इसीके लिये यहांके सब व्यवहार किये जाते हैं। अन्न, पान, भोग, *नियम सब इसीकी संतुष्टीके उद्देश्यसे किये जाते हैं।* यदि यह न हो तो कोई कुछ न करेगा। जबतक यह इस शरीरमें है, तबतक ही सब भोग तथा त्याग किये जाते हैं।

ये सात शब्द जीवात्माका वर्णन करनेके लिये इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं। जीवात्माके गुणधर्म इनका विचार करनेसे ज्ञात हो सकते हैं। इनका विचार (**मनसा चिकेत**) मननद्वारा ही होगा। जो पाठक अपने जीवात्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे इन शब्दोंका मनन करें। जब उत्तम मनन होगा तब वह ज्ञानी इस ज्ञानका (**प्रवोचः**) प्रवचन करे और (**इह ब्रवः**) यहां व्याख्या करे। कोई मनुष्य मनन के पूर्व प्रवचन न करे। अर्थात् जब मनन पूर्वक उत्तम ज्ञान प्राप्त हो, तब ही मनुष्य दूसरोंको इसका ज्ञान देवे।

उपदेश देनेका अधिकार तब होता है कि जब स्वयं पूर्ण ज्ञान हुआ होता है। स्वयं उत्तम ज्ञान होनेके पूर्व जो उपदेश देनेका प्रयत्न होता है वह घातक होता है। ज्ञानी ही उपदेश करनेका सच्चा अधिकारी है।

यदि यह जीवात्माका ज्ञान ठीक प्रकार हुआ, तब मनुष्य *परमात्माको जाननेमें समर्थ होगा।* इस विषयमें अथर्ववेदकी श्रुति यहां देखने योग्य है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥
अथर्व० १०।७।१७

' जो सबसे प्रथम पुरुषमें स्थित ब्रह्मको जानते हैं, वे ही परमेष्ठी प्रजापतिको भी जानते हैं। ' यही ज्ञान प्राप्त करनेकी रीति है। अपने शरीरान्तर्गत आत्माको जाननेसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस रीतिसे इस मन्त्रके मननसे प्रथम जीवात्माका ज्ञान होगा और उसीको परम सीमातक विस्तृत रूपमें देखनेसे यही ज्ञान परमात्माका बोध करनेमें समर्थ होगा।

आत्माका परमात्मामें प्रवेश ।

(काण्ड ७, सूक्त २)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— आत्मा ।)

अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अर्थ— (अया वि-स्था) इस प्रकारकी विशेष स्थितिसे (कर्वराणि जनयन्) विविध कर्मोको करता हुआ, (सः) वह (हि वराय उरुः गातुः) श्रेष्ठ देवकी प्राप्ति करनेके लिये विस्तृत मार्गरूप और (घृणिः) तेजस्वी बनता हुआ, (सः) वह (मध्वः धरुणं अग्रं प्रति उदैत्) मिठासको धारण करनेवाले अग्रभागके प्रति पहुंचनेके लिये ऊपर उठता है और (स्वया तन्वा) अपने सूक्ष्म शरीरसे उस देवके (तन्वं ऐरयत्) सूक्ष्मतम शरीरके प्रति अपने आपको प्रेरित करता है ॥ १ ॥

भावार्थ— इस प्रकार वह श्रेष्ठ कर्मोको करता है और उस कारण वह स्वयं परमात्माके पास जानेका श्रेष्ठ मार्ग बतानेवाला होता है और दूसरोंको प्रकाश देता है। वह स्वयं मधुर अमृतको धारण करनेवाले परमात्माके समीप प्राप्त होनेके हेतुसे अपने आपको उच्च करता है और समाधिस्थितिमें अपने सूक्ष्म शरीरसे परमात्माके विश्वव्यापक सूक्ष्मतम कारण शरीरके पास पहुंचनेके लिये स्वयं अपने आपको प्रेरित करता है। इस प्रकार वह स्वयं परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

आत्माका परमात्मामें प्रवेश ।

जीवकी शिवमें गति ।

जीवात्माकी परममंगलमय शिवात्मामें गति किस प्रकार होती है इसका विचार इस सूक्तमें किया है। इसका अनुष्ठान क्रमपूर्वक कहते हैं।—

१ अया वि-स्था कर्-वराणि जनयन्— इस विशेष स्थितिमें रहकर वह मुमुक्षु श्रेष्ठ कर्म करता है। विशेष स्थितिमें रहनेका अर्थ है सर्व साधारण मनुष्योंकी जैसी स्थिति होती है वैसी साधारण स्थितिमें न रहना। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि विषयमें तथा रहने सहनेके विषयमें साधारण मनुष्य पशुके समान ही रहते हैं। इस सामान्य स्थितिका त्याग करके मनुष्य विशेष स्थितिमें रहे अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति करता हुआ मनुष्य अपने आपको विशेष परिस्थितिमें रखे और उस विशेष परिस्थितिके अनुरूप श्रेष्ठ कार्य करे। इससे उसको दो सिद्धियां प्राप्त होंगी, वे सिद्धियां ये हैं—

२ सः घृणिः— वह तेजस्वी बनता है, वह दूसरोंका मार्गदर्शक होता है, वह जनताको चेतना देनेवाला होता है, वह अपने तेजसे दूसरोंको प्रकाशित करता है। तथा—

३ सः वराय उरुः गातुः— वह श्रेष्ठ स्थानके पास जानेवाला विस्तृत मार्ग जैसा होता है। जिस प्रकार विस्तृत मार्गपर चलनेसे प्राप्तव्य स्थानके प्रति मनुष्य विना आयास जाता है, उसी प्रकार इस पुरुषका जीवन अन्य मनुष्योंके लिये विस्तृत मार्गवत् हो जाता है। अन्य मनुष्योंको दूसरे दूसरे मार्ग देखनेका कारण नहीं होता है, इसका जीवन चरित्र देखा और उसके अनुसार चलनेका कार्य किया, तो उनका कार्य सफल हो जाता है और इस जगत्में जो वर अर्थात् श्रेष्ठ है, उस श्रेष्ठ परमात्माके पास वे सीधे पहुंच जाते हैं। इस रीतिसे वह सन्मार्गगामी पुरुष अन्य मनुष्योंके लिये मार्गदर्शक हो जाता है। वह मार्ग बताता नहीं परंतु लोग ही उसका चालचलन देखकर स्वयं उसका अनुकरण करते हुए ऊपर जाते हैं। अर्थात् वह मार्गदर्शक नहीं बनता प्रत्युत लोगोंके लिये विस्तृत मार्गरूप बनता है।

४ सा मध्वः चहणं अग्रं प्रति उत् पेत् – वह मधुरताके धारक अन्तिम स्थानके प्रति जानेके लिये ऊपर उठता है। जिस प्रकार सूर्य उदय होकर ऊपर ऊपर चढता है और जैसा जैसा ऊपर चढता है वैसा वैसा अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता है, इसी प्रकार यह मुमुक्षु पुरुष (उदैत्) ऊपर उठता है अर्थात् अधिकाधिक उच्च अवस्था प्राप्त करता है। इसके ऊपर चढनेका हेतु यह है कि वह (मध्व अग्र) मिठासके परम केन्द्रको प्राप्त करना चाहता है मधुरताको जो जड है, जहांसे सब मधुरता फैलती है, उस स्थानको वह प्राप्त करनेका अभिलाषी होता है। और इस हेतुसे वह उच्चतर भूमिकाको अपने प्रयत्नसे प्राप्त करता है। और अन्तमें—

५ स्वया तन्वा तन्वं ऐरयत- अपने सूक्ष्म (स्वभाव) से परमात्माके सूक्ष्मतम (स्वभाव) के प्रति अपने आपको प्रेरित करता है। इस मंत्रभागमें 'तनु' शब्द है। लौकिक संस्कृतमें यह शरीरका वाचक है यह बात सत्य है, तथापि यहां 'तनु' शब्दके 'सूक्ष्म, बारीक, स्वभाव, गुण, विशेषता' ये अर्थ विवक्षित हैं। ऊपर हमने तनु शब्दका सुप्रसिद्ध 'शरीर' यह अर्थ लेकर अर्थ लिखा है, तथापि हमारे मतसे इसका वास्तविक अर्थ 'जीवात्मा अपने स्वभावधर्मसे परमात्माके स्वभावधर्ममें प्रेरित होता है' यह है। पाठक इसका अधिक विचार करें। आत्मोन्नतिकी अवस्थामें यह अवस्था सर्वोत्कृष्ट है। यह अवस्था प्राप्त होनेके लिये ही पूर्वोक्त सब अनुष्ठान हैं।

पाठक इस सूक्तके मननसे जान सकते हैं कि, इस विधिसे किया हुआ अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता, परंतु हरएक अवस्थामें विशेष फल देनेवाला बनता है और अन्तमें जीवात्माकी शिवात्मामें गति होती है। यही उन्नतिकी परम सीमा है।

प्राणका साधन।

(काण्ड ७, सूक्त ४)

(ऋषिः— अथर्वा। देवता– वायु।)

एक॑या च॒ दश॑भिश्चा सुहुते द्वाभ्या॑मि॒ष्टये॑ विंश॒त्या च॑।
ति॒सृभि॑श्च॒ वह॑से त्रिं॒शता॑ च वि॒युग्भि॑र्वाय इ॒ह ता वि मु॑ञ्च ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सुहुते वायो) उत्तम प्रकार बुलाने योग्य प्राण देवता! (एकया च दशभि च) एक और दससे, (द्वाभ्यां विंशत्या च) दो और बीससे तथा (तिसृभि च त्रिंशता च) तीन और तीससे तू (इष्टये वहसे) यज्ञके लिये जाता है। अत तू (वियुग्भिः इह ता विमुञ्च) विशेष योजनाओंसे उनको यहां मुक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रशंसायोग्य प्राण! तू ग्यारह, बाईस, और तैतीस शक्तियों द्वारा इस जीवनयज्ञमें कार्य करता है, अत. तू अपनी विशेष योजनाओंद्वारा सब प्रजाओंको दु खोंसे मुक्त कर ॥ १ ॥

प्राणका साधन।

प्राणसाधनसे मुक्ति।

इस शरीरमें प्राणका शासन सर्वत्र चल रहा है यह सब जानते हैं। स्थूल शरीरमें पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और इन इंद्रियोंका संयोजक मस्तिष्क ये ग्यारह शक्तियां इस प्राणके आधीन हैं। इनमेंसे प्रत्येक में जाकर यह प्राण कार्य करता है अर्थात् ये ग्यारह प्राणके कार्यस्थान हैं। इसके अनंतर सूक्ष्म शरीरमें ये ही वासना देहमें ग्यारह शक्तियां कार्य कर रही हैं, ये भी सब प्राणके ही आधीन हैं। स्थूल शरीरकी ग्यारह और सूक्ष्म शरीरकी ग्यारह, दोनों मिलकर बाईस शक्तियां प्राणके आधीन स्वप्नावस्थामें रहती हैं। तीसरे मज्जातन्तुओंके ग्यारह केन्द्र जो मस्तकसे लेकर गुदा तक के पृष्ठवंशमें रहते हैं और जिनके आधीन शरीरके विविध भाग कार्य करते हैं, वे भी प्राणकी शक्तिसे ही अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। ये सब मिलकर तैतीस शक्ति केन्द्र हैं, जिनमें प्राणकी शक्ति कार्य कर रही है। मानो इन तैतीस केन्द्रों द्वारा प्राणको चलाया जाता है। अथवा ये तैतीस प्राणके रथके घोडे हैं, जिस रथमें बैठकर

प्राण शरीरभरमें गमन करता है और वहांका कार्य करता है।

इस सूक्तमें ग्यारह, बाईस और तैंतीस प्राणको चलाते हैं ऐसा कहा है। यह संख्या इन शक्तिकेन्द्रोंकी सूचक है। यह शरीर एक यज्ञशाला है, इसमें शतसांवत्सरिक यज्ञ चलाया जा रहा है। यह यज्ञ प्राणके द्वारा होता है और प्राण इन शक्ति केन्द्रों द्वारा इस यज्ञभूमिमें आता और कार्य करता है।

प्राणकी योजना।

प्राणको (वियुग्भिः विमुञ्च) विशेष योजनासे मुक्त कर अर्थात् प्राणकी विशेष योजनाकी जाय और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त की जाय। यहां विचार करना चाहिये कि प्राणकी (वियुग्भिः) विशेष योजनायें कौनसी हैं और उनसे मुक्ति किस प्रकार होती है यह देखनेके लिये पूर्वोक्त शक्तियां क्या करती हैं और इनकी स्वभाव प्रवृत्ति कैसी है यह देखना चाहिये।

हमारे पास नेत्र है, यह यद्यपि देखनेके लिये बनाया है तथापि यह दूसरोंकी ओर बुरी दृष्टिसे देखता है। कान शब्द-श्रवण करनेके लिये बनाया है तथापि वह बहुत बुरे शब्द सुनता है। मुख बोलनेके लिये बनाया है, परंतु वह ऐसे बुरे शब्द बोलता है कि जिससे विविध झगडे उत्पन्न होते हैं। उपस्थ इंद्रिय सुप्रजाजनन के लिये बनाया है, परंतु वह व्यभिचार के लिये प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इस शतसांवत्सरिक यज्ञमें संमिलित होनेवाली सब शक्तियां अयोग्य मार्गमें प्रवृत्त होती हैं। प्राणायाम करनेसे मनकी चञ्चलता दूर होती है और मन स्थिर होनेसे उक्त तैंतीस शक्तियां ठीक सीधे मार्गमें रहती हैं। प्राणकी विशेष योजनाएं यही हैं। इन विशेष योजनाओं-द्वारा नियुक्त हुआ प्राण इन तैंतीस शक्तियोंका संयम करता है, उनको बुराईयोंके विचारसे मुक्त करता है, और सत्कार्यमें प्रेरित करता है। इस प्रकार प्राणसाधनसे मुक्तिका सीधा मार्ग आक्रमण करना सुगम होता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें और प्राणसाधन द्वारा उन्नति करें।

आत्मयज्ञ।

(कां, ७ सूक्त ५)

(ऋषि — अथर्वा। देवता — आत्मा।)

यज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑ः सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥ १ ॥
य॒ज्ञो ब॑भूव॒ स आ ब॑भूव॒ स प्र ज॑ज्ञे॒ स उ॑ वावृधे॒ पुन॑ः।
स दे॒वाना॒मधि॑पतिर्बभूव॒ सो अ॒स्मासु॒ द्रवि॑ण॒मा द॑धातु ॥ २ ॥

अर्थ—(देवा यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) देवगण यज्ञसे यज्ञ पुरुषकी पूजा करते हैं। **(तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्)** वे धर्म उत्कृष्ट हैं। **(ते महिमानः नाकं सचन्ते)** वे महत्त्व प्राप्त करते हुए सुखपूर्ण लोकको प्राप्त होते हैं, **(यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति)** जहां पूर्वके साधनसंपन्न देव रहते हैं ॥ १ ॥

(यज्ञः बभूव) यज्ञ प्रकट हुआ, **(सः आबभूव)** वह सर्वत्र फैला, **(स प्रजज्ञे)** वह विशेष रीतिसे ज्ञानका साधन हुआ और **(सः उ पुनः वावृधे)** वह फिर बढने लगा। **(सः देवानां अधिपतिः बभूव)** वह देवोंका अधिपति बन गया, **(सः अस्मासु द्रविणं आ दधातु)** वह हममें धन धारण करावे ॥ २ ॥

भावार्थ— श्रेष्ठ याजक अपने आत्माके योगसे परमात्माकी उपासना करते हैं, वे मानसोपासनाके यज्ञविधि सबसे श्रेष्ठ और मुख्य हैं। इस प्रकारकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ उपासक हो उस सुखपूर्ण स्वर्गधामको प्राप्त करते हैं कि, जहां पूर्वकालके साधन करनेवाले प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

यह मानसोपासनारूपी यज्ञ पहिले प्रकट हुआ, यह सर्वत्र फैला, उसको सबने जाना और वह फिर बहुत बढ गया। वह संपूर्ण उपासकोंका मानो, स्वामी बन गया। यह यज्ञ हमें धन समर्पण करे ॥ २ ॥

यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥
यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥
मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

अर्थ— (देवाः यत् अमर्त्यान् देवान्) देव जहां अमर देवोंका (हविषा अमर्त्येन मनसा अयजन्त) अपने हविरूप अमर मनसे यजन करते हैं (तत्र परमे व्योमन् मदेम) वहां उस परम आकाशमें हम सब आनंद प्राप्त करते हैं। और वहां ही सूर्यस्य (उदितौ तत् पश्येम) सूर्यका उदय होनेपर उसका वह प्रकाश देखते हैं ॥ ३ ॥

(यत् देवाः) जो देवोंने (पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत) पुरुषरूपी हविसे यज्ञ किया, (तस्मात् ओजीय· नु अस्ति) उससे अधिक बलवान् क्या है ? (यत् विहव्येन ईजिरे) जो विशेष यजन द्वारा होता है ॥ ४ ॥

(मुग्धाः देवाः) मूढ याजक (उत शुना अयजन्त) कुत्तेसे यजन करते हैं (उत गोः अंगैः पुरुधा अयजन्त) गौके अवयवोंसे बहुत प्रकार यजन करते हैं। (सः इमं यज्ञं मनसा चिकेत) जो इस यज्ञको मनसे करना जानता है, वह (इह नः प्रवोच·) यहां हमें उसका ज्ञान देवे और (इह तं ब्रवः) यहां उसका उपदेश करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— याजकोंने जब अमर देवोंकी उपासना अपने अमर्त्य शक्तिसे युक्त मन द्वारा की, तब सबको आनंद प्राप्त हुआ और जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे प्रकाश प्राप्त होता है उस प्रकार यज्ञसे सबको आनंद मिला ॥ ३ ॥

याजक जो यज्ञ अपने आत्मारूपी हविसे किया करते हैं, उससे भला और कौनसा यज्ञ श्रेष्ठ है ? जो कि विविध हविर्द्रव्योंके हवनसे प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

वे याजक मूढ है कि जो कुत्ते, गौ आदि पशुओंके अंगोंसे हवन करते हैं। जो याजक इस मानसिक यज्ञको मनसे करना जानता है वह ज्ञानी ही यज्ञका उपदेश करे और यज्ञके महत्त्वका कथन करे ॥ ५ ॥

आत्मयज्ञ ।

मानस और आत्मिक यज्ञ ।

यज्ञ बहुत प्रकारके हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ मानस यज्ञ अथवा आत्मिक यज्ञ है। मनका समर्पण करनेसे मानस यज्ञ होता है। और आत्माका समर्पण करनेसे आत्मयज्ञ हुआ करता है। दोनोंका करीब करीब भाव एक ही है। यज्ञ समर्पण परमेश्वरके लिये करना होता है। परमेश्वरके कार्य इस जगत्में जो होते हैं, उनमेंसे—

(१) सज्जनोंकी रक्षा
(२) दुष्ट जनोंको दूर करना और
(३) धर्मकी व्यवस्था,

ये तीन कार्य परमात्माके लिये मनुष्य कर सकता है। परमात्माके अनंत कार्य हैं, परंतु मनुष्य उन सब कार्योंको कर नहीं सकता। ये तीन कार्य अपनी शक्तिके अनुसार कर सकता है। इसलिये जब मनुष्य अपने आपको इन तीन कार्योंके लिये समर्पित करता है, तब उसका समर्पण परमेश्वरके लिये हुआ, ऐसा माना जाता है। मनसे और अपने आत्माकी शक्तियोंसे उक्त त्रिविध कार्य करनेका नाम ही अपने मनका और आत्माका परमेश्वरार्पण करना है।

प्रत्येक यज्ञमें भी तीन कार्य करने होते हैं।

(१) (पूजा) श्रेष्ठोंका सत्कार,

(२) अपने अंदर (सगतिकरण) संगतिकरण किंवा सघटन

(३) और (दान) दुर्बलोंकी सहायता।

प्रत्येक यज्ञमें ये तीन कार्य होने ही चाहिये। इनके विना यज्ञ सुफल और सफल नहीं होगा। मनका और आत्माका समर्पण करके जो यज्ञ करना है, वह भी इन तीन कर्मोंके साथ ही है। *मानो, इनके विना यज्ञ ही नहीं होगा।* अर्थात्–(१) सज्जनोंकी रक्षा करके उनका सत्कार करना, (२) दुर्जनोंको दण्ड देकर दूर करना और पुन. दुर्जन कष्ट न देवें इसलिये अपनी उत्तम सघटना करना, और (३) धर्मकी *व्यवस्था करके जो दुर्बल हों उनकी योग्य सहायता करना,* यह त्रिविध यज्ञकर्म है।

यह त्रिविध कर्म अपने मन समर्पण और आत्मसमर्पण द्वारा करना चाहिये। यहां पाठक जानते हैं कि, जिस कार्यमें मन और आत्मा लग जाता है वही कार्य ठीक हो जाता है। अपने हस्तपादादि अवयव और इंद्रिय मनके विना कार्य नहीं कर सकते। मन और आत्माके समर्पण करनेका उपदेश करनेसे अपनी शक्तियोंका समर्पण हुआ, ऐसा ही मानना चाहिये। इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

अमर्त्येन मनसा हविषा देवान् अजयन्त। (मं. ३)

'अमर मन रूपी हविसे देवोंका यजन करते हैं।' घीका हवन करनेका अर्थ घी उस देवताके लिये समर्पित करना और उसका स्वयं उपभोग न करना। '**इन्द्राय इदं हविः दत्तं न मम।**' *इन्द्र देवताके लिये यह घृतादि हवि समर्पित किया है* इस पर अब मेरा अधिकार नहीं है और न मैं इसका अपने सुखके लिये उपयोग करूंगा। इसी प्रकार अपने मन और आत्माके समर्पण करनेका तात्पर्य ही यज्ञ है। अपना मन और आत्मा परमेश्वरके लिये दिया, उससे अब खुदगर्जीके *कार्य नहीं किये जावेंगे। जो पूर्वोक्त ईश्वरके कार्य हैं, वेही किये जावेंगे।* जिस प्रकार घृतादि पदार्थ यज्ञमें दिये जाते हैं, उसी प्रकार इस मानस-यज्ञमें मनका समर्पण किया जाता है और आत्मयज्ञमें आत्मसर्वस्वका समर्पण किया जाता है। *अन्य घृतादि बाह्य* पदार्थोंका समर्पण करने द्वारा जो यज्ञ किया जाता है, उससे कई गुणा श्रेष्ठ वह यज्ञ होगा कि, जो आत्मसमर्पण और मानस समर्पणसे होगा। इसीलिये कहा है कि—

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। (मं. १)

'*ये मानस यज्ञरूप कर्म प्रथम श्रेणीके हैं।*' अर्थात् ये सबसे श्रेष्ठ कर्तव्य हैं। एक मनुष्य घृत, समिधा आदिके हवनसे यज्ञ करता है और दूसरा आत्मसमर्पणसे यज्ञ करता है, इन दोनोंमें आत्मसमर्पण करनेवाला ही श्रेष्ठ है। इसका वर्णन इस सूक्तमें इन शब्दोंसे हुआ है—

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे॥ (मं. ४)

'याजक लोग जो यज्ञ (अपने अंदरके प्रकृति पुरुषोंमेंसे) *पुरुष अर्थात् आत्माके समर्पण* द्वारा किया करते हैं, उससे कौनसा दूसरा यज्ञ श्रेष्ठ है, जो दूसरे यज्ञ (आत्मासे भिन्न) प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे किये जाते हैं? वे तो उससे निःसन्देह गौण हैं। मनुष्यके पास प्रकृति और पुरुष, जड और चेतन, देह और आत्मा ये दोही पदार्थ हैं, इनमें पुरुष अथवा चेतन आत्मा श्रेष्ठ और प्रकृति गौण है। *अन्य यज्ञ* प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे होते हैं इस लिये वे गौण हैं, और यह मानसिक अथवा आत्मिक यज्ञ आत्मसमर्पण द्वारा होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। *श्रेष्ठ यज्ञ* तो ज्ञानी याजक ही कर सकते हैं, साधारण हीन अवस्थामें रहे मूढ मनुष्य जो करते हैं, वह तो एक निन्दनीय ही कर्म होता है, देखिये—

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरंगैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ (मं. ५)

'मूढ याजक कुत्तेके अंगोंसे और गौवोंके अवयवोंसे यजन करते हैं।' मूढ लोगोंके इस कृत्यको मूढताका ही फल कहा जाता है। इससे कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं बन सकते। '*जो श्रेष्ठ याजक इस आत्मयज्ञको मनसे करनेकी विधि जानते हैं,* वे ही यहां आकर उस यज्ञका उपदेश करें।' पूर्वोक्त मांसयज्ञकी अपेक्षा यह मानस यज्ञ बहुत श्रेष्ठ है। जो मानसयज्ञ करना जानते हैं वेही उपदेश करनेके अधिकारी हैं। इस मानसयज्ञकी महिमा देखिये—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ (मं. १)

'इस आत्मयज्ञसे याजक परमात्माकी पूजा करते हैं। *आत्मयज्ञद्वारा परमात्मपूजा करना श्रेष्ठ कार्य है।* ये याजक श्रेष्ठ होकर उस स्वर्गधाममें पहुंचते हैं कि, जहां पहिले साधन करनेवाले पहुंच चुके हैं।' इस प्रकार इस आत्मयज्ञकी महिमा है। किसी दूसरे गौण यज्ञसे यह श्रेष्ठ फल प्राप्त नहीं हो सकता। यह आत्मयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ है, इस विषयमें मंत्र देखिये—

यज्ञो बभूव, स आबभूव, स प्रजज्ञे, स उ वावृधे पुनः। स देवानामधिपतिर्बभूव, सोऽस्मासु द्रविणमादधातु ॥ (मं. २)

' यह आत्मयज्ञ प्रकट हुआ, यह आत्मयज्ञ सर्वत्र फैल गया, उसके महत्त्वको सबने जान लिया, इस कारण वह बढ गया, यहांतक बढ गया कि वह देवोंका भी अधिपति बन गया, उससे हमें महत्त्व प्राप्त होवे। '

यह सबसे श्रेष्ठ आत्मयज्ञ ही हमारा महत्त्व बढानेमें समर्थ है। इसकी तुलना किसी दूसरे गौण यज्ञसे नहीं हो सकती। इस यज्ञमें (**मनसा हविषा यजन्त** । (मं० ३)

मनरूप हविका समर्पण करना होता है। और इस यज्ञके करनेसे–

तत्र परमे व्योमन् मदेम । (मं० ३)

' उस परम आकाशमें हम आनन्दको प्राप्त होंगे। ' यह इस यज्ञके करनेका फल है। इसमें ' परम ' शब्द विशेष मनन करने योग्य है। ' पर, परतर, परतम ' ये शब्द एकसे एक श्रेष्ठत्वके दर्शक हैं, इनमेंसे ' परतम ' शब्दका ही संक्षिप्त रूप ' पर-म ' है, बीचके ' त ' कारका लोप हुआ। अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ होता है वह ' परतम किंवा परम ' है। इस अवस्थाके पूर्वकी दो अवस्थाएं पर और परतर इन दो शब्दों द्वारा बनायी जाती हैं। अर्थात् व्योम तीन प्रकारके हैं (१) **एक पर व्योम, (२) दूसरा परतर व्योम** और (३) तीसरा परतम किंवा **परम व्योम**। आधुनिक परिभाषामें यदि यही भाव बोलना हो तो ' सूक्ष्म, कारण और महाकारण ' अवस्था इन तीन शब्दोंसे ' पर, परतर और परतम व्योम ' इनका भाव व्यक्त होता है। ' व्योमन् ' शब्द भी विशेष महत्त्वका है। इसमें ' वि+ओम्+अन् ' ये तीन शब्द हैं, इनका क्रमपूर्वक अर्थ ' प्रकृति+परमात्मा और जीवात्मा यह है। सूक्ष्म, कारण और महाकारण अवस्थाओंमें प्रकृति जीव और परमात्माका जो अनुभव होता है वह इन तीन शब्दोंसे व्यक्त होता है। इन तीन अनुभवोंमें सबसे श्रेष्ठ अनुभव ' परम व्योम ' शब्दसे व्यक्त होता है। और यह इस सूक्तमें कहे आत्मयज्ञके करनेसे प्राप्त होता है। अन्य गौण यज्ञोंके करनेसे जो अनुभव मिलेंगे वे इससे न्यून श्रेणीके अर्थात् गौण होंगे क्योंकि, वे अन्य यज्ञ भी इस आत्मयज्ञसे गौण ही हैं। गौणका फल गौण और श्रेष्ठ कर्मका फल श्रेष्ठ होना स्वाभाविक ही है। इस आत्मयज्ञके करनेसे जो परम व्योममें उच्चतम अवस्था प्राप्त होकर फल अनुभवमें आता है। वह कैसा अनुभव हो इस विषयमें एक दृष्टांत देते हैं—

सूर्यस्य उदितौ तत् पश्येम । (मं. ३)

' सूर्यके उदय होनेपर जैसे उसका प्रकाश दिखाई देता है, उसी प्रकार हम उस आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव लेंगे। अर्थात् जैसे सूर्यप्रकाश भूमिपर रहनेवालोंको दिनमें प्रत्यक्ष होता है, उस प्रकार इस तृतीय व्योममें संचार करनेवाले श्रेष्ठ आत्माओंको वहांका सुख प्रत्यक्ष होता है। जैसे यहांका यह सूर्य प्रत्यक्ष है उसी प्रकार वहां भी एक इस सूर्यका सूर्य होगा और वह वहां ही प्रत्यक्ष होगा।

इस प्रकार आत्मयज्ञका फल इस सूक्तमें कहा है। इस सूक्तमें (**मनसा हविषा** । मं० ३) मन रूपी हविसे यज्ञ करनेका विधान है। जिस प्रकार ' सोम ' का हवन होनेसे ' सोमयाग ' कहा जाता है, अज संज्ञक बीजोंका हवन होनेसे ' अजमेध ' कहा जाता है, उसी प्रकार ' पुरुष ' अर्थात् आत्माका समर्पण होनेसे ' पुरुषयज्ञ, आत्मयज्ञ ' तथा ' मन ' का हवन होनेसे ' मानस यज्ञ ' कहा जाता है। उसी प्रकार भगवद्गीता (भ० गी० अ० ४) में ' द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, इंद्रिययज्ञ, विषययज्ञ, कर्मयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणयज्ञ ' इत्यादि यज्ञ कहे हैं। जिस यज्ञमें जिसका समर्पण होता है वह नाम उस यज्ञका होता है।

' पुरुष ' रूपी हविका समर्पण होनेसे इस सूक्तमें वर्णित यज्ञको ' पुरुषयज्ञ ' कहते हैं। यहां प्रकृतिपुरुषान्तर्गत पुरुष शब्द यहां विवक्षित है और वह आत्माका वाचक है। इस सूक्तमें ' पुरुषयज्ञ ' अथवा ' पुरुषमेध ' का अर्थ स्पष्ट हुआ है। यह इस स्पष्टीकरणसे विशेष लाभ हुआ है और इसीलिये इस सूक्तका थोडासा अधिक स्पष्टीकरण यहां किया है।

पुरुषमेध।

पुरुषमेध प्रकरण पुरुषसूक्तमें है। यह पुरुष सूक्त ऋग्वेद (म. १०।९०) में है, वा. यजुर्वेद (अ. ३०) में है। सामवेदमें थोडा है और अथर्ववेद (कां. १९।६) में है।

इस पुरुषसूक्तमें जिस पुरुषमेध यज्ञका वर्णन है, वही यज्ञ इस सूक्तमें कहा है। इस लिये इस सूक्तका विचार ठीक प्रकार होनेसे ' पुरुषसूक्त ' के यज्ञका स्वरूप उत्तम प्रकार ध्यानमें आ सकता है। दोनों सूक्तोंमें एक ही विषयका वर्णन हुआ है। तथा इस सूक्तमें आये ' यज्ञेन यज्ञमयजन्त० ' तथा ' यत्पुरुषेण हविषा० ' ये मंत्र भी पुरुष सूक्तमें आगये। इससे दोनों सूक्तोंका विषय एक ही है, यह बात सिद्ध होगी। पुरुष सूक्तमें कई लोग मनुष्य हवनका विषय है ऐसा मानते हैं, वह अत्यंत अयुक्त है, यह बात इस सूक्तके साथ पुरुषसूक्तका मनन करनेसे स्पष्ट होगी। हमारे मतसे पुरुषसूक्तमें भी इसी आत्मयज्ञका ही विषय है।

आत्मोन्नतिकी विद्या ।

(कां. ५, सू. १)

(ऋषिः — बृहद्दिवोऽथर्वा । देवता — वरुणः ।)

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आ बभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा ।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि ॥ १ ॥
आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ २ ॥
यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः ।
अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (**य अमृत+असुः सुजन्मा**) जो वस्तुतः अमर प्राण शक्तिसे युक्त है, तथापि उत्तम जन्म लेकर (**वर्धमानः**) बढता है और (**ऋधक्+मन्त्रः**) सत्यका मनन करता हुआ (**योनिं आ बभूव**) मूल उत्पत्ति स्थानको प्राप्त होता है, वह (**अदब्ध+असुः**) न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त होकर (**अहा इव भ्राजमानः**) दिनके समान प्रकाशता हुआ (**त्रितः धर्ता त्रीणि दाधार**) रक्षक और धारक होकर तीनोंका धारण करता है ॥ १ ॥

(**यः प्रथमः धर्माणि आससाद**) जो पहिला होकर धर्मोंको प्राप्त करता है, (**ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे**) उससे वह बहुत शारीरिक शक्तियोंको धारण करता है । और (**यः अनुदितां वाचं आचिकेत**) जो अप्रकट वाणीको जानता है । (**धास्युः प्रथमः योनिं आविवेश**) धारण करनेवाला पहिला होकर मूल उत्पत्ति स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

(**यः ते शोकाय तन्वं अनुरिरेच**) जिसने तेरे प्रकाशके लिये शरीर साथ साथ छोड दिया है, इसलिये कि उससे (**स्वाः शुचयः हिरण्यं क्षरत्**) अपना शुद्ध दीप्तियां सुवर्णके समान फैलें । (**अत्र अमृतानि नाम दधेते**) यहां अमर नामोंको वे धारण करते हैं । अतः (**विशः अस्मे वस्त्राणि आ ईरयन्ताम्**) प्रजाएं इसके लिये वस्त्र प्रेरित करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, तथापि जन्म लेकर अपनी शक्तिकी वृद्धि करता है और सत्यका पालन करता हुआ अपने मूलस्थानको प्राप्त करता है, इससे अदम्य आत्मिक शक्तिसे युक्त होकर दिनके समान प्रकाशता हुआ रक्षण-शक्ति और धारण-शक्तिसे युक्त होकर अपनी तीनों अवस्थाओंको स्वाधीन करता है ॥ १ ॥

जो अन्य मनुष्योंसे श्रेष्ठ बनकर विशेष धर्म नियमोंका पालन करता है, इस अनुष्ठानसे वह आश्चर्यकारक शक्तियोंका प्रकाश करता है । पश्चात् वह गूढ वाणीको जानता है जिससे वह धारण शक्तिसे युक्त और प्रथम स्थानके लिये योग्य बनकर अपने मूल स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

जिस प्रभुने मनुष्यके अन्त प्रकाशको चारों ओर फैलानेके लिये उसको अनुकूल शरीर दिये हैं, जिससे वह शुद्ध सुवर्णके समान अपना प्रकाश चारों ओर फैलाता है, वहींपर सब अमृत दशा बतानेवाले नाम सार्थ होते हैं और इसीलिये सब प्रजाएं उसके लिये ही अपने आच्छादक वस्त्र अर्पण करें और स्वयं पर्दा हटाकर उसके सन्मुख खडे हों ॥ ३ ॥

प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम् ।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम् ॥ ४ ॥
तदू षु ते महत् पृथुज्मन् नमः कविः काव्येना कृणोमि ।
यत् सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते ॥ ५ ॥
सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ६ ॥
उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्वस्तत् सुमद्गुः ।
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत् सचते हविर्दाः ॥ ७ ॥

अर्थ— (यत् एते) जो ये (सदः सदः आतिष्ठन्तः) प्रत्येक धर्म सभामें बैठते हुए (अजुर्यं प्रतरं पूर्व्यं प्र गुः) जरा रहित प्राचीन और सबसे पूर्व आत्माको प्राप्त करते हैं। (कविः शुषस्य मातरौ) कवि होकर बलकी मान्यता करनेवाली तथा (जाम्यै धुर्यं पतिं रिहाणे) बहिनके लिये धुरीण पालकका वर्णन करनेवालीके समान (आ ईरयेथां) प्रेरणा करती हैं ॥ ४ ॥

हे (पृथु-ज्मन्) हे विशेष गति देनेवाले ईश्वर ! (तत् उ) इसीलिये (कविः) मैं कवि अपने (काव्येन) काव्यके द्वारा (ते सु महत् नमः कृणोमि) तुझे बहुत नमस्कार करता हूं। (यत् सम्यञ्चौ अभियन्तौ मही रोध-चक्रे) क्योंकि मिले हुए गतिमान् बडे प्रतिरोधक गतिवाले चक्रोंके समान (अत्र क्षां अभि वावृधेते) यहां पृथ्वीपर दोनों बढते हैं ॥५॥

(कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः) ज्ञानी जनोंने सात मर्यादायें निश्चित की हैं, (तासां एकां इत् अभिगात्) उनमेंसे एकका भी उल्लंघन किया तो मनुष्य (अंहुरः) पापी होता है। जो निष्पापी (आयोः स्कंभः ह) आयुका आधार स्तंभ होकर (उपमस्य नीडे) समीपवाले स्थानमें जहां (पथां वि-सर्गे) मार्गोंका फैलाव नहीं है, ऐसे (धरुणेषु तस्थौ) ध्रुव स्थानोंमें रहता है ॥ ६ ॥

(व्रतः कृण्वन् अमृत- असुः एमि) व्रतरूप बनकर कर्मोंको करता हुआ और अमर प्राणशक्तिसे युक्त होकर मैं चलता हू। (तत् आत्मा असुः तन्वः सुमद्गुः) इससे आत्मा, प्राण और शरीर उत्तम गुणवान् होते हैं। (उत वा शक्रः रत्नं दधाति) और समर्थ बनकर रत्नादि धन धारण करता है। (वा यत् हविर्दाः ऊर्जया सचते) किंवा हवन करनेवाला बलसे युक्त होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य प्रत्येक धर्म कृत्यमें आदरसे भाग लेते हैं, और उसमें अजर अमर पुराण पुरुषका आदर करते हैं। वे अतीन्द्रियार्थ दर्शी और बलके प्रेमी बनकर अपनी बहिनके पतिका आदर करनेके समान आदर भावसे सबके साथ व्यवहार करते हैं ॥ ४ ॥

हे सबके संचालक ईश्वर ! उक्त हेतुसे ही मैं कविकी दृष्टिसे अपनी काव्यमय वाणीके द्वारा तेरा महान् यश गाता हुआ तेरे सन्मुख अत्यंत नम्र होता हूं। विरुद्ध गतिवाले दो चक्र यदि एकही कार्यके लिये एक केन्द्रमें मिलकर कार्य करने लगें, तो बडी शक्ति उत्पन्न होती है। [यहां जड चेतन ये विरुद्ध गुण धर्मवाले दो पदार्थ तेरे सन्मुख झुक जाते हैं और इस नम्रतासे शक्तिशाली बनते हैं यह तात्पर्य है] ॥ ५ ॥

ज्ञानी लोगोंने सात मर्यादायें मनुष्य व्यवहारके लिये निश्चित की हैं, उनमेंसे एकका भी उल्लंघन हुआ तो मनुष्य पापी होता है। परंतु जो निष्पाप रहना चाहता है, वह अपने जीवनका आधार स्तंभ जैसा बनकर अपने समीपस्थित केन्द्रमें, जहां कि विविध मार्ग फैले नहीं होते, ऐसे एकीभूत आधार स्थानमें अचल होकर रहता है ॥ ६ ॥

स्वयं व्रतरूप बनकर अमृतमय जीवन रससे युक्त होता हुआ मैं विचरता हूं, इससे आत्मा, प्राण और तीनों शरीरोंमें विविध शक्तियां बढती हैं। और समर्थ होनेसे उत्तम रमणीयता भी प्राप्त होती है। इस प्रकार जो आत्मसमर्पण करते हैं वे बलवान् बनते हैं ॥ ७ ॥

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये ।
दर्शन् नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥ ८ ॥
अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर ।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमादित्या इषिरम् ॥
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥ ९ ॥

अर्थ— (पुत्रः क्षत्रं पितरं ईडे) पुत्र अपने दुःखसे रक्षण करनेवाले पिताकी सहायता चाहता है। (उत मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्) और मर्यादा स्थापन करनेवाले श्रेष्ठको कल्याणके लिये पुकारते हैं। (या ते वि-स्था ता नु दर्शयन्) जो तेरे विशेष स्थान हैं उनको दर्शाता हुआ, हे (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो ! (आवर्व्रततः वपूंषि कृणवः) आपही वारवार भ्रमण करनेवालेके शरीरोंको करते हैं ॥ ८ ॥

हे (अ-मूर) अमूढ अर्थात् ज्ञानवान् ! (पयसा अर्धेन अर्धं पृणक्षि) तू पोषक रससे आधेस ही आधे की पूर्णता करता है। और (अर्धेन शुष्म वर्धसे) आधेस बल बढाता है। (अविं शग्मियं) रक्षक और समर्थ (सखायं वरुणं) मित्र और श्रेष्ठ (आदित्या इषिरं पुत्रं) अदीनताको बढानेवाला और नरकसे बचाने वालेको (वृधाम) बढाते हैं। (सत्य-वाचा रोदसी) सत्यवचनी द्यावापृथिवी (अस्मै कविशस्तानी वपूंषि अवोचाम) इसके कवियों द्वारा प्रशंसित शक्तियोंको वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— पिता अपनी रक्षा करता है इसलिये हरएक पुत्र पितासे सहायता प्राप्त करना चाहता है। इसी प्रकार मर्यादाका आदेश देनेवाले श्रेष्ठ गुरुजनोंको भी मनुष्य पुकारते हैं। इन दोनों कारणोंके लिये सर्वश्रेष्ठ प्रभुकी प्रार्थना करते हैं क्योंकि वह अपने श्रेष्ठ स्थानोंको बताता है और वारवार शरीर देकर रक्षा भी करता है ॥ ८ ॥

हे सर्वज्ञ प्रभो ! तू पोषक रससे हमारे आधे भागको पूर्ण करता है और आधे भागका बल भी तू ही बढाता है। तू रक्षक, समर्थ, मित्र, श्रेष्ठ, अदीनताको बढानेवाला, नरकसे बचानेवाला है, इसलिये तेरा माहात्म्य हम गाते हैं। सत्यवचन कहनेवाले इसीके प्रशंसनीय शक्तियोंके गुणोंका गान करते हैं ॥ ९ ॥

आत्मोन्नतिकी विद्या।

आत्मोन्नतिका मार्ग।

आत्माकी शक्ति जिस मार्गसे चलनेसे बढ सकती है उसको आत्मोन्नतिका मार्ग कहते हैं। इस मार्गका उपदेश इस सूक्तमें किया है, इसलिये साधक लोगोंकी दृष्टिसे इस सूक्तका महत्व बहुत है। भाषाकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह सूक्त बडाही क्लिष्टसा है, अर्थात् इसकी भाषासे शीघ्र बोध नहीं होता, तथापि विचार करनेपर और पूर्वापर संगति देखनेसे जो बोध मिलता है, वह यहां देते हैं—

आत्माकी उन्नति।

(१) अमृतासुः— (अ-मृत-असु) यह जीवात्मा अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, अर्थात् यह अमर है, कभी मरनेवाला नहीं है। 'अज' और 'अमर' ये दो इसके नाम ही हैं। इन नामोंसे यह 'अजन्मा और न मरनेवाला' है, यह बात सिद्ध होती है। यद्यपि यह वस्तुतः न मरनेवाला और न जन्मनेवाला है, तथापि वह शरीरके जन्मके साथ जन्म लेता है और शरीरके मरनेसे मरता है, ऐसा माना जाता है। इसका वर्णन 'अजायमानो बहुधा विजायते। (य. ३१।१९)' न जन्म लेनेवाला बहुत प्रकार जन्म लेता है अर्थात् यह अजन्मा आत्मा स्वयं अमर प्राणशक्तिसे युक्त है तथापि जन्ममरणकी अवस्थाका अनुभव लेता है। इस मन्त्रमें भी 'अमृतासुः सुजन्मा' अमर जीवन शक्तिसे युक्त होता हुआ भी जन्म लेनेवाला, ऐसा इसका वर्णन किया है, इसका हेतु यही है। (मं. १)

(२) सु-जन्मा— उत्तम जन्म लेनेवाला। जन्म लेकर उत्तम कार्य करनेवाला। जिसने अपने जन्मको सार्थक किया है। यह आत्मा वस्तुतः अमर और अजन्मा है तथापि यह शरीरके साथ जन्म लेता है, यहां आकर परम पुरुषार्थ करता है और अपने अमरत्वको प्राप्त करता है। (म. १)

(३) वर्धमान.— बढनेवाला। पूर्वोक्त प्रकार परम पुरुषार्थ करता हुआ यह अपनी शक्ति विकसित करता है, अर्थात् नरजन्म प्राप्त करके आत्मोन्नतिके मार्गसे चलकर अपनी अमर और अजर शक्तिकी वृद्धि करता है। (म. १)

(४) ऋधङ्+मन्त्र — सत्यका मत्र अपनेवाला। अर्थात् सत्यका पालन करनेवाला, सत्यका मनन अथवा विचार करनेवाला, जब यह होता है, तभी इसकी उन्नति होने लगती है। (म. १)

(५) अदब्ध+असु — न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त, यह अदम्य बलसे सपन्न है। पूर्वोक्त प्रकार सत्यका निष्ठासे पालन करनेसे उसका आत्मिक बल बढ जाता है और आत्मिक बलसे ही उसको अपनी अजर अमर और अदम्य आत्मशक्तिका अनुभव होता है। (म. १)

(६) भ्राजमान.— प्रकाशनेवाला। इस समय यह अपने तेजसे चमकता है। सत्यनिष्ठा और आत्मिक बलके कारण मनुष्यका तेज बढ जाता है। (म. १)

(७) योनिं आ-बभूव— अपने मूल उत्पत्तिस्थानको प्राप्त होता है। परिघके पास न जाते हुए मध्य केन्द्रमें पहुचता है। चक्रके परिघमें गति अधिक और केन्द्रमें गति नहीं होती है। इसलिये परिघमें अशान्ति होती है और केन्द्रमें शान्ति रहती है। अत योगीजन केन्द्रस्थानमें स्थित परमात्मामें प्राप्त होकर शान्ति कमाते हैं और अन्य जन परिघमें आकर महागतिके वेगसे चक्कर खाते रहते हैं। पूर्वोक्त प्रकारका मुमुक्षु जीव मध्य केन्द्र स्थानमें आता है और शान्तिका अनुभव करता है।

इस प्रकार यह (त्रित) रक्षक और (धर्ता) धारक होता है अर्थात् दूसरोंका रक्षण और धारण करता है और (त्रीणि दाधार) अपनी स्थूल सूक्ष्म और कारण अवस्थाओंका धारण करता है, अर्थात् इन अवस्थाओंको अपने वशमें करता है। इस प्रथम मत्रका इस प्रकार मनन करनेसे निम्नलिखित बोध प्राप्त होता है—

प्रथम मंत्रसे बोध।

अदम्य आत्मशक्तिका तेज।

'मनुष्य अपने आत्माको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे, नरजन्म प्राप्त होनेके पश्चात् अपने जन्मको सार्थक करनेके लिये उत्तम प्रशस्त कर्म करे और अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे। सत्यका पालन करके अपनी आत्मिकशक्तिकी अदम्यताका अनुभव करके उत्तम प्रकार दिनके प्रकाशके समान प्रकाशित होता रहे। अन्तमें स्वय परमात्माके केन्द्रमें अपना स्थान स्थिर करके जनताका रक्षक और धारक बनकर अपने तीनों अवस्थाओंको अपने आधीन करे।' (म. १)

इस मत्रका तात्पर्य देखनेसे स्वय पता लगता है कि 'जनताका रक्षण और धारण करनेके बिना अर्थात् जनताके उद्धारके प्रयत्नमें आत्मसमर्पण करनेके बिना अपनी अदम्य आत्मशक्तिका विकास नहीं होगा और आत्मविकासकी अन्तिम भूमिका भी प्राप्त नहीं होगी।' अस्तु, अब द्वितीय मत्रका आशय देखिये—

(८) य प्रथमः धर्माणि आससाद— जो पहिला होकर धर्म नियमोंका पालन करता है। अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ बनकर धर्म नियमोंका पालन योग्य रीतिसे करता है और कभी धर्म नियमोंके पालनमें किसी प्रकारकी शिथिलता होने नहीं देता। (म. २)

(९) ततः पुरूणि वपूंषि कृणुषे— उससे विविध शारीरिक शक्तियोंको वह धारण करता है। 'वपु' का अर्थ शरीर अथवा शरीरकी शक्ति है। मनुष्यके शरीर स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन हैं और उनकी तीन शक्तियां हैं। पूर्वोक्त प्रकार धर्म नियमोंका पालन करनेसे मनुष्यकी इन शरीरोंकी शक्ति बढ जाती है, मानो, मनुष्य धर्मनियमोंके पालन द्वारा इन शरीरोंको विविध शक्तियोंसे ही बनाता या बढाता है। (म. २)

(१०) यः अनुदितां वाचं चिकेत— जो अप्रकट वाणीको जानता है, अर्थात् जो गुप्त वाणीके द्वारा प्रकट होनेवाला सदेश जानता है। जो वाणी मनुष्य बोलते हैं वह व्यक्त अथवा प्रकट किंवा 'उदित वाणी' है। यह व्यक्त वाणी अतिस्थूल है। इसको 'वैखरी' कहते हैं। इसके पूर्व 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा' ये तीन गुप्त, गुह्य, अव्यक्त अथवा अनुदित वाणियां हैं। प्रकट वाणीकी अपेक्षा इन गुप्त वाणियोंमें आत्माका प्रभाव अधिक भरा होता है जो प्रकट वाणीसे उतना व्यक्त नहीं होता। ज्ञानीजन इस अनुदित वाणीके सदेशोंको जानते हैं और उसको अपनाते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र इस प्रकार कहा है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

ऋ. १।१६४।४५ अथर्व. ९।१० (१५) २७

'वाणीके चार पद हैं, उनको विवेकी ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। उनमेंसे तीन हृदयमें गुप्त हैं और चतुर्थ वाणीको मनुष्य बोलते हैं।' इस मंत्रके कथनके साथ इस मंत्रका विचार करना चाहिये। इसमें जो 'अनुदितो वाचं' [अप्रकट गुप्त वाणी] को देखनेकी बात कही है, वह वाणी (गुहानिहिता) हृदयकी गुहामें गुप्त है। ब्रह्मज्ञानी ही उसको जानता है। अर्थात् जो इस गुप्तवाणीको जानता है, उसकी विशेष योग्यता होती है।

(११) प्रथमः धासु योनिं आविवेश— पहिला धारणशक्तिसे युक्त होकर मूल शक्तिस्थानमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी उन्नति करता है वह मूल केन्द्रस्थानमें प्रविष्ट होकर अप्रतिम शान्तिका अनुभव लेता है। [इस विषयमें प्रथम मन्त्रके प्रसंगमें विशेष कहा है, उसको यहां दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है।]

इस द्वितीय मंत्रमें जो उपदेश दिया है, उसका सारांश यह है—

द्वितीय मंत्रसे बोध।

गुह्यवाणीका गुप्त संदेश।

'मनुष्य पहिला बने, धार्मिक श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करे, अपने स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरोंकी शक्ति विकसित करे, गुप्त वाणीके गुप्त संदेशको जाने और मूल केन्द्र स्थानमें अपना स्थान स्थिर करके वहांका आनंद प्राप्त करे।' (मं. २)

पाठक प्रथम मंत्रके बोधके साथ इस बोधको मिलाकर आत्मोन्नतिके उपदेशको प्राप्त करें। अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं—

शरीर धारणका उद्देश्य।

(१२) ते शोकाय तन्वं रिरेच, स्वाः शुचयः हिरण्यं क्षरन्— तेरे प्रकाशके विस्तारके लिये तेरे साथ *शरीरका योग किया गया है, इससे तेरे अपने निज प्रकाश* किरण सुवर्णके समान तेजस्वी होकर फैलेंगे। जीवात्माके साथ जो शरीर मिले हैं उनका कारण जीवात्माके निज प्रकाशके किरण चारों ओर फैल जावें और जीवात्मा अधिक तेजस्वी बने। अर्थात् ये शरीर बंधनके लिये नहीं हैं, परंतु वृद्धिके लिये हैं। जो *मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न* करते हैं, उनके लिये ये शरीर सहायक होते हैं और जो लोग घृणित कर्मोंमें मग्न रहते हैं, उनके लिये येही शरीर बंधन कारक होते हैं। अतः मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने शरीरोंका यह उद्देश्य समझें और अपने शरीरोंसे ऐसे *उत्तम अनुष्ठान करें कि जिससे* उनके प्रकाश किरण उनके चारों ओर फैलकर सबको प्रकाशित करें, और स्वयं अपने आत्मको कृतकृत्य बनावें। शरीरका मुख्य उद्देश्य शारीरिक भोग विलास भोगना नहीं है, प्रत्युत आत्मिक बल बढाना है। यह बात इस मंत्र भागने सिद्ध की है। (मं. ३)

(१३) अत्र अमृतानि नाम दधेते— यहां इस देहमें *बहुतसे अमृत नाम धारण किये गये हैं। अर्थात् यहां बहुत* ही अमृत रखे हैं। मनुष्योंको उचित है कि वे इस शरीररूपी क्षेत्रमें इन अमृतोंको प्राप्त करनेका अनुष्ठान करें। इसी शरीरमें अमृत आत्म-शक्तियोंका अनुभव करके बहुत लोग सन्त महन्त बनकर मुक्ति धामको प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार यह शरीर अमृत *प्राप्तिका सहायक है। अपने शरीरको ऐसा मानकर मनुष्य* इसका उत्तम उपयोग करे और अमर बने। यदि इस शरीरमें अनेक अमृत हैं, तो इस शरीरका स्वामी जीवात्मा इन अमृतोंका सच्चा स्वामी है। परंतु इसकी अवस्था अपने ही अज्ञानके कारण ऐसी हुई है कि यह अमृतोंका स्वामी होता हुआ भी मृत्युसे डर रहा है। *जैसा कोई अज्ञानी पुरुष अपने ही भूमिगत धनको* न जाननेके कारण अपने आपको निर्धन मानकर दुःख करता है, इसी प्रकार इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें जो अनेक अमृत हैं, उसको प्राप्त करनेका अनुष्ठान न करनेके कारण यह (अमृतत्वस्य ईशानः। ऋ. १०।९०।२) अमरत्वका स्वामी होने-पर *भी मरणसे डरता है!!* इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने अमरत्वका अनुभव करनेके धर्माचरण करे और अपनी उन्नतिका साधन करे ॥ (मं ३)

(१४) विशः वस्त्राणि परयन्तां— प्रजाएं वस्त्रोंको गति दें। अथवा मनुष्य अपने वस्त्रोंको प्रेरित करें। मनुष्य अपने आच्छादनोंको दूर फेंक दें और अपने शुद्ध रूपमें खडे हो जावें। मनुष्य अपनेको कपडोंसे ढांप देते हैं और अपनी असलियतको छिपा देते हैं। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपने आपको आच्छादनके अन्दर न छिपावें, परन्तु सत्यनिष्ठासे अपनी वास्तविक स्थितिको बतावें और उसको प्रकाशित करें। जिससे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। *जोंगसे मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता, वह दूसरेको* केवल भ्रममें ही डाल सकेगा, परन्तु अपने आपको भ्रममें नहीं डाल सकता। इसलिये आच्छादन रहित अपने शुद्ध स्वरूपका निरीक्षण करके अपनी उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना चाहिये—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। य. ४०।१५

' सुवर्णके ढक्कनसे सत्यका मुख छिपा हुआ है, सत्य देखनेके लिये उस आच्छादनको दूर कर।' यह उपदेश और इस मंत्रका ' अपने आच्छादनके वस्त्रोंको दूर फेंको ' ये दोनों उपदेश एकही भाव बता रहे हैं।

तृतीय मंत्रका भाव।

अपने अन्दरके अमृत।

' अपने निज तेजके किरण चारों ओर फैल जांय, इसलिये जिसने उत्तम शरीर दिया है, और इसमें अनेक अमृतमय यश जिसकी कृपासे धारण किये जाते हैं, उसके सन्मुख अपने आच्छादन दूर फेंककर शुद्ध रूपमें खडे हो जाओ॥ ३॥

इस तृतीय मत्रके उत्तम बोधका मनन करते हुए हम अब चतुर्थ मंत्रका विचार करते हैं—

(१५) **सदः सदः आतिष्ठन्तः अजुर्यं पूर्व्यं प्रतरं प्रगुः**— हरएक धर्म विचारकी यज्ञशालामें बैठनेवाले लोग अजर पुरातन और सर्वोत्कृष्ट आत्माको प्राप्त करते हैं। जिसको प्राप्त करना है वह (**अजुर्य**) जरा रहित, (**पूर्व्य**) सबसे प्राचीन पुरातन तथा और (**प्रतरं**) सबसे अत्यंत उत्कृष्ट है। इसीलिये उसको प्राप्त करना चाहिये। उसके प्राप्त होनेसे हम जरा रहित, पूर्ण और उत्कृष्ट हो सकते हैं। यही अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबके प्रयत्न होने चाहिये। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम ऐसी सभाओंमें जाना कि जहां धर्मका विचार होता है और यज्ञ किया जाता है। ऐसे सज्जनोंकी संगतिमें रहनेसे शनैः शनैः मनपर शुभ संस्कार होते हैं और मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ उन्नत होता है। '**उप+नि+षद्**' नाम ब्रह्मविद्याका है, इस शब्दमें ' **उप+नि** ' ये उपसर्ग हटाये जाय, तो शेष ' **सद्** ' शब्द रहता है, वही यहांका ' **सद्** ' शब्द है। ब्रह्मप्राप्तिका उपाय चिंतन करनेवाले लोग जहां शांतिसे बैठते हैं उस सभाका नाम ' सद ' अथवा ' उपनिषद् ' है। (**अजुर्य**) अजर (**पूर्व्य**) प्राचीन और (**प्रतरं**) उत्कृष्ट आत्माके (**उप**) पास (**नि**) निकट (**सद्**) बैठना, यह इस शब्दका भाव है। इससे आत्म प्राप्तिके अनुष्ठानका मार्ग ध्यानमें आसकता है।

(१६) **कविः शुचस्य मातरा, जाया भुर्य पतिं रिहाणे, परयेथां**— अतीन्द्रियार्थदर्शी और बलकी मान्यता करनेवाले होकर बहिनके हितके लिये उसके धुरीण पतिकी प्रशंसा करनेके समान, सबके साथ व्यवहार करते हैं। बहिनके पतिका विशेष आदर करते हैं, बहिनके घर उसका पति आया तो सब उसका सन्मान करते हैं। क्योंकि उसका अपमान किया जाय, तो बहिनको ही कष्ट होंगे, यह विचार उनके मनमें रहता है। इतना आदरका विचार दूसरोंके साथ व्यवहार करनेके समय मनमें धारण करना चाहिये। घरमें आये दामादका जैसा आदर पूर्वक सन्मान करते हैं, उसी प्रकार आदर भावसे सबके साथ व्यवहार करना चाहिये। कईयोंको दूसरोंका अपमान करनेकी आदत होती है, इससे व्यर्थ द्वेषभाव बढ जाता है। इसलिये प्रेमका संवर्धन करनेवाला व्यवहार करना उचित है। मनुष्यको दूर दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये और बलका भी आदर करना चाहिये, परंतु उस बलका उपयोग दूसरोंके साथ प्रेम करनेमें करना चाहिये न कि दूसरोंको दबानेके कार्य करनेमें।

चतुर्थ मंत्रका भाव।

दूसरोंके साथ आदरका व्यवहार।

' धर्म सभाओंमें धर्मनिष्ठासे बैठनेवाले क्रमशः सर्वोत्तम, जरा रहित, पुराण पुरुषको प्राप्त होते हैं। वे दिव्य दृष्टिसे युक्त होकर और बलका महत्त्व जानते हुए दूसरोंके साथ ऐसा आदरका बर्ताव करते हैं जैसा बहिनके धुरीण प्रतिष्ठित पतिके साथ करते हैं॥ ४॥ '

इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका मनन करनेके पश्चात् पंचम मंत्रका विचार करते हैं—

(१७) **कविः काव्येन ते सु महत् नमः कृणोमि**— मैं कवि अपने काव्यसे तेरे लिये बहुत नमस्कार करता हूं। पहिले कवि बनना चाहिये, कवि बननेका अर्थ यह है कि स्थूल जगत्के परे जो सूक्ष्म शक्तियां कार्य कर रहीं हैं उनको प्रत्यक्ष करना। इस प्रकार जो मनुष्य कवि किंवा क्रान्तदर्शी होता है, वह अपने अनुभव प्रकट करता है उसका नाम काव्य है। यह काव्य उस सूक्ष्म शक्तिका शब्दचित्र होनेके कारण यह परमात्माका वर्णन करता है और यह एक प्रकारकी परमात्माकी पूजा ही है। इसमें परमात्माका गुणवर्णन, परमात्माकी भक्ति और पूजा होती है और परमात्माके विषयमें श्रद्धा भी प्रकट होती है, यही (**महत् नमनं**) बडा नमन है। वह बडा मनन करता है जो कवि होकर काव्यकी दृष्टिसे इस विश्वका निरीक्षण करता है, और स्थूलके अंदरकी सूक्ष्म शक्तिको देखता है। आत्मोन्नतिके लिये इस दृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है।

(मं. ५)

(१८) अत्र सम्यञ्चौ अभियन्तौ मही रोधचक्रे क्षां **अभिवावृधेते**— यहां साथ रहनेवाले और गतिमान दोनों बडे विरोधक चक्र भूमिके ऊपर सबको बढाते हैं। इस मंत्र-भागमें 'मिले हुए विरोधी दो चक्रोंका वर्णन' है। ये एक दूसरेके साथ मिले हुए विरोध चक्र कौनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये। स्थूल सूक्ष्म, जड चेतन, दृश्य अदृश्य, प्रकृति पुरुष ये नाम इन 'विरोध-चक्रों' के हैं। परस्पर भिन्न गुण धर्म धारण करनेवाले ये हैं, अर्थात् जडके गुण धर्म भिन्न हैं और चेतनके गुणधर्म भिन्न हैं। जड चेतन, प्रकृति पुरुष इनका परस्पर विरोध प्रसिद्ध है। ये जब परस्परके सहायक होते हैं, तब उन्नति होती है और परस्परके घातक हुए तो नाश होता है। इस मंत्रमें यह बात कही है कि ये दोनों चक्र **(सम्यञ्चौ)** मिलजुल कर परस्पर सहायक होकर रहें, तो **(अभिवावृधाते)** सब प्रकार वारंवार बढाते हैं, शक्तिका विकास करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यदि ये परस्पर विघातक होने लगे, तो शक्तिकी क्षीणता होती है। यहां अपने शरीरमें ही देखिये कि यहां स्थूल शरीर है और अन्दर सूक्ष्म शक्ति है। शरीरको संयम आदि सुनियमोंसे उत्तम अवस्थामें रखा जाय तो वह स्थूल शरीर सूक्ष्म शक्तियोंका सहायक, पोषक और संवर्धक होता है। इससे विपरीत शरीरको असंयम द्वारा व्यसनादिमें लगानेसे दोनों शक्तियोंका क्षय होता है। यहां अपने शरीरमें ही पाठक देखें कि यहां ये स्थूल सूक्ष्म दो रोधक चक्र कैसे हैं और ये परस्पर विरोधक होनेपर भी मिलजुल कर रहनेसे परस्पर सहायकारी कैसे हो सकते हैं और परस्पर घातक भी किस अनियमके कारण होते हैं। यह देखनेसे मन्त्रका उपदेश पाठकोंको प्रत्यक्ष हो जायगा। इन परस्पर विरोधक चक्रोंको एक कार्यमें लगाने और परस्परका सहायक बनाकर अपनी शक्तिका विकास करनेके कार्यमें प्रयुक्त करनेका उपदेश इस मंत्रमें किया है। इस प्रकार विरोधक शक्तियोंको एक कार्यमें परस्पर सहायक बनाकर अपनी शक्ति बढाना और काव्य दृष्टिसे स्थूलमें सूक्ष्मको अनुभव करके उसके सन्मुख भक्तिसे नम्र होना, यह आत्मोन्नतिके लिये आवश्यक है। (मं. ५)

पञ्चम मंत्रका भाव।

विरोधक शक्तियोंकी एकतासे वृद्धि।

'मैं अपनी स्थूल शारीरिक शक्ति और सूक्ष्म आत्मशक्तिको एक सत्कार्यमें लगाकर, उनके परस्पर विरोधको दूर करके उनको परस्पर सहायक बना कर, दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंका पोषण करता हूं, इस प्रकार अतीन्द्रियार्थ दृष्टिसे स्थूलके अंदर सूक्ष्म शक्तिको देखकर अपने काव्यमें उस चालक अन्तःशक्तिके सम्मुख भक्तियुक्त अन्तःकरणसे नम्र होता हूं ॥ ५ ॥

इस पञ्चम मंत्रका मनन करनेके पश्चात् अब षष्ठ मंत्रका विचार करते हैं—

(१९) कवयः सप्त मर्यादाः ततक्षुः, तासां एकां **इत् अभि अगात्, अंहुरः**— ज्ञानी लोगोंने सात मर्यादाएं निश्चित की हैं, उनमेंसे एक मर्यादाका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। '(१) चोरी न करना, (२) व्यभिचार न करना, (३) ब्रह्महत्या न करना, (४) गर्भपात न करना, (५) सुरापान न करना, (६) वारंवार दुराचार न करना, (७ पाप होनेपर असत्य बोलकर उसको न छिपाना,' ये सात मर्यादाएं कवि लोगोंने निश्चित की हैं। इनमेंसे एक एक *मर्यादाका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी बनता है, फिर अधिक* मर्यादाओंका उल्लंघन हुआ तो उसके पापी होनेमें शंका ही क्या है! इन सात मर्यादाओंका विचार करनेसे पाठक जान सकते हैं कि सात पुण्य कर्म कौनसे और सात पाप कर्म कौनसे हैं। इन सात मर्यादाओंमें छठी और सातवीं मर्यादा बहुत महत्त्व पूर्ण है। मनुष्यके हाथसे किसी न किसी कारण पाप हुआ, तो वह यदि आगे बचनेका यत्न करेगा, तो बहुत हानीकी संभावना नहीं है। परंतु यदि वह वारंवार दण्ड मिलने या मना करनेपर भी वही कुकर्म फिर करने लगा, तो उसकी अवनतिकी सीमा नहीं रह सकती। इसलिये उन्नति चाहनेवाले लोगोंको उचित है कि वे अज्ञानसे एक बार दोषमय आचरण हुआ भी, तो उसको वारंवार न करें। और जो कुछ दुराचार अपनी असावधानीसे हो, तो उसको असत्य बोलकर छिपानेका भी यत्न न करें। क्योंकि ऐसा करनेसे वह कलंक बडा गहरा हो जाता है और इससे अधिक पाप होता जाता है। इसलिये दोष होनेपर सत्य बोलकर उसको यथार्थ रूपमें प्रकट करना ही उचित है। मनुष्यकी उन्नतिके लिये ये सात मर्यादाएं *अत्यंत सहायकारी हैं, इसलिये कोई मनुष्य किसी भी कारण* इनका उल्लंघन न करें। (मं. ६)

(२०) आयोः स्कंभः— आयुका आधार स्तंभ बन अर्थात् आयुका विघात करनेवाला न बन। उक्त सात मर्यादाओंका उल्लंघन करनेसे जीवनका घात होता है और मर्यादाओंका पालन करनेसे आयुका आधार दृढ होता है। मर्यादाओंका पालन करनेका तात्पर्य संयमसे रहना है। संयमसे जीवन व्यतीत करनेसे जीवनका आधार *शक्तिशाली होता है* और उत्तम दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। (मं. ६)

(१०) उपमस्य नीडे, पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ— जो उपमा देने योग्य है और सबके अत्यंत समीप है उस परमात्माके स्थानमें, तथा अनेक मार्गोंकी जहां समाप्ति होती है, ऐसे धारक केन्द्रोंमें रहता है। यहां तीन उपदेश हैं, (उपमस्य नीडे) उपमा देने योग्य वह परमात्मा है, (रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। ऋ ६।४७।१८) जगत्के प्रत्येक रूपके लिये वही आदर्श नमूना बना है इस प्रकारके वर्णन वेदमें आते हैं, इससे सिद्ध है कि वह परम आत्मा सबके लिये आदर्श हुआ है, उसके (नीडे) घोंसलेमें अपने लिये स्थान प्राप्त करना चाहिये। सदाचार आदि करनेसे ही उसके घोंसलेमें आरामसे रहनेके लिये स्थान मिल सकता है। वह स्थान और कैसा है, उसका वर्णन 'पथां विसर्गे' इन शब्दोंसे हुआ है। 'विसर्ग' का अर्थ है विरामका स्थान अथवा समाप्तिका स्थान, (पथां) संपूर्ण मार्गोंका (विसर्गः) वह विरामका अथवा समाप्तिका स्थान है। किंवा 'सर्ग' का अर्थ है 'उत्पत्ति', 'वि+सर्ग' का अर्थ होता है विगत सर्ग अर्थात् 'उत्पत्ति जहां नहीं है ऐसा स्थान'। जहां विविध मार्गोंका झंझट नहीं है, अथवा जहां विविध मार्ग एकरूप हो जाते हैं वह स्थान। ऐसे स्थानमें रहना चाहिये कि जिस स्थानमें रहनेसे विविध मार्गोंके ऊपरसे आक्रमण करनेका कष्ट उठाना न पडे। सभी मार्गोंसे गये हुए लोग जहां पहुंचते हैं, उस स्थानमें पहुंचना और वहां जाकर स्थिर रहना चाहिये।

षष्ठ मंत्रका भाव।

सात मर्यादाएं।

'ज्ञानी मनुष्योंने मनुष्य व्यवहारके लिये सात मर्यादाएं निश्चित की हैं। उनमेंसे एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे भी मनुष्य पापी होता है। परन्तु जो सातों मर्यादाओंका उल्लंघन न करता हुआ धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवनका आधारस्तंभ बनता है, वह सबके लिये उपमा देने योग्य परमात्माके स्थानमें, जहां अनेक मार्ग पहुंचते हैं, वहांके आधार स्थानमें स्थिर रहता है ॥ ६ ॥'

छठे मंत्रका मनन करनेके पश्चात् अब सप्तम मंत्र देखते हैं-

(१२) व्रतं कृण्वन् अमृतासुः एमि— व्रतरूप होकर विविध सत्कर्म करता हुआ अमर प्राण शक्तिसे युक्त होकर आगे बढता हूं। उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको योग्य है कि वह (व्रत) व्रतरूप बननेका तात्पर्य यह है कि व्रत पालन करना जिसका स्वभाव ही बना है। एक मनुष्य ऐसा होता है कि वह नियम करता है और उनके अनुकूल चलता है। और दूसरा ऐसा मनुष्य होता है कि जो स्वभावसे ही नियमके विरुद्ध नहीं जाता है। पहिला मनुष्य प्रयत्नसे नियम पालन करता है और दूसरा स्वभावसे ही पालन करता है। इस प्रकार नियम रूप जो बना है वह मनुष्य 'व्रत' शब्दसे यहां बताया है। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य स्वभावसे ही श्रेष्ठ सत्कर्मोंको करता है और (अ+मृत+असुः) अमर जीवन शक्तिसे संपन्न बनता है। स्वभावसे व्रत पालन करना, और स्वभावसे ही सत्कर्म करना यहां अभीष्ट है। पहिले जब प्रयत्नसे यह व्रत पालन और सत्कर्म करेगा, तब जाकर बहुत समयके पश्चात् इसका वह स्वभाव बनेगा। और स्वभाव बननेसे अमृत रूप बनेगा। यहां अमर बननेकी मुख्य बात कही है, यह पाठक न भूलें। इस समय मनुष्य स्वभावसे असत्य बोलता है, कुकर्म करता है, और नियम तोडता है, इस कारण इसका अधःपात होता है। परंतु जिस समय यह स्वभावसे सत्य बोलेगा और असत्यकी कल्पना तक इसके मनमें न उठेगी, इसी प्रकार अन्यान्य नियम पालन स्वभावसे ही होगा, तब इसका सब रुकावट दूर होगी और यह अमर बनेगा। (मं ७)

(१३) तत् आत्मा असुः तन्वः सुमृदुः— उक्त अनुष्ठानसे आत्मा प्राण और शरीर ये सब उत्तम गुणवान बनते हैं। अर्थात् आत्मा प्राण और शरीर शुभगुणोंसे और बलसे संपन्न होते हैं और वह मनुष्य विलक्षण कार्य सफल करनेमें समर्थ होता है। पूर्वोक्त अनुष्ठानसे यह लाभ होता है। (मं. ७)

(१४) शक्रः रत्नं दधाति— समर्थ होकर धनको धारण करता है। यह भी पूर्वोक्त अनुष्ठानका ही फल है। (मं. ७)

(१५) हविर्दाः ऊर्जया सचते— अपना हवि समर्पित करनेवाला बलसे संयुक्त होता है। तन मन धन यज्ञके लिये समर्पित करनेवाले मनुष्यकी शक्ति वृद्धिगत होती है, परोपकारसे अपना बल बढता है। (मं. ७)

सप्तम मंत्रका भाव।

'उत्तम व्रतोंका अनुष्ठान करना और परम पुरुषार्थ करना यह जिसका स्वभाव बना है, वह अदम्य अमर जीवन शक्तिसे युक्त होकर और आत्मिक, प्राणसंबंधी और शारीरिक शक्तियोंसे बलवान और पूर्ण समर्थ होता हुआ, आत्मशक्तियोंका परोपकारार्थ यज्ञ करके कृतकृत्य हो जाता है ॥ ७ ॥'

सप्तम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेके पश्चात् अब अष्टम मंत्रका विचार करते हैं—

(२६) पुत्रः क्षत्रं पितरं ईडे— पुत्र अपना दुःख निवारण करनेवाले पिताकी स्तुति करता है, सहायता चाहता है, अथवा उसकी कृपा चाहता है। (क्षत्+त्र) क्षत्र शब्दका अर्थ है दुःखसे बचानेवाला। पिता दुःखसे बचानेवाला है, इस कारण पुत्र पिताकी शरणमें आता है। इसी प्रकार मनुष्य इसी लिये परमात्माकी उपासना करते हैं कि वह सबके दुःखोंको दूर करता है। परमेश्वर इसी हेतुसे सबका परमपिता कहलाता है। (मं. ८)

(२७) मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्वयन्त— मर्यादाके पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषको प्रार्थना अपने कल्याणके लिये ही सब करते हैं। अर्थात् अपने कल्याणकी इच्छा हरएक मनुष्यमें है इसलिये वह श्रेष्ठ गुरुजनोंकी उपासना और ईश्वरकी पूजा करते हैं। (मं. ८) अर्थात् दुःखोंसे बचने और कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा हो, तो मनुष्यको परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये।

(२८) विस्थाः दर्शयन्— वह ईश्वर अपने (वि) विशेष (स्थाः) स्थान दिखाता है। जो मनुष्य उस परमात्माकी उपासना करते हैं उनको वह ईश्वर अपने विशेष आनंद प्राप्तिके स्थान देता है कि वहां ये जीवात्मा जायें और वहांका आनंद प्राप्त करें॥ (मं. ८)

(२९) आवर्यतः वपूंषि कृणवः— वारंवार जन्ममरणके मार्गमें भ्रमण करनेवालोंके शरीरोंको बनाता है। अर्थात् जो मनुष्य पूर्वोक्त उपासना द्वारा मुक्तिको प्राप्त नहीं करते, उनको मुक्ति देनेकी इच्छासे वही ईश्वर उत्तम उत्तम शरीर उनको देता है। इसका हेतु यह है कि ये जीव इन शरीरोंकी सहायतासे प्रशस्ततमकर्म करें और अपने लिये मुक्ति धाम प्राप्त करें, तथा वहांके परम आनंदके भागी बनें॥ (मं. ८)

अष्टम मंत्रका भाव।

परमपिताकी उपासना।

'पुत्र अपनी रक्षाके लिये पिताकी शरण जाता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने कल्याणके लिये श्रेष्ठोंकी संगति करता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने परमपिता और परमगुरु जो परमात्मा है उस, की उपासना करते हैं। ऐसे उपासकोंको वह ईश्वर अपने विशेष आनंदके स्थान बताता है, इसलिये कि ये वहां जावें और आनंदसे पूर्ण बनें। परन्तु जो मनुष्य उसकी उपासना नहीं करते, उनके लिये वारंवार जन्ममरणके अनुभव देनेके लिये शरीर देता है, ता कि वह इन शरीरोंसे अनुभव प्राप्त करे और अपनी शक्ति विकसित करके मुक्ति धामका योग्य बने॥ ८॥

यहां अष्टम मंत्रका भाव समाप्त हुआ है। इसको स्मरण करके अब नवम मंत्रका विचार करते हैं—

(३०) अर्धेन पयसा अर्धं पृणक्षि— आधे पौष्टिक रससे आधा भाग पूर्ण करता है। यहां शरीर इंद्रियां आदि स्थूल शरीरकी पुष्टि विवक्षित है। आधा भाग स्थूलका है और आधा भाग सूक्ष्मका है। हमारे स्थूल भागकी अर्थात् शरीर, इंद्रियां आदिकी पुष्टि विविध पौष्टिक रसोंसे परमेश्वर ही करता है। ये पदार्थ निर्माण करने द्वारा उसने संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर अनंत उपकार किये हैं। यह देखकर उनके उपकारोंका स्मरण करना चाहिये। (मं. ९)

(३१) अर्धेन शुष्म वर्धसे— आधेसे बल बढाता है। जैसा वह आधेसे पोषण करता है उसी प्रकार आधेसे बल बढाता है। इस प्रकार पुष्टि और बल देकर वह परमात्मा सबको पुष्ट और बलवान् करता है। (मं. ९)

(३२) वह ईश्वर (अविं-अवति) रक्षक, (शग्मियं) सुख बढानेवाला, (सखायं) सबका मित्र, (इषिरं) अन्नादिसे युक्त और (वरुणं-वरं) वरिष्ठ सबसे श्रेष्ठ है। इसके ये गुण जगतमें अनुभव करने चाहिये और इन गुणोंका स्मरण और अनुभव करते हुए उसकी उपासना करनी चाहिये। (मं.९)

(३३) कविशस्तानि वपूंषि अस्मै अरोचाम— कविकी दृष्टिसे प्रशस्त विविध रूपोंको देखकर इसकी हम प्रशंसा करते हैं। इस जगतमें जो विविध शरीर हैं उनके विलक्षण गुणधर्म देखकर मनुष्य इस ईश्वरके महान ऐश्वर्यका अनुमान करता है, और ईश्वरके सामर्थ्यकी कल्पना करता है।

(३४) रोदसी सत्यवाचा— द्यावा पृथिवीमें उसीकी सत्यवाणी भरपूर हुई है, वही गुप्त वाणी है जो सदा सत्य है। इसी गुप्त वाणीका गुप्त संदेश मनुष्यको अपनाना चाहिये। इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें अप्रकट वाणीका जो संदेश सुननेको कहा है, वही वाणी (सत्या वाक्) सत्यवाणी है और वह इस द्यावा पृथिवीके अन्दर अर्थात् इस संपूर्ण विश्वके अन्दर भरी है। हमारी बोलनेकी वैखरी वाणी क्षण भंगुर है, परन्तु यह विश्वव्यापक सत्य अमृतरूप है, इसलिये शुद्धात्माओंको उसका अखंड संदेश हृदयके अन्दरसे सुनाई देता है। अगत्का स्थूल शब्द सुननेके कान भिन्न हैं और यह सत्यवाणीका अखंड संदेश अन्य श्रुतियों द्वारा सुना जाता है। (मं. ९)

नवम मंत्रका भाव।

ईश गुणवर्णन।

' परमेश्वर अपने एक भागसे सबका पोषण करता है, और दूसरे भागसे सबको बल देता है। वह सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सुखदाता है, वही सबको अन्नादि देकर पोषण करता है, संपूर्ण जगत्के पदार्थोंको देखकर और उसमें कविकी दृष्टिसे प्रशंसा गुणधर्मोंका अनुभव करके उसके द्वारा हम सब परमात्माकी प्रशंसा करते हैं, हम देखते हैं कि उसकी सत्यवाणीने संपूर्ण द्यावापृथिवीको व्यापा है।' ॥ ९ ॥

यहां नवम मंत्रका मनन समाप्त होता है। पाठक इन नौ मंत्रोंमें आत्माके साक्षात्कारका मार्ग देख सकते हैं और वैदिक गूढ अध्यात्मविद्या इस सूक्तमें कैसी है इसका अनुभव मनन पूर्वक ले सकते हैं। इस सूक्तमें जो गूढ रीतिसे उन्नतिके मार्गका उपदेश किया है उसका सारांश यह है—

इस सूक्तका सार।

(१) मनुष्य अपने आपको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे। अपने जन्मकी सार्थकताके लिये प्रशस्त कर्म करे। अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे। सत्यपालनसे अपनी आत्मिक शक्तिको अदम्य बनावे। जनताका रक्षक और आधार बनकर अपनी सब अवस्थाओंको अपने आधीन रखे। इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करके अपने स्वरूपस्थितिके केन्द्रमें आनंदसे रहे।

(२) मनुष्य श्रेष्ठ बननेकी इच्छा मनमें धारण करे। उसकी सिद्धिके लिये सदा श्रेष्ठ सत्कर्म करता रहे। अपने शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, आदिकी शक्तियां विकसित करके उनको स्वाधीन रखे। गुह्य वाणीके गुप्त संदेशको सुनकर, उसके अनुसार आचरण करे और अपनी स्वरूपस्थितिको प्राप्त करके वहां आनंदसे रहे।

(३) मनुष्यको ये शरीर इसलिये प्राप्त हुए हैं कि, इसके आत्माका प्रकाश चारों ओर फैल जावे। इसमें अनेक अमृत रस भी भरे हैं। जिसकी कृपासे यह सब प्राप्त हुआ है उसके सन्मुख शुद्ध होकर और दोषोंको दूर करके जाना उचित है। अर्थात् अपने मलीन वस्त्र दूर करके उसके सन्मुख अपने शुद्ध रूपमें सदा होना चाहिये।

(४) सज्जनोंकी संगतिमें रह, परमात्माकी प्रीतिका विचार उनके साथ रहकर कर। दिव्य दृष्टिसे देख और हरएक प्रकारके बलका आदर कर। हरएकके साथ अत्यंत आदरके साथ बर्ताव कर, कभी किसीका निरादर न कर।

(५) अपनी सब शक्तियोंको सत्कार्यमें प्रयुक्त कर। परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका विरोधक भाव दूर करके उनको परस्पर सहाय्यक बना, ऐसा करनेसे परस्परकी शक्तिसे परस्परका पोषण होगा। स्थूलमें सूक्ष्म शक्तिका कार्य देखकर उस महान् सूक्ष्म शक्तिके सन्मुख नम्रतासे रह।

(६) चोरी, व्यभिचार, दुराचार, मद्यपान, गर्भपात आदि कुकर्म न कर, ज्ञानीके मार्गमें विघ्न न खडे कर, एक ही कुकर्म मना करने पर भी वारंवार न करता रह, और दुराचार होनेपर भी उसको छिपानेका यत्न न कर। सदाचारकी ये मर्यादाएं हैं। इनका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी होता है और इन मर्यादाओंमें रहनेसे मनुष्य पुण्यमार्गी होता हुआ उन्नतिको प्राप्त होता है। यह पुण्यमार्गी मनुष्य धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ संयमसे अपने जीवनका आधार बन कर ऐसे स्थानमें जाता है कि जहां संपूर्ण विविध मार्ग एकरूप बनते हैं और जहां उपमा देने योग्य परमात्माका स्थान है।

(७) उत्तम व्रतों और नियमोंका पालन कर और परमपुरुषार्थी बन। अपनी आत्माकी अदम्य शक्तिका अनुभव कर और अपनी शक्तियोंका विस्तार करके उनका उपयोग जनताकी भलाईके प्रशस्त सत्कर्मोंमें कर।

(८) जिस प्रकार बालक निर्भयताके लिये अपने पिताकी शरण और कल्याणके लिये सद्गुरुकी शरण जाता है, इसी प्रकार निर्भयता और कल्याण प्राप्त करनेके लिये परमपिता और परमगुरु परमात्माकी शरणमें जा। वह सब उपासकोंको आनंदके स्थानमें पहुंचाता है और जो उसकी भक्ति नहीं करते, उनको विविध शरीर धारण कराता है, वे वहांके विविध अनुभव लेते हुए अन्तमें उसीके पास पहुंचते हैं।

(९) परमेश्वर अपनी आधी शक्तिसे सबकी पुष्टि करता है और आधी शक्तिसे सबको बलवान् करता है। वही सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सहाय्यक है। उसके गुणोंका ध्यान करके उनके गुणोंका कार्य जगत्में देखकर उसकी बढी हुई शक्तिका अनुभव सब करें। उसीकी सत्यवाणी सर्वत्र व्यापक है, उस गुह्यवाणीका संदेश प्राप्त कर और उन्नत हो।

इस प्रकार इस सूक्तका सार है। यह सार बडा ही बोधप्रद है और सच्ची आत्मोन्नतिका मार्ग बता रहा है। पाठक इसका अधिक मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें। इस सूक्तका उपदेश अपने आचरमें लानेवाले पाठक निःसंदेह

अपनी विशेष योग्यता बना सकते हैं और उच्च श्रेणीमें आकर सन्मानित हो सकते हैं।

यह सूक्त गूढ आध्यात्मविद्याका उपदेश दे रहा है। यह विद्या अत्यंत गूढ है, संभवतः इसीलिये इस सूक्तकी भाषा भी अत्यंत गूढ और गुप्त भावसे परिपूर्ण रखी गई है। इस सूक्तके शब्द और वाक्य सरल नहीं हैं जो सहजहीमें समझे जावें। इस कारण सूक्तका मनन पाठकोंको बहुत करना चाहिये। यहां हमने विविध प्रकारसे सूक्तका भाव सरलताके साथ बतानेका प्रयत्न किया है, तथापि कई मन्त्रभाग दुर्बोध और अस्पष्ट ही रहे हैं। यदि कोई पाठक अधिक मनन करके इन मन्त्रोंपर अधिक प्रकाश डालेंगे तो उनके जनतापर बहुत उपकार हो सकते हैं।

आत्मा।

(का. ७, सूक्त ६७[६९])

(ऋषि:— ब्रह्मा। देवता — आत्मा)

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ १ ॥

अर्थ— (**मा इन्द्रियं पुन एतु**) मुझे इन्द्रियशक्ति पुनः प्राप्त हो। (**आत्मा द्रविणं च पुनः**) मुझे आत्मा चेतना और ब्रह्म पुन. प्राप्त हो। (**धिष्ण्याः अग्नयः यथा-स्थाम**) बुद्धि आदि स्थानकी अग्नियां यथायोग्य स्थानमें (**इह एव पुनः कल्पयन्तां**) यहांही पुनः समर्थ हों ॥ १ ॥

भावार्थ— सब इन्द्रियकी शक्तियां, ज्ञान, चेतना, आत्मा, बुद्धि, मन आदिकी सब चैतन्यशक्तियां मुझे प्राप्त हों और यहां उन्नत हों ॥ १ ॥

इंद्रियां ज्ञानेन्द्रियां पांच और कर्मेन्द्रियां पांच मिलकर दस हैं, आत्मा नाम जीवका है, द्रविणका अर्थ यहां मनका उत्साह अथवा चैतन्य है, ब्राह्मणका अर्थ ब्रह्म-आत्माकी ज्ञानशक्ति है। धिषणा-धिष्ण्याका अर्थ बुद्धि अथवा अन्त:करणकी शक्तियां हैं। ये अग्निस्वरूप चेतन हैं। ये सब आत्माकी शक्तियां यहां स्थिर रहें, उन्नत हों और प्रकाशरूप होकर मुझे सहायक हों।

आत्माके गुण।

(का. २ सूक्त ११)

(ऋषि:— शुक्रः। देवता:— कृत्यादूषणम्।)

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥
स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥

अर्थ— (**दूष्याः दूषि: असि**) दोषको दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन हटानेवाला तू है। (**हेत्याः हेतिः असि**) हथियारका हथियार तू है। (**मेन्याः मेनि असि**) वज्रका वज्र तू है। इसलिये (**श्रेयांसं आप्नुहि**) परम कल्याणको प्राप्तकर और (**समं अतिक्राम**) अपने समानसे अधिक आगे बढ ॥ १ ॥

(**स्रक्त्यः असि**) तू गतिशील है, (**प्रतिसरः असि**) तू आगे बढनेवाला है, (**प्रत्यभिचरणः असि**) तू दुष्टतापर हमला करनेवाला है। ० ॥ २ ॥

भावार्थ— आत्मा दोषोंका दोष हटानेवाला है, वही शस्त्रोंका महा शस्त्र और अस्त्रोंका महा अस्त्र है। ॥ १ ॥ आत्मा प्रगति करनेवाला है, आगे बढनेका उसका स्वभाव है, और दुष्टताको दूर करनेवाला है। ॥ २ ॥

१५

प्रति तमभि चर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ— (तं प्रति अभिचर) उसपर चढाईकर कि (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबसे द्वेष करता है तथा (यं वयं द्विष्मः) जिस अकेलेसे हम सब द्वेष करते हैं । ० ॥ ३ ॥

(सूरिः असि) तू ज्ञानी है, (वर्चोधाः असि) तू तेजका धारण करनेवाला है तथा (तनू-पानः असि) शरीरका रक्षक तू ही है । ० ॥ ४ ॥

(शुक्रः असि) तू वीर्यवान् अथवा शुद्ध है, (भ्राजः असि) तू तेजस्वी है, (स्वः असि) तू आत्मिक शक्तिसे युक्त है, (ज्योतिः असि) तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू श्रेय् प्राप्त कर और समानोंके आगे बढ ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अकेला दुष्ट सब सज्जनोंको सताता है, और जिस अकेले दुष्टका सब सज्जन विरोध करते हैं, उसको हटा दे० ॥ ३ ॥

तू ज्ञानी है, तेजका धारक है, शरीरका सच्चा रक्षक तू ही है० ॥ ४ ॥

तू ही बलवान् है, तू ही तेज है तथा आत्मिक बलसे युक्त है, तू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये तू समान लोगोंके आगे बढ और निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर ॥ ५ ॥

आत्माके गुण ।

शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है । ये गुण अब देखिये—

(१) दूष्याः दूषिः असि— दोषमयको दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवाला है । देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव लीजिये । अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है । सडनेवाले शरीरको न सडानेवाला, मरनेवाले शरीरको जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनंदधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है । (मं. १)

(२) हेत्याः हेतिः, मेन्याः मेनिः असि— शस्त्रोंका शस्त्र और वज्रका वज्र यह आत्मा है । शत्रुका नाश शस्त्र करता है परंतु शस्त्रको चलानेवाला अर्थात् शस्त्रका भी शस्त्ररूप यह आत्मा शस्त्रके पीछे न होगा, तो शस्त्र कैसे शत्रुका नाश करेगा ? इससे आत्माकी प्रेरक शक्तिका महत्त्व ज्ञान हो सकता है ।

(मं. १)

(३) स्राक्त्यः असि— आत्मा गतिमान् है । ' अत-सातत्यगमने ' (सतत गति करना) इस धातुसे यह आत्मा शब्द बनता है । सतत प्रयत्नशीलताका यह द्योतक है । वही भाव इस शब्दमें है । छोटे बालकमें क्या अथवा बडे मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्न शीलता है । कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उद्योगसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है । (मं. २)

(४) प्रतिसरः असि— आगे बढनेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है । आत्मा ' इन्द्र ' है और यह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है । (मं. २)

(५) प्रत्यभिचरणः असि— दुष्ट शत्रुको पराभूत करनेवाला । (यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाव वाला ही है ।) (मं. २)

यहांतक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है ।

अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पंचम मन्त्रके द्वारा करते हैं—

(६) सूरिः असि— तू ज्ञानी है। आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान् है, अत एव यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(म. ४)

(७) वर्चो-धा असि— तेज बल ओज आदिका धारण करनेवाला है। शरीरमें जबतक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीरमें तेज बल ओज आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं। (मं. ४)

(८) तनू-पानः असि— शरीरका रक्षक है। जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तबतक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है। जब यह आत्मा इस शरीरसे चला जाता है तब शरीर सडने लगता है। इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका सच्चा रक्षक यह आत्मा है। (मं. ४)

(९) शुक्रः असि— वीर्यवान्, बलवान् तथा शुद्ध है। आत्माको ही '**शुक्र**' (यजु. ४०।८ में) कहा है। इसलिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है। (मं. ५)

(१०) भ्राजः असि— तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है। आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मध्यमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है। (म. ५)

(११) स्वः असि— आत्मिक बलसे युक्त है (स्व+र्) अपने निज बलसे युक्त है। अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है।

(म. ५)

(१२) ज्योतिः असि— स्वयं ज्योति है। प्रकाश स्वरूप है। (मं. ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं। मनुष्य स्वयं अपने आपको अत्यंत निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावलंबी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है। इस सूक्तने आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं। जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है। इसमें भी वैसे ही प्रभावशाली गुणधर्म हैं कि जैसे परमात्मामें हैं। यह आत्मा ज्ञानी, पुरुषार्थी, प्रयत्नशील, स्वयंज्योति, प्रभाव शाली, बलवान्, तथा शरीर रक्षक है। इसलिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं। यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकासकी मर्यादा बहुत ही बडी है।

जिस समय अपने अंदर निर्बलताकी लहर आती है, उस समय यदि पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे और इन शब्दोंके भावोंको अपने आत्मामें प्रत्यक्ष देखेंगे, तो उनके मनकी कमजोरी दूर हो जायगी और वे इस सूक्तके बलसे निःसंदेह ही अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त करने योग्य बलवान बन जायेंगे। आत्मशक्तिका वर्णन करनेवाले जो अनेक सूक्त हैं उनमें यह विशेष महत्त्वका सूक्त है। यह अत्यंत सरल और बडा भावपूर्ण होनेसे बहुत मनन करने योग्य है। यह सूक्त निर्बलोंको भी बलवान् बना सकता है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि 'उस शत्रुको दूर कर, जो अनेकोंको सताता है।' इस मन्त्रमें यह बात विचार करने योग्य है, कि शत्रुता करनेवाला एक है, सतानेवाला एक है और सताये जानेवाले अनेक हैं। अल्प संख्यावालोंके द्वारा बहु संख्या वालोंको कष्ट होनेकी कल्पना इसमें है। ऐसे प्रसंगमें शत्रुको दूर करना ही योग्य है। जो दुर्जन अनेक सज्जनोंको सताता है वह निःसंदेह दण्डनीय है।

श्रेयःप्राप्ति।

इस सूक्तके प्रत्येक मन्त्रका द्वितीय चरण एकसा ही है। वह यह है—

आप्नुहि श्रेयांसं समं अतिक्राम ॥ (मं. १-५)

'समान लोगोंके आगे बढ और परम कल्याण प्राप्त कर' यह इस वाक्यका सार है। 'श्रेय प्राप्त कर' यह तो वैदिक धर्मका ध्येय है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस आदि शब्द एक ही भाव बता रहे हैं। वैदिक धर्मने यही ध्येय सबके सामने रखा है। इस ध्येयकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये ही इस सूक्तने आत्माके गुण उपासकोंको निवेदन किये हैं। इन गुणोंका मनन करता हुआ आत्मा उन्नतिके पथसे आगे बढता हुआ निःश्रेयस तक पहुंच जाय। इसका मार्ग यह है—

उन्नतिका मार्ग।

इसकी उन्नतिका मार्ग एक ही वाक्यसे बताया है वह चिरस्मरणीय वाक्य यह है—

समं अतिक्राम। (मं १-५)

'अपने समान योग्यता वाले लोगोंके आगे बढ।' यह मार्ग है। जब यह प्रथम श्रेणीमें पढता हो तो यह विचार मनमें रखे कि प्रथम श्रेणीमें रहनेवालोंके आगे बढूं, जब द्वितीय श्रेणीमें पहुंचे तब यही विचार मनमें धारण करे कि मैं द्वितीय श्रेणीवालोंके आगे बढूं। इस प्रकार अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढता हुआ यह अपनी उन्नतिका साधन करे।

अपनी उन्नतिका तो साधन हरएकको करना ही है, परंतु

उस उन्नतिके साधनके लिये अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढनेका ध्येय सामने रखना ही उचित है। प्रथम श्रेणीमें पढनेवाला प्रथम श्रेणीवालोंसे आगे बढनेकी महत्वाकांक्षा मनमें रखे, परंतु उस समय दशम श्रेणीसे आगे बढनेके विचारसे अपना प्रथम श्रेणीका कर्तव्य न भूले। प्राय. लोग असंभव ध्येय सामने रखकर अपने कर्तव्यसे वंचित रहते हैं। ऐसा कोई न करे, इस उद्देश्यसे यह मंत्र कह रहा है, कि अतिम साध्य जो भी हो, उसका विचार न करते हुए, इस समय तुम जिस श्रेणीमें हो उस श्रेणीमें प्रथम स्थानमें स्थित रहकर, उस समयके अपने कर्तव्य परम दक्षतासे करो। इस प्रकार करते रहनेसे सबकी यथायोग्य उन्नति होती रहेगी और यथा समय सब ही उन्नतिके परम सोपानपर पहुंच जायगे।

परतु अपनी श्रेणीसे भिन्न श्रेणीवालोंसे स्पर्धा करते रहनेसे मनुष्यको सिद्धि मिलना कठिन होगा इतना ही नहीं परंतु अवनति होना ही अधिक संभव है। यदि छोटासा कुमार अपनी आयुवाले अन्य कुमारोंसे मल्लयुद्ध न करता हुआ यदि बडे पहिलवानोंसे मल्लयुद्ध करनेका साहस करेगा, तो न तो उसमें उसको सिद्धि मिल सकती है और नाही उसकी उन्नति हो सकती है। परंतु क्रमपूर्वक अपनी श्रेणीवालोंसे कुश्ती करता हुआ वह स्वयं आगे जाकर बडा मल्ल हो सकता है; इसी प्रकार अन्यान्य अभ्युदयोंके विषयमें समझना चाहिये। मुक्तिके पथके विषयमें भी यही मार्ग अधिक सुरक्षित है।

पाठक इसका अधिक विचार करें। हमारे विचारमें यह उन्नतिके मार्गका उपदेश सबके लिये सर्वदा मनन करने योग्य है। अपनी अधोगति न होते हुए क्रमसे निःसंदेह उन्नतिकी प्राप्ति होना इसी मार्गसे साध्य है।

दिव्य दृष्टि।

(का. ४, सू. २०)

(ऋषिः— मातृनामा। देवता— मातृनामा।)

आ प॑श्यति॒ प्रति॑ पश्यति॒ परा॑ पश्यति॒ पश्य॑ति।
दिव॑म॒न्तरि॑क्ष॒माद्भूमि॒ं सर्वं॒ तद्दे॑वि पश्यति ॥ १ ॥
ति॒स्रो दिव॑स्ति॒स्रः पृ॑थि॒वीः षट् चे॒माः प्र॒दिश॒ः पृथ॑क्।
त्वया॒हं सर्वा॑ भू॒तानि॒ पश्या॑नि देव्योषधे ॥ २ ॥

अर्थ— हे (देवि) दिव्य दृष्टि देवी ! तू (तत् आपश्यसि) यह सब प्रत्यक्ष देखती है, (प्रति पश्यति) प्रत्येक पदार्थको देखती है, (परा पश्यति) दूरसे देखती है, (पश्यति) और देखती है (दिवं अन्तरिक्षं आत् भूमिं) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूमिको अर्थात् (सर्वं पश्यति) यह सब देखती है ॥ १ ॥

हे देवि औषधे ! (तिस्रः दिवः तिस्रः पृथिवीः) तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक (इमाः च पृथक् षट् प्रदिशः) और ये पृथक् छः प्रदिशाएं और (सर्वा भूतानि) सब भूत इन सबको (अहं त्वया पश्यामि) मैं तेरे सामर्थ्यसे देखता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— हे दिव्य दृष्टि ! तेरी कृपासे ही सब ओर देखा जाता है, और त्रिलोकीके अन्तर्गतके सब पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

इस औषधिके प्रयोगसे दृष्टि उत्तम होती है और जिससे त्रिलोक, सब दिशाएं और सब भूत आदिका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ २ ॥

दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥ ३ ॥
तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥
आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥
दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥
कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

अर्थ—(तस्य दिव्यस्य सुपर्णस्य) उस दिव्य सूर्यकी (कनीनिका ह आसि) छोटी प्रतिमा तू है। (सा) वह तू (भूमिं आरोहिथ) भूमिपर आगई है (श्रान्ता वधूः वह्यं इव) थकी हुई वधू जिस प्रकार रथपर बैठती है ॥ ३ ॥

(सहस्राक्षः देवः तां मे दक्षिणे हस्ते आदधत्) सहस्र नेत्रवाले सूर्यदेवने उस दृष्टिको मेरे दक्षिण हाथमें रखा है। (तया अहं सर्वं पश्यामि) उससे मैं सब देखता हूं (यः च शूद्रः उत आर्यः) जो शूद्र है और जो आर्य है ॥ ४ ॥

(रूपाणि आविष्कृणुष्व) रूपोंको प्रकटकर (आत्मानं मा अप गूहथाः) अपनेको मत छिपा। (अथो) और हे (सहस्र-चक्षो) हजार नेत्रवाले देव! (त्वं किमीदिनः प्रतिपश्याः) तू अब क्या भोगूं ऐसा कहनेवालोंके देख ॥ ५ ॥

(मा यातुधानान् दर्शय) मुझको यातनादेनेवालोंको दिखा। (यातुधान्यः दर्शय) पीडक वृत्तियोंको दिखा। हे ओषधे! तू (सर्वान् पिशाचान् दर्शय) सब रक्तपीनेवालोंको दिखा, (इति त्वा आरभे) इसलिये तेरी सहायता लेता हूं ॥ ६ ॥

(कश्यपस्य चक्षुः असि) तू द्रष्टाकी आंख है, (चतुरक्ष्याः शुन्याः च) चार आंखवाली शुनीकी भी तू आंख है (वीध्रे सर्पन्तं सूर्यं इव) आकाशमें चलनेवाले सूर्यके समान (पिशाचं मा तिरस्करः) रुधिर पीनेवालेको मत छिपने दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—सूर्यकी ही छोटीसी प्रतिमा यहां हमारा आंख है। जिस प्रकार कुलवधू थक कर रथमें बैठ जाती है, उस प्रकार यह नेत्ररूपी कुलवधू थक कर इस शरीररूपी रथमें आकर बैठ गई है ॥ ३ ॥

सूर्य देवने यह दर्शन शक्ति मुझे दी है जिससे मैं सब देखता हूं और यह भी जानता हूं कि कौन श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है ॥ ४ ॥

दिव्य दृष्टिसे सब रूपोंका प्रकाश हो जावे, कोई इससे छिपकर न रहे, कौन दुष्ट अपने स्वार्थ भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता है यह भी इससे ज्ञात होवे ॥ ५ ॥

कौन कष्ट देनेवाले हैं, उनके सहायक कौन हैं, दूसरोंका रक्त चूसनेवाले कौन हैं, यह सब इसे ज्ञात हो जावे ॥ ६ ॥
सच्चा द्रष्टा आत्मा है, वह आंखसे देखता है, यही चार विभागोंमें कार्य करनेवाली बुद्धिका भी आंख है ॥ ७ ॥

उद्‌ग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥
यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥ ९ ॥

अर्थ— (किमीदिन यातुधान) आज क्या भोग करूं ऐसा कहनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको (परि-पाणात् उद्‌ग्रभं) रक्षासे मैंने पकडा है। (तेन) उससे (अहं सर्वं पश्यामि) मैं सब देखता हूं (उत शूद्र उत आर्यं) कौन शूद्र है और कौन आर्य है ॥ ८ ॥

(यः अन्तरिक्षेण पतति) जो अन्तरिक्षसे चलता है (यः च दिव अतिसर्पति) और जो द्युलोकको भी लांघता है (तं पिशाच प्रदर्शय) उस रुधिरमें भी आनेवालेको दिखा दे ॥ ९ ॥

भावार्थ— मैंने अपनी रक्षाका प्रबंध ऐसा किया है कि कौन स्वार्थी भागतृष्णाके लिये दूसरोंको कष्ट देते हैं इसका पता लग जावे। इससे मैं श्रेष्ठ और दुष्टको यथावत् जानता हूं ॥ ८ ॥

अन्तमें जो अन्तरिक्षमें चलता है द्युलोकका भी उल्लंघन करता है और भूमिका भी जो नाथ है उसका दर्शन इसी दृष्टिसे हो जावे ॥ ९ ॥

दिव्य दृष्टि।

मातृनाम्नी औषधि।

संस्कृतमें 'माता' नामवाली औषधियां अनेक हैं उनमें 'आखुकर्णी, महाश्रावणिका और घृतकुमारी' ये तीन दृष्टिदोषका निवारण करनेवाली प्रसिद्ध हैं—

संस्कृत नाम		भाषामें नाम	गुण
१ आखुकर्णी	मोपला	(पे० निघ)	चक्षुष्या (नेत्रका बल बढानेवाली)
२ महाश्रावणिका	—	(रा० नि० व० ५)	लोचनी (नेत्र बलवर्धक)
३ घृतकुमारी	घिऊकुमारी	(भा०)	नेत्र्या (,,)

'माता' इन तीनोंका नाम है और ये तीनों औषधियां नेत्रके लिये हितकारक हैं। यहां इस सूक्तमें इनमेंसे कौनसा अपेक्षित है, इसका निश्चय करना सुविज्ञ वैद्योंका ही कार्य है। इस औषधिके प्रयोगसे नेत्रका बल बढाकर अति वृद्ध अवस्था तक नेत्र उत्तम कार्य करने योग्य अवस्थामें रखना अनुष्ठानी मनुष्यके लिये संभव है। यहां 'माता और मातृनाम्नी' दोनोंका एकही आशय है।

पहिले दो मंत्रोंमें इस 'माता' औषधिका तथा 'दर्शन शक्ति' का वर्णन है। दृष्टिसे सब कुछ देखा जाता है और इस औषधीसे दृष्टि बलवती हो जाती है, इसलिये इस औषधिकी कृपासे, मानो, हरएक मनुष्य सब कुछ देख सकता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि हमारी दृष्टि सूर्यकी पुत्री है, वह हमारे आत्माके साथ ब्याही है। वह यहां अपने पतिके घर-इस जीवात्माके शरीररूपी घर-में आगई है। यहां, आकर सुसरालका बहुत कार्य करनेसे थक गई है और थक जानेसे कारण उसने विश्राम किया है अर्थात् वृद्धावस्थामें दृष्टि मन्द होगई है, इस समय इस 'माता' औषधिके प्रयोगसे वह थकी हुई दृष्टि पुन पूर्ववत् तरुण जैसी हो सकती है।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि सहस्राक्ष सूर्य देवने यह दृष्टि हमें दी है, जिससे सब कुछ देखा जाता है। यहां स्थूल पदार्थोंके दर्शनसे भी और अधिक देखनेका वर्णन है जैसा 'आर्य और शूद्र' त्वका ज्ञान भी प्राप्त करना। कौन मनुष्य श्रेष्ठ है

और कौन दुष्ट है, इसका भी विचार उसका बाह्य आचार देखनेसे विदित हो जाता है यह तात्पर्य यहां है। वेदने यहां स्थूल देखते हुए सूक्ष्मका ज्ञान प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है। पंचम और षष्ठ मन्त्रका भी यही आशय है। षष्ठ मन्त्रका कथन है कि 'यह दृष्टि वस्तुतः आत्माकी ही चक्षु है।' अर्थात् इस शरीरमें 'द्रष्टा' अपना जीवात्मा है। वही इस आंखकी खिडकीसे बाहरके पदार्थ देखता है। इसलिये सच्चा चक्षु तो उसके पास है और यह हमारा नेत्र केवल खिडकी जैसा है। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि आत्माकी अन्तर्यामीकी आंखही सच्ची आंख है, जो खुलनी चाहिये। जीवात्माका नाम 'कश्यप' अथवा 'पश्यक' है।

क्योंकि वही देखनेवाला है। उसके पास एक चार आंखवाली शुनी' अर्थात् कुत्ती है, जो इस शरीररूपी अध्यात्मक्षेत्रमें रक्षाका कार्य करती है, यह चार आंखवाली कुत्ती हमारी बुद्धि है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चार भूमिकाओंमें अपने चार आंखोंसे देखती है। इन प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें देखनेका उनका आंख भिन्न भिन्न है। यह वहांका यथार्थ ज्ञान देती है और वहां घातक शत्रु घुसने लगा तो उसको हटा देती है, और इन क्षेत्रोंको सुरक्षित रखती है। जबतक यह चार आंखवाली कुत्ती जागती है तबतक यहां सूर्यके प्रकाशके समान तेजस्वी प्रकाश होता है, जिस प्रकाशमें जीवात्मा अपने घातक वैरियोंको अलग करता हुआ अपने मार्गसे आगे बढता है। यहां इस सप्तम मन्त्रने दृष्टिके चार क्षेत्र बताये हैं और सूचित किया है कि केवल इस स्थूल आंखको खुला रखनेसे कार्य नहीं चल सकता, प्रत्युत इन चार विभिन्न आंखोंको खोलनेका यत्न होना चाहिये और वहांकी अवस्था देखनेकी शक्ति लानी चाहिये। स्थूल दर्शन शक्तिकी अपेक्षा यहांकी दृष्टि बडी सूक्ष्म है जो सूक्ष्म बातोंको देखती है।

अष्टम मंत्रमें उपदेश दिया है कि पूर्वोक्त चार कार्य क्षेत्रोंमें (परि-पाण) सुरक्षाका ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि वहां घातक दुष्ट कोई आगये तो उनको पकडकर एकदम दूर करना चाहिये। कभी घातक दुष्ट भाव वालेको अपने स्थूल सूक्ष्म कारण आदिमें घुसने देना नहीं चाहिये। जो मनुष्य अपने संपूर्ण कार्यक्षेत्रोंमें इस प्रकारका सुरक्षाका प्रबंध करता है वह उन्नत होता है, अन्य गिर जाते हैं।

अन्तिम मंत्रमें कहा है कि 'जो प्रत्येक पदार्थके अन्दर विचरता है, जो द्युलोकके भी परे है और जो इस भूमिका एक मात्र स्वामी है उसको देख।' इसको देखना यह अन्तिम देखना है। इस परमात्माका दर्शन करना यह अन्तिम वस्तुका दर्शन करना है। इसका नाम 'पिशाच' कहा है 'पिशित+अञ्च्' अर्थात् रक्तके प्रत्येक कण कणमें जो पहुंचा है, प्रत्येक पदार्थमें हरएक कणमें जो फैला है उसको देखना चाहिये। जिस समय उसका दर्शन होता है उस समय मनुष्यकी अन्तिम आंख खुल जाती है और यह मनुष्य दिव्य पुरुष हो जाता है। उस परमात्माका प्रत्यक्ष करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। यह अनुष्ठान करना चाहिये, जिस समय अन्दरकी पवित्रता होगी उसी समय उसके दर्शन होंगे।

वेदने यहां स्थूल पदार्थको दिखाते दिखाते, सूक्ष्म पदार्थोंको तथा सूक्ष्मतम परमात्माको भी दर्शानेका किस युक्तिसे प्रयत्न किया है यह पाठक अवश्य देखें। स्थूल नेत्र इंद्रियका बल बढानेवाली 'माता' नामक औषधि आन्तरिक आंखोंकी शक्ति बढानेवाली भी 'औषधि' ही है, परन्तु यहां 'ओष+धी' (दोष+धी) दोषोंको धोकर अन्तः शुद्धि करना ओषधिका आध्यात्मिक तात्पर्य है। इस प्रकार अर्थके श्लेषका मनन करके पाठक इस सूक्तका उपदेश जानें।

आत्मिक बल ।

(का, ५ सूक्त ८-९)

(ऋषि — ब्रह्मा। देवता — वास्तोष्पतिः।)

दिवे स्वाहा ॥ १ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३ ॥
अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥ दिवे स्वाहा ॥ ५ ॥ पृथिव्यै स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ— (दिवे) द्युलोक (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोकके लिये (स्वाहा-सु+आह) उत्तम प्रशंसाका वचन कहते हैं ॥ १-६ ॥

भावार्थ— द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवी लोक इन तीनों लोकोंकी और इनमें विद्यमान पदार्थोंकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ १-६ ॥

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो३ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥
उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।
आत्मसदौ स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (सूर्यः मे चक्षुः) सूर्य मेरा चक्षु है (वातः प्राणः) वायु प्राण है, (अन्तरिक्षं आत्मा) अन्तरिक्ष आत्मा है और (पृथिवी शरीरं) पृथिवी मेरा शरीर है । (अस्तृतः नाम अयं अहं अस्मि) अमर नामवाला यह मैं हूं । (द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय) द्यावापृथिवीद्वारा सुरक्षित होनेके लिये (सः आत्मानं निदधे) वह मैं अपने आपको निःशेष देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी (आयुः उत्) आयु उत्तम, (बलं उत्) बल उत्तम, (कृतं उत्) किया हुआ कर्म उत्तम, (कृत्यां उत्) काटनेकी शक्ति उत्तम, (मनीषा उत्) बुद्धि उत्तम, (इन्द्रिय उत्) इन्द्रिय उत्तम होवे । (आयुष्कृत् आयुष्पत्नी) आयुकी वृद्धि करनेवाले और जीवनका पालन करनेवाले तथा (स्वधावन्तौ) अपनी धारणशक्ति बढानेवाले तुम दोनों द्यावापृथिवी (मे गोपा स्त) मेरे रक्षक होओ । (मा गोपायतं) मेरी रक्षा करो । (मे आत्मसदौ स्त) मेरे आत्मामें रहनेवाले हो और (मा मा हिंसिष्टं) मेरा कभी विनाश न करो ॥ ८ ॥

भावार्थ— सूर्यही मेरी आंख, वायु मेरा प्राण, अन्तरिक्ष मेरा अन्तःकरण, और पृथ्वी मेरा स्थूल शरीर बना है । मैं अमर और अदम्य हूं । द्युलोक और पृथिवीलोक मेरी रक्षा करते हैं, इसलिये मैं अपने आपको उनके आधीन कर देता हूं ॥ ७ ॥

मेरी आयु, शक्ति, क्रियाशक्ति, काटनेकी शक्ति, मननशक्ति इंद्रियशक्ति, आदि शक्तियां उत्तम अवस्थामें रहें । आयु देनेवाली तथा जीवनका पालन करनेवाली और धारकशक्तिसे युक्त दोनों द्यावापृथिवी हैं, वे मेरी रक्षा करें, वे दोनों मेरे अन्दर रहकर मेरी रक्षा करें और कभी मेरी शक्ति क्षीण न करें ॥ ८ ॥

आत्मिक बल ।

(काण्ड ५, सूक्त १०)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— वास्तोष्पतिः ।)

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥ १ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥ २ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥ ३ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥ ४ ॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥ ५ ॥

अर्थ— (मे अश्मवर्म असि) मेरा पत्थरका दृढ कवच तू है । (यः अघायुः) जो पापी (प्राच्याः, दक्षिणायाः, प्रतीच्याः, उदीच्याः, ध्रुवायाः, दिशां अन्तर्देशेभ्यः) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व और इन दिशाओंके मध्यके प्रदेशोंसे (मा अभिदासात्) मेरा नाश करे, (सः एतत् ऋच्छात्) वह स्वयं इस विनाशको प्राप्त होवे ॥ १-७ ॥

अश्मवर्म मेसि यो मोध्वार्या दिशोघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥ ६ ॥
अश्मवर्म मेसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योघायुरभिदासात् । एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥
बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्यावाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

अर्थ—(*बृहता मनः उपह्वये*) बडे ज्ञानके साथ मनको मैं मांगता हूं। (*मातरिश्वना प्राणापानौ*) वायुसे प्राण और अपान, (**सूर्यात् चक्षुः**) सूर्यसे आंख, (**अन्तरिक्षात् श्रोत्रं**) अन्तरिक्षसे कान, (**पृथिव्याः शरीरं**) पृथिवीसे शरीर, (**मनोयुजा सरस्वत्या वाचं**) मननसे युक्त विद्याके साथ वाणीको (**उपह्वयामहे**) मांगते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मेरा कवच है। जो पापी मेरे ऊपर सब दिशा उपदिशाओंसे हमला करके मेरा नाश करना चाहता है, वह स्वयं नष्ट होवे ॥ १-७ ॥

मैं ज्ञानयुक्त मन, वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथ्वीसे स्थूल शरीर, और मननशक्तिसे संयुक्त विद्याके साथ उत्तम वाणीको चाहता हूं, इनकी मुझे प्राप्ति होवे ॥ ८ ॥

आत्मिक बल।

आत्मिक शक्ति।

अपने अन्दर आत्मिकशक्तिका विकास करनेके लिये जिन विशेष विचारोंकी धारणा अपने मनके अन्दर करना आवश्यक है, वह धारणा इन दो सूक्तोंमें कही है। नवम और दशम ये दोनों सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है और देवता वास्तोष्पति है। अर्थात् ये दोनों एक ही विषयके सूक्त हैं, इसलिये इनका मनन भी साथ साथ ही करते हैं।

नवम सूक्तके पहिले छ मंत्र, वस्तुतः ये तीन ही मंत्र हैं और दुबारा आनेसे छः बने हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंके लिये स्वाहा अर्थात् (सु+आह) उत्तम शब्दोंद्वारा प्रशंसा कही है। द्युलोकमें सूर्य नक्षत्र आदि हैं, अन्तरिक्षमें इन्द्र, वायु, चंद्र, विद्युत् आदि हैं और पृथ्वीपर धान्य जल आदि अनंत पदार्थ हैं, जिनका उपयोग मनुष्य करता है और सुखी होता है। इस कारण ये तीन लोक और इनमें रहनेवाले अनंत पदार्थ मनुष्यके द्वारा प्रशंसा करने योग्य हैं। क्योंकि इनके विना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता, अतः ये प्रशंसा करने योग्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इन तीनों लोकोंके अन्दर रहनेवाले सभी पदार्थ इस प्रकार मनुष्यके लिये उपकारक अत एव मनुष्यके प्रशंसाके लिये योग्य हैं। यह जानकर इनको अपने अन्दर देखना चाहिये, अर्थात् ये मेरे अन्दर आकर रहे हैं और मेरी शक्तिको बढाते हैं तथा प्रकाशित करते हैं। यह भाव मनमें धारण करनेको सप्तम मंत्रने कहा है। इस मंत्रका आशय यह है—

'सूर्य मेरा आंख हुआ है, वायु मेरा प्राण बना है, अन्तरिक्ष लोक मेरा अन्तःकरण बना है, और पृथिवीसे मेरा स्थूल शरीर बना है। (मं. ७)' यह सप्तम मंत्रका कहना है। देखिये, इस प्रकार द्युलोकका सूर्य, अन्तरिक्षलोकका वायु, और पृथिवी लोकके पदार्थ क्रमशः मेरे आंख, प्राण और स्थूल शरीरमें आकर रहे हैं, इस प्रकार मेरा साक्षात् संबंध इन तीनों लोकोंके साथ है, इन तीनों लोकोंके अंश आकर मेरे शरीरमें रहे हैं, अथवा इनका अवतार मेरे शरीरमें हुआ है। इस बातका विचार करनेसे अपनी आत्म-शक्तिकी कल्पना सहजहीमें हो सकती है, यही बात अथर्ववेदके अन्य मंत्रोंमें भी कही है, देखिये-

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥
अथ. ११।८(१०)३१

'सूर्य और वायु ये क्रमशः पुरुषके आंख और प्राणमें विभक्त हुए हैं, इसी प्रकार इसके इतर आत्मभागोंको इतर देवोंने लिया है।' अतः कहते हैं कि—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते॥
अथर्व ११।८(१०)३२

'इसीलिये ज्ञानी इस पुरुषको ब्रह्म मानता है, क्योंकि सब देवताएं इसमें वैसी रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं।'' इस मन्त्रमें तो सभी देवताएं मनुष्यके शरीरमें विविध अवयवोंमें रहती हैं, ऐसा कहा है। पूर्वोक्त मंत्रोंमें कुछ देवताओंका यहांका निवास वर्णन किया है, और इस मन्त्रमें कहा है कि सब देवताएं यहां रहती हैं, अर्थात् अन्य देवताओंका पता मननसे लगाना चाहिये। यह मनन करके उपनिषदोंमें कुछ अन्य देवताओंका भी स्थान निर्देश किया है, वह मनोरंजक विषय अब देखिये—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशत्॥
(ऐ उ. १।२।४)

'अग्नि वाणी बनकर मुखमें घुसा, वायु प्राण बनकर नाकमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य आंख बनकर नेत्रमें रहने लगा, दिशाएं कान बनकर कानके स्थानपर रहने लगीं, औषधि और वनस्पतियां लोम बनकर त्वचामें प्रविष्ट होगईं, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें घुसा, मृत्यु अपान होकर नाभिमें रहने लगा, जल रेत बनकर शिश्नमें प्रविष्ट हुआ।' इस प्रकार अन्यान्य देवताएं अन्यान्य स्थानोंमें रहने लगीं। यह है अपने शरीरमें देवताओंका निवास। यहां देवताएं रहती हैं, इसलिये इस शरीरको 'देवोंका मन्दिर' कहते हैं। बाह्य सृष्टिमें बडे बडे सूर्यादि देव हैं, उनके अंश अंशरूपसे यहां अपने शरीरमें आ गये हैं और इन्हीं अंशोंके बडे विस्तृत देव फिर बनते हैं, इस विषयमें निम्नलिखित उपनिषद्वचन देखिये—

मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः, ... नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः, . अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः, ...कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः, ... त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः,... हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा, ... नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः, शिस्नाद्रेतो रेतस आपः॥ ४॥
(ऐतरेय उ. १।१)

'मुखसे वाणी, वाणीसे अग्नि,... नासिकासे प्राण, प्राणसे वायु... आंखोंसे चक्षु, चक्षुसे सूर्य,... कानोंसे श्रोत्र, श्रोत्रसे दिशाएं... त्वचासे लोम, लोमोंसे ओषधिवनस्पतियां,... हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा,... नाभीसे अपान और अपानसे मृत्यु;... शिस्नसे रेत और रेतसे जल हुआ।'

इन दोनों वचनोंमें पाठक तुलना करके देखेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि पहिलेमें बृहत् देवताओंसे अपने अन्दरके सूक्ष्म देव होनेका वर्णन है और दूसरेमें इन सूक्ष्म अंशोंसे फिर वृद्धि होकर बडे देव बननेका वर्णन है। जिस प्रकार मनुष्य शरीरसे वीर्यबिंदु उत्पन्न होता है और फिर इस वीर्यबिन्दुसे मनुष्य शरीर बनता है, उसी प्रकार संकोच और विस्तार यहां भी होता है। अस्तु।

मनुष्यके अंदर सूर्यादि सब देवोंकी शक्तियां हैं यह बात यहां मनुष्यको स्मरणमें रखना चाहिये। मैं तुच्छ नहीं हूं, परंतु मैं उनही शक्तियोंसे युक्त हूं कि जिनसे युक्त परमात्मा है। मेरी शक्तियां अंशरूप हैं और उसकी पूर्णरूप हैं। अर्थात् शक्तियां मेरे शरीरमें हैं, जिनका विकास धर्मानुष्ठानसे करना है। यह सप्तम मन्त्रका आशय है, यह मंत्र मनुष्यको एक विशेषही शक्ति दे रहा है। पाठक, इसका अनुभव अपने मनमें करें। इस शक्तिको अपने अन्दर देखनेके बाद ही कहा जाता है कि-

अयं अहं अस्तृतः नाम अस्मि। (मं. ७)

'यह मैं अमर अथवा अदम्य शक्तिसे युक्त हूं' पाठक इसका विचार करें। अपने अन्दर इतनी शक्ति है और मैं अमर हूं, शरीरनाश होनेसे मैं नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार परमात्मा 'अ-मर' है, उसी प्रकार आत्मदृष्टिसे मैं भी 'अ-मर' हूं। यह विश्वास इस मंत्रने दिया है। पाठक ही अनुभव करें कि इस विचारको मनमें धारण करनेसे कितना आत्मिकबल बढता है। वेदकी शिक्षा आत्मिक बल बढाती है और अपनी शक्तियोंका ज्ञान कराती है, यह बात इस प्रकार है। अब यह मनुष्य इस प्रकार आत्मशक्तिका अनुभव लेता है, तब यह सब जगत्के लिये अपने आपका समर्पण करता है—

आत्मानं द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय निदधे।
(म. ७)

'मैं अपने आपको द्यावा पृथिवीके लिये रक्षाके अर्थ देता हू।' इस प्रकार सब जगत् इसकी रक्षा करता है, सब विश्वसे जो सुरक्षित होता है, वह निर्भय होकर विचरता है। इसी

सूर्य
दिशा
अश्विनी कुमार
अग्नि
पर्वत
आकाश
वायु
वायु
मरुत्
इंद्र
रुद्र
इंद्र
मरुत्
रुद्र
ब्रह्म
आत्मा
तेज
इंद्र
चंद्र
सरस्वती
सर्प
आप
आप
पृथ्वी
पृथ्वी

निर्भयतासे उसकी उन्नति होती है। इसके पश्चात् वह जितना अधिक आत्मसमर्पण करता है, उतना अधिक बल प्राप्त करता है। इस रीतिसे— 'आयु, बल, शक्ति, कर्म, बुद्धि, इन्द्रिय, आदिकी शक्तियां उत्कृष्टतम हो जाती हैं।' (म. ८) यह उसका शक्तिविकास है। 'इस प्रकार अन्न देनेवाले दोनों लोक इसकी पूर्ण रक्षा करते हैं।' (मं. ८) ये लोक वस्तुत —

मे आत्मसदौ स्तम् (म ८)

'मेरी आत्मामें रहनेवाले हैं।' यह बात उपनिषद्वचनोंसे इसके पूर्व बतादी है। अपने शरीरमें आत्माके आधारसे ये सब सूर्यादि पदार्थ अर्थात् तीनों लोक रहते हैं।

ये सब उन्नति ही करते हैं और धर्मपथपर चलनेसे कभी अवनति नहीं करते। इस प्रकार नवम सूक्तका विचार हुआ, अब दशम सूक्तका विचार करते हैं—

पत्थरका कवच।

दशम सूक्तके आदिके सात मंत्रोंमें 'पत्थरके कवच' का वर्णन आया है। पूर्वोक्त ज्ञान ही मनुष्यका 'पत्थर जैसा दृढ कवच' है, जिससे मनुष्य सुरक्षित होकर उन्नतिको प्राप्त कर सकता है। 'किसी भी दिशासे शत्रु हमला चढावे, जिसके शरीरपर यह पूर्वोक्त ज्ञानरूपी कवच है वह हमेशा सुरक्षित रहता है।' (म. १-७) यह इन सात मंत्रोंका तात्पर्य है। जो ज्ञान पत्थर जैसा सुदृढ कवच है, वही पूर्वोक्त मंत्रमें कहा हुआ ज्ञान इस सूक्तके अष्टम मंत्रमें पुनः कहा है—

'सूर्यसे चक्षु, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथिवीसे शरीर, वायुसे प्राणापान और बृहच्छक्तिसे मन, सरस्वतीसे वाणी, प्राप्त करता हूं।' (मं ८) इस मंत्रमें भी पूर्व सूक्तोक्त ज्ञान ही कहा है। क्योंकि यही मनुष्यका रक्षक सुदृढ कवच है। पाठक, इस ज्ञानको अपनावें और निर्भय बनें।

मुक्तिका सीधा मार्ग।

(कां. २, सू. ३४)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— पशुपतिः ।)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥ १ ॥
प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥
ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

अर्थ— (यः पशुपतिः) जो पशुपति (यः द्विपदां उत चतुष्पदां ईशे) द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है (सः निष्क्रीतः) वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ (यज्ञियं भागं एतु) यजनीय विभागको प्राप्त होवे। (रायः पोषाः यजमान सचन्ताम्) धन और पुष्टियां यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो! (भुवनस्य रेतः प्र मुञ्चन्तः) भुवनके वीर्यका दान करते हुए (यजमानाय गातुं धत्त) यज्ञ करनेवालेके लिये सन्मार्ग प्रदान करो। (यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्थात्) जो सोमरूप सुसंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें (एतु) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(ये दीध्यानाः) जो प्रकाशमान (बध्यमानं अनु) बधे हुएको अनुकूलताके साथ (मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्त) मनसे और आंखसे देखते हैं, (विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः अग्निः) विश्वकर्ता प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव (तान् अग्रे प्रमुमोक्तु) उनको सबसे पहले मुक्त करे ॥ ३ ॥

(ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण विविधरंग रूपवाले पशु (बहुधा विरूपाः सन्तः एकरूपाः) बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपर भी एकरूप होनेके समान ही हैं (प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः) प्रजाके साथ रमनेवाला प्रजा पालक प्राण देव (तान् अग्रे प्रमुमोक्तु) उनको पहले मुक्त करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो द्विपाद और चतुष्पात् आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह निःशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूजाके स्थानमें पूजित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियां उपासकको प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

सब देव इस उपासकको संसारका वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्ग बताते हैं और वनस्पति संबंधी सुसंकृत देवोंके लिये प्रिय ऐसा जो अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥

जो तेजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आंखसे बद्ध स्थितिमें रहे हुए प्राणीको अनुकम्पाकी दृष्टिसे देखते हैं, उनकोही विश्वका निर्माण करनेवाला और प्रजाओंमें रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥ ३ ॥

ग्राम्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहिले मुक्त करता है ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

अर्थ— (पूर्वे प्रजानन्तः) पहले विशेष जाननेवाले ज्ञानी (परि आचरन्तं प्राणं) चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको (अंगेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु) सब अंगोंसे ग्रहण करें। (शरीरैः प्रतितिष्ठ) सब शरीरांगोंसे प्रतिष्ठित रह, पश्चात् (देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छ) देवोंके जाने योग्य मार्गोंसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥५॥

भावार्थ— जो ज्ञानी लोग सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको सब अंगों और अवयवोंसे इकट्ठा करके अपने आधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे पृथक होते हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वर्गको जाते हैं और प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

मुक्तिका सीधा मार्ग।

प्राणका आयाम।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है। वास्तवमें यह एक ही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका *माना जाता है* और इसी एकको अनेक नाम भी दिये जाते हैं। ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहांसे स्वेच्छासे निवृत्त होता है। यदि इस प्राणपर मनुष्यकी इच्छाका स्वामित्व होगा अर्थात् मनुष्यकी इच्छाके *अनुसार प्राणका अंगों और अवयवोंमें गमन होगा*, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छामरणकी सिद्धि भी प्राप्त होगी। यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर *ही निर्भर है।* इसी लिये पंचम मंत्रमें कहा है—

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गेभ्यः प्रति-गृह्णन्तु। (मं. ५)

'जाननेवाले बडे लोग संचार करनेवाले प्राणको सब अंगोंसे इकट्ठा करके अपने स्वाधीन कर लेवें।' इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कौन हैं यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वाधीन करनेका भी उपदेश दिया है, इसका अनुसंधान देखिये—

१ प्र- जानन्तः पूर्वे— (प्र-जानन्त) विशेष जानने वाले अर्थात् शारीर शास्त्र और योग शास्त्रके विशेष ज्ञाता; प्राणायामके शास्त्रको उत्तम प्रकार जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन सीखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवी हैं। वे लोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करें।

१ पर्याचरन्तं प्राण— (परि+ आचरन्) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें। प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावें। प्राणका संचार यदि योग्य रीतिसे नहीं होता है वहां रोग होते हैं; इसलिये प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होगई तो सब शरीर नीरोगी रखना और दीर्घ आयु प्राप्त करना भी संभवनीय है।

२ अङ्गेभ्यः प्राणं प्रतिगृह्णन्तु— शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहां सूचित किया है।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है। इसके अनुष्ठानसे यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका अनुष्ठान करके अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अपने शरीरके सब अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसको भेजना यह सब क्रिया अपने आधीन होनी चाहिये, इससे कौनसी सिद्धि हो सकती है इसका वर्णन इसी मंत्रमें देखिये—

शरीरैः प्रतितिष्ठ। (मं. ५)

'अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो' यह पांचवी सिद्धि है। स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार पांच

शरीर भी गिने जा सकते हैं, अंगों और अवयवोंकी गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पडेगा, इस लिये वह विचार हम छोड देते हैं। इन शरीरोंके साथ मनुष्य सुदृढ और सुप्रतिष्ठित हो सकता है। जो पूर्वोक्त साधन करेगा और प्राणको अपने आधीन बनायेगा, वह शरीरसे नीरोग, सुदृढ तथा दीर्घायु हो सकता है। यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अप्रत्यक्ष भी बहुतसे लाभ होते हैं। इस अप्रत्यक्ष लाभके विषयमें यही मंत्र इस प्रकार कहता है—

दिवं गच्छ। देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि। (मं ५)

'प्रकाशमय स्थान प्राप्त कर। देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा' यह है अन्तिम सिद्धि, जो इस प्रकारके मार्गसे और प्राणके वशी करणसे प्राप्त हो सकती है। योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म ग्रंथोंमें वर्णित हो चुकी है।

पशुपति रुद्र।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राणका वर्णन किया है, उसके वशी करणसे लाभ बताये और उसकी विधि भी कही है। इसी प्राणके वेदमें 'रुद्र, पशुपति' आदि नाम आये हैं। प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हो, दोनों अवस्थामें ये शब्द उसके वाचक होते हैं। यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें ये शब्द रुद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रुद्र है यह बात शतपथादि ब्राह्मणोंमें अनेकवार कही जा चुकी है। इस लिये पशुपति शब्द रुद्र और प्राण एक ही अर्थमें प्रयुक्त होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता।

शरीरमें 'पशुभाव' हैं, स्थूलशरीरमें पाशवी बल रहता है, इंद्रियोंमें भोगेच्छा, काम क्रोध आदि पशुभाव हैं, मनमें कुवासना आदि पशुभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतसे पशु विद्यमान हैं, उनको वशमें रखनेवाला, उनका स्वामी यह प्राण ही है। प्राणके वशमें होनेसे ये सब पशु वशमें हो जाते हैं और कोई कष्ट नहीं देते। पशुपति होना यह भी एक बडी भारी सिद्धि है, जो प्राणको वश करनेसे प्राप्त हो सकती है। प्राणका वर्णन अन्यत्र इसी प्रकार हुआ है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
अथर्व ११।(६)४।१

'प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है।' यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये— 'द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंका जो पशुपति स्वामी है वह अपना बननेके पश्चात् वह पूज्य स्थानमें जाता है और धन तथा पुष्टियां उपासकको मिलती हैं॥' (मं १)

द्विपाद और चतुष्पादोंके शरीरोंका चलानेवाला प्राणही है, इसके होनेसे सब इंद्रिय कार्य करते हैं और इसके चले जानेसे यह शरीर मुर्दा हो जाता है, इसलिये द्विपाद चतुष्पादोंका स्वामी प्राण है। यह प्राण (निःक्रीत) पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय, तब ही यह आधीन हो जाता है। कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने स्वामित्वमें आ जाता है। यह प्राण किस रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिये।

द्रव्य देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसा यह प्राण धनसे खरीदा नहीं जा सकता। इसको योगानुष्ठानरूपी तपके द्वारा खरीदनेकी आवश्यकता है। वैराग्य और अभ्यास द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् यह पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन होनेके पश्चात् 'यह (यज्ञियं भागं) पूजाके स्थानमें प्राप्त होता है,' यज्ञ स्थलमें यह प्राप्त होता है, योगी जन इसकी प्राणायाम द्वारा उपासना करते हैं, जिससे—

रायस्पोषाः यजमानं सचन्ताम्। (मं १)

'शोभा और पुष्टियां यजमानको मिलती हैं।' मंत्रमें 'राय' शब्द है जो 'धन, शोभा' आदिका वाचक है। योग मार्गसे प्राणकी उपासना करनेसे यह प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है। इसके साथ 'शरीर-प्रतिष्ठा' अर्थात् शरीर स्वास्थ्य रूप फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी यहां देखने योग्य है, क्योंकि 'शरीरकी प्रतिष्ठा' भी शरीरकी शोभा और पुष्टि होनेसे ही हो सकती है।

बीजशक्ति।

इस प्राणके अनुष्ठानसे और एक महत्त्व पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है—

भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः देवाः गातुं धत्त।

त्रिभुवनका बीज फैलानेवाले देव इसको योग्य मार्ग देते हैं।' त्रिभुवनके अन्दर अनंत पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके अनंत सूक्ष्म बीज हैं, यही त्रिभुवनका 'रेत' अथवा वीर्य है। यह वीर्य सूर्यादि देवोंके पास है। यह बीजशक्ति इन देवोंसे इस पुरुषको प्राप्त होती है जो प्राणको पूर्वोक्त प्रकार वश करता है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठासे जो वीर्य लाभ होनेका वर्णन योग सूत्रोंमें है वह वीर्य यही है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह बडी भारी शक्ति है, उसका विस्तार अपरिमित हो सकता है। यह बीज शक्ति यदि अपने अन्दर आ गई, तो बडी या वृद्धिंगत

हुई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बढ सकती है। योगीके अन्दर जो विलक्षण शक्ति आती है उसका कारण यही है कि, वह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है।

योगीका अन्न।

द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें योगीके सेवन करने योग्य सात्त्विक अन्नका वर्णन हुआ है—

यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्यात् सत् अपि एतु ॥ (मं. २)

'जो वनस्पति संबंधी उत्तम संस्कार किया हुआ देवोंका प्रिय अन्न है वह अन्न हमें प्राप्त हो।' इसमें दिव्य अन्नका थोडासा वर्णन है। अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाडनेवाला न हो। 'शशमान' शब्द चन्द्र या सोम औषधिका वाचक है। यह देवोंका अन्न है। सोम अन्न वनस्पतिका रस ही है। इस रसमें गौका ताजा दूध मिलाया जाता है और सत्तू भी मिला होता है। यह रस पुष्टि कान्ति और बल बढानेवाला है। अन्न (देवानां प्रियं) देवताओंके लिये प्रिय हो, देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है। यह अर्थ लेनेसे अन्न ऐसा हो कि जो इंद्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिये हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिलता है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिये कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंको निर्बल करनेवाला हो। इस मंत्रका '*पाथः*' शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है। यह सब वनस्पतिजन्य रसरूप बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है। दूधके साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस आदि सेवन करना योग्य है। सोमरस पानका विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है।

मुक्तिका मार्ग।

तृतीय मंत्रमें मुक्तिका सीधा मार्ग बताया है, जो हरएकको मनमें धारण करना चाहिये—

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च बध्यमानं अनु अन्वैक्षन्त। (मं. ३)

'जो तेजस्वी लोग बद्ध हुएको मनसे और आंखसे अनुकम्पाकी दृष्टिसे देखते हैं,' वे मुक्तिके अधिकारी हैं। वे ही बंधनसे छूट सकते हैं और कैवल्य धाममें पहुंच कर विराजमान हो सकते हैं।

स्वयं (दीध्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त तपोनुष्ठानसे अपना तेज जिन महात्माओंने बढाया है, उनको चाहिये, कि वे अपने (**मनसा**) मनसे, अपने अन्तःकरणके गहरे भावसे तथा अपने (**चक्षुषा**) आंखसे बंधनमें फंसे, गुलामीमें सडनेवाले, परतंत्र जीवोंपर दयाकी दृष्टिसे देखें अर्थात् यहां केवल आंखसे ही देखना नहीं है अपितु अंतःकरणसे उनकी हीन अवस्थाको सोचना है, उस अवस्थाका दिलसे मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिये अपनी ओरसे जहांतक हो सकता है वहांतक यत्न भी करना है। उनकी सहायताके लिये आत्मसमर्पण करना है। जो महात्मा दीनोंके उद्धारके लिये आत्मसमर्पण करते हैं वे ही मुक्तिके अधिकारी हैं। परमात्माको दीनोंके अंतःकरणमें अनुभव करके उसकी सेवा करना, अथवा दीनोंके उद्धारके प्रयत्नसे परमात्माकी उपासना करना, आदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं। इनकी पद्धति कैसी होती है यह भी देखिये—

प्रजया संरराणः विश्वकर्मा अग्निः देवः अग्रे तान् प्रमुमोक्तु। (मं. ३)

'प्रजाके साथ रहनेवाला विश्वका कर्ता तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे।' इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके साथ रहता है, अर्थात् प्रजाजनोंके अंतःकरणमें रहता है। दीन प्रजाओंमें उसको जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट दीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजाकी सेवा करना ही परमात्माकी भक्ति करना है। इसीलिये इस मंत्रके पूर्वार्धमें कहा है कि 'बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनोंको अनुकंपाकी दृष्टिसे मनसे और आंखसे देखनेवाले सबसे पहले मुक्त होते हैं।' पाठक यहां परमात्मोपासनाका सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें।

विश्वरूपमें एकरूपता।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरेसे तीसरा भिन्न, यह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है। विचार होता है कि क्या यह भेद सदा रहता है अथवा इसका अभेद होनेकी कोई युक्ति है। चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अभ्यास करो, जैसा—

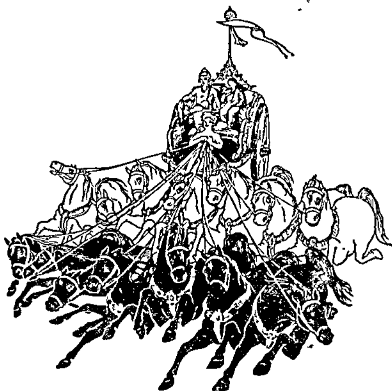
विश्वरूपाः विरूपाः सन्तः बहुधा एकरूपाः। (मं. ४)

'विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होनेपर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही हैं।' उदाहरण ग्राम्य पशु ही लीजिये— गौवें रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं, यह भेददृष्टि है। इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है। अब यह

दृष्टि छोड दें और 'गो–पन' (गोत्व) की सामान्य दृष्टिसे सब गौओंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौवें एक गोजातिमें मिल जाती हैं, जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति दृष्टिसे भिन्नताका इस प्रकार अनुभव आता है। अब ग्रामीण पशुओंमें गौ, बैल, घोडी, घोडा, बकरी, मेंढी, गधा, गधी आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इसमें किसीको भी शंका नहीं हो सकती। परंतु यह सब जाति भेदकी भिन्नता 'पशुत्व' सामान्यमें, अर्थात् ये सब 'पशु' हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे लुप्त हो जाती है और पशुभावमें सब एक दिखाई देते हैं। पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु 'प्राणी' होनेके कारण दोनोंकी एकता 'प्राणी' भावमें होती है। इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नताका विचार करना उचित है और किस दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किस दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये। चतुर्थ मंत्र कहता है कि 'विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकारसे एक रूपता है' और इस एकरूपताका ही विचार करना चाहिये। अपने शरीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानोंमें विभक्त होनेके कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रकारका नहीं है, विभिन्न दस कार्य करनेपर भी वह सब मिलकर एक ही है। विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यको देखना ही शास्त्रकी दृष्टि है। इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रकी (आत्माकी) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना शास्त्रकी दृष्टिसे देखना होता है। इंद्रियोंकी भिन्नता बच्चा भी जान सकता है, परंतु उनमें एक आत्माकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अभ्याससे ही साध्य हो सकता है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न तेंतीस देवताओंमें एक अभिन्न आत्माकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह ओत प्रोत हुई है, इस दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महात्मा मुक्तिके अधिकारी हैं, इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

प्रजया संरराणः प्रजापतिः प्राणः देवः
तान् अग्रे प्रमुमोक्तु ॥ (मं. ४)

'प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजाका पालक प्राण देव उन महा-



मन सारथी है, और इंद्रियरूपी दस घोडे जुते हैं।

शरीर रूपी रथमें आत्मा और बुद्धि बैठी हैं,

त्माओंको पहले मुक्त करे ' जो विविध प्रकारके विभिन्न जगतमें अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारीका यह भी एक लक्षण है। इस रीतिसे इस सूक्तने मनुष्यकी आत्मिक उन्नतिका मार्ग क्रमशः बताया है। यदि पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको बडा बोध प्राप्त हो सकता है। सुबोधताके लिये यहां संक्षेपसे फिर सारांश कह देते हैं—

१ ज्ञानी योगी अपने सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंसे इकट्ठा करके अपने आधीन करे। इससे शरीरकी दृढता होगी और प्रकाशके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्ति भी होगी। (मं ५)

२ प्राण सब द्विपाद चतुष्पादोंका संचालक है, वह स्वाधीन होनेपर पुष्टि और शोभा बढाता है। (मं १)

३ प्राणको वशमें करनेसे विश्वचालक सूर्यादि देवोंसे बडी वीर्यकी शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य सुसंस्कार किया हुआ भोजन करना योग्य है। (मं २)

४ जो अपने मनसे और आंखसे दोनोंको अनुकंपाकी दृष्टिसे देखता है और उनके उद्धार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं ३)

५ जगत्की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं ४)

यह सारांशसे इस सूक्तका तात्पर्य है। पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं।

पशु।

पशु वाचक शब्द प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बडा ही महत्व पूर्ण उपदेश दिया है। यहां पशु शब्दसे गाय घोडे आदि पशु ऐसा अर्थ समझनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मनुष्य भी एक पशु ही है। जबतक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नहीं होता है, तब तक यह पशु ही रहता है। जितने प्रमाणसे इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्वका विकास होगा। मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रियां पशुरूप ही हैं। इस शरीर रूपी रथमें ये इतने पशु जोते गये हैं। इन पशुओंके उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है। इसलिये इन पशुओंको स्वाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनके अंदर भी काम क्रोधादि पशुभाव हैं। इन सब पशुओंको सुशिक्षासे वश करना चाहिये और मनुष्य व (मननशीलत्व) का विकास करना चाहिये। मनुष्य बननेका प्रारंभ होनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है। इत्यादि विचार पाठक करें और इस सूक्तसे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी पराकाष्ठा करें।

मुक्ति।

(काण्ड ७, सूक्त ८३[८८])

(ऋषि — शुनःशेप। देवता— वरुण)

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अर्थ— हे वरुण राजन्! (ते गृहः अप्सु) तेरा घर जलोंमें है और वह (मिथः हिरण्ययः) आप आप सुवर्णमय भी है। (ततः धृतव्रतः राजा) वहांसे व्रतपालक वह राजा (सर्वा धामानि मुञ्चतु) सब स्थान मुक्त-बंधन-रहित-करे ॥ १ ॥

भावार्थ— हे सबके राजाधिराज प्रभो! तेरा धाम सुवर्ण जैसा चमकनेवाला आकाशमें है। वह तू इस जगत्‌के सत्यनियमोंका पालन करनेवाला एकमात्र राजा है। वह तू हमें सब बन्धनोंसे छुडा ॥ १ ॥

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥ २ ॥
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ३ ॥
प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे वरुण राजन् ! (इत धाम्न धाम्नः नः मुञ्च) इस प्रत्येक बंधनस्थानसे हमारी मुक्तता कर। (यद् ऊचिम) जो हम कहते है कि (आप अघ्न्याः इति) जल अवध्य गौके समान प्राप्तव्य है और (वरुण इति) हे वरुण तू ही श्रेष्ठ है, हे वरुण ! (ततः नः मुञ्च) इस कारणसे हमें मुक्त कर ॥ २ ॥

हे वरुण ! (उत्तम पाशं अस्मत् उत् श्रथाय) उत्तम पाशको हमसे जरा ढीला कर, (अधमं पाशं अवश्रथाय) अधम पाशको भी दूर कर, तथा (मध्यमं पाशं विश्रथाय) मध्यम पाशको हटा दे । हे आदित्य ! (अथा वयं तव व्रते) अब हम तेरे नियममें रहकर (अनागसः अ-दितये स्याम) निष्पाप बनकर बंधनरहित-मुक्ति-अवस्थाके लिये योग्य हों ॥ ३ ॥

हे वरुण ! (ये उत्तमा ये अधमाः वारुणाः पाशाः) जो उत्तम मध्यम और कनिष्ठ वारुण पाश हैं उन (सर्वान् पाशान् अस्मत् प्रमुञ्च) सब पाशोंको हमसे दूर कर। (दुःस्वप्न्यं दुरितं अस्मत् निःस्व) दुष्ट स्वप्न और पापका आचरण हमसे दूर कर । (अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकं) अब पुण्य लोकको हम प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ— हम सबको हरएक बन्धनसे मुक्त कर । मुक्तिकी इच्छासे हम आपके गुणगान करते हैं ॥ २ ॥

हे श्रेष्ठ देव ! हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाश खोल दे । तेरे व्रतमें रहते हुए हम सब निष्पाप होकर बन्धनसे मुक्त होनेके लिये योग्य हों ॥ ३ ॥

हमारे सब पाश मुक्त कर, हमसे पाप दूर कर, जिससे हम पुण्यलोकको प्राप्त हों ॥ ४ ॥

मुक्ति ।

तीन पाशोंसे मुक्ति ।

मनुष्यको मुक्ति चाहिये । परंतु वह मुक्ति बंधनकी निवृत्ति होनेके विना नहीं हो सकती । उत्तम, मध्यम और अधम वृत्तिके तीन बंधन मनुष्यको बंधनमें डालते हैं । सात्विक, राजस और तामस वृत्तिके ये बंधन हैं जो मनुष्यको पराधीन कर रहे हैं । तमोवृत्तिके बंधनकी अपेक्षा सात्विक बंधन बहुत अच्छा है इसमें संदेह नहीं, परंतु वह बंधन ही है । लोहेकी शृखलाका बंधन जैसा बंधन है उसी प्रकार सोनेकी शृंखलाका भी बंधन ही है । इसी प्रकार हीन मनोवृत्तियोंके बंधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ मनोवृत्तियोंका बंधन बेशक अच्छा है, परंतु चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेकी अपेक्षासे वह भी बंधन ही है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् सब वृत्तियोंके पाश हमसे दूर कर ।

पापसे बचो ।

बंधन दूर होनेके लिये मनुष्यको (अन्-आगस्) निष्पाप होना चाहिये। पाप वृत्तिके दूर होनेके विना बंधनका क्षय होना संभव नहीं है । (दुरितं) जो पाप अन्तःकरणमें होता है वह दूर होना चाहिये । परमेश्वर भी तभी दया करके बंधनसे मुक्त कर सकता है । अतः मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह पापसे बचनेका यत्न करे ।

इसके लिये ईश्वरकी भक्ति यह एकमात्र मुक्तिका श्रेष्ठ साधन है। 'दिति' नाम बंधनका है, उससे मुक्त होनेका नाम 'अ-दितिकी प्राप्ति' होना है। मुक्तिकी प्राप्ति ही यह है।

परमेश्वर (धृत-व्रतः) हमारे व्रतोंका निरीक्षक है। वह अपने नियमानुकूल रहता है और जो उसके नियमोंके अनुकूल चलता है, उसीपर वह दया करता है। और सीधे मार्गपर चलाता है। जिससे निर्विघ्न रीतिसे मनुष्य मुक्तिको प्राप्त होता है।

व्रत धारण।

व्रत धारण करनेके विना मुक्ति नहीं हो सकती, यह एक उपदेश इस सूक्तसे मिलता है, क्योंकि (धृतव्रत) व्रत धारण करनेवाला ही यहां बंधमुक्त होनेका अधिकारी है ऐसा कहा है। व्रतधारण और व्रतपालनसे मनोबल और आत्मिक बल बढता है। जो लोग व्रत पालनेमें शिथिल रहते हैं वे उन्नतिको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। व्रत अनेक हैं, सत्य बोलना, सत्यके अनुसार आचरण करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, पवित्रता धारण करना, इत्यादि। इन सबकी यह गिनती नहीं की जासकती। पाठक अपनी कर्तव्यशक्तिका विचार करें और जो व्रत करना हो वह करनेका प्रारंभ करें। एकवार लिया हुआ व्रत पालन करनेमें शिथिल न बनें। इस प्रकार करनेसे व्रतपालनका सामर्थ्य आजायगा और क्रमसे उन्नति होगी।

मुक्ति।

(कां. ६, सू. १२३)

(ऋषि:— भृगुः। देवता — विश्वेदेवाः)

एतं स॑धस्थाः॒ परि॑ वो ददामि॒ यं शे॑वधिमा॒वहा॑ज्जा॒तवे॑दाः।
अ॒न्वा॒ग॒न्ता यज॑मानः स्व॒स्ति तं स्म॑ जानीत पर॒मे व्यो॑मन् ॥ १ ॥
जा॒नी॒त स्मै॑नं पर॒मे व्यो॑मन् देवाः॒ सध॑स्था वि॒द लो॒कम॑त्र।
अ॒न्वा॒ग॒न्ता यज॑मानः स्व॒स्तीष्टापू॒र्तं स्म॑ कृणुता॒विर॑स्मै ॥ २ ॥
दे॒वाः॒ पित॑रः॒ पित॑रो दे॒वाः। यो अस्मि॒ सो अ॑स्मि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सधस्थाः) साथ साथ रहनेवालो! (वः एतं शेवधिं परिददामि) तुमको यह खजाना मैं देता हूं, (यं जातवेदाः आवहात्) जिसको जातवेदाने तुमतक पहुंचाया है। जो (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यजमान कुशलताके साथ आवेगा (तं परमे व्योमन् जानीत) उसको परम स्वर्गमें स्थित जानो ॥ १ ॥

हे (सधस्थाः देवाः) साथ रहनेवाले देवो! (एनं परमे व्योमन् जानीत स्म) इसको परम स्वर्गधाममें स्थित जानो और (अत्र लोकं विद) इसीमें यह लोक है यह समझो। (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यज्ञकर्ता सुखसे पीछेसे आवेगा। (अस्मै इष्टापूर्तं आविः कृणुत स्म) इसके लिये इष्ट और पूर्त कहलानेवाले दान हों ऐसा करो ॥ २ ॥

(देवाः पितरः) देव पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं अर्थात् (पितरः) पालक (देवाः) देवता हैं, पूजनीय हैं, और जो पूजनीय हैं वे ही सबके पालक होते हैं। (यः अस्मि सः अस्मि) जो वास्तवमें मैं हूं, वही मेरी वास्तविक स्थिति है ॥ ३ ॥

भावार्थ— सर्वज्ञ देवने जो तुम्हारे स्थानतक पहुंचाया है, उस आत्मशक्तिके खजानेको मैं तुम्हें देता हूं। इसीके पीछे पीछे जो यजमान आवेगा वह परम स्वर्गधामको पहुंच जायगा ॥ १ ॥

सत्कर्म करनेवाला परम धाममें स्थित होता है, यह निश्चित बात है। यज्ञकर्ता उसी धाममें पहुंचता है, उसका इष्टापूर्तसे स्वागत करो ॥ २ ॥

जो पालन करते हैं वे देव हैं और जो देवी भावसे युक्त हैं वे पालना करते ही हैं। मनुष्य अपनी योग्यता बाहर कितनी भी बतावे, जितनी अन्तरात्माकी अवस्था होगी उतनी ही उसकी वास्तविक योग्यता है ॥ ३ ॥

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥
नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु ।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

अर्थ— (सः पचामि) वह मैं पकाता हूं, (सः ददामि) वह मैं देता हूं, (सः यजे) वह मैं यज्ञ करता हूं। (सः दत्तात् मा यूषं) वह मैं दानसे पृथक् न होऊं ॥ ४ ॥

हे राजन् ! (नाके प्रतितिष्ठ) स्वर्गधाममें प्रतिष्ठित हो, (तत्र एतत् प्रतितिष्ठतु) वहां यह हमारा यज्ञ प्रतिष्ठित होवे। हे राजन् ! (नः पूर्तस्य विद्धि) हमारी पूर्तिका उपाय जान और हे देव ! (सुमना भव) उत्तम मनवाला हो ॥५॥

भावार्थ— *मैं यज्ञके लिये अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मैं यज्ञ करता हूं। मैं दान करनेसे कभी निवृत्त न होऊं ॥४॥*
स्वर्गधाममें स्थिर हो जा। यह हमारा कर्म स्वर्गमें स्थिर रहे। अपनी पूर्णता करनेका उपाय जान और उत्तम मनसे युक्त हो ॥ ५ ॥

मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम यह बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि शक्तिका खजाना अपनी आत्मामें है बाहर नहीं है। अन्दरसे शक्ति प्राप्त होती है बाहरसे नहीं। जो इस कल्पनाको मनमें धारण करते हैं, वे स्वर्गधाममें पहुंचते हैं और जो समझते हैं कि शक्ति बाहरसे प्राप्त होती है, वे पीछे रह जाते हैं। जो सत्कर्म करते हैं, वे ही स्वर्गधामको प्राप्त होते हैं; अन्य लोग पीछे रह जाते हैं। सत्कर्मका अर्थ जनताका पालन करना, इसी कर्मसे देवत्व प्राप्त होता है और जिनमें देवत्व होता है, वे जनताका पालन करते ही हैं। मनुष्य अपनी शुद्धताके विषयमें ढोंग मचाकर दूसरोंको ठग सकता है, परंतु सत्कर्मकी कसौटीसे उसकी योग्यता वास्तविक जितनी होती है उतनी ही होती है, ढोंगसे उसकी योग्यता बढती नहीं। मनुष्य पकाना, देना, आदि जो कर्म करे वह यज्ञके लिये अर्थात् जनताकी भलाईके लिये ही करे और इस कर्मसे कभी पीछे न हटे। इसीसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और वहां सुख प्राप्त होता है।

मुक्तिका अधिकारी ।

(काण्ड ६, सूक्त १११)

(ऋषि — अथर्वा । देवता— अग्नि ।)

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥ १ ॥
अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः बद्धः सुयतः लालपीति) जो बद्ध मनुष्य उत्तम बद्ध होनेके कारण बहुतसा आक्रोश करता है, (मे इमं पुरुषं मुमुग्धि) मेरे इस पुरुषको मुक्त कर। (यदा) जब मनुष्य (अनुन्मदितः असति) उन्मादरहित होता है (अतः ते भागधेयं अधि कृणवत्) तब तेरा भाग्य सब प्रकारसे होगा ॥ १ ॥

(अग्निः ते निशमयतु) तेजस्वी देव तेरे अन्दर शान्ति उत्पन्न करे (यदि ते मन उद्युतं) यदि तेरा मन उखड गया है। (यथा अनुन्मदितः अससि) जिससे तू उन्मादरहित होगा, (भेषजं विद्वान् कृणोमि) वैसा औषध जानता हुआ मैं वैसा करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— जो बद्ध है और बधमुक्त होनेके लिये आक्रोश करता है, उसकी मुक्तता होती है। जो उन्मत्त नहीं बनता उसका भाग्य उदय होता है ॥ १ ॥

जिसका मन उदास हुआ है उसको परमेश्वर ही शान्ति देगा। जो उन्मत्त नहीं होता है उसकी उन्नतिके लिये उपाय हो सकता है ॥ २ ॥

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोसति ॥ ३ ॥
पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोससि ॥ ४ ॥

अर्थ— (देव-एनसात् उन्मदितं) देव सबकी पापसे उन्माद हुआ हो (राक्षसः परि उन्मत्तं) राक्षसके पापसे उन्माद हुआ हो, (विद्वान् भेषजं कृणोमि) मैं जानता हुआ औषध करता हूं (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे तू उन्मादरहित होगा ॥ ३ ॥

(अप्सरसः त्वा पुनः दुः) अप्सरोंने तुझे पुनः दिया है, (इन्द्रः पुनः, भागः पुनः) इन्द्र और भगने तुझे पुनः दिया है। (विश्वे देवाः त्वा पुनः अदुः) विश्वे देवोंने तुझे फिर दिया है, (यथा अनुन्मदितः असासि) जिससे तू उन्मादरहित हुआ ॥ ४ ॥

भावार्थ— देवी और राक्षसी पाप करनेके कारण जो उन्मत्त होते हैं, उनका उपाय करके उन्मादको दूर किया जासकता है ॥ ३ ॥

अप्सरा, इन्द्र, भग और सब इतर देव इनकी सहायतासे इस रोगीको पुन आरोग्य प्राप्त हुआ है। अर्थात् इसका उन्माद दूर हुआ है ॥ ४ ॥

मुक्तिका अधिकारी।

मुक्त कौन होता है ?

जो मनुष्य बद्ध होनेकी अवस्थामें बद्धतासे त्रस्त हुआ होता है, और मुक्त होनेके लिये तडपता है, आक्रोश करता है और बद्धतासे पूर्ण असमाधान व्यक्त करता है, वह मुक्तिका अधिकारी है, देखिये—

यः सुयतः बद्धः लालपीति, इम पुरुषं मुमुग्धि ॥ (म १)

'जो उत्तम रीतिसे बद्ध हुआ मनुष्य आक्रोश करता है, उस पुरुषको मुक्त कर' जो बद्ध अवस्थामें सन्तुष्ट रहते हैं उनकी मुक्तता नहीं होगी। क्योंकि वे जन्मसे ही गुलाम हैं और गुलामीमें रहनेके लिये सिद्ध हैं और गुलाम रहनेमें आनन्द मानते हैं अथवा कई तो अपनी गुलामी सुदृढ होनेके लिये प्रयत्न भी करते हैं। ऐसे लोग तो सदा गुलामीमें रहेंगे ही। गुलामीसे मुक्त वे होंगे कि जो गुलामीमें रहना नहीं चाहते और मुक्त होनेके लिये तडपते हैं और गुलामीसे छूट जानेके लिये महा-आक्रोश करते हैं। 'मैं गुलामीसे संतप्त हूं, मैं इसके बाद गुलामीमें रहना नहीं चाहता, देखो! मुझे बन्धन तोडनेमें सहायता देओ, मैं मर जाऊंगा परंतु इससे आगे गुलामीमें नहीं रहूंगा' इस प्रकार आक्रोश द्वारा जो अपने मनके भाव व्यक्त करता है वह मुक्तिका अधिकारी है। इस प्रकार आक्रोश करता हुआ भी जो प्रमाद करेगा वह मुक्त नहीं होगा, परंतु प्रमाद-रहित होकर यत्न करेगा वही मुक्त होगा, इस विषयमें मंत्रका उपदेश देखिये—

यदा अनुन्मदितः असति, अतः भागधेयं अधि कृणवत् ॥ (म. १)

'जब उन्मत्त नहीं होता, तब पश्चात् उसका दैव उदय होता है' अर्थात् केवल गुलामीके विरुद्ध मनके भाव प्रकट करनेसे ही कार्य नहीं होगा, गुलामीसे त्रस्त हुआ मनुष्य यदि पागल बनेगा और अयोग्य वर्तन करेगा, तो उससे उसका लाभ नहीं होगा। उसे उन्मत्त अथवा प्रमादी बनना नहीं चाहिये, प्रत्युत दक्ष और योग्य रीतिसे सावधानतापूर्वक होना चाहिये, तभी उसका भाग्य उदयको प्राप्त होता है। बंधनसे मुक्त होनेकी

आतुरता, मनके भाव स्पष्टशब्दोंमें व्यक्त करनेका धैर्य, दक्षतासे स्वकर्तव्य करना ये तीन साधन करनेके पश्चात् उसका भाग्य उदय होने लगता है।

सामान्यतः मुक्ति प्राप्त करनेके ये उपाय हैं। यह मुक्ति आध्यात्मिक हो, राजकीय हो, सामाजिक हो, या रोगोंसे मुक्ति हो, ये नियम सब मुक्तियोंके लिये सामान्य हैं।

मन उखड जानेपर।

मुक्तिका पथ बडा कठिन है, किसी समय सिद्धि मिलती है और किसी समय उलटी हानि भी होती है। हानिके समय मन उखड जाता है, उदास होता है, किंकर्तव्यतामूढ होता है, उस समय—

यदि ते मनः उद्युतं, अग्निः निशमयतु। (मं. २)

'यदि तेरा मन उखड गया हो, तो तेजस्वी देव तुझे शान्ति देवे।' इस समय मुक्तिकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रभुकी प्रार्थना करे, प्रभुसे शान्ति प्राप्त होगी। मन कितना भी दुःखी हुआ हो प्रभुकी शरणमें जानेसे उसे शान्ति प्राप्त होगी। अतः मुक्तिकी इच्छा करनेवाले लोग उदासीनताके समय प्रभुकी शरण लें, अथवा कभी उदासीनता न आजाय इसलिये प्रतिदिन उसकी भक्ति करें। इससे मन शान्त रहेगा, प्रमाद नहीं होंगे और उन्नतिका मार्ग सीधा खुला होगा।

पापके दो भेद।

पापके दो भेद हैं, एक देवोंके संबंधके पाप और दूसरे राक्षसोंके कारण होनेवाले पाप। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, औषधि आदि अनेक देवताएं हैं, इनके विषयमें पाप मनुष्य करते हैं, भूमिका अपहरण, जलका बिगाड करना, वायुको दोषी बनाना आदि जो हैं वे सब देवोंके संबंधमें पाप हैं। इन पापोंसे दोष होते हैं और मनुष्य प्रमाद करते हैं और दुःख भोगते हैं। दंभ, दर्प, अभिमान आदि राक्षसी भाव हैं, जिनके कारण मनुष्य पाप करता है और दोषी होकर दुःख भोगता है। ये दो प्रकारके पाप हैं, मनुष्य इन दोनों प्रकारके पापोंसे अपने आपको बचावे, यह आदेश देनेके लिये निम्नलिखित मंत्रभाग है—

देव-एनसात् उन्मदितं, रक्षसस्परि उन्मत्तम्।
भेषजं कृणोमि यदा अनुन्मदितः असति॥ (मं. ३)

'देवताओंके संबंधके पापसे जो दोष हुआ है, और राक्षसोंके पापसे जो जो हुआ है, उनको दूर करनेके लिये मैं उपाय करता हूं, जिससे तू उन्मादरहित होगा।' इस मंत्रका भाव अब पाठकोंके ध्यानमें आगया होगा। ये दो प्रकारके दोष दूर होनेसे ही मनुष्यका भाग्य उदय होता है और उसके बंधन दूर हो सकते हैं, तथा मुक्ति भी उसको मिल सकती है।

अन्तिम मंत्रका भाव यह है कि जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार निर्दोष होता है, उसकी सब देवगण सहायता करते हैं और वह प्रमादरहित होता है।

यह सूक्त कुछ क्लिष्टसा है, तथापि इस दर्शायी हुई रीतिसे विचार करनेपर यह सूक्त कुछ अंशमें सुबोध हो सकता है।

अमृतत्वकी प्राप्ति।

(का. ७, सू. १०६ [१११])

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— जातवेदा वरुणश्च)

यदस्मृ॑ति चकृ॒म किं चि॒दग्न उपारि॒म चर॑णे जातवेदः।
तत॑ः पाहि॒ त्वं न॑ः प्रचेतः शु॒भे सखि॑भ्यो अमृत॒त्वम॑स्तु नः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः अग्ने) जातवेद प्रकाश देव! (यत् चरणे किंचित् अस्मृति चकृम) जो आचारमें किंचित् बिना स्मरणके हम करें और उसमें (उपारिम) कुछ अशुद्धि करें। हे (प्रचेतः) उत्कृष्ट चित्तवाले देव! (त्वं नः ततः पाहि) तू हमें उससे बचा और (नः सखिभ्यः) हमारे मित्रोंको (शुभे अमृतत्वं अस्तु) शुभ मार्गमें अमरपन प्राप्त हो॥ १॥

यह उत्तम प्रार्थना है। 'हे प्रभो! हम जो आचरण करते हैं, उसमें यदि कुछ हमारे नासमझीके कारण कुछ अशुद्धि हो जावे, तो उस अपराधकी क्षमा हो और हमें शुभ मार्गसे अमृतत्वकी प्राप्ति हो जावे।' यह उत्तम प्रार्थना है और हरएक मनुष्यको प्रतिदिन करने योग्य है।

दिव्य वचन।

(काण्ड ७, सूक्त १०५, (११०))

(ऋषि — अथर्वा। देवता— मन्त्रोक्ता।)

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अर्थ— (पौरुषेयात् अपक्रामन्) सामान्य मनुष्योंके करनेयोग्य कर्मोंसे हट कर (दैव्यं वचः वृणानः) दिव्य वचनोंको स्वीकार कर, (विश्वेभिः सखिभिः सह) अपने सब मित्रोंके साथ (प्र-णीतीः अभ्यावर्तस्व) उत्कृष्ट नीति-नियमोंके अनुकूल आचरण कर ॥ १ ॥

सामान्य हीन अशिक्षित असभ्य मनुष्य जैसा हीन व्यवहार करते हैं उसको छोडना चाहिये। दिव्य उपदेशवचनोंको-वेद-वचनोंको- स्वीकार करना चाहिये। और अपने सब इष्टमित्रोंके साथ उस उपदेशके श्रेष्ठ आदेशोंके अनुसार अपना आचरण करना चाहिये। उन्नतिका यही मार्ग है।

उच्च बनकर रहना।

(का. ७, सूक्त १०२ (१०७))

(ऋषि — प्रजापतिः। देवताः— मंत्रोक्ताः नानादेवता.)

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मां हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवीभ्यां) द्युलोक और पृथ्वीलोकको तथा (अन्तरिक्षाय मृत्यवे नमस्कृत्य) अन्तरिक्ष और मृत्युको नमस्कार करके (ऊर्ध्वं तिष्ठन् मेक्षामि-मेषामि-मिषामि) ऊंचा खडा होकर निरीक्षण करता हूं। अतः (ईश्वराः मा मा हिंसिषु) स्वामी-अधिकारी- मेरा नाश न करें ॥ १ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक इनमें रहनेवाले आप्त पुरुषोंको और मृत्युको नमस्कार करके अपनी धर्म मर्यादाके अनुसार मैं रहता हूं। उच्च बनकर, उच्च स्थानमें रहता हुआ, उच्च विचार करता हुआ, उच्च लोगोंके साथ संबंध जोडता हुआ, आंखें खोलकर जगत्का निरीक्षण करता हूं। और योग्य आचरण करता हूं। अतः इस विश्वके अधिकारी मेरी हिंसा न करें, मेरा घातपात न करें।

अध्यात्म प्रकरण।

(का. १३ सूक्त १)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— अध्यात्मं रोहितादित्यदेवते ।)

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥ १ ॥

उद्वाज आ गन् यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (**वाजिन् ! उत् एहि**) सामर्थ्यवान आत्मदेव ! तू उदयको प्राप्त हो । (**यः अप्सु अन्तः**) जो तू आपोमय प्राणोंके परे है, वह तू (**इदं सूनृतावत् राष्ट्रं प्रविश**) इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट हो,(**यः रोहित इदं विश्वं जजान**) जिस देवने यह सब उत्पन्न किया है, (**सः त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु**) वह तुझे इस राष्ट्रके लिए उत्तम भरणपोषणपूर्वक धारण करे ॥ १ ॥

(**यः अप्सु अन्तः**) जो आपोमय प्राणोंके अन्दर विद्यमान है वह (**वाजः उत् आगन्**) सामर्थ्य ऊपर आगया है । (**याः त्वत्-योनयः विशः**) जो तेरी जातिकी प्रजाएं हैं, उनमें तू (**आरोह**) उच्च स्थानमें विराजमान हो । (**इह सोम दधानः**) इस राष्ट्रमें सोमादि वनस्पतियोंका पोषण करते हुए (**अप ओषधीः गाः चतुष्पदः द्विपदः**) जल, औषधियां गौवें, चतुष्पाद और द्विपाद प्राणियोंको (**आवेशय**) निवास करा ॥ २ ॥

हे (**मरुतः**) मरनेतक लडनेवाले वीरो ! (**यूय उग्राः पृश्निमातरः**) तुम सब बहुत शूर और भूमिको अपनी माता माननेवाले हो, तुम (**इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत**) इन्द्रके साथ रहकर शत्रुओंका नाश करो । हे (**सुदानवः ! रोहितः आ शृणवत्**) उत्तम दान देनेवाल वीरो ! वह सूर्यदेव तुम्हारी बात सुने । (**त्रि— सप्तासः मरुतः स्वादुसंमुदः**) आप तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस प्रकारके वीर उत्तम आनंद देनेवाल हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रत्येक आत्मा अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करे । प्रत्येक मनुष्य राष्ट्रकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करे । अपने राष्ट्रपर प्रेम और उसकी उन्नति करनेका प्रयत्न करे । इस सूर्यदेवने इस जगत्की उत्पत्ति की है, वही तुम्हें राष्ट्रीय उन्नति करनेके लिये हृष्टपुष्ट करेगा ॥ १ ॥

मनुष्यका सामर्थ्य वही है जो उसके प्राणमें विद्यमान है । उस सामर्थ्यसे युक्त होकर अपनी सुजातीय प्रजामें— अर्थात् अपने राष्ट्रमें रहकर अभ्युदय प्राप्त करना चाहिये । यहां अपने राष्ट्रमें रहकर वनस्पतियां, जलस्थान, औषधियां, गौवें और अनेक द्विपाद तथा चतुष्पाद पशुओंका धारण करे ॥ २ ॥

सब लोग अपनी मातृभूमिकी रक्षा अपने उग्र शौर्यसे करें । मातृभूमिके शत्रुओंका नाश करें । मनमें उदारतायुक्त दातृत्वका भाव धारण करें । जो वीर मरनेतक लडनेवाले होते हैं, वे ही उत्तम आनंद देनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम् ।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥ ४ ॥
आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत् ।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः ॥ ५ ॥
रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान ।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥ ६ ॥
रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः ।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥ ७ ॥
वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ॥ ८ ॥

अर्थ— (रोहितः रुहः रुरोह) प्रकाशमान् सूर्यदेव उच्च स्थानमें विराजमान हुआ है, अर्थात (जनुषां जनीनां उपस्थं गर्भः आरुरोह) स्त्रीयोंकी गोदमें यह गर्भ बैठ गया है। (षट् ऊर्वीः ताभिः संरब्धं अन्वविन्दन्) छः दिशाओंने उनके द्वारा बढाये गर्भको प्राप्त किया । वह (गातु प्रपश्यन् इह राष्ट्रं आहाः) उन्नतिका मार्ग जानता हुआ यहां राष्ट्रको उन्नत करता है ॥ ४ ॥

(ते राष्ट्रं इह रोहितः आहार्षीत्) तेरे राष्ट्रको यहां वही सूर्यदेव लाया है। उसीने (मृधः वि आस्थत्) शत्रुओंको दूर किया, और (ते अभय अभूत्) तेरे लिए निर्भयता हो गयी है । (तस्मै ते रेवतीभिः शक्वरीभिः द्यावापृथिवी इह काम दुहाथा) उस तेरे हितके लिए धन और शक्तियोंद्वारा ये द्युलोक और पृथिवीको यहां इस राष्ट्रमें यथेच्छ उपभोग देवें ॥ ५ ॥

(रोहित द्यावापृथिवी जजान) इस सूर्यदेवने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको उत्पन्न किया है। [तत्र परमेष्ठी तन्तुं ततान] वहां परमात्माने सूत्र रूपात्माको फैलाया है । (तत्र एकपाद्ः अजः शिश्रिये) वहां एकपाद अजन्माने आश्रय लिया है । उसीने (बलेन द्यावापृथिवी अदृंहत्) अपने बलसे द्युलोक और पृथ्वीको सुदृढ बनाया ॥ ६ ॥

(रोहितः द्यावापृथिवी अदृंहत्) सूर्यदेवने द्युलोक और पृथिवी लोकको सुदृढ बनाया । (तेन तेन स्व नाकः स्तभितं) उसीने स्वर्गनामक सुखपूर्ण लोक ऊपर थाम रखा है । (तेन अन्तरिक्ष रजांसि विमिता) उसने अन्तरिक्ष लोकको बनाया और (तेन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) उसीके द्वारा सब देवोंका अमरत्व प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

(रोहितः प्ररुहः रुहः च समाकुर्वाण विश्वरूपं वि अमृशत्) सूर्यदेवने ऊंचे और नीचे सब दिशाओंको इकट्ठा करके सब विश्वके रूपको बनानेका विचार किया । वह (महता महिम्ना दिव रूढ्वा) अपने बडे सामर्थ्यसे द्युलोक पर आरूढ होकर (ते राष्ट्र पयसा घृतेन सं अनक्तु) तेरे राष्ट्रको घी और दूधसे भरपूर करे ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, मानो यह अपनी माताकी गोदमें बैठा है । इस समय मानो छहों दिशाओंने उस गर्भका धारण किया है । यह गर्भ आगे उन्नत होता है, स्वयं उन्नतिका मार्ग जानता है और राष्ट्रको भी उन्नत करता है ॥ ४ ॥

यह सूर्यदेव ही तेरे राष्ट्रको उच्च स्थितिमें लाया है । उसीने शत्रुओंको दूर किया और तुझे निर्भय किया है । इस राष्ट्रमें रहनेवालोंके लिए इस भूमिसे धन और शक्तियां पर्याप्त हों ॥ ५ ॥

इस सूर्यदेवने द्युलोक और पृथ्वीलोकको बनाया है । यहां परमात्माने सूत्ररूप आत्माको फैलाया है । यहां आत्माने आश्रय लिया है । उसीने अपने बलसे इस पृथ्वीको सुदृढ बनाया है ॥ ६ ॥

सूर्यदेवने ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको सुदृढ बनाया है उसीसे सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

सूर्यके कारण ही सब जगत्का सुंदर रूप मिला है । वह अपनी महिमासे स्वर्गलोकपर चढकर इस राष्ट्रको दूध और घीसे भरपूर करता है ॥ ८ ॥

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥ ९ ॥
यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः ।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः । ॥ १० ॥
ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः ।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ११ ॥
सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥

अर्थ— (याः ते रुहः प्ररुहः याः ते आरुहः) जो तुम्हारे आगे, पीछे और ऊपर बढनेके मार्ग हैं (याभिः दिवं अंतरिक्षं आपृणासि) जिनके द्वारा तू द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भरपूर करता है, (तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानः) उनके बलवर्धक रससे बढता हुआ तू (रोहितस्य विशि राष्ट्रे जागृहि) सूर्यदेवकी प्रजामें और राष्ट्रमें जाग्रत रह ॥ ९ ॥

(ते तपसः याः विशः संबभूव) तेरे प्रकाशसे जो प्रजाएं उत्पन्न होगयी हैं, (ताः इह वत्सं गायत्रीं अनु अगुः) वे प्रजाएं यहां संतान और अपने प्राणत्राणसंबंधी व्यापारके अनुकूल होकर चलती हैं। (ताः शिवेन मनसा त्वा विशन्तु) वे प्रजाएं शुभसंकल्पयुक्त मनसे तेरे अन्दर प्रविष्ट हों। (संमाता रोहितः वत्सः अभ्येतु) माता और सूर्य रूपी बछडा मिलकर आगे बढें ॥ १० ॥

(युवा कविः विश्वा रूपाणि जनयन्) तरुण ज्ञानी सब जगत्के रूपको प्रकाशित करता हुआ (रोहितः ऊर्ध्वः नाके अधि अस्थात्) सूर्य ऊपर स्वर्गमें ठहरा हुआ है। यह (अग्निः तिग्मेन ज्योतिषा विभाति) अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशसे प्रकाशता है। यह (तृतीये रजसि प्रियाणि चक्रे) तीसरे अन्तरिक्ष लोकमें प्रिय पदार्थोंको बनाता है ॥ ११ ॥

यह (जातवेदाः सहस्रशृङ्गः वृषभः) बने हुए सब पदार्थोंको जाननेवाला हजारों किरणोंसे युक्त वृष्टि करनेवाला (घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः) घृतकी आहुतियां स्वीकारनेवाला, सोमका हवन जिसपर होता है ऐसा उत्तम वीर यह है। यह (नाथितः मा मा हासीत्) याचना करनेपर मेरा त्याग न करे। तथा (त्वा इत् न जहानि) तुझे निश्चयसे मैं नहीं छोडूंगा। (मे गो-पोषं वीर-पोषं च धेहि) मुझे गोपालनका तथा वीरोंके पालनका सामर्थ्य दे ॥ १२ ॥

भावार्थ— जो अनेक मार्ग स्वर्गधामको प्राप्त करनेके हैं, उनके ज्ञानसे तथा घृतदुग्ध आदिसे हृष्टपुष्ट होते हुए इस राष्ट्रमें और इस प्रजामें सतत जाग्रत रहो ॥ ९ ॥

सूर्यसे ही ये सब प्रजाजन-सब प्राणिमात्र-उत्पन्न हो गये हैं, ये सब प्राणरक्षणके प्रयत्नमें सदा दत्तचित्त रहते हैं। ये सबकी सब प्रजाएं उत्तम शिवसंकल्पयुक्त मनसे ईश्वरमें आश्रय लेकर रहें। माता और पुत्र मिलकर उन्नतिको प्राप्त हों ॥ १० ॥

यह सदा तरुण सब देखनेवाला सूर्य सबके रूपोंको प्रकाशित करता हुआ द्युलोकमें रह रहा है। सब अपने प्रखर तेजके साथ प्रकाशता है और तीसरे लोकमें रहकर सबका प्रिय करता है ॥ ११ ॥

यही सूर्य अग्नि है, जिसमें घृत और सोमकी आहुतियां होमी जाती हैं। यह मेरा कभी त्याग न करे और मैं उसका कभी त्याग न करूं। इससे हमारी गौवें तथा संतानें हृष्ट पुष्ट हों ॥ १२ ॥

रोहि॑तो य॒ज्ञस्य॑ जनि॒ता मुखं॑ च॒ रोहि॑ताय वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ मन॑सा जुहोमि ।
रोहि॑तं दे॒वा य॑न्ति सुमन॒स्यमा॑ना॒ स मा॒ रोहैः॑ सामि॒त्यै रो॑हयतु ॥ १३॥
रोहि॑तो य॒ज्ञं व्य॑दधाद् वि॒श्वक॑र्मणे॒ तस्मा॒त् तेजां॒स्युप॑ मे॒मान्याग्युः ।
वो॒चेयं॑ ते॒ नाभिं॒ भुव॑नस्या॒धि म॒ज्मनि॑ ॥ १४ ॥
आ त्वा॑ रुरोह बृह॒त्यु॒३॒त प॒ङ्क्तिरा क॒कुब् वर्च॑सा जातवेदः ।
आ त्वा॑ रुरोहो॒ष्णिहा॒क्षरो॑ वषट्का॒र आ त्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो॒ रेत॑सा स॒ह ॥ १५ ॥
अ॒यं व॑स्ते॒ गर्भं॑ पृथि॒व्या दिवं॑ वस्ते॒ऽयम॒न्तरि॑क्षम् ।
अ॒यं ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपि॑ स्व॒र्लो॒कान् व्या॑नशे ॥ १६ ॥
वाच॑स्पते पृथि॒वी नः॑ स्यो॒ना स्यो॒ना योनि॑स्त॒ल्पा॑ नः सु॒शेवा॑ ।
इ॒हैव प्रा॒णः स॒ख्ये नो॑ अस्तु॒ तं त्वा॑ परमेष्ठि॒न् पर्य॒ग्निरायु॑षा॒ वर्च॑सा दधातु ॥१७॥

अर्थ— (***रोहितः यज्ञस्य जनिता मुखं च***) सूर्य यज्ञका उत्पन्नकर्ता और यज्ञका मुख है। (***वाचा श्रोत्रेण मनसा च रोहिताय जुहोमि***) वाणीसे, कानसे और मनसे इस सूर्यके लिये हवन करता हूं। (***सुमनस्यमानाः देवाः रोहितं यन्ति***) उत्तम संकल्प करनेवाले देव सूर्यको प्राप्त होते हैं। (***सः सामित्यै रोहैः मा रोहयतु***) वह सभाके लिये अनेक उन्नतियोंसे मुझे उन्नत करे ॥ १३ ॥

(**रोहितः विश्वकर्मणे यज्ञं व्यदधात्**) सूर्यने विश्वकर्माके लिए यज्ञ किया। (**तस्मात् इमानि तेजांसि मा उप आ गुः**) उस यज्ञसे ये तेज मेरे पास प्राप्त हुए हैं। (**भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयम्**) अतः इस भुवनके महत्त्वके बीच तेरा मुख्य भाग है, ऐसा मैं कहता हूं ॥ १४ ॥

हे (**जातवेदः**) सब उत्पन्न हुएको जाननेवाले! (**त्वा बृहती आ रुरोह**) तुझपर बृहती चढी है, (**उत पंक्तिः आ, ककुप् वर्चसा आ**) पंक्ति और ककुप् अपने तेजके साथ चढे हैं। (**उष्णिहाक्षरः त्वा आरुरोह**) उष्णिक् छंदके अक्षर भी तेरे ऊपर चढे हैं। तथा (**रोहितः रेतसा सह**) सूर्य अपने वीर्यके साथ है ॥ १५ ॥

(**अयं पृथिव्याः गर्भं वस्ते**) यह पृथिवीके गर्भमें वसता है। (**अयं दिवं अन्तरिक्षं वस्ते**) यह द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकमें वसता है। (**अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे**) यह प्रकाशलोकके शिरोभागपर स्वर्गलोकमें व्यापता है ॥ १६ ॥

हे (**वाचस्पते**) वाणीके स्वामिन्! (**नः पृथिवी स्योना**) हमारे लिए पृथिवी सुखकर होवे। (**योनिः स्योना**) हमारे लिए हमारा घर सुखदायी हो। (**नः तल्पाः सुशेवा**) हमारे लिए बिछौने सुखदायी हों। (**इह एव नः सख्ये प्राणः अस्तु**) यहां ही हमारे सख्यमें प्राण रहे। हे परमेष्ठिन्! (**तं त्वा अग्निः आयुषा वर्चसा परि दधातु**) तुझको यह अग्नि आयु और तेजसे धारण करे ॥ १७ ॥

भावार्थ— इसी सूर्यसे यज्ञ बने हैं, यज्ञमें अग्नि रूपसे यही मुख्य है। हवन करनेके समय वाणी, कान और मनका साथ साथ उपयोग होना चाहिये। शुभ संकल्प करनेवाले सब इसीको प्राप्त होते हैं। यह मुझपर कृपा करे और सभाओंद्वारा जो मानवी उन्नति होना संभव है, वह मुझे प्राप्त करावे ॥ १३ ॥

सूर्यदेवके द्वारा ही सब शुभ कर्मोंका स्रोतरूप यज्ञ बना है। इससे जो सामर्थ्य प्राप्त होता है, वह सब मुझे प्राप्त हो। इस सब संसारके मध्यमें महत्त्वकी दृष्टिसे यही मुख्य है ॥ १४ ॥

बृहती, पंक्ति, ककुप्, उष्णिक्, वषट्कार आदि सब उसी एक देवका वर्णन कर रहे हैं, मानो वह इनमें रह रहा है ॥ १५ ॥

यह एक देव पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकके अंदर विद्यमान है। यह द्युलोकके उच्च स्थानपर रहता हुआ सबमें व्यापता है ॥ १६ ॥

हे वाणीके स्वामी! हमारे लिए पृथ्वी, घर, बिछौना आदि सब पदार्थ सुखदायक हों। हममें प्राण दीर्घकालतक रहे और हमें यह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो ॥ १७ ॥

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु ॥१८॥
वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १९ ॥
परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा ।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ॥ २० ॥
यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित । शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥
अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः ।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥ २२ ॥
इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥ २३ ॥

अर्थ— हे वाचस्पते ! (ये नौ वैश्वकर्मणाः पंच ऋतवः परि संबभूवुः) जो हमारे संपूर्ण कर्मोका साधन करनेवाले पांच ऋतु उत्पन्न हुए हैं । यहां ही प्राण हमारे सख्यमें रहें । हे परमेष्ठिन् ! उस तुमको यह (रोहितः) सूर्य आयु और तेजके साथ धारण करे ॥ १८ ॥

हे वाचस्पते ! हमारा (मनः सौमनसं) मन उत्तम शुभसंकल्पयुक्त हो । (नः गोष्ठे गाः जनय) हमारी गोशालामें गौको उत्पन्न कर और (योनिषु प्रजाः) घरोंमें संतानोंको उत्पन्न कर । यहां हमारे सख्यमें यह प्राण रहे । हे परमेष्ठिन् ! उस तुमको (अहं) मैं आयु और तेजके साथ (दधामि) धारण करता हूं ॥ १९ ॥

(सविता देवः त्वा परि धात्) सविता देव तेरे चारों ओर रहे । (अग्निः वर्चसा, मित्रावरुणौ त्वा अभि) अग्नि अपने तेजसे और मित्र तथा वरुण तेरी चारों ओरसे रक्षा करें । (सर्वाः अरातीः अवक्रामन् एहि) सब शत्रुओंके ऊपर चढाई करते हुए आगे बढ तथा (इदं राष्ट्रं सूनृतावत् अकरः) इस राष्ट्रको आनंदपूर्ण कर ॥ २० ॥

हे (रोहित) सूर्य ! (यं त्वा पृषतीः पृष्टिः रथे वहति) जिस तुमको विविध रंगवाली घोडी रथमें ले जाती है, वह तू (अपः रिणन् शुभा यासि) पानीको चलाता हुआ प्रकाशके साथ शुभ रीतिसे चलता है ॥ २१ ॥

(रोहितस्य अनुव्रता) सूर्यके अनुकूल चलनेवाली (सूरिः सुवर्णा सुवर्चाः बृहती रोहिणी) ज्ञानी, उत्तम रंगवाली, तेजस्विनी बडी रोहिणी है । उससे (विश्वरूपान् वाजान् जयेम) हम अनेक प्रकारसे अन्न प्राप्त करें और (विश्वाः पृतनाः अभिष्याम) सब शत्रुओंकी सेनाओंको परास्त करें ॥ २२ ॥

(इदं रोहितस्य सदः रोहिणी) यह सूर्यका घर रोहिणी है । (असौ पन्थाः येन पृषती याति) यह मार्ग है जिससे उसकी विविधरंगवाली घोडी जाती है । (तां गन्धर्वाः कश्यपाः उन्नयंति) उसको गंधर्व और कश्यप उन्नत करते हैं, (कवयः तां अप्रमादं रक्षन्ति) ज्ञानी प्रमादरहित होकर उसकी रक्षा करते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ— जो विविध कर्म करनेवाले ऋतु हैं, वे हमें सहायक हों, उनसे हमें दीर्घ आयु और तेजस्विता प्राप्त हो ॥१८॥

हमारा मन शुभसंकल्प करनेवाला बने, हमारी गोशालामें विपुल गौवें और घरमें वीर संतान हों । मैं परमात्माका धारण दीर्घायु और तेजस्विताके साथ करता हूं ॥ १९ ॥

सब देव हमें सहायक हों । सब शत्रु परास्त हों और यह हमारा राष्ट्र आनंदप्रसन्नतासे युक्त हो ॥ २० ॥

सूर्यसे विविध रंगवाली किरणें सूर्यतत्त्वको यहां तक लाती हैं, जिससे हमें प्रकाश मिलता है ॥ २१ ॥

सूर्य प्रकाशमें बढानेकी शक्ति है, उससे हमें अनेक प्रकारके अन्न बल प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

सूर्य ही इस अद्भुत शक्तिका घर है, सब विविध रंगवाली किरणोंसे वह शक्ति फैलती है । ज्ञानी लोग विशेष दक्षतासे उसीको अपने अन्दर धारण करते हैं ॥ २३ ॥

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ २४ ॥
यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टिः सृजन्ते ॥ २५ ॥
रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात् । सर्वा रुरोह रोहितो रुहः ॥ २६ ॥
वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा ।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व ॥ २७ ॥
समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥

अर्थ— (केतुमन्तः अमृताः हरयः अश्वाः सूर्यस्य रथं सदा सुखं वहन्ति) प्रकाशयुक्त अमर गतिमान् घोडे सूर्यके रथको सदा सुखपूर्वक चलाते है। (घृतपावा भ्राजमानः देवः रोहितः इमा पृषती दिवं विवेश) पूनेसे पवित्र करनेवाला तेजस्वी सूर्यदेव इस विविध रंगवाली प्रभा समेत् द्युलोकमें प्रविष्ट होता है ॥ २४ ॥

(यः तिग्मशृंगः वृषभः रोहित.) जो तीक्ष्ण सींगवाला बलवान् रोहित (अग्निं परि, सूर्यं परि बभूव) अग्नि और सूर्यके चारों ओर होता है। (यः पृथिवीं दिवं च विष्टभ्नाति) जो पृथ्वी और द्युलोकको थाम रखता है (तस्मात् देवाः सृष्टिं अधिसृजन्ते) उससे देव सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं ॥ २५ ॥

(महत. अर्णवात् रोहितः दिवं परि आरुहत्) बडे समुद्रसे सूर्य द्युलोकसे भी ऊपर चढा है। (रोहितः सर्वाः रुहः रुरोह) यह सूर्य सब उच्चताओंपर चढा है ॥ २६ ॥

(पयस्वतीं घृताचीं वि मिमीष्व) दूधवाली और घीवाली गौको सिद्ध करो, (एषा देवानां धेनुः अनपस्पृक्) यह देवोंकी गौ हलचल न करनेवाली है। (इन्द्रः सोमं पिबतु) इन्द्र सोम पीवे, (क्षेमः अस्तु) सबका क्षेम हो, (अग्निः प्र स्तौतु) अग्नि स्तुति करे, (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर कर ॥ २७ ॥

(अग्निः समिद्धः घृतवृद्धः घृताहुतः समिधानः) अग्नि उत्तम प्रदीप्त होनेपर घीकी आहुतियां डालकर बढाया हुआ अच्छी प्रकार जलने लगा है। यह (अभीषाड् विश्वषाड् अग्निः ये मम सपत्नान् हन्तु) सर्वत्र विजय करके शत्रुओंको दूर करनेवाला अग्नि जो मेरे शत्रु हैं, उन सबका नाश करे ॥ २८ ॥

भावार्थ— ये प्रकाशमान् अद्भुत अमर शक्तिसे युक्त सूर्यकिरण सदा सुखदायक हैं। इन पुष्टिकारक किरणोंसे युक्त सूर्य इस द्युलोकमें प्रकाशता है ॥ २४ ॥

यह तीक्ष्ण किरणवाला बलवान् सूर्य चारों ओर घूमकर सब जगतके पदार्थोंको धारण करता है ॥ २५ ॥

सूर्य उदय होनेपर आकाशके मध्यतक ऊपर चढता है, और वहांसे ऊपर प्रकाशता है ॥ २६ ॥

उत्तम दूध और घी देनेवाली गौवें पाली जांय, उनके दूध घीका यज्ञमें हवन किया जावे। दही दूध आदिके साथ सोम रस पिया जावे। इससे सबका कल्याण हो और यह यज्ञ द्वारा उपासना सबका भला करे ॥ २७ ॥

अग्निमें घीका हवन हो, अग्नि उपासनाके समाग्री संपन्न हो और सब मिलकर अपने शत्रुओंको दूर भगा देवें ॥ २८ ॥

हन्त्वेनान् प्र दहत्वरियो नः पृतन्यति ।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥
अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान् ।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥
अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते ।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥
उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥ ३२ ॥
वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम् ।
घृतेनार्कमभ्यर्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति ॥ ३३ ॥
दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व ॥ ३४ ॥

अर्थ— (यः अरिः नः पृतन्यति) जो शत्रु हमपर सेना चढाकर हमला करता है (एनान् हन्तु, प्रदहतु) इन शत्रुओंको मारे, अच्छी प्रकार भस्म करे। (क्रव्यादा अग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि) मांसभक्षक अग्निद्वारा हम शत्रुओंको भस्म करते हैं ॥ २९ ॥

हे इन्द्र! (वज्रेण बाहुमान अवाचीनान् अवजहि) वज्रसे बहुत सामर्थ्यवान् होकर शत्रुओंको नीचे दबाकर मार दे। (अधा मामकान् सपत्नान् अग्ने तेजोभिः आदिषि) और अपने शत्रुओंको अग्निके तेजोंसे अपने वशमें करता हूं॥ ३० ॥

हे अग्ने! (अस्मद् सपत्नान् अधरान् पादय) हमारे शत्रुओंको नीचे गिराओ। हे बृहस्पते! (उत्पिपानं सजातं व्यथय) कष्ट देनेवाले सजातीय शत्रुको व्यथा दे। हे इन्द्राग्नी! हे मित्रावरुणो! (अप्रति-मन्यूयमानाः अधरे पद्यन्ताम्) हमारे शत्रु निष्फल क्रोधवाले होकर नीचे गिर जांय ॥ ३१ ॥

हे सूर्यदेव! (त्वं उद्यन् मे सपत्नान् अवजहि) तू उगता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर। (एनान् अश्मना अवजहि) इन शत्रुओंका पत्थरसे नाश कर। (ते अधमं तमः यन्तु) वे गहरे अंधेरेमें जावें ॥ ३२ ॥

(विराजः वत्सः मतीनां वृषभः शुक्रपृष्ठः अन्तरिक्षं आ रुरोह) विराट्का बच्चा, मतियोंको बढानेवाला बलशाली पीठवाला होकर अन्तरिक्षपर चढा है। (घृतेन वत्सं अर्कं अभि अर्चन्ति) घीसे बच्चेरूपी सूर्यकी पूजा करते हैं। वह स्वयं (ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति) ब्रह्म होता हुआ भी उसीको ब्रह्म नाम स्तुतियोंसे बढाते हैं ॥ ३३ ॥

(दिवं च रोह, पृथिवीं च रोह) द्युलोक पर चढ और पृथ्वीपर चढ। (राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह) राष्ट्रपर चढ और धनपर चढ। (प्रजां च रोह, अमृतं च रोह) प्रजा और अमरपनपर चढ, (रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व) अपने लालवर्णसे मेरे शरीरको पूर्ण कर ॥ ३४ ॥

भावार्थ— यदि बाहरका शत्रु सेना लेकर अपने ऊपर आजाये तो वीर लोग उसको परास्त करके भगा देवें। अपने अंदरके जो शत्रु हों, उनको भी वशमें रखना चाहिए। कोई शत्रु सिर ऊपर न कर सके ॥ २९-३१ ॥

परमेश्वर कृपा करे और हमारे शत्रुओंका बल कम करे। शत्रु नीच स्थानमें भाग जावें ॥ ३२ ॥

सूर्य बलवर्धक, बुद्धिवर्धक है। उसीका बच्चा अग्नि है। अग्निमें घीके हवन करनेसे उसकी पूजा होती है। सूर्य स्वयं ब्रह्मका दृश्यरूप है और वही ब्रह्म नाम मंत्रसे स्तुतियों द्वारा बढाया जाता है ॥ ३३ ॥

स्वर्ग, पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा, अमरपन आदि विषयमें प्रगति संपादन करनी चाहिये। इस कार्य करनेका बल प्राप्त करना हो तो सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरका संबंध जोड दो, जिससे विलक्षण बल प्राप्त होकर उक्त कार्य सिद्ध होगा ॥ ३४ ॥

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥ ३५ ॥
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥ ३६ ॥
रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति ।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ ३७ ॥
यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम् ।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥ ३८ ॥
अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३९ ॥

अर्थ— (ये राष्ट्रभृतः देवाः सूर्यं अभितः यन्ति) जो राष्ट्रपोषक देव सूर्यके चारों ओर घूमते हैं, (तैः संविदानः रोहितः सुमनस्यमानः ते राष्ट्रं दधातु) उनके साथ मिला हुआ रोहित सुप्रसन्न होकर तेरे राष्ट्रको धारण करे ॥ ३५ ॥

(ब्रह्मपूताः यज्ञाः त्वा उत् वहन्ति) मन्त्रसे पवित्र हुए यज्ञ तुझे ऊपर उठाते हैं । (अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति) मार्गसे जानेवाले घोडे तुझे ले चलते हैं । (समुद्रं अर्णवं तिरः अति रोचसे) समुद्र महासागरको तू अति प्रकाशित करता है ॥ ३६ ॥

(वसुजिति गोजिति संधनाजिति रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते) धन, गौवें और ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले सूर्यके आश्रयसे द्युलोक और भूलोक ठहरे हुए हैं (यस्य सहस्रं सप्त च जनिमानि) जिस तेरे हजार और सात जन्म हैं । (भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयं) इस जगत्की महिमामें तेरा ही केन्द्र है, ऐसा मैं कहुंगा ॥ ३७ ॥

(प्रदिशः दिशः च यशाः यासि) दिशा और उपदिशाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है । (पशूनां उत चर्षणीनां यशाः) पशु और प्रजाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है । (पृथिव्याः अदित्याः उपस्थे यशाः) पृथ्वीके ऊपर और अदितिकी गोदमें यशस्वी होकर (अहं सविता इव चारुः भूयासं) मैं सविताके समान सुंदर बनूं ॥ ३८ ॥

(अमुत्र सन् इह वेत्थ, इतः सन् तानि पश्यसि) वहां रहकर यहांका ज्ञान प्राप्त करते और यहां रहकर उनको देखते हैं । (इतः दिवि रोचनं विपश्चितं सूर्यं पश्यन्ति) यहांसे द्युलोकमें प्रकाशमान ज्ञानी सूर्यको देखते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ— राष्ट्रका भरणपोषण करनेवाले देव सूर्यकी उपासना करते हैं, इसलिये सूर्यके प्रकाशमें रहते हैं । वे बल प्राप्त करते हैं, मन सुसंस्कृत करते हैं, राष्ट्रधारण करने योग्य बनते हैं ॥ ३५ ॥

सूर्यके उदय होते ही मंत्रघोष और यज्ञ प्रारंभ होते हैं । सूर्यकिरण सर्वत्र फैलते हैं और समुद्रतक सब भूमिपर प्रकाश होता है ॥ ३६ ॥

धन, गौवें और ऐश्वर्य सूर्यसे संबंधित हैं । इसके हजारों प्रकार हैं, उन सबका मध्य केंद्र सूर्य ही है ॥ ३७ ॥

दिशा, उपदिशा, पशु, प्रजाजन, भूमि, आदि सबका यश केवल सूर्य है । सूर्यको आदर्श मानकर सब लोग सूर्यके समान सुंदर बनें ॥ ३८ ॥

सूर्य दूरदूरका भी देखता है । द्युलोकमें रहता हुआ सर्वत्र प्रकाशता है ॥ ३९ ॥

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे ।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ ४१ ॥
एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी ।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ ४२ ॥
आरोहन् द्यामृतः प्राव मे वचः ।
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥ ४३ ॥
वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

अर्थ— (**देवः देवान् मर्चयसि, अर्णवे अन्तः चरसि**) प्रकाशमान् होकर अन्य प्रकाशकोंको शुद्ध करता है, समुद्रके अन्दर सचार करता है (**समानं अग्निं इंधते**) समान तेजस्वी अग्निको प्रदीप्त करता है। (**कवयः तं परे विदुः**) ज्ञानी उसको परे जानते हैं ॥ ४० ॥

(**एना गौः अवः परेण, परः अवरेण पदा वत्सं बिभ्रती**) यह गाय निम्न स्थानवालेको दूरके पदसे और परवालेको पासवाले पदसे बछडेको धारण करती हुई (**उत् अस्थात्**) ऊपर उठती है। (**सा कद्रीची कं स्वित् अर्धं परा आगात्**) वह कहांसे आती है और किस अर्धभागके पास जाती है? वह (**क्व स्वित् सूते**) कहां प्रसूत होती है? (**अस्मिन् यूथे न**) इस संघमें तो नहीं होती ॥ ४१ ॥ (ऋ० १।१६४।१७, अथर्व० ९।९।१७)

(**सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी बभूवुषी**) वह एक दो चार आठ और नौ पादवाली तथा बहुत होनेका इच्छा करनेवाली (**सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिः**) हजारों अक्षरोंवाली भुवनकी पंक्ति है। (**तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ति**) उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ ४२ ॥ (ऋ० १।१६४।४१, अथर्व० ९।१०।२१)

(**अमृत द्या आरोहन् मे वचः प्र अव**) तू अमर देव द्युलोक पर आरूढ होकर मेरे भाषणकी रक्षा कर। (**त्वा ब्रह्मपूताः यज्ञाः उत् वहन्ति**) तुझे मंत्रसे पवित्र हुए यज्ञ बढाते हैं, तथा (**अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति**) मार्गस्थ घोडे तुझे ले चलते हैं ॥ ४३ ॥

हे (**अमर्त्य**) देव! (**यत् ते दिवि आक्रमणं**) जो तेरा द्युलोकमें आक्रमण है और (**यत् ते परमे व्योमन् सधस्थं**) जो तेरा परले आकाशमें स्थान है। (**तत् ते वेद**) तेरा वह तुझे विदित है ॥ ४४ ॥

भावार्थ— सूर्य सब अन्य प्रकाशकेन्द्रोंको भी प्रकाशित करता है। उसके उदयसे आग प्रदीप्त होती है। ज्ञानी लोग सूर्यको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ४० ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासवाले पदसे दूरके बच्चेका धारण पोषण करती है। यह कहांसे आ गई, किस आधे भागके पास पहुचता है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिए। वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ ४१ ॥

यह वाणीरूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाणी एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पादोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है। यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरों तक इसकी मर्यादा है। माना यह सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध काव्य रस स्रवते हैं ॥ ४२ ॥

सूर्य वाणीका रक्षक है, आकाशमें चढकर सबको सामर्थ्य देता है। सब यज्ञ उसीकी महिमा बढाते हैं, उसकी किरणें उसको सब जगतमें पहुचाती हैं ॥ ४३ ॥

सूर्यका द्युलोकमें स्थान, उसका महत्त्व यह सब ज्ञानी लोग जानते हैं ॥ ४४ ॥

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥
उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पयत् ।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥
हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।
वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥
स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥
ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥
सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥

अर्थ— (सूर्य द्यां, सूर्यः पृथिवीं, सूर्यः आपः अति पश्यति) सूर्य द्युलोक पृथ्वी और जलको अत्यन्त पूर्णतासे देखता है। (सूर्यः भुवनस्य एकः चक्षुः महीं दिवं आरुरोह) सूर्य सब भुवनका एकमात्र नेत्र है, वह बडे द्युलोक पर आरूढ हुआ है ॥ ४५ ॥

(उर्वीः परिधयः आसन्) बडी परिधियें थीं, (भूमिः वेदिः अकल्पयत्) भूमि वेदी बनायी गयी। (तत्र रोहितः हिमं घ्रंसं च एतौ अग्नी आधत्त) वहां सूर्यने शीत और उष्ण ये अग्नि रखे ॥ ४६ ॥

(हिमं घ्रंसं च आधाय, पर्वतान् यूपान् कृत्वा) शीत और उष्ण ऋतु बनाकर, पर्वतोंको यूप बना कर, (वर्षाज्यौ अग्नी स्वर्विदः रोहितस्य ईजाते) वर्षारूप घृतको प्राप्त करनेवाले ये दोनों अग्नि आत्मज्ञ रोहित देवके लिए यज्ञ करते हैं ॥ ४७ ॥

(स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मणा अग्निः समिध्यते) आत्मज्ञानी सूर्यके मन्त्रोंसे अग्नि प्रदीप्त किया जाता है। (तस्माद् घ्रंसः तस्मात् हिमः, तस्मात् यज्ञः अजायत) उससे उष्णता, उससे सर्दी और उससे यज्ञ हुआ है ॥ ४८ ॥

(ब्रह्मणा वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ अग्नी) ज्ञानसे बढनेवाले, मंत्रके साथ प्रदीप्त होनेवाले मंत्रोंसे हवन किये गये दो अग्नि हैं। (स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते) आत्मज्ञानी सूर्यके ज्ञानसे प्रज्वलित हुए ये दो अग्नियां यजन होती हैं ॥ ४९ ॥

(अन्यः सत्ये समाहितः) एक सत्यमें स्थिर है (अन्यः अप्सु समिध्यते) दूसरा जलमें प्रदीप्त होता है। (स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते) आत्मज्ञानी सूर्यके ज्ञानसे प्रदीप्त हुए दोनों अग्नि यजन होते हैं ॥ ५० ॥ [५]

भावार्थ— सूर्य द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल आदिको देखता है। सूर्य ही सबका प्रकाशक है। वह पृथ्वी और द्युलोकको प्रकाशित करता है ॥ ४५ ॥

इस यज्ञका प्रारंभ भूमिकी वेदीपर हुआ। इसकी परिधियें बडी विस्तृत थीं। शीतकाल और उष्णकाल ये दो अग्नि रखे थे ॥ ४६ ॥

यं वार्तः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥
वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् ।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥
वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥
गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥
स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत ।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥
यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥

अर्थ— (वातः इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः वा यं परि शुभति) वायु, इन्द्र और ब्रह्मणस्पति ये जिसके लिए प्रकाश फैला रहे हैं, उस (स्वर्विद०) आत्मज्ञानी सूर्यदेवके लिए ये अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥

(भूमिं वेदिं कृत्वा, दिवं दक्षिणां कृत्वा) भूमिको वेदी बनाकर, द्युलोककी दक्षिणा करके, (घ्रंसं तदग्निं कृत्वा वर्षेण आज्येन रोहितः विश्वं आत्मन्वत् चकार) उष्ण ऋतुको वहांका अग्नि करके वृष्टिरूप घीसे सूर्यने सब जगत्को आत्मवान् बना दिया है ॥ ५२ ॥

(वर्षं आज्यं, घ्रंसः अग्निः, भूमिः, वेदिः अकल्पत) वृष्टिको घी, उष्णताको अग्नि, भूमिको वेदी बनाया गया। (तत्र अग्निः गीर्भिः एतान् पर्वतान् ऊर्ध्वान् अकल्पयत्) वहां अग्निने शब्दोंसे इन पर्वतोंको ऊंचा बना दिया है ॥ ५३ ॥

(गीर्भिः ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा, रोहितः भूमिं अब्रवीत्) शब्दोंसे पर्वतोंको ऊंचा बनाकर सूर्य भूमिसे बोला कि (यत् भूतं यच्च भाव्यं सर्वं त्वदीयं जायताम्) जो हो चुका और जो होनेवाला है, वह सब तेरा ही बनकर रहे ॥ ५४ ॥

(सः प्रथमः यज्ञः भूतः भव्यः अजायत) वह पहिला यज्ञ भूत और भविष्यके लिए बना। (तस्मात् इदं सर्वं जज्ञे, यत् किं च इदं विरोचते) उससे यह सब उत्पन्न हुआ, जो कुछ यह विराजता है, यह (ऋषिणा रोहितेन आभृतं) रोहित ऋषिने–सूर्यदेवने भरण किया हुआ है ॥ ५५ ॥

(यः गां च पदा स्फुरति) जो गौको पांवसे ठुकराता है, (सूर्यं च प्रत्यङ् मेहति) किंवा सूर्यके सन्मुख मूत्र करता है, मैं (तस्य ते मूलं वृश्चामि, अपरं छायां न करवः) उस पुरुषका मूल काटता हूं, उसके पश्चात् तू अपनी छाया वहां नहीं करेगा ॥ ५६ ॥

भावार्थ— पर्वत यूप बनाये गये, वृष्टि घीका कार्य करने लगी, और मंत्रपाठपूर्वक यह यज्ञ प्रारंभ हुआ ॥ इसमें वायु ब्रह्मणस्पति होकर कार्य करने लगा। स्वर्गकी दक्षिणा याजकोंके लिये रखी गयी। इस यज्ञसे सबमें आत्मिक बल आगया ॥ ४७-५१ ॥

जो भूत, भविष्य और वर्तमान है, वह सब इसीसे संबंधित है ॥ ५४ ॥

यही यज्ञ भूत भविष्यके लिए आदर्श हुआ। इसी यज्ञसे सब कुछ बना ॥ ५५ ॥

जो गायको लात मारता है, सूर्यके सन्मुख मूत्रादि मल त्याग करता है,, वह दण्डनीय है ॥ ५६ ॥

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५७ ॥
यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।
दुःष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥
मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥
यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥

अर्थ— (यः मा अभिच्छायं अत्येषि) जो तू मुझे अपनी छायामें रखकर चलता है, (मां अग्निं च अन्तरा) मेरे और अग्निके बीचमें गुजरता है, उस तेरा मूल मैं काटता हूं, जिससे तू इस तरह आगे छाया न कर सकेगा ॥ ५७ ॥

हे देव सूर्य ! (यः अद्य त्वां च मां च अन्तरा आयति) जो आज तेरे और मेरे बीचमें आता है, (तस्मिन् दुःष्वप्न्यं शमलं दुरितानि च मृज्महे) उसमें दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और पाप जमा देते हैं ॥ ५८ ॥

(वयं पथः मा प्रगाम) हम मार्गको न छोडें, हे इन्द्र ! (सोमिनः यज्ञात् मा) हम सोम यागसे भी दूर न आवें, (नः अरातयः अन्तः मा स्थुः) हमारे शत्रु हमारी उन्नतिके बीचमें न खडे रहें ॥ ५९ ॥ [ऋ० १०।५७।१]

(यः यज्ञस्य प्रसाधनः तन्तुः देवेषु आततः) जो यज्ञका साधक ज्ञानतन्तु देवोंमें फैला है, (तं आहुतं अशीमहि) उसका सेवन हम करें ॥ ६० ॥

भावार्थ— जो अपनी छायामें दूसरेको रखता है, अग्नि तथा सूर्य और उपासकके बीच खडा रहता है, वह भी दण्डनीय है ॥ ५७-५८ ॥

हम अपना शुद्ध मार्ग कभी न छोडें। यज्ञसे दूर न हों। हमारे शत्रु कभी प्रबल न हों ॥ ५९ ॥

जो यज्ञ सब देवोंमें देवत्वका लक्षण होकर रह रहा है, वह हम सबमें रहे ॥ ६० ॥

अध्यात्मम्

(काण्ड १३, सूक्त २)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— अध्यात्मं, रोहितादित्यदैवत्यं)

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥

अर्थ— (मीढुषः महिव्रतस्य नृचक्षसः अस्य आदित्यस्य) सिंचन करनेवाले, बडे व्रत करनेवाले, मनुष्योंके निरीक्षक इस सूर्यके (शुक्राः भ्राजन्तः केतवः उत् ईरते) शुद्ध तेजस्वी किरण उदित होकर चमकते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— सूर्यसे वृष्टि होती है, वह बडा व्रती है, मनुष्योंका निरीक्षण करता है, पृथिवी आदिको धारण करता है, इसके उदय होनेपर चारों ओर स्वच्छ प्रकाश होता है ॥ १ ॥

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥ २ ॥
यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया ।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ।
स्रुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥
मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम् ।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥

अर्थ— (अर्चिषा प्रज्ञानां दिशां स्वरयन्तं) प्रकाशसे ज्ञापक दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले, (अर्णवे सुपक्षं आशुं पतयन्तं) समुद्रमें उत्तम किरणोंके साथ चलनेवाले, (भुवनस्य गोपां सूर्यं स्तवाम) त्रिभुवनके रक्षक सूर्यकी हम प्रशंसा करते हैं। (यः रश्मिभिः सर्वाः दिशः आभाति) जो अपने किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥२॥

(यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया शीभं यासि) जो तू पूर्व और पश्चिम दिशामें अपनी धारक शक्तिके साथ शीघ्र जाता है, (मायया नानारूपे अहनी कर्षि) अपनी शक्तिसे अनेक रूपवाले दिन और रात बनाता है। हे आदित्य! (तत् ते महि महि श्रवः) यह तेरी ही बडी महिमा है। (यत् एकः विश्वं भूम परि जायसे) जो अकेला तू सब संसारके ऊपर प्रभाव करता है ॥ ३ ॥

(बह्वीः सप्त हरितः) बडी सात किरणें, (यं भ्राजमानं तरणिं विपश्चितं वहन्ति) जिस तेजस्वी तारनेवाले ज्ञानी देवको ले जाती हैं। (यं अत्रिः स्रुतात् दिवं उन्निनाय) जिसको अत्रा आत्माने सरनेवाले जलसे द्युलोक तक पहुंचाया है, (तं त्वा आजिं परियान्तं पश्यन्ति) उस तुझको चारों ओर घूमते हुए देखते हैं ॥ ४ ॥

(परियान्तं आजिं त्वा मा दभन्) चारों ओर घूमनेवाले तुझको शत्रु न दबा देवें। (स्वस्ति, दुर्गान् शीभं अति याहि) सुखरूपतासे कठिन स्थानोंके पर शीघ्रतासे चल। हे सूर्य! (दिवं च देवीं पृथिवीं च अहोरात्रे विमिमानः यत् एषि) द्युलोक और दिव्य पृथिवीको, अहोरात्रको निर्माण करता हुआ तू जाता है ॥ ५ ॥

हे सूर्य! (ते चरसे रथाय स्वस्ति) तेरे चलनेवाले रथके लिए शुभमंगल हो। (येन उभौ अन्तौ सद्यः परियासि) जिससे दोनों सीमाओंतक तत्काल जाता है। (सप्त बह्वीः यदि वा वहिष्ठाः हरितः शतं अश्वाः यं ते वहन्ति) सात किरणें किंवा चलनेवाली सौ अश्वरूप किरणें जिस तुझको चलाती हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह सूर्य अपने प्रकाशसे दश दिशाओंको प्रकाशित करता है, अन्तरिक्षमें संचार करता है, यह सब भुवनोंकी रक्षा करनेवाला है, इसकी स्तुति करनी योग्य है ॥ २ ॥

जो पूर्व दिशामें उदय होकर पश्चिम दिशामें अस्त होता है, जो अपने प्रकाशसे दिन और अप्रकाशसे रात्रि निर्माण करता है, उसकी महिमा बडी है, वही संसारमें बडा प्रभावशाली है ॥ ३ ॥

सात तेजस्वी किरणें सूर्यका प्रकाश प्रभावयुक्त बनाती हैं। ज्ञानी लोग इसका महत्त्व जानते हैं। यह सूर्य द्युलोकमें चढकर सर्वत्र अपना तेज फैलाता है ॥ ४ ॥

तू चारों ओर प्रकाशको फैलाता है, तेरी किरणें शीघ्रगतिवाली हैं, तेरे प्रकाशसे सबका कल्याण होता है। तू द्युलोक और पृथ्वीको प्रकाशित करता हुआ दिन और रात्रिका निर्माण करता है ॥ ५ ॥

तेरा रथ कल्याण रूप है, इसीसे तू उदयसे अस्ततक आक्रमण करता है। सात किरणें और अनंत प्रकाश तेरा प्रभाव बढा रहे हैं ॥ ६ ॥

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ७ ॥
सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद्विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥ ८ ॥
उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वांल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥ १० ॥
पूर्वापरं चरतो मायथैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ— हे सूर्य ! (अंशुमन्तं स्योनं सुवह्निं वाजिनं सुखं रथं अधितिष्ठ) तेजस्वी सुखदायी चलानेवाले गतिवाले उत्तम रथपर चढ । (सप्त०) उस तुमको सात किरणें अथवा सैकडों किरणें ले चलती हैं ॥ ७ ॥

(सूर्यः हिरण्यत्वचसः बृहतीः सप्त हरितः यातवे रथे अयुक्त) सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले बडे सात किरण चलनेके लिए अपने रथमें जोडे हैं । (शुक्र देवः तमो विधूय रजसः परस्तात् अमोचि दिवं आरुहत्) शुद्ध देवने अंधकारको स्थानसे हटाकर रजोलोकसे परे छोड दिया और स्वयं द्युलोकपर चढा ॥ ८ ॥

(देवः बृहता केतुना उत् आगन्) सूर्यदेव बडे प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हुआ है, (तमः अपावृक् ज्योतिः अश्रैत्) उसने अन्धकार दूर किया और तेजका आश्रय किया है । (सः दिव्यः सुपर्णः अदितेः वीरः पुत्रः विश्वा भुवनानि व्यख्यत्) उस दिव्य प्रकाशमान अदितिके वीर पुत्र सूर्यने सब भुवनोंको प्रकाशित किया है ॥ ९ ॥

(उद्यन् रश्मीन् आ तनुषे) उदय होनेपर किरणोंको तू फैलाता है । (विश्वा रूपाणि पुष्यसि) सब रूपोंको पुष्ट करता है (उभौ समुद्रौ क्रतुना विभासि) दोनों समुद्रोंको यज्ञसे प्रकाशित करता है और (परिभूः भ्राजमानः सर्वान् लोकान्) सब पर प्रभाव करता हुआ तेजस्वी तू सब लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ १० ॥ (७)

(एतौ शिशू क्रीडन्तौ मायया पूर्वापरं चरतः) ये दो बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्र खेलते हुए, शक्तिसे आगे पीछे चलते हैं । और (अर्णवं परियातः) समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं । (अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे) उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और (अन्यः हरितः हैरण्यैः वहन्ति) दूसरेको घोडियां (किरणें) अपने सुनहरें तारों द्वारा ले जाती हैं ॥ ११ ॥ (अथर्व० ७।८१ (८६)।१; १४।१।२३)

भावार्थ— तेरा रथ तेजस्वी, सुखदायी, गतिमान् बलवान् है । उसकी किरणें तेरा प्रभाव बढा रही हैं ॥ ७ ॥

सूर्य अपने चमकनेवाली किरणोंके साथ अपने रथमें विराजता है । यह प्रकाशमान देव अन्धकारको दूर करके उसको दूर भगा देता है और द्युलोकमें विराजता है ॥ ८ ॥

सूर्य उदय होता है, उससे अन्धकार दूर होता है उसके प्रकाशसे संपूर्ण विश्व प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

सूर्य उदय होनेपर उसका प्रकाश फैलता है, समुद्रतकके संपूर्ण भूमिपर सब लोक यज्ञकर्म शुरू करते हैं, इस तरह सब जगत् देदीप्यमान होता है ॥ १० ॥

संसाररूपी घरके छोटे बडे (चंद्र और सूर्य) बालक अपनी शक्तिसे खेलते हुए समुद्र तक पुरुषार्थ करते हुए जाते हैं । उनमेंसे एक जगतको प्रकाशित करता है, और दूसरे किरणें होती हैं । इसी तरह सब गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरुषार्थसे जगतको प्रकाशित करें ॥ ११ ॥

दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे ।
स एति सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥
उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव ।
नन्वेतदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥
यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः ।
अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥ १४ ॥
तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति ।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ— हे सूर्य (मासाय कर्तवे अत्रिः त्वा दिवि अधारयत्) महिने बनानेके लिए अत्रिने तुझे द्युलोकमें धारण किया। (सः तपन् विश्वा भूता अवचाकशत् सुधृतः एति) वह तपता हुआ सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ स्वयं सुस्थिर होकर चलता है ॥ १२ ॥

(वत्सः मातरौ इव उभौ अन्तौ सं अर्षसि) जैसे बछडा मातापिताओंको प्राप्त होता है वैसे ही तू दोनों अन्तिम मार्गोंको प्राप्त होता है। (ननु इतः पुरा अमी देवाः एतत् ब्रह्म विदुः) निश्चयपूर्वक इससे पूर्व ही ये देव इस ब्रह्मको जानते हैं ॥ १३ ॥

(यत् समुद्रं अनुश्रितं तत् सूर्यः सिषासति) जो समुद्रके आश्रयमें रहता है वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है। (अस्य यः पूर्वः अपरः च महान् अध्वा विततः) इसका यह पूर्व पश्चिम बडा मार्ग फैला है ॥ १४ ॥

(तं जूतिभिः समाप्नोति, ततो न अपचिकित्सति) उस मार्गको वह वेगोंसे समाप्त करता है, उस मार्गसे वह इधर उधर मनको नहीं जाने देता, (तेन देवानां अमृतस्य भक्षं न अवरुन्धते) उस कारण देवोंके अमृत अन्नके भागसे दूर नहीं होता ॥ १५ ॥

(केतवः त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं) किरणें उस बने हुएको जाननेवाले सूर्य देवको (विश्वाय दृशे) समस्त संसारके दर्शनके लिए (उत् उ वहन्ति) उच्च स्थानमें प्रकाशित करती हैं ॥ १६ ॥ (ऋ० १।५०।१; वा यजु ७।४१, अथर्व. २०।४७।१३)

भावार्थ— सूर्य महिने बनानेके लिए द्युलोकमें प्रकाशित होता है, वह प्रकाशता है, सबका धारण भी करता है ॥ १२ ॥

जैसे बच्चा माता पिताओंको प्राप्त करता है, वैसे ही सूर्य उदय और अस्तके प्रान्तको प्राप्त होता है। इसका सब तत्व सब देव यथावत् जानते हैं ॥ १३ ॥

जो समुद्रमें रत्नादि है वह सूर्य प्राप्त करता है, इस सूर्यका यह पूर्वसे पश्चिमतकका मार्ग बडा भारी है ॥ १४ ॥

वह अपने मार्गको शीघ्रतासे समाप्त करता है, अपना मन इधर उधर होने नहीं देता। इस कारण उसको अमृतान्नका भाग नियमसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

सूर्यदेवकी किरणें संपूर्ण विश्वको प्रकाशित करनेके लिए ही प्रकाशती हैं और उसको उच्च भागमें धारण करती हैं ॥ १६ ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥
अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ २० ॥
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥

अर्थ— (यथा त्ये तायवः, नक्षत्रा अक्तुभिः अप यन्ति) जैसे वे चोर वैसे नक्षत्रगण रात्रिके साथ दूर भाग जाते हैं और (विश्वचक्षसे सूराय) संसारके प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लिए स्थान करते हैं ॥ १७ ॥ (ऋ० १।५०।२; अथर्व. २०।४७।१४)

(यथा भ्राजन्तः अग्नयः) जैसे चमकनेवाले अग्नि होते हैं, (अस्य केतवः रश्मयः जनान् अनु वि अदृश्रन्) इसके ध्वजरूपी किरण लोगोंके प्रति आते हुए दीखते हैं ॥ १८ ॥ (ऋ० १।५०।३, वा० य० ८।४०; अथर्व. २० ४७।१५)

हे (रोचन सूर्य) प्रकाशक सूर्य ! तू (तरणिः विश्वदर्शतः ज्योतिष्कृत् असि) तारक विश्वको दर्शानेवाला और प्रकाश करनेवाला है (विश्वं आ भासि) सब जगत्‌को प्रकाशित करता है ॥ १९ ॥ (ऋ० १।५०।४)

(देवानां विशः प्रत्यङ्) देवोंकी प्रजाओंके प्रति और (मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि) मानवी प्रजाओंके प्रति तू उदित होता है तथा (स्वः दृशे विश्वं प्रत्यङ्) प्रकाशके दर्शनके लिए सब विश्वके प्रति आता है ॥ २० ॥ ८ ॥ (ऋ० १।५०।५)

हे (पावक वरुण) पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ देव ! (येन चक्षसा त्वं जनान् भुरण्यन्तं अनु पश्यसि) जिस नेत्रसे तू मनुष्योंमें भरणपोषण करनेवाले मनुष्यको देखता है, उससे मुझे देख ॥ २१ ॥ (ऋ० १।५०।६ ॥

हे सूर्य ! (अक्तुभिः अहः मिमानः) रात्रियोंसे दिनको मापता हुआ (पृथु रजः द्यां एषि) विस्तृत अन्तरिक्ष लोकको और द्युलोकको प्राप्त होता है और (जन्मानि पश्यन्) सब जन्म लेनेवालोंको देखता है ॥ २२ ॥ (ऋ० १।५०।७)

भावार्थ— जैसे चोर स्वामीके आनेसे भाग जाते हैं, वैसे ही सूर्यके आनेसे सब नक्षत्र भाग जाते हैं और सूर्यदेवके लिए स्थान खुला छोड देते हैं ॥ १७ ॥

चमकनेवाले अग्निके समान इसके किरण अत्यंत तेजस्वी और सबको प्रकाश देनेवाले हैं ॥ १८ ॥

सूर्य तेजस्वी है, तारक है, सबको रूप दर्शानेवाला है, कान्तिको फैलानेवाला है, उससे सब जगत तेजस्वी होता है ॥ १९ ॥

दैवी और मानवी प्रजाओंके हितार्थ यह सूर्य उदित होता है । सब विश्वको यह तेजका मार्ग दर्शाता है ॥ २० ॥

सूर्य जिस प्रेममय नेत्रसे पुरुषार्थी मनुष्यको देखता है, उसी नेत्रसे वह मुझे देखे, अर्थात् वह मुझपर प्रेम करे ॥ २१ ॥

सूर्य अन्तरिक्ष लोकमें संचार करता हुआ, और सब लोगोंके व्यवहारोंका निरीक्षण करता हुआ, दिन और रात्रिका विभाग करता हुआ, द्युलोकमें विराजता है ॥ २२ ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २३ ॥
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥
रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥ २५ ॥
यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥ २६ ॥
एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं १ समासते ॥ २७ ॥

अर्थ— हे सूर्यदेव ! (**सप्त हरितः शोचिष्केशं विचक्षणं त्वा रथे वहन्ति**) सात किरण शुद्ध करनेवाले दर्शक ऐसे तुझको रथमें चलाते हैं ॥ २३ ॥ (ऋ० १।५०।८)

(**सूर रथस्य नप्त्य सप्त शुंध्युवः अयुक्त**) ज्ञानमय रथमें सात शुद्ध किरण जोडे हैं (**ताभिः स्वयुक्तिभिः याति**) उनसे अपनी योजनाओंसे यह जाता है ॥ २४ ॥ (ऋ० १।५०।९)

(**तपसः तपस्वी रोहितः दिवं आरुहत्**) प्रकाशसे तेजस्वी बना सूर्य द्युलोक पर चढा है। (**सः योनिं एति**) वह मूलस्थानको प्राप्त होता है, (**सः उ पुनः जायते**) वह पुनः पुनः उत्पन्न होता है, (**सः देवानां अधिपतिः बभूव**) वह देवोंका स्वामी हुआ है ॥ २५ ॥

(**यः विश्वचर्षणिः उत विश्वतः-मुख**) जो सब प्राणिमात्रके रूपवाला और सब ओर मुखवाला है, (**यः विश्वतः पाणिः उत विश्वतः पृथ**) जिसके हाथ और भुजा सब ओर हैं, (**बाहुभ्यां पतत्रैः सं सं भरति**) जो अपने बाहुओं और चरणों द्वारा भरणपोषण करता है, ऐसा (**द्यावा-पृथिवी जनयन् देवः एकः**) भूलोक और द्युलोकका निर्माण करनेवाला देव एक ही है ॥ २६ ॥ (ऋ० १०।८१।३; वा य १७।१९ पाठान्तरयुक्त)

(**एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे**) एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक चलता है, (**द्विपाद् त्रिपादं पश्चात् अभ्येति**) दो पांववाला तीन पांववालेके पीछेसे आकर मिलता है। (**द्विपात् ह षट्पदः भूयः विचक्रमे**) दो पांववाला निश्चयसे छ पांववालेसे भी अधिक चलता है, (**ते एकपदः तन्व समासते**) वे एक पांववालेके शरीरका आश्रय करते हैं ॥ २७ ॥ (ऋ० १०।११७।८; अथर्व. १३।३।२५ पाठान्तरयुक्त)

भावार्थ— सूर्यदेवको सात किरणें उसको रथमें चलाती हैं, वह पवित्र किरणोंवाला और ज्ञानी है ॥ २३ ॥

ज्ञानमय सूर्यके रथमें सात किरणें जोडी हैं, वे शुद्धता करनेवाली हैं। वे अपनी योजनाओंसे चलती हैं ॥ २४ ॥

प्रकाशमान सूर्य द्युलोकमें आरूढ होकर पश्चात् अपने स्थानमें पहुंचता है और फिर उदयको प्राप्त होता है, इस तरह वह सब अन्य देवोंका अधिपति हुआ है ॥ २५ ॥

सब प्राणियोंको रूप देनेवाला सूर्य है। इसका मुख सर्वत्र है, वैसे ही हाथ और भुजाएं सर्वत्र हैं। वह अपने हाथों द्वारा सबका पोषण करता है। यह एक ही देव पृथ्वीसे द्युलोक तकके सब पदार्थ मात्रको उत्पन्न करता है ॥ २६ ॥

यह एक पांववाला होनेपर भी अनेक पांववालोंसे आगे बढता है। सब अनेक पांववाले इसी एक पांववालेके आश्रयसे रहते हैं ॥ २७ ॥

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥ २८ ॥
बण्महाँ२असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ २९ ॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतंङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः ।
उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥ ३० ॥
अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥
चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

अर्थ— (अतन्द्रः यास्यन् हरितः यदा आस्थात्) आलस्य न करनेवाला जब जानेकी इच्छा करता है तब वह अपने अश्वोंपर आरूढ होकर (रोचमानः द्वे रूपे कृणुते) प्रकाशित होकर दो रूप बनाता है। हे आदित्य ! (केतुमान् उद्यन् विश्वा रजांसि सहमानः) किरणोंसे युक्त होकर उदयको प्राप्त होनेवाला लोकोंको जीतनेवाला तू (प्रवतः विभासि) उच्च स्थानसे चमकता है ॥ २८ ॥

हे सूर्य ! हे आदित्य ! (बट् महान् असि) तू सबसे बडा है (ते महतः महिमा महान्) तुम महान् देवकी महिमा बहुत बडी है ॥ २९ ॥ (ऋ० ८।१०१।११; वा यजु ३३।३९; अथर्व २०।५८।३)

हे (देव पतंग) चालक देव ! तू (दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां अप्सु अन्तः रोचसे) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, भूलोक और जलोंके अन्दर प्रकाशित होता है। (रुच्या उभौ समुद्रौ व्यापिथ) तू अपने तेजसे दोनों समुद्रतक व्यापता है। ऐसा तू (स्वः-जित् देवः महिषः असि) प्रकाशको प्राप्त करनेवाला देव महासामर्थ्ययुक्त है। ३० ॥ ९ ॥

(आशुः विपश्चित् पतंगः व्यध्वे प्रयतः) शीघ्रगामी ज्ञानी संचालक विशेषत मार्गमें शुद्ध (परस्तात् अर्वाङ्) ऊपरसे यहां तक (विष्णुः विचित्तः शवसा अधितिष्ठन्) व्यापक और विशेष चिन्तनशक्तिसे युक्त अपने बलसे अधिष्ठाता होता हुआ (केतुना एजत् विश्वं प्र सहते) प्रकाशसे गतिमान् विश्वको धारण करता है ॥ ३१ ॥

(चित्रः चिकित्वान् महिषः सुपर्णः) विलक्षण ज्ञानी, समर्थ, और उत्तम गतिमान् (अन्तरिक्षं रोदसी आरोचयन्) अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोकको प्रकाशित करनेवाला सूर्य है। ऐसे (सूर्य अहोरात्रे परिवसाने) सूर्यपर दिन और रात बसते हुए (अस्य विश्वा वीर्याणि प्र तिरतः) इसके सब वीर्य फैलाते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ— यह आलस्य छोडकर सदा अपने कर्तव्यमें तत्पर रहता है। यह प्रकाश और अंधेरा उत्पन्न करता है। यह किरणोंसे सबको प्रभावित करके उच्च स्थानमें विराजता है ॥ २८ ॥

सूर्य सबसे बडा है, उसकी महिमा भी बहुत बडी है ॥ २९ ॥

यह सूर्य पृथ्वी जल अन्तरिक्ष तथा द्युलोकमें प्रकाशता है, पृथ्वी और अन्तरिक्षके दोनों जलस्थानोंमें अपना प्रकाश यह फैलाता है। यही सबमें अधिक सामर्थ्यशाली है ॥ ३० ॥

यह शीघ्रगामी देखनेवाला संचालक शुद्ध मार्गका दर्शक यहांसे वहांतक सब विश्वको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है ॥ ३१ ॥

यह विलक्षण सामर्थ्यशाली इस त्रिलोकीको प्रकाशित करता है। यह दिन और रातकी निर्माण करके सबमें पराक्रमशक्तिको समर्पित करता है ॥ ३२ ॥

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं१ शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः ।
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥

अर्थ— (तिग्मः विभ्राजन् तन्वं शिशानः) तीक्ष्ण प्रकाशवाला अपने शरीरको तीक्ष्ण करनेवाला, (अरंगमासः प्रवतः रराणः) पर्याप्त गतिवाला उच्च स्थानपर रमनेवाला (ज्योतिष्मान् पक्षी महिषः वयोधाः) तेजस्वी आकाशमें संचार करनेवाला बलवान् और बल धारण करनेवाला (विश्वाः प्रदिशः कल्पमानः आस्थात्) सब दिशाओंमें सामर्थ्ययुक्त होता हुआ स्थिर रहता है ॥ ३३ ॥

(देवानां केतुः चित्रं अनीकं) देवोंका ध्वज, विलक्षण मूल आधाररूप (ज्योतिष्मान् सूर्यः प्रदिशः उद्यन्) तेजस्वी सूर्य दिशाओंमें उदित होता हुआ (शुक्रः विश्वा दुरितानि तमांसि द्युम्नैः अतारीत्) शुद्ध सूर्य सब पापरूप अंधकारोंको अपने तेजोंसे पार करता है, और (दिवा करोति) दिनका प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥ (अथर्व २०।१०७।१३)

(देवानां चित्रं अनीकं, मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः उद् अगात्) देवोंका अद्भुत धारक बल, मित्र वरुण और अग्निकी आंख उदय हो गया है, वह (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं आप्रात्) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीको व्यापता है ऐसा (सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा) सूर्य जंगम और स्थावरका आत्मा है ॥ ३५ ॥ (ऋ० १।११५।१; वा. यजु. ७।४२, १३।४६; अथर्व. २०।१०७।१४)

(उच्चा पतन्तं सुपर्णं दिवः मध्ये भ्राजमानं तरणिं) उच्च स्थानसे गमन करनेवाले पक्षी जैसे आकाशके मध्यमें तेजस्वी होकर तैरनेवाले (यं अजस्रं ज्योतिः आहुः तं सवितारं त्वा पश्याम) जिसे विशेष तेजस्वी करके कहते हैं उस शुभ सूर्यको हम देखते हैं, (यत् अत्रिः अविन्दत्) जिसे भोक्ता प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी और तीक्ष्ण सूर्य, पर्याप्त गतिसे युक्त और सदा उच्च स्थानमें विराजनेवाला पक्षीके समान आकाशमें संचार करता हुआ सब दिशाओंको तेज देता हुआ ठहरा हुआ है ॥ ३३ ॥

यह देवोंके आगमनकी सूचना देता है, यह विचित्र अद्भुत बलसे युक्त है, यह जब उदयको प्राप्त होता है, तब सब स्थानका अंधेरा दूर करके सर्वत्र प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥

यह सब देवोंका बल और सबकी आंख ही है। यह अपने प्रकाशसे विश्वको भर देता है। यही सूर्य मानो सब स्थावर जंगम जगत्का आत्मा है ॥ ३५ ॥

यह शीघ्रगामी पक्षीके समान आकाशमें तैरता है। इसका विलक्षण तेज है, जो हम देखते हैं। जो इस तेजको स्वीकार करना चाहे उसको यह प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः ।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम　॥ ३७ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा　॥ ३८ ॥
रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्व१राभरत्　॥ ३९ ॥
रोहितो लोको अभवद् रोहितोऽत्यतपद् दिवम् ।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत्　॥ ४० ॥
सर्वा दिशः समचरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः ।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति　॥ ४१ ॥

अर्थ— (दिव पृष्ठे धावमानं सुपर्णं अदित्याः पुत्र) द्युलोककी पीठपर दौडनेवाले पक्षीके समान अदितिके पुत्रको (नाथकामः भीतः उपयामि) नाथकी इच्छा करनेवाला भयभीत हुआ मैं शरण जाता हूं। हे सूर्य ! (सः नः दीर्घं आयुः प्रतिर) वह तू हमें दीर्घ आयु दे, (ते सुमतौ स्याम, मा रिषाम) तेरी उत्तम बुद्धिमें हम रहें और हमारा नाश न हो ॥ ३७ ॥

(हरेः हंसस्य सहस्राह्ण्यं स्वर्गं पततः अस्य पक्षौ वियतौ) हरणशील हंसके समान गतिशील, हजार दिनके मार्ग पर स्थित द्युलोक पर चलनेवाले इस सूर्यके दोनों ओर किरण फैले हैं। (स सर्वान् उरसि उपदद्य) वह सब देवोंको अपनी छातीपर धारण करता हुआ, (विश्वा भुवनानि स पश्यन् याति) सब भुवनोंको देखता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥
(अथर्व. १०।८।१८, १३।३।१४)

(रोहितः कालः अभवत्) यह सूर्य ही काल हुआ है, (अग्रे रोहित प्रजापतिः) आगे सूर्य ही प्रजापालक बना है, (रोहितः यज्ञानां मुखं) यही सूर्य यज्ञोंका मुख होकर (स्वः आभरत्) प्रकाश प्रदान करता है ॥ ३९ ॥

(रोहितः लोकः अभवत्, दिवं अतपत्) सूर्य ही सब लोक बना और द्युलोकको प्रकाशित करने लगा। (रोहितः रश्मिभिः भूमिं समुद्रं अनु सं चरत्) सूर्य ही अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रमें संचार करता है ॥ ४० ॥

(दिवः अधिपतिः रोहितः सर्वाः दिशः समचरत्) द्युलोकका स्वामी सूर्य सब दिशाओंमें संचार करता है। (दिवं समुद्रं आत् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति) द्युलोक समुद्र भूमि सब प्राणी आदि सबकी वह रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ— आकाशके पृष्ठभागपर दौडनेवाले पक्षीके समान यह सूर्य है। मैं दुःखोंसे पीडित होकर भयभीत हुआ इसकी प्रार्थना करता हूं कि यह हमें दीर्घ आयु देवे और हमें सुरक्षित रखे ॥ ३७ ॥

इस तेजस्वी सूर्यके किरण सब ओर हजार दिनतक प्रवाह करते हुए दूरांतक जाते हैं। यही सब देवोंका आधार है, यह सबका निरीक्षण करता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥

यह सूर्य काल, प्रजापालक, यज्ञ, तेज, सब लोकको बनाता है, यही अपने प्रकाशसे सब जगत्को परिपूर्ण करता है ॥ ३९-४० ॥

यह द्युलोकका स्वामी सर्वत्र संचार करके सब जगत्की रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥
अभ्यन्यदेति पर्यन्यदस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥ ४३ ॥
पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव ।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४४ ॥
पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम् ।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥
अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ४६ ॥

अर्थ—(अतन्द्रः शुक्रः रोचमानः बृहतीः आरोहन्) आलस्यरहित बलवान् तेजस्वी सूर्य बडी दिशाओंमें आरूढ होकर (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप बनाता है। यह (चित्रः चिकित्वान् महिषः) विलक्षण ज्ञानी और समर्थ (वातं आयाः) वायुको प्राप्त होता है, और (यत् यावतः लोकान् अभि विभाति) जितने लोक हैं उन सबको यह प्रकाशित करता है ॥ ४२ ॥

(अहोरात्राभ्यां कल्पमानः महिषः) दिन और रात्रिसे समर्थ होता हुआ यह सूर्य (अन्यत् अभि एति, अन्यत् अभि अस्यते) एक भागके सन्मुख होता है और दूसरा भाग दूसरी ओर फेंका जाता है। (वयं नाधमानाः गातुविदं रजसि क्षियन्तं सूर्यं हवामहे) हम सब त्रस्त हुए मार्गदर्शक और अन्तरिक्षमें निवास करनेवाले सूर्यकी स्तुति करते हैं ॥ ४३ ॥

(महिषः पृथिवीप्रः) बलवान् पृथिवीको पूर्ण करनेवाला (नाधमानस्य गातुः, अदब्धचक्षुः विश्वं परि बभूव) दुःखी मनुष्यका मार्गदर्शक, जिसका आंख न दबा है ऐसा सूर्य इस विश्वपर है। यह (विश्वं संपश्यन् सुविदत्रः यजत्रः) सब विश्वको देखनेवाला ज्ञानी याजक (इदं शृणोतु यत् अहं ब्रवीमि) यह सुने जो मैं कहता हूं ॥ ४४ ॥

(अस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं परि) इसका महिमा पृथिवी और समुद्रके चारों ओर फैली हुई है। (ज्योतिषा विभ्राजन् द्यां अन्तरिक्षं परि) तेजसे प्रकाशता हुआ द्युलोक और अन्तरिक्षमें चारों ओर फैला है। (सर्वं संपश्यन्०) सबको देखता हुआ यह ज्ञानी याजक यह सुने कि जो मैं कहता हूं ॥ ४५ ॥

(जनानां समिधा अग्निः प्रति अबोधि) जनोंकी समिधाओंसे अग्नि जाग उठा है। (धेनुं इव उषसं आयतिं) गौ जैसे उषा आनेके समय जागती है। (वयां प्र उज्जिहानाः यह्वा इव) शाखाओंको ऊपर फेंकनेवाले वृक्षोंके समान (भानवः नाकं अच्छ प्र सिस्रते) किरण स्वर्गधामकी ओर पहुंचते हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ— आलस्य छोडकर समर्थ और तेजस्वी यह सूर्य सबसे ऊंचे स्थानपर आरूढ होता है। अन्धकार और प्रकाश इसीसे उत्पन्न होते हैं। जहांतक लोक हैं वहांतक इसका प्रकाश फैलता है ॥ ४२ ॥

यह सूर्य दिन और रात बनाता है, जिस समय यह जिस भूभागके सन्मुख होता है वहां दिन होता है और दूसरे भूभागमें रात्रि होती है। इस अन्तरिक्ष लोकमें विराजमान तेजस्वी सूर्यकी हम स्तुति करते हैं, यह हमें मार्गदर्शक होवे ॥ ४३ ॥

यह सूर्य सामर्थ्यशाली है, दुःखी मनुष्यको यही सुखका मार्ग बताता है। सब विश्वपर इसकी प्रभुता है। यह वर्णन यह सुनें ॥ ४४ ॥

इसकी महिमा, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें फैली है ॥ ४५ ॥

जनताने जो समिधायें होमी थीं, उनसे यह अग्नि प्रदीप्त हुआ है। जैसे गौ प्रातःकाल जागती है, वैसे ही यह अग्नि जाग उठा है। जैसे पौधे अपनी शाखाओंको ऊपर आकाशमें फैलाते हैं, वैसे ही अग्निकी ज्वालाएं सीधी ऊपर जाती हैं और प्रकाशको फैलाती हैं ॥ ४६ ॥

अध्यात्मम्

(काण्ड १३, सूक्त ३)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता- अध्यात्मं, रोहितादित्यदैवतम्)

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति ॥
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥
यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति । तस्य देवस्य० ॥ २ ॥
यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा । तस्य देवस्य० ॥ ३ ॥
यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति । तस्य देवस्य० ॥ ४ ॥
यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः ।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे ॥ तस्य देवस्य० ॥ ५ ॥

अर्थ— (य इमे द्यावा-पृथिवी जजान) जो इन दोनों द्युलोक और पृथिवी लोकको उत्पन्न करता है (य भुवनानि द्रापिं कृत्वा वस्ते) जो सब भुवनोंको चोला बनाकर उसमें रहता है, (यस्मिन् षट् उर्वीः प्रदिशः क्षियन्ति) जिसमें छः बडी दिशाएं निवास करती हैं, (याः पतङ्गः अनु विचाकशीति) जिनको गतिमान् सूर्य प्रकाशित करता है । (यः एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति) जो ऐसे ज्ञानी ब्राह्मणका नाश करता है, या कष्ट देता है, (एतत् आगः तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) इसका पाप उस क्रुद्ध देवके प्रति होता है । हे (रोहित) सूर्य ! उस पापीको (उत् वेपय) कम्पा दे, तथा (प्रक्षिणीहि) उसका नाश कर, (ब्रह्मज्यस्य पाशान् प्रतिमुञ्च) ब्रह्मघातकीके ऊपर पाशोंको गिरा दे, अर्थात् उसे बंधनमें डाल दे ॥ १ ॥

(यस्मात् वाता ऋतुथा पवन्ते) जिससे वायु ऋतुओंके अनुसार बहते हैं, (यस्मात् समुद्राः अधि विक्षरन्ति) जिससे समुद्र-जलप्रवाह-विविध प्रकारसे प्रवाहित होते हैं ॥ ० ॥ (यः मारयति प्राणयति) जो मारता है, जो जीवित रखता है, (यस्मात् विश्वा भुवनानि प्राणन्ति) जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं ॥ ० ॥ २—३ ॥

(यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयति) जो प्राणसे द्युलोक और भूलोकको तृप्त करता है और (यः अपानेन समुद्रस्य जठरं पिपर्ति) जो अपानसे समुद्रका पेट पूर्ण करता है ॥ ० ॥ (यस्मिन्) जिसमें विराट् परमेष्ठी प्रजापति अग्नि वैश्वानर (सह पंक्त्या श्रितः) पंक्तिके साथ आश्रय लिए हुए हैं ॥ ० ॥ ४-५ ॥

भावार्थ— जिस परमात्माने यह संपूर्ण जगत् निर्माण किया है और जो उसके अन्दर व्यापकर रहता है, जिसके अन्दर ये सूर्यसे प्रकाशित होनेवाली सब दिशा और उपदिशाएं रहती हैं, वह विश्वाधिपति परमात्मा उस पर बडा क्रुद्ध होता है, जो ज्ञानी मनुष्यको कष्ट देता है, उसको कंपायमान करता है, क्षीणबल करता है और अन्तमें बंधनमें डाल देता है ॥ १ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः ।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत ॥ तस्य देवस्य० ॥ ६ ॥

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः ।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः ॥ तस्य देवस्य० ॥ ७ ॥

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ॥ तस्य देवस्य० ॥ ८ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य ॥ तस्य देवस्य० ॥ ९ ॥

यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु ।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ १० ॥

अर्थ— (यस्मिन् षट् उर्वीः पञ्च दिशः अधिश्रिताः) जिसमें छः तथा पांच बडी दिशाएं आश्रित हुई हैं तथा जिसमें (चतस्रः आपः यज्ञस्य त्रयः अक्षराः) चार प्रकारके जल और यज्ञके तीन अक्षर हैं, (यः अन्तरा क्रुद्धः चक्षुषा रोदसी ऐक्षत) जो अंदरसे क्रुद्ध होकर आंखसे द्युलोक और भूलोकको देखता है ॥ ० ॥ ६ ॥

(य अन्नादः अन्नपतिः उत यः ब्रह्मणस्पतिः बभूव) जो अन्नभक्षक, अन्नका स्वामी और ज्ञानका स्वामी बन है, तथा (यः भुवनस्य पतिः भूतः भविष्यत्) जो जगत्का स्वामी था और रहेगा ॥ ० ॥ (यः अहोरात्रैः विमितं त्रिंशत् अंगं) जो दिन और रात्रोंके तीस दिनोंका बना एक महिना ऐसे (त्रयोदशं मासं यः निर्मिमीते) तेरह महिने जो निर्माण करता है ॥ ० ॥ ७-८ ॥

(अपः वसानाः सुपर्णाः हरयः) जलको धारण करनेवाले उत्तम गतिमान् सूर्यकिरण (कृष्णं नियानं दिवं उत्पतन्ति) कृष्ण वर्ण या नीलवर्णवाले सबके स्थानरूप द्युलोकके प्रति जाते हैं, (ते ऋतस्य सदनात् आववृत्रन्) वे किरण जलके स्थानसे पुनः लौटते हैं ॥ ० ॥ हे (कश्यप) देखनेवाले देव ! (यत् ते चन्द्रं रोचनावत् पुष्कलं संहितं चित्रभानु) जो तेरा आनन्दकारी प्रकाशमय बहुत इकट्ठा हुआ विचित्र तेज है (अस्मिन् सप्त सूर्याः साकं आर्पिताः) इसमें सात सूर्य साथ साथ रहते हैं ॥ ० ॥ ९-१० ॥

भावार्थ— जिसकी प्रेरणासे वायु और जल प्रवाह चल रहे हैं । जो सबको मारता और जीवित करता है, जिसकी जीवन शक्तिसे सब प्राणिमात्र जीवित रहते हैं ॥ जो प्राणसे द्यावापृथिवीको तृप्त करके अपानसे समुद्रको परिपूर्ण करता है, जिसमें अग्नि आदि सब देव पंक्ति बांधकर रहते हैं, जिसमें सब दिशाएं, सब जलप्रवाह, यज्ञके सब विधिज्ञान आश्रित हुए हैं, जो क्रुद्ध होकर अपने आंखसे सबका निरीक्षण करता है ॥ २-६ ॥

जो एक मात्र सबका भक्षक है तथापि जो अन्न और ज्ञान सबको देता है, जो सबका एक मात्र स्वामी था, है और रहेगा, जो दिन रात, महिना और वर्ष रूपी कालचक्र निर्माण करता है, जिसके किरण पृथ्वीपरका जल लेकर आकाशमें चढते हैं और वहां मेघमण्डलमें बारंवार प्रकाशित होते हैं, जिसका प्रकाश एकत्रित होकर सबको प्रकाशित करता है और जिसमें ये सब सूर्य रहते हैं ॥ ७-१० ॥

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथंतरं प्रति गृह्णाति पश्चात् ।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ ११ ॥
बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथंतरमन्यतः सबले सध्रीची ।
यद् रोहितमजनयन्त देवाः ॥ तस्य देवस्य० ॥ १२ ॥
स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥
तस्य देवस्य० ॥ १३ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ तस्य देवस्य० ॥ १४ ॥
अयं स देवो अप्स्वन्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः ।
य इदं विश्वं भुवनं जजान ॥ तस्य देवस्य० ॥ १५ ॥
शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्व१स्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ तस्य देवस्य० ॥ १६ ॥

अर्थ— (बृहत् एनं पुरस्तात् अनुवस्ते) बृहत् गान इसके सामने होता है और (रथंतरं पश्चात् प्रतिगृह्णाति) रथन्तर गान पीछेसे इसका ग्रहण करता है (अप्रमादं ज्योतिः वसाने सदं) बिना आलस्यके ये दोनों ज्योतिको पहने हुए यज्ञशालामें आते हैं ॥ ० ॥ (बृहत् अन्यतः पक्ष आसीत्) बृहत् गानका एक पक्ष है और (रथंतरं अन्यतः) रथन्तर गानका दूसरा पक्ष है, (सबले सध्रीची) ये दोनों बलवान् तथा साथ रहनेवाले पक्ष हैं। (यत् रोहितं देवाः अजनयन्त) वहां देवोंने रोहित सूर्यका निर्माण किया ॥ ० ॥ ११-१२ ॥

(*सः वरुणः सायं अग्निः भवति*) वह वरुण है, परंतु वह सायंकाल अग्नि होता है, (सः प्रातः उद्यन् मित्रः भवति) वह सबेरे उदय होनेके समय मित्र कहलाता है। (सः सविता भूत्वा अन्तरिक्षेण याति) वही सविता बनकर अन्तरिक्षमें संचार करता है, (सः इन्द्रः भूत्वा मध्यतः दिवं तपति) वह इन्द्र होकर द्युलोकके मध्यमें तपता है ॥ ० ॥ १३ ॥

(अर्थ देखो अथर्व० १०।८।१८; १३।२।३८) ॥ ० ॥ १४ ॥

(यः इदं विश्वं भुवनं जजान) जिसने यह सब जगत् उत्पन्न किया (अयं सः देव सहस्रमूलः पुरुशाकः अत्त्रिः अप्सु अन्तः) वह देव यही है जिसके हजारों मूल और शाखाएं हैं और जो सबका भक्षक है, वह जलोंमें है ॥ ० ॥ १५ ॥

(*वर्चसा भ्राजमानं शुक्रं देवं*) तेजसे चमकनेवाले पवित्र देवको (*रघुष्यदः हरयः दिवि वहन्ति*) गतिमान् किरण द्युलोकमें चलाते हैं। (यस्य ऊर्ध्वाः तन्वः दिवं तपन्ति) जिसके ऊपरके भाग द्युलोकको तपाते हैं और (अर्वाङ् सुवर्णैः पटरैः विभाति) इस ओर उत्तम रंगवाले तेजोंसे वह चमकता है ॥ ० ॥ (*येन हरितः आदित्यान् सं वहन्ति*) जिसके साथ किरण सूर्योंको चलाते हैं, (*येन यज्ञेन प्रजानन्तः बहवः यन्ति*) जिस यज्ञके साथ बहुत ज्ञानी जाते हैं, (*यत् एकं ज्योतिः बहुधा विभाति*) जो एक तेज अनेक प्रकारसे प्रकाशता है ॥ ० ॥ १६-१७ ॥

भावार्थ— बृहत् और रथन्तर गान इसके आगेपीछे चलते हैं। ये दोनों यज्ञके प्रबल पक्ष हैं इनका गान होता है तब सूर्य देव उदयको प्राप्त होते हैं। वही वरुण अग्नि मित्र सविता और इन्द्र क्रमशः सायं प्रातः द्वितीय प्रहर और मध्य दिनमें कहलाता है। (मंत्र १४ का भावार्थ १३।२।३८ में देखो) जिसने यह जगत् निर्माण किया वह देव यही है, जिसकी जड और शाखाएं हजारों हैं, वह जलमें विराजमान है ॥ ११-१५ ॥

येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ॥ तस्य देवस्य० ॥ १७ ॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ तस्य देवस्य० ॥ १८ ॥
अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ॥ तस्य देवस्य ॥ १९ ॥
सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे । तस्य देवस्य० ॥ २० ॥
निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः ।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म ॥ तस्य देवस्य० ॥ २१ ॥
वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे । तस्य देवस्य० ॥ २२ ॥

अर्थ— (एकचक्र रथं सप्त युञ्जन्ति) एक चक्रवाले रथमें सात अश्व-किरण-जुते हुए हैं । (सप्तनामा एकः अश्वः वहति) सात नामवाला एक अश्व उसको चलाता है । इसका (त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं) तीन केंद्रोंवाला जरा रहित और नाशरहित यह चक्र है, (यत्र इमा विश्वा भुवना अधि तस्थुः) जहां ये सब भुवन ठहरे हैं ॥ ० ॥ १८ ॥ (ऋ० १।१६४।२; अथर्व ९।९।२)

(देवानां पिता मतीनां जनिता) देवोंका पालक और बुद्धियोंका उत्पादक (उग्रः वह्निः अष्टधा युक्तः वहति) उग्र अग्नि आठ प्रकारसे युक्त होकर चलता है । (ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः) यज्ञके धागेको मनसे मापता हुआ (मातरिश्वा सर्वाः दिशः पवते) अंतरिक्षमें निवास करनेवाला सब दिशाओंमें गति करता है ॥ ० ॥ १९ ॥

(सम्यञ्चं तन्तुं सर्वाः प्रदिशः अनु) इस सीधे यज्ञके धागेको सब दिशाओंके अनुसार (गायत्र्यां अन्तः अमृतस्य गर्भे) गायत्रीके अंदर अमृतके गर्भमें रखते हैं ॥ ० ॥ २० ॥

(तिस्रः निम्रुचः तिस्रः व्युषः) तीन अस्त और तीन उषःकाल हैं । हे (अङ्ग) प्रिय ! (त्रीणि रजांसि तिस्रः दिवः) तीन अन्तरिक्ष और तीन द्युलोक हैं । हे अग्ने ! (ते त्रेधा जनित्रं विद्म) तेरा तीन प्रकारका जन्म हम जानते हैं । तथा (देवानां त्रेधा जनिमानि विद्म) देवोंके तीन जन्म हम जानते हैं ॥ ० ॥ (यः जायमानः पृथिवीं वि और्णोत्) जो जन्मते ही पृथ्वीको आच्छादित करता है (अन्तरिक्षे समुद्रं आ अदधात्) अन्तरिक्षमें समुद्रको धारण करता है ॥ ० ॥ २१-२२ ॥

भावार्थ— तेजस्वी सूर्यके द्युलोकमें किरण प्रकाशित करते हैं । इसके ऊपरके किरण द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और इस ओरके किरण इस ओर प्रकाश देते हैं । एकचक्रवाले सूर्यरथको सात किरण प्रकाशित करते हैं । एकके ही ये सात नाम हैं । इसका चक्र अजर अमर है और इसीके आधारसे सब भुवन रहते हैं । यह सब देवोंका और बुद्धियोंका उत्पादक और पालक है । यह प्रचंड अग्नि है और आठ प्रकारका होकर प्रकाशता है । इसीसे यज्ञका अखंड धागा फैलाया जाता है । यह अन्तरिक्षमें रहकर सर्वत्र प्रकाशित होता है । यह यज्ञका तन्तु सब दिशाओंमें फैल रहा है यह गायत्रीमें अमृतके केन्द्रमें है ॥ १९-२० ॥

अस्त, उदय, उषा, द्यु, अन्तरिक्ष ये सब तीन हैं । सबका जन्म तीन प्रकारका है । जन्मते ही पृथ्वीको प्रकाशित करता और अन्तरिक्षमें जलोंको धरता है । अग्नि यज्ञोंके साथ और सूर्यकिरणोंके साथ प्रकाशित होता है । प्रदीप्त अग्नि यज्ञमें और चमकनेवाला सूर्य द्युलोकमें प्रकाशता है । जब देवोंके द्वारा सूर्यका उदय हुआ तब वायु भी बह रहे थे ॥ २१-२२ ॥

त्वम॑ग्ने क्रतु॑भिः केतुभिर्हि॒तो॒३॑ऽर्कः समि॑द्ध उद॑रोचथा दि॒वि ।
किम॒भ्या॑र्च॒न्म॒रुतः॒ पृश्नि॑मातरो॒ यद् रोहि॑त॒मज॑नयन्त दे॒वाः ॥ तस्य॑ दे॒वस्य॑० ॥ २३ ॥
य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः ।
यो॒३॑ऽस्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पदः ॥ तस्य॑ दे॒वस्य॑० ॥ २४ ॥
एक॑पा॒द् द्वि॒पदो॒ भूयो॒ वि च॑क्रमे द्वि॒पात् त्रि॒पाद॑म॒भ्ये॑ति प॒श्चात् ।
चतु॑ष्पाच्चक्रे द्वि॒पदा॑मभिस्व॒रे सं॒पश्य॑न् प॒ङ्क्तिमु॑प॒तिष्ठ॑मानः ॥ तस्य॑ दे॒वस्य॑० ॥
क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑ ।
उद् वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न् ॥ २५ ॥
कृ॒ष्णायाः॑ पु॒त्रो अर्जु॑नो॒ रात्र्या॑ व॒त्सो॑ऽजायत ।
स ह॒ द्याम॑धि॒ रो॑हति॒ रुहो॑ रुरोह॒ रोहि॑तः ॥ २६ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (त्वं क्रतुभिः, अर्कः केतुभिः हितः) तू यज्ञोंसे और सूर्य किरणोंसे युक्त है, तू (समिद्धः दिवि उत् अरोचथाः) प्रदीप्त होकर द्युलोकमें प्रकाशता है। (मरुतः पृश्निमातरः किं अभ्यार्चन्) भूमिको माता माननेवाले मरुत् तब उसकी अर्चना करने लगे कि (यत् देवाः रोहितं अजनयन्त) जिस समय देवोंने सूर्यको प्रकट किया ॥ ० ॥ २३ ॥

(यः आत्मदा बलदा यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते) जो आत्मिक बल देनेवाला और शक्ति देनेवाला है, जिसकी आज्ञाका पालन सब देव करते हैं, (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादका स्वामी है ॥ ० ॥ २४ ॥

(एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे) एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक दौडता है, (द्विपात् त्रिपादं पश्चात् अभ्येति) दो पांववाला तीन पांववालेके पीछेसे चलता है। (अथर्व० १३।२।२७) (चतुष्पाद् द्विपदं अभिस्वरे पंक्तिं संपश्यन् उपतिष्ठमानः चक्रे) चार पांववाला दो पांववालोंको एकस्वरमें रहनेवालोंकी पंक्तिको देखता हुआ और उनसे सेवा लेता है। (तस्य देवस्य०) इस देवके प्रति वह पाप होता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणके नाश करनेसे होता है। उस नाशकको वह कंपाता, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥ (ऋ. १०।११७।८)

(कृष्णायाः रात्र्याः पुत्रः वत्सः अर्जुनः अजायत) काले वर्णवाली रात्रिका पुत्र बचा प्रकाशमान सूर्य हुआ है। (सः रोहितः रुहः रुरोह) वह लाल रंगवाला सब बढानेवालोंके ऊपर चढा है, वही (ह द्यां रोहति) निश्चयसे द्युलोक पर चढता है ॥ २६ ॥ (१४)

भावार्थ— आत्मिक और शारीरिक बल देनेवाला देव है, इसकी आज्ञा सब मानते हैं, सब द्विपाद चतुष्पाद उसीकी आज्ञामें रहते हैं ॥ २४ ॥

यह देव एकपादवाला होनेपर भी अनेक पांववालोंके आगे बढता है। यह सबकी पूजा स्वीकारता हुआ सबको पंक्तिमें रखकर उपासक बनाता है। इस देवताका अपराध वह करता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणको सताता है। वह इस अपराधीको कंपाता, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥

रात्री व्यतीत होकर दिन हुआ और सूर्य उदय हो चुका है। वह उदय होते ही सबसे ऊपर चढने लगा और अंतमें द्युलोकमें विराजमान होकर प्रकाशने लगा है ॥ २६ ॥

अध्यात्मम्

(काण्ड १३, सूक्त ४)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— अध्यात्मं, रोहितादित्यदैवतम्)

[४]

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥ १ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ २ ॥
स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।० ॥ ३ ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।० ॥ ४ ॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।० ॥ ५ ॥
तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश० । ॥ ६ ॥
पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति ।० ॥ ७ ॥
तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥ ८ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥
तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥

अर्थ— (१) (स्वः सविता दिवः पृष्ठे अवचाकशत् स एति) वह सूर्य द्युलोकके पृष्ठभागपर प्रकाशता है और अपने तेजको प्राप्त करता है ॥ १ ॥ उसने अपने (रश्मिभिः नभः आभृतं) किरणोंसे आकाशको भरपूर कर दिया। यह (महेन्द्रः आवृत एति) बडा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ २ ॥ (सः धाता०) वह धाता विधाता और वही (वायुः) वायु है जिसने (नभः उच्छ्रितं) आकाश ऊंचा बनाया है ॥ ३ ॥

वह अर्यमा, वरुण, रुद्र और महादेव है ॥ ४ ॥ वह अग्नि, सूर्य और महायम भी वही है ॥ ५ ॥ (तं एकशीर्षाणः दश वत्साः युताः उपतिष्ठन्ति) उसके साथ एक मस्तकवाले दस बछडे संयुक्त होकर रहते हैं ॥ ६ ॥

(पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति) पीछेसे पूर्व दिशामें तेज फैलाता है (यत् उदेति विभासति) जो उदय होता और प्रकाशता है ॥ ७ ॥

(तस्य स एष मारुतः गणः शिक्याकृतः एति) उसके साथ यह वायु गण छिक्केमें धरेके समान चलता है ॥ ८ ॥ उसने किरणोंसे आकाश व्याप दिया है, यह महा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ ९ ॥ (तस्य इमे नव कोशाः विष्टम्भाः नवधा हिताः) उसके ये नौ कोश विविध रूपसे नौ प्रकार रखे हैं ॥ १० ॥

(सः प्रजाभ्यः विपश्यति यत् च प्राणति यत् च न) वह प्रजाओंको देखता है, जो प्राण धारण करते हैं और जो नहीं करते। ११ ॥ (तं इदं निगतं सहः) वह यह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है। (सः एषः एकः एकवृत् एकः एव) वह यह एक है, एकमात्र व्यापक देव केवल एक ही है ॥ १२ ॥

(एते देवाः अस्मिन् एकवृतः भवन्ति) ये सब देव इसमें एकरूप होते हैं ॥ १३ ॥ (१५)

[५]

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १४ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।० ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।० ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।० ॥ १८ ॥
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न । ॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।० ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।० ॥ २१ ॥

[६]

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च॥ २२ ॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २४ ॥
स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ॥ २५ ॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥ २६ ॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ २७ ॥
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ २८ ॥

अर्थ— (२) (यः एतं देवं एकवृतं वेद) जो इस देवको एकमात्र एक जानता है उसे कीर्ति, यश, (अम्भः) जल, (नभ) अवकाश और (ब्राह्मणवर्चस) ब्रह्मतेज, अन्न और (अन्नाद्यं) खानपानके सब भोग प्राप्त होते हैं । १४-१५ ॥ वह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम है (न अपि उच्यते) ऐसा नहीं कहा जाता है ॥ १५-१८ ॥

(स सर्वस्मै विपश्यति यत् च प्राणति यत् च न) वह सबको देखता है, जो जीवित है और जो नहीं । १९ ॥ (तं इदं०) वह यह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है, वह एक मात्र व्यापक देव केवल एक ही है । ये सब देव इसमें एक रूप होते हैं ॥ २०-२१ ॥

(३) (ब्रह्म) ज्ञान, तप, कीर्ति, यश, (अंभः नभ) जल, अवकाश, ब्रह्मतेज, अन्न और खानपानके पदार्थ ' भूत भविष्य, श्रद्धा, (रुचिः) तेज, कान्ति, स्वर्ग और स्वधा उसे प्राप्त होती है, जो (य एतं देवं एकवृतं वेद) इस देवको एक मात्र व्यापक देव जानता है ॥ २२-२४ ॥ (१६)

वही मृत्यु है, वही अमृत है, वह (अभ्वं) महान् है और वही (रक्षः) रक्षक अथवा राक्षस है ॥ २५ ॥ वह रुद्र (वसुदेये वसुवनिः नमो वाके अनुसंहितः वषट्कारः) धनदानके समय धन प्राप्त करनेवाला है और वही नमस्कार वाक्यमें उत्तम रीतिसे बोला गया वषट्कार है ॥ २६ ॥ (तस्य प्रशिषं इमे सर्वे यातवः उप आसते) उसकी आज्ञामें ये सब राक्षसादि रहते हैं ॥ २७ ॥ (तस्य वशे अमू सर्वा नक्षत्रा चन्द्रमसा सह) उसके वशमें ये सब नक्षत्र चन्द्रमाके साथ रहते हैं ॥ २८ ॥ (१७)

[७]

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥ ३० ॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ ३१ ॥
स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥
स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ ३३ ॥
स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥ ३४ ॥
स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ ३५ ॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥ ३६ ॥
स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त ॥ ३७ ॥
स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त ॥ ३८ ॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ३९ ॥
स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥ ४० ॥
स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥ ४१ ॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ ४२ ॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥ ४३ ॥
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ४४ ॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—(४)(स वै अह्नः, रात्र्याः, अन्तरिक्षात्, वायोः, दिवः, दिग्भ्यः, भूमेः, अग्नेः, अद्भ्यः ऋग्भ्यः, यज्ञात् अजायत) वह निश्चयसे दिन रात्रि अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा यज्ञसे हुआ, वैसा ही (तस्मात् अहः, रात्रिः, अन्तरिक्षं, वायुः, द्यौः दिशः, भूमिः, अग्निः, अप , ऋचः, यज्ञः (अजायत) उससे दिन रात्री अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा और यज्ञ हुए ॥ २९-३९ ॥

(सः यज्ञः तस्य यज्ञः) वह यज्ञ है, उसीका यज्ञ है। (सः यज्ञस्य शिरस्कृतं) वह यज्ञका सिर करनेवाला है ॥ ४० ॥ (सः स्तनयति, स विद्योतते) वह गर्जता है, वह चमकता है, (सः उ अश्मानं अस्यति) वह पत्थर (ओले) फेंकता है ॥ ४१ ॥ (पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा असुराय वा) पापीके लिए, उत्तम पुरुषके लिये, असुर वृत्तिके पुरुषके लिये ॥ ४२ ॥ (यत् वा ओषधीः कृणोषि, यत् वा वर्षसि) जो ओषधियां निर्माण करता है, जो वर्षा करता है, (भद्रया यत् वा जन्यं अवीवृधः) उत्तम कल्याण बुद्धिसे जो तू जन्मे हुए को बढाता है ॥ ४३ ॥ हे (मघवन्) इन्द्र ! (तावान् ते महिमा) वह तेरी महिमा है, (उपः ते शतं तन्वः) ये सब तेरे सैंकडों शरीर हैं ॥ ४४ ॥ (उपः ते बध्वे बद्धानि) ये सब करोडों तेरे साथ बंधे हैं, (यदि वा न्यर्बुदं असि) और तू अरबोंकी संख्यामें है ॥ ४५ ॥ (१८)

[८]

भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्॥ ४७ ॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५० ॥

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५१ ॥

[९]

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५२ ॥

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५३ ॥

भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५४ ॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥

अन्नाद्येन यशसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥

अर्थ—(५) (न मुरात् इन्द्रः भूयान्) अमरसे भी इन्द्र बड़ा है, (इन्द्र ! मृत्युभ्यः भूयान् असि) हे इन्द्र ! तू मृत्युओंसे भी बड़ा है ॥ ४६ ॥ (इन्द्रं अरात्याः भूयान्) हे प्रभो ! शत्रुओंसे भी तू बड़ा है, (त्वं शच्याः पतिः असि) तू शक्तिका स्वामी है। (विभूः प्रभूः इति त्वा वयं उपास्महे) तू व्यापक और स्वामी है, ऐसी हम तेरी उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥

(पश्यत ! नमस्ते अस्तु) हे दर्शनीय ! तेरे लिये नमस्कार है। (पश्यत ! मा पश्य) हे शोभन ! तू मुझे देख ॥ ४८ ॥ (अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन) खानपान, यश, तेज और ब्रह्मवर्चसके साथ मुझे युक्त कर ॥ ४९ ॥ (अम्भः अमः महः सहः इति वयं त्वा उपास्महे) जल, पौरुष, महत्ता, और बल स्वरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५० ॥ (अम्भः अरुणं रजः रजतं सहः इति त्वा वयं उपास्महे) जल, लाल बल और श्वेत सामर्थ्यरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५१ ॥ (१९)

(९) (उरुः पृथुः सुभूः भुवः इति त्वा वयं उपास्महे) महान् विस्तृत उत्तम होनेवाला, ज्ञानयुक्त ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५२ ॥

(प्रथः वरः व्यचः लोकः इति त्वा वयं उपास्महे) विस्तृत श्रेष्ठ, व्यापक और स्थानदाता ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५३ ॥ (भवद्वसुः, इदद्वसुः आयद्वसुः इति त्वा वयं उपास्महे) धनयुक्त, इस धनसे युक्त, सब धनोंको इकट्ठा करनेवाला सब धनोंको प्राप्त करनेवाला, मानकर तेरी हम उपासना कर रहे हैं ॥ ५४ ॥ (पश्यत ! ते नमः अस्तु) हे दर्शनीय ! मेरे लिये नमस्कार हो (मा पश्य) मुझे देख ॥ ५५ ॥ (अन्नाद्येन०) खानपान, यश, तेज और ब्रह्मवर्चससे मुझे युक्त कर ॥ ५६ ॥ (२०)

भावार्थ— यही देव धाता विधाता, अग्नि वायु रुद्र महादेव आदि है। सब अन्य देवता इसके अन्दर हैं। यह एक है, निःसन्देह केवल एक है। जो इसको एक जानता है वही तेजस्वी, वर्चस्वी और खानपानादि भोगसे युक्त होता है। उसीसे सब पदार्थ हुए हैं और सब पदार्थोंमें वही विद्यमान है। यज्ञ भी उसीसे हुआ और यज्ञमें वही रहता है। वह बुरे और भलेके पालनके लिए सब वनस्पतियां बनाता है। यह सब इसकी ही महिमा है इसके सैकडों हजारों करोडों अरबों शरीर हैं। यह अमरोंसे और मृत्युसे भी महान् है। सब शक्तियां उसीकी हैं, अतः शक्तियोंकी उपस्थिति उसमें है, ऐसी उपासना उसी देवकी सबको करनी उचित है ॥ १–५६ ॥

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका मनन

अध्यात्म प्रकरण

रोहित देवता ।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका देवता 'रोहित' है, इस रोहितका स्वरूप क्या है, इसका सबसे प्रथम मनन करना अत्यंत आवश्यक है। इस देवताके विषयके अथर्ववेदकी सर्वानुक्रमणीमें ये निर्देश है—

उदेहि वाजिन्निति काण्डं ब्रह्माध्यात्मं रोहितादित्यदैवत्यं त्रैष्टुभम् ॥ अथर्व बृ. स. १३।१

'इस तेरहवें काण्डका देवता 'ब्रह्म अध्यात्म, रोहित आदित्य' है।' यहां आदित्य शब्द है कि जो देवत का निश्चय करनेमें सहायक हो सकता है। आदित्यका अर्थ सूर्य है। इस संपूर्ण काण्डका विचार करनेसे पता लगता है कि यहां सूर्य ही देवता प्रामुख्यसे वर्णित हुई है। इस विषयके सूचक मंत्र भाग ये हैं—

रोहित सूर्य ।

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य । ११२२

इदं सदो रोहिणी रोहितस्य । ११२३

'रोहिणी नक्षत्र यह रोहितका घर है और यह रोहिणी रोहितके पीछे चलती है।' यहां आकाशस्थ रोहितका वर्णन है, अतः यह सूर्यपरक है। द्वितीय सूक्तके २४ मंत्र साक्षात् सूर्यपरक हैं और २५ वें मंत्रमें 'यह तपस्वी रोहित द्युलोकपर चढता है' ऐसा कहा है, अतः यहां रोहित शब्द पूर्वानुवृत्त सूर्यके लिये ही है।

रोहितः कालो अभवत् । २।३९

यहां 'रोहित काल अर्थात् समय है' ऐसा कहा है। सूर्यसे काल होता है यह प्रत्यक्ष अनुभव है, क्योंकि दिनरात सूर्यसे होते हैं और अन्यत्र सूर्यका 'नाम' काल आया है। आगे—

रोहितो यज्ञानां मुखम् । २।३९

'रोहित यज्ञोंका मुख है।' ऐसा कहा है, वह सूर्य ही है, क्योंकि सूर्योदय होनेसे यज्ञका प्रारंभ होता है। आगे—

रोहितोऽत्यतपद्दिवम् ॥ २।४०

'रोहित द्युलोकपर तपता है।' यह वर्णन सूर्यका स्पष्ट ही है। और इसमें तपनेका संकेत सूर्यका ही है, क्योंकि सूर्यके अतिरिक्त तपनेवाला दूसरा कोई तेजस्वी पदार्थ इस जगत्में नहीं है। आगे तृतीय सूक्तके अन्तिम मंत्रमें—

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत ।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥
(३।२६)

'कृष्ण वर्णवाली रात्रिका पुत्र श्वेत रंगवाला हुआ। वह रोहित बढता हुआ द्युलोकपर चढा।' इस वर्णनमें तो स्पष्ट ही रोहित नाम सूर्यके लिये आया है। रात्रीका पुत्र सूर्य निःसन्देह है क्योंकि रात्रिके उदरमें वह जन्मता है, ऐसा आलंकारिक वर्णन अन्यत्र वेदमें भी है।

इस तरह इस सूक्तमें रोहित शब्दसे सूर्यका वर्णन मुख्यतया है, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। तथापि अग्निका भी निर्देश इस रोहित सूक्तमें है—

रोहित–अग्नि ।

रोहितो यज्ञस्य जनिता । (१।१३)

'रोहित यज्ञका उत्पादक है।' अग्नि ही यज्ञका उत्पादक है यह बात सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि सूर्योदयके पश्चात् यज्ञ होते हैं, इसलिए सूर्य भी यज्ञका उत्पादक माना जा सकता है और वैसा वह है भी; परंतु साक्षात् अग्निमें आहुतियां होमी जाती हैं, इस कारण अग्नि भी यज्ञका उत्पादक है। यही बात अन्य शब्दोंसे कही है।

रोहितो यज्ञं व्यदधात् । (१।१४)

'रोहित यज्ञको बनाता है' यह अग्नि है इसलिए यज्ञको बना सकता है। अस्तु। इस तरह रोहित नाम अग्निका भी है। अर्थात् 'रोहित' शब्द द्वारा जैसी अग्निकी वैसी सूर्यकी भी कल्पना इन सूक्तोंमें स्पष्ट है। कोई इससे इन्कार कर नहीं सकता। इन सूक्तोंके मंत्र देखनेसे कई मंत्र स्पष्ट सूर्यपरक हैं ऐसा दीखता है, कई अग्निपरक हैं यह बात भी स्पष्ट है, कई दोनोंके वर्णनपरक हो सकते हैं। यह क्या बात है? मूल पढते पढते बीच बीचमें अग्निके और सूर्यके मंत्र मिलजुलकर आते हैं यह बात पढनेवालेके ध्यानमें आ सकती है। ऐसा क्यों है, इसका विचार करना आवश्यक है।

वेदमें आग्नेय पदार्थोंका मुख्य केन्द्र सूर्य माना है। अपनी पृथ्वीपर जो अग्नि है वह सूर्यका पोता है। विद्युत् सूर्यका पुत्र है और विद्युत्का पुत्र अग्नि है, अतः आलंकारिक भाषामें सूर्यका पोता अग्नि हुआ। अग्नि कैसे उत्पन्न होता है, यह प्रश्न यहां हो सकता है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्यकी उष्ण-

तासे मेघमंडलमें विद्युत बनती है, यह विद्युत सूखे घास आदि पर गिरकर अथवा वृक्षपर गिरकर अग्नि उत्पन्न होता है। अतः यह अग्नि वास्तविक सूर्यका ही अंश है। वस्तुतः विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी, कि इस पृथ्वीपर अथवा इस सूर्यमालिकामें जो भी कुछ अग्नितत्त्व अथवा उष्ण पदार्थ किंवा उष्णता उत्पन्न करनेवाला पदार्थ है, वह सब सूर्यके संबंधके कारण ही उष्णता देनेमें समर्थ है। अग्नि सूर्यसे उत्पन्न हुआ यह बात इससे पूर्व दर्शायी है। अब पाठक लकडीका विचार करें। लकडी जलानेसे उष्णता उत्पन्न होती है, वह उष्णता कहांसे आगयी? जो उष्णता वृक्ष सूर्यकिरणोंसे प्राप्त करके अपनेमें संग्रहित करते हैं, वही लकडीमें होती है और जलनेसे वही प्रकट होती है वस्तुतः यह सूर्यसे आयी उष्णता ही है। इसी तरह लकडीका कोयला या भूमिके अन्दर मिलनेवाला कोयला, मिट्टीका तेल आदि जो जो पदार्थ उष्णता उत्पन्न करनेवाले करके प्रसिद्ध हैं, उनको सबको सब उष्णता सूर्यसे प्राप्त होती है। कोई सूर्यसे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है जो उष्णता दे सके। अतः सब आग्नेय पदार्थ सूर्यके ही विभिन्न रूप हैं।

तीन अग्नि।

पृथ्वीपर अग्नि, अन्तरिक्षमें विद्युत्, द्युलोकमें सूर्य ये तीन अग्नि है। वेदमें तीन अग्निका वर्णन अनेक बार आया है ये तीन अग्नि ये हैं। परंतु ये तीन अग्नि भिन्न भिन्न नहीं हैं। ये सब एक ही अग्निके रूप हैं और वह एक अग्नि सूर्य ही है। क्योंकि सूर्यके ही रूपान्तर होकर ये अग्नि बने हैं। अतः कहा है—

स एति सविता०। सो अग्निः। स इन्द्रः।
(४।१-५)

'वह सूर्य ही अग्नि और इन्द्र अर्थात् विद्युत् है।' क्योंकि सूर्य ही रूपान्तरित होकर अग्नि और विद्युत् बना है। इसप्रकार तीन पृथक अग्नि अनुभवमें आते हैं तथापि वे विभिन्न नहीं हैं, एकही सूर्य तीन रूपोंमें दिखाई देता है।

जब गुरुकुलमें आठ वर्षका बालक प्रविष्ट होता है, तब उसको संध्याके पश्चात् अग्निमें हवन करनेका उपदेश होता है। उस समय वह समझता है कि अपना उपास्य देव अग्नि है। वह श्रद्धाभक्तिसे अग्निकी उपासना करता है और मनमें सोचता है कि क्या यह अग्निदेव स्वतंत्र है? विचार करते करते उसके हृदयमें वृष्टिकालमें आकाशमंडलमें चमकनेवाली विद्युत् आती है, किसी समय वह विद्युत् किसी वृक्षपर गिरती है, उस समय वह वृक्ष जलता है। इस कालमें गुरु उस शिष्यको समझाता है कि अपना अग्नि विद्युत्से इसी प्रकार इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ। पश्चात् वह विद्युत्को महादेव मानता है, परंतु पीछे अधिक विचार करनेपर उसे पता लगता है कि यह विद्युत् भी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई है। अतः वह उस समय सूर्यको ही महादेव जानता है। उस समय वह कहता है—

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठे०।
स धाता स विधर्ता स वायुः०।
स वरुणः स रुद्रः स महादेवः।
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ महायमः।
(४।१-५)

'यही सविता धाता विधाता वायु वरुण रुद्र महादेव अग्नि सूर्य और महायम है।' इस तरह इस सूर्यमालिकाका कर्ता धर्ता अधिष्ठाता यही सूर्य है, इसका एक मात्र आधार यह सूर्य है, यह ज्ञान उस शिष्यको होता है। इस समय वह अपनी सूर्योपासना गायत्रीमंत्रसे ही करता है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इस गुरुमंत्रका अर्थ इस समय वह ऐसा करता है कि 'हम उस सूर्यके बुद्धिको उत्साह देनेवाले तेजका ध्यान करते हैं।' ऐसा ध्यान करता हुआ वह सूर्यको अपने ब्रह्मचर्यका आदर्श मानता है, अपनी तपस्याका वह नमूना मानता है, अपने ब्रह्मचर्यका प्रतिरूप सूर्यमें वह देखता है। आदित्य ब्रह्मचारी होनेकी उत्कट इच्छा वह धारण करता है। वह विचार करता है कि यदि सभी सूर्यमालिका इस सूर्यसे ही बनी है, तो इस पृथ्वीपरके सभी जीवजन्तु और उनमेंसे मैं स्वयं भी सब मिलकर इसी सूर्यके अंश हैं। सूर्यसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं, अतः वेद कहता है कि—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥
वा. य. ४०।१६

'जो सूर्यके अन्दर पुरुष है, वह मैं हूं।' सूर्यके साथ मेरा इतना घनिष्ट संबंध है। सूर्य मेरा पिता है और मैं उसका अमृतपुत्र हूं। जो इस आदित्यमें सत्त्व है, वही मुझमें है। मेरी परम गति आदित्य है और मेरा प्रारंभभी आदित्यमेंही हुआ है। मैं इसी आदित्यसे जन्मा हूं, मैं इसी आदित्यकी शक्तिसे जीवित हूं और अन्तमें मैं आदित्यमेंही मिल जाऊंगा।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति॥ तै. उ. ३।१

' जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, होनेपर जिससे जीवित रहते हैं, फिर जाकर अन्तमें जिसमें मिलते हैं, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्मका लक्षण वह शिष्य इस समय सूर्यमें सार्थ हुआ अनुभव करता है, क्योंकि सब भूतमात्र सूर्यसे उत्पन्न हुए, सूर्यसे पाल जाते हैं और अन्तमें सूर्यमेंही मिल जाते हैं। यह अनुभव स्पष्टतया दर्शाता है कि सूर्यही हमारे लिए साक्षात् ब्रह्म है। इस तरह विचार करता हुआ वह ब्रह्मचारी सूर्यकोही अपना उपास्य मानता है, इस समय उसके सन्मुख ये वाक्य आते हैं-

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यते।
कौ. उ. २।१२

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ॥ छां. उ ३।१९।१
आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते। छां उ ३।१९।१
स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥
छां उ ३।१९।४

यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ॥
तै उ २।८।१;३।१०।४

यश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये स एकः।
मैं. उ ६।१७,७।७

आदित्यो ब्रह्म ॥ मै. उ. ६।१६
ब्रह्म तमसः परमपश्यद्रश्मिमचादित्ये - विभाति॥
मै. उ. ६।२४

य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी आत्मा ॥
महानि. उ २३।१

आदित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे।
बृ उ. २।१।२,३।१२

आदित्यात्मा ब्रह्म। मै उ. ६।१६
आदित्यवर्णमूर्जस्वन्तं ब्रह्म। मै उ ६।२४

' जो यह सूर्य दीखता है, वही ब्रह्म प्रकाशता है। आदित्य ब्रह्म है यह आदेश है। आदित्य ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है। जो मनुष्यमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। जो हृदयमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। यह आदित्यही ब्रह्म है। अन्धकारके परे रहनेवाला यह आदित्य है उसमें ब्रह्म प्रकाशता है। इस आदित्यमें जो पुरुष है, वही परमेष्ठी आत्मा है। इस आदित्यमें जो पुरुष है, वह ब्रह्म है ऐसी मैं उपासना करता हू। आदित्यका आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म तेजस्वी है और सूर्यके रंगका है।'

इस प्रकार अनेक वाक्य हैं जो सूर्यको ब्रह्म बताते हैं। ये वाक्य इस समय इस ब्रह्मचारीके सन्मुख आते हैं और वह आदित्यको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है। जो ब्रह्मचारी अग्निकी उपासना करता था, वही उस अग्निके जनक विद्युतकी उपासना करने लगा था, वही अब सूर्यको अपना आदर्श उपास्य मानता है। सूर्यको कर्ता धर्ता मानता है, वही सब तेजस्वियोंका केन्द्र है, वही सबका धारक और आकर्षक है, सबको आधीन रखनेवाला वही एक देव है। जो सब सूर्यमालाके ग्रहों और उपग्रहोंको धारण करता है, वह उस सूर्यमालाके अन्तर्गत पदार्थ मात्रको धारण करता है, उसके देव होनेमें क्या संदेह हो सकता है ? अत एव अथर्वश्रुतिमें कहा है कि—

स धाता स विधर्ता। अथर्व. १३।४।४

' वही सविता धारण करनेवाला और विशेष रीतिसे आधार देनेवाला है।' पूर्वोक्त उपनिषद्वचनोंमें ' इस आदित्यमें ब्रह्म है ' ऐसे वचन आगये हैं। इससे आदित्यका देह और उसमें विराजमान ब्रह्म है, यह कल्पना व्यक्त होती है। मानो यही सूर्यका दृश्यमान आकार ब्रह्मका देह है और उसमें व्यापनेवाला ब्रह्म है। जैसा मनुष्यमें देह और आत्मा है, वैसाही सूर्यमें देह और परमात्मा है। अत ' सूर्यमें जो पुरुष है, वह मैं हूँ ' इस कथनका तात्पर्य सूर्य में जो ब्रह्म और गोलक है, उनका अंश मेरा आत्मा और देह ये हैं, ऐसा स्पष्ट है। जो कुछ इस पृथ्वी पर बना है वह सूर्यके अंशका बना है, यह एकवार मान लिया जाय, तो सब बराबर पार्थिव और अपार्थिव वस्तु जो भी इस भूमिपर है वह सूर्यसे बनी है, यह सिद्ध होता है।

पूर्वोक्त प्रकार वह ब्रह्मचारी अपने मनमें इन वाक्योंकी सगति लगाता है। वह विचार करता है कि—

स एष एक एकवृदेक एव।
सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति ॥ अथर्व १३।५

' वह एक है, एकमात्र एक है, सब देव इसमें एकरूप होते हैं।' जो अग्नि विद्युत आदि विभिन्न देव हैं, वे सब इस सूर्य देवमें एकरूप हो जाते हैं। पूर्व स्थानमें बताया है कि अग्नि विद्युत्में मिला रहता है और उसी नातेसे विद्युत् भी सूर्यमें एक होकर रहती है। अर्थात् सूर्यमें विद्युत और अग्नि एकरूप होकर रहते हैं, इसी तरह यह पृथ्वी भी एक समय सूर्यरूपही थी। यदि यह पृथ्वी सूर्यका एक भाग थी, तो उस पृथ्वीपरके सभी पदार्थ सूर्यरूपमें थे इसमें संदेह हो नहीं सकता।'

इस रीतिसे सगति लगा लगाकर, मनन कर करके वह ब्रह्मचारी सोचता है और विचार करता है, अनुभव लेता है, अपने मनकी दौड लगाता है, कल्पना करता है और अपने मत निश्चित और निर्भ्रांत करनेका यत्न करता है, निरंतर ध्यान करता है कि—

० प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ।
० मह इति त्वोपास्महे वयम् ।
० सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।
० लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥

अ. १३।८, ९ मंत्र ४७-५३

'तू प्रभु है, तू महान् है, तू उत्तम सत्ता और ज्ञानसे युक्त है और तूही सबको स्थान देता है ऐसी हम सब मिलकर तेरी उपासना करते हैं।' (वयं त्वा उपास्महे) हम सब तेरी उपासना करते ह, इस प्रयोगमें सब मिलकर उपासना है, संघद्वारा होनेवाली यह उपासना है, केवल व्यक्तिद्वारा होनेवाली यह उपासना नहीं है। यह सब ब्रह्मचारी गणोंका गुरुकुलनिवासी हो, अथवा ग्राम या नगरवालोंका हो। इससे कोई विचारमें भिन्नता नहीं हो सकती। सूर्य ही सब सूर्यमालके अन्तर्गत वस्तु मात्रका प्रभु और कर्ताधर्ता है, वही सबसे महान् है, वही सबको ज्ञान देनेवाला है और वही सबका उत्तम रीतिसे निवास करनेवाला है, यह निश्चित है। ये और मत्र ४६ से ५६ तकके ११ मंत्र इन मंत्रोंमें जो अनेकानेक गुण वर्णन किये हैं, वे उपासनाके समय सूर्यमें कैसे घटते हैं, इसीका विचार उपासक करते हैं। और अपने उपास्यकी शक्ति अपनेमें धारण करनेका यत्न करते हैं। 'जैसा मेरा उपास्य देव है, वैसा मैं तेजस्वी और कर्ताधर्ता बनूंगा, यही आकांक्षा उपासकोंकी सदा रहती है और सतत किए ध्यानसे सफल भी होती है।

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ।
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥

१३।७।४१-४२

'वह हमारा उपास्य देव पुण्यात्मा मनुष्य और पापी राक्षसके लिए समानतया गर्जता, चमकता और ओले वर्षाता और वृष्टि करता है।' वह किसीका पक्षपात नहीं करता, उसका प्रकाश सबके लिए समान रीतिसे आता है, वह पुण्यात्माके लिये प्रकाशता है और पापीके लिए नहीं, ऐसी बात नहीं। वह सबको ही अपने प्रकाशसे मार्ग दर्शाता है। यही यह मंत्र भाग देखकर उपासक भी कहने लगता है 'कि मैं भी सब मनुष्यमात्रकी ओर अथवा प्राणीमात्रकी ओर समान भावसे अपनी दृष्टि रखूंगा, किसीका पक्षपात नहीं करूंगा। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद अन्त्यज चांडाल आदि सबकी सहायता समभावसे करूंगा। मेरा उपास्य सूर्य देव है, वह अपना प्रकाश सबको देता है, यही मेरा कर्तव्य बताता है, अतः मैं भी वैसाही करूंगा। समभाव रखनाही मेरा कर्तव्य है।' सामाजिक आचरणमें विषमता नहीं रखनी चाहिए। यह उपासना सामाजिक उपासना है, सब आवें और संमिलित होकर उपासना करें। जिनपर उस उपास्य सूर्यदेवका प्रकाश पड सकता है, वे सब इस उपासनामें संमिलित हो सकते हैं।

सब लोगोंको तथा सब जगत्को अंधेरेसे हटाकर प्रकाशमें लानेके लिए रात्रि और दिनके युगमें इस सूर्यदेवका अवतार होता है। प्रत्येक युगमें इस तरह इस देवका अवतार हो रहा है। और यह यहां आकर हमें प्रकाशका मार्ग बताकर हमारा उद्धार करता है। यदि यह देव इस तरह युगयुगमें न आवे तो सब जगत् अंधेरेमें रहेगा और आवमात्रकी स्थितिही नहीं होगी। हम सबका जीवन उसीके प्रकाशके साथ संबंधित है। अहा! हमारे जीवनका आधार यह देव है। इसीकी जीवन शक्तिसे सबका जीवन हो रहा है, इस तरह इस जगत्का अणुरेणु उसके साथ संबंधित है। इस समय उपासकके सामने ये मंत्र आते हैं—

०तस्मादहरजायत.... . रात्रिरजायत.......
अन्तरिक्षमजायत.......वायुरजायत......द्यौरजायत......दिशोऽजायन्त......भूमिरजायत
......अग्निरजायत......आपोऽजायन्त......
ऋचोऽजायन्त......यज्ञोऽजायन्त......

अ. १३।७।२९-३९

'इसी सूर्य देवसे दिवस, रात्रि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, दिशा, भूमि, अग्नि, जल, मंत्र और यज्ञ होगये हैं।' यदि वह न होता तो इनमेंसे कुछ भी न बनता, इनका कर्ताधर्ता यही हमारा उपास्य देव है।

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ।
...........यदि वासि न्यर्बुदम् ॥

अ. १३।७।४४-४५

'हे ऐश्वर्यवान् प्रभो! यह अद्भुत तेरा महिमा है, ये सब सैंकडों (हजारों लाखों करोडों या) अबजोंकी संख्यामें जो अनंत शरीर हैं, वे सब तेरे ही हैं।' तात्पर्य तूही इस विश्वरूपमें अपने आपको ढालता है, क्योंकि भूमि भी तेरसे ही बनी और भूमिसे सब पदार्थ बने हैं। अतः तुझसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। यह देव एकमात्र अकेला एक है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥

अ. १३।४।१६-१८

'वह एक है, दूसरा तीसरा चौथा पांचवां छठा सातवां आठवां नववां दसवां वह नहीं है।' क्योंकि वह एकमात्र

अकेला एक है। सूर्यमालामें सूर्यका यही स्थान है, यही महत्त्व है और यही वैभव तथा ऐश्वर्य है। तथा—

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः।
स रुद्रः वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके० ॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते।
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥
अ. १३।६।२५-२८

'वही मृत्यु है, वही अमृत है, वही बडा देव है और वही रक्षक अथवा राक्षस है। वही रुद्र है। सब ये चलनेवाले ग्रहनक्षत्रादिक, तथा सब नक्षत्र और चन्द्रमा भी उसीकी आज्ञामें रहते हैं।' क्योंकि सूर्यकी आकर्षणमें ये सब ग्रह हैं, जो सूर्यमालामें विद्यमान हैं। सूर्यके आकर्षणका प्रभाव इन सबपर हो रहा है। ऐसा यह महान् सूर्यदेव सबको अमरपन देनेवाला है और सबको मृत्यु देनेवाला भी वही है। वही रुद्र है वही राक्षस है और संरक्षक भी है। अर्थात् वही सब कुछ है।

सूर्यके न होनेसे अथवा सूर्यके अतितापसे मृत्यु होता है, तथा सूर्यका प्रकाश जीवन देता है, इसलिए वही अमरत्व देनेवाला है। इसलिए इसी एक देवको ये सब नाम लगते हैं। इस समयतक इसके नाम अमृत, मृत्यु, रक्ष, रुद्र ये आगये हैं, इन नामोंके अतिरिक्त इस सूक्तमें आये नाम सब देखिये—

स एति सविता...महेन्द्रः स धाता...विधर्ता... स वायु....सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। सोऽग्निः... स उ सूर्यः स उ एव महायमः। अ. १३।४।१-५

'वह सविता, महेन्द्र, धाता, विधर्ता, वायु, अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, महायम है।' इस सूर्यके ये नाम हैं तथा—

इन्द्रः...शच्याः पतिः—विभूः...प्रभूः।
अ. १३।८।४६-४७

'इन्द्र, शचीपति, विभु, प्रभु भी वही है।' ये सर्व नाम उसी देवके वाचक हैं। अर्थात् ये सब नाम उसीके गुणवर्णन कर रहे हैं। यदि यह सत्य है तो इन देवताओंके जो मंत्र है वे सब मंत्र इसी सूर्यदेवताका वर्णन करते हैं ऐसा मानना चाहिये। तभी तो ये इसके नाम सार्थ, अन्वर्थक और योग्य हो सकते हैं। इतनी कल्पना उपासकके मनमें आते ही वह इन सब मंत्रोंमें इसका वर्णन देखता है और अपने उपास्य देवका माहात्म्य जानता है और उसको मनमें धारण करता है।

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत्।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न।
अ. १३।४।१,२,११

'वह द्युलोकके पीठपर प्रकाशता है उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सब प्रजाओंको विशेष रीतिसे देखता है।' यह सब वर्णन उपासकको प्रत्यक्ष है। सूर्य आकाशमें प्रकाशता है, उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सबको देखता है, यह सब सूर्यके विषयमें प्रतिदिन मनुष्यको प्रत्यक्ष हो रहा है। इस तरह अपने उपास्य देवकी महिमा उपासक जानता है, और उसके विषयमें अपने मनका आदर बढाता है।

इस काण्डके पहिले तीन सूक्त मुख्यतः सूर्यके वाचक ही हैं। इनमें प्रमुखतः जो मंत्र सूर्यका वर्णन करते हैं और जो विशेषकर ब्रह्मचारीके सन्मुख सूर्यका ध्यान करते समय आते हैं, उनका अब मनन करते हैं।

उदेहि वाजिन्। १३।१।१

'हे बलवान् सूर्यदेव! उदयको प्राप्त हो।' यह प्रार्थना सूर्यको लक्ष्य करके ही है। इसके साथ देखने योग्य मंत्र ये हैं—

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम्।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ ९५ ॥
उदस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ॥ ३२ ॥
ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यान्ति सूर्य ॥ ३५॥
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥३९
सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥४५॥
यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ॥५८॥
अ. १३।१

"सूर्यके घोडे सदा प्रकाशयुक्त हैं, इसके रथको सुखपूर्वक चलाते हैं। सर्वत्र पवित्रता करनेवाला सूर्यदेव विविध रंगवाली प्रभाके साथ द्युलोकमें प्रविष्ट होता है। हे सूर्यदेव! तू उदयको प्राप्त होता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर॥ प्रकाशके पोषक देव सूर्यके चारों ओर भ्रमण करते हैं॥ द्युलोकमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यको सब देखते हैं॥ सूर्य द्युलोक भूमिलोक आदि सबको देखता है। सूर्य ही सब जगत्का एकमात्र आंख है। वह द्युलोकपर आरूढ होकर विराजता है॥ हे सूर्य! जो पुरुष तेरे और मेरे बीचमें विरोध करता है वह पापी है।' इत्यादि

मंत्र सूर्यका वर्णन स्पष्ट रूपसे करते हैं, और उपास्य देवका महत्त्व उपासकके अन्तःकरणमें स्थिर करते हैं। इस प्रथम सूक्तके अन्य मंत्र भी इन मुख्य मंत्रोंके अनुसंधानसे विचारने चाहिए। अब द्वितीय सूक्तके मंत्रोंमें सूर्यका वर्णन कैसा गंभीर रीतिसे किया है, सो देखिए—

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥१॥
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥ २ ॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ॥ ४ ॥
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ॥ ७ ॥
सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ॥ ८ ॥
उद्यन्रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ॥१०॥
दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे ॥ १२ ॥
पारसमुद्रमनुभितं तत् सिषासति सूर्यः ॥१४॥
अ० १३।२

'वृष्टि करनेवाले नियमोंसे चलनेवाले मानवोंका निरीक्षण करनेवाले सूर्यके तेजस्वी किरण उदयको प्राप्त होनेके पश्चात् बहुत ही चमकते हैं ॥ जो अपने तेजस्वी किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है, उस सूर्यदेवकी प्रशंसा हम करते हैं, उसके गुण गाते हैं ॥ बडे प्रभाववाली सात किरण तेजस्वी ज्ञानी सूर्यदेवको उठाकर ले जाते हैं ॥ द्युलोक, भूलोक *तथा अहोरात्रको निर्माण करके, हे सूर्य! तू जाता है ॥ जिससे* दोनों सीमाओंतक तू जाता है, उस चलनेवाले रथके लिये स्वस्ति हो ! बडी सात किरणें किंवा गतिमान् सौ किरणें तुमको चला रही हैं ॥ हे सूर्य ! तू ऐसे सुखदायी गतिमान् उत्तम रथ पर चढ ॥ सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले तेजस्वी किरण वेगके लिये अपने रथसे जोते हैं । उदय होनेपर तू किरणोंको फैलाता है और सब रूपोंको प्रकाशित करता है ॥ महिनेका विभाग करनेके लिये तुझे द्युमें रखा है । जो समुद्रके मध्यमें रहता है, वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है ॥'

यहांतकके सब मंत्र प्रायः सूर्यपरक ही हैं। जो मंत्र यहां अधूरे दिये हैं, उनके शेष भाग पाठक पूर्वस्थलमें देखें और उनके अर्थका मनन करें। इससे यहांतकके सब मंत्र सूर्यके गुणगायन करनेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट हो जायगा। इसके (१६ से २४ तक) आगेके ९ मंत्र ऋग्वेदमें मंडल १।५० में आगये हैं और वहां भी इनकी सूर्यदेवता ही है। अतः ये सूर्यका गुणवर्णन कर रहे हैं, इसमें कोई संदेह ही नहीं। इनमेंसे कुछ मंत्र यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी दूसरे स्थान पर आगये हैं और सर्वत्र सूर्यदेवताके ही ये मंत्र हैं। इस कारण इनके संबंधका अधिक विचार करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है। इसके आगेके मंत्रोंमें सूर्यविषयक मंत्र देखिये—

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः । केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो विभासि ॥२८॥
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि २९
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतंग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः ॥ ३० ॥
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने० ॥ ३१ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् । दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् । पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥
स नः सूर्य प्रतिर दीर्घमायुः ॥ ३७ ॥
रोहितः कालो अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ॥३९॥
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरेत् ॥४०॥
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥ ४३ ॥ अ. १३।२

'कभी आलस्य न करनेवाला यह सूर्यदेव अपने किरणरूप अश्वोंपर आरूढ होकर जाता है और इस अपूर्व छाया और प्रकाशमय दो रूप बनाता है। किरणोंसे युक्त होनेवाला यह विश्वकी सूर्य उच्च स्थानसे चमकता है ॥ सूर्य सबसे बडा है, सूर्यकी महिमा बहुत ही बडी है ॥ सूर्य द्युलोकमें, अन्तरिक्षमें, पृथ्वीमें, समुद्रमें प्रकाशता है ॥ सूर्यके ऊपर दिन और रात्रि अवलंबित हैं ॥ देवोंका सैन्य जैसा अलौकिक प्रकाशमय यह

सूर्य अंधकारको हटाता है और सर्वत्र प्रकाश फैलाता है ॥ यह सूर्यही स्थावर जंगम पदार्थोंका जीवन है ॥ आकाशमें उच्चसे उच्च स्थानसे गमन करनेवाले पक्षीके समान आकाशमें तैरनेवाले इस तेजस्वी सूर्यका प्रकाश हम सर्वत्र देखते हैं ॥ यह सूर्य हमें दीर्घ आयु देता है ॥ सूर्य ही समय है और सूर्य ही प्रजाका पति है । इस सूर्य देवने अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रको प्रकाशित किया है ॥ सूर्य हमारा मार्गदर्शक है, हम उसीके गुणगान करते हैं ॥ '

ये सब मंत्र स्पष्टतया सूर्यके वर्णनपरक हैं । यदि यह निश्चय हो जावे कि इनमें सूर्यका वर्णन है, तो इनके बीचके मन्त्रोंमें सूर्यस्तुति ही है, इसमें कोई संदेह ही नहीं हो सकता । अब तृतीय सूक्तमेंसे कुछ मंत्र देखिये—

> कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य० ॥३॥
> यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद्यत्संहितं पुष्कलं चित्रभानु । अस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः साकं ॥ १० ॥
> स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥ १३ ॥
> शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् । यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुपर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ १६ ॥
> सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा ॥ १८ ॥
> कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत। स ह द्यामधि रोहति ॥ १९ ॥ अ० १३।३

' जलका धारण करनेवाले सूर्यकिरण नीलवर्णवाले आकाशकी दिशासे ऊपर जाते हैं, वे जलके अर्थात् मेघोंके स्थानको पहुंचते हैं ॥ हे सूर्य ! जो आनन्द देनेवाला चन्द्रप्रकाश है, उसमें सूर्यके सात किरण ही समर्पित हुए हैं (अर्थात् सूर्यके किरण चन्द्रमें जाकर वहांसे जो प्रकाश हमें प्राप्त होता है, वह चन्द्रमा कहकर प्रसिद्ध है ॥) वही सूर्य जब अन्तरिक्षमें होता है, तब उसको सविता कहते हैं और जब मध्याह्नमें तपता है, उस समय उसको इन्द्र कहा जाता है (अर्थात् ८ बजेसे १०॥ बजेतकके सूर्यका नाम ' सविता ' है और ११ से १ बजेतकके सूर्यका नाम ' इन्द्र ' है ॥) सूर्यरूपी पवित्र देवका प्रकाश आकाशमें फैला है, जिसके किरण एक ओर द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और दूसरी ओर भूमंडलकी ओर वही विविध प्रकाशके साथ चमकता है । सूर्यके रथको सात अश्व जोते हैं (अर्थात् सात किरण हैं) ॥ कृष्णा नामक काले रंगवाली रात्रिका पुत्र ही यह प्रकाशमान सूर्य है, वह द्युलोकपर चढता है ॥ '

इस तरह तीनों सूक्तोंमें जो मन्त्र हैं वे सब सूर्यका वर्णन कर रहे हैं । इनमें कई मन्त्र अत्यंत स्पष्ट हैं, कई अग्निके मिषसे सूर्यका वर्णन करते हैं, कई विद्युतके मिषसे सूर्यका ही वर्णन करते हैं । और कई स्पष्ट रूपसे सूर्यका ही वर्णन करते है । पाठक इन मंत्रोंका शब्दार्थ जो पूर्व स्थलमें दिया है, वारवार देखें, मनन करें और मंत्रोंके आशयको जानें और देखें कि यहां सूर्यकी स्तुति किस तरह है ।

इस काण्डकी देवता आदित्य, रोहित और अध्यात्म है । आदित्य और रोहित ये नाम सूर्यके हैं । रोहित नाम अग्निका भी है, परंतु अग्नि परंपरया सूर्यका पौत्र होनेसे सूर्यके साथ संबंधित है । अध्यात्म पक्षमें यही सूक्त आत्माके पक्षमें देखना चाहिये । इसका तात्पर्य व्यक्तिगत आत्माके विषयमें विचार करनेपर व्यक्ति भी सूर्यका ही अंश है इसलिये जो प्राकृतिक अंश सूर्यमें है और ब्रह्मका सत्त्व सूर्यमें है वह अंशरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें आया है, क्योंकि इस सूर्यमालामें जो अणुरेणु है वह सूर्यसे ही आया है इस तरह विचार जो इसके पूर्व बताया ही है, यह ध्यानमें लानेसे व्यक्तिगत सूर्यकी सत्ताका अनुभव प्राप्त होता है यही सूर्यका अध्यात्मविज्ञान है ।

परमात्मा सर्वव्यापक और पूर्ण निराकार है, उसकी उपासना निर्विषयध्यानादि द्वारा होती है । परंतु हरएक मनुष्य प्रारंभसे अन्ततक अमूर्त ब्रह्मकी उपासना यथायोग्य रीतिसे कर सकता है, ऐसी बात नहीं है । उदाहरणके लिये सब उपनीत बालक ब्रह्मचारी ६ या ८ वर्षकी आयुमें अमूर्त ब्रह्मका ध्यान कैसा करे ? इसके लिये यह असंभव है । ध्यानधारणाकी सिद्धिके पश्चात् यह उपासना होना संभव हो सकती है । यह निरालंबोपासना उन्नतिकी अवस्थामें समजनीय है । तब तक सालंबोपासना करनेकी अवस्था रहती है, उसमें अग्निहोत्रकी अग्निसे बढता हुआ और सूर्योपस्थन करता हुआ उपासक अपनी प्रगति कर सकता है । यह सालंब उपासना इस काण्डके इन सब सूक्तोंमें बताई है और इस उपासनाके लिये ' सूर्य ' का निर्देश यहां किया है ।

निरुक्तादि ग्रंथोंमें जहां देवताओंका निरूपण किया है, वहां भी सब वेदके देवताओंके नाम सूर्यपर घटानेका ही यत्न किया है । और देवशत्रु असुरोंके नाम मेघोंपर घटानेका यत्न किया है । यदि वह प्रकरण पाठक सूक्ष्म विचारके साथ यहां अनुसंधान करके देखेंगे, तो उनको वही बात यहां दीख सकती है।

इस सूक्तमें भी सूर्यके नाम जो गिनाये हैं, उनमें रुद्र, इन्द्र, चन्द्र, महेन्द्र, सविता, आदित्य, धाता, विधाता, विधर्ता, पतंग, अर्यमा, वरुण, यम, महायम, देव, महादेव, एक, एकवृत, रोहित, सुपर्ण, अरुण इत्यादि नाम गिनाये हैं। अर्थात् इन नामोंके अनेक देवताओंके सूक्तोंसे एक ही सूर्यदेवका वर्णन होता है, यह बात इस रीतिसे स्पष्ट हो जाती है। सब अन्य देव एक ही सूर्यमें मिल जाते हैं इस तरहके वर्णनसे अनेक देवोंका भेदभाव सूर्यमें नष्ट होता है यह स्पष्ट है, अर्थात् अनेक देवताओंके मंत्रोंसे वेदमें सूर्यका ही वर्णन है और वह उपासनाके लिये ही है।

पुराणोंमें भी सूर्यपर ही 'विष्णु' का रूपक करके अनेक अवतारोंका वर्णन और अनेक कथाओंके प्रसंग वर्णन किये हैं। श्रीमद्भागवतमें भी प्रातःकालके सूर्यका नाम ब्रह्मा, मध्याह्नके सूर्यका नाम विष्णु और रात्रिके समयके सूर्यका नाम शिव कहकर त्रिमूर्तिको सूर्यमें ही बताया है। इस तरह सूर्यके रूपकपरही ब्रह्मा विष्णु शिवकी अनंत कथाएं कल्पित हैं, यह बात यहां स्पष्ट हो गयी है। ब्रह्मा की पुत्री सावित्री, विष्णुकी पत्नी लक्ष्मी और शिवकी पत्नी काली यह सब इस तरह सूर्यपर ही रूपक है। इसका संपूर्ण विवेचन करनेसे सहस्रों पृष्ठोंका महाग्रंथ बनेगा, वैसा यहां बनानेका विचार नहीं है और वैसी यहां आवश्यकता भी नहीं है। यहां जितना दिग्दर्शन किया है उतना इस वैदिक विषयके ज्ञानके लिये पर्याप्त है। वेदके अन्यान्य वर्णन जैसे सूर्यपर घटते हैं वैसे हि ब्राह्मण ग्रंथकी कथाएं और इतिहास पुराणकी कथाएं भी सूर्यपर रूपकालंकारसे रचित हैं यही बात यहां संक्षेपसे बताना है। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्रत्येक पंक्ति सूर्यपरक है। परंतु इतना ही समझे कि मुख्य कथाप्रसंग सूर्यपर अलंकार मानकर रचा गया था। उपप्रसंगोंमें विविध संचार हुए ही होंगे। इस तरह सब ग्रंथोंके वर्णन मुख्यतया सूर्यपरक है। इतना कहनेसे सबकी उपास्य देवता सूर्य है यह बात सूचित होती है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किसी स्वतंत्र ग्रंथमें करेंगे इसलिये यहां बताकर इस काण्डका विवेचन यहां समाप्त करते हैं॥

बोध वाक्य।

इस काण्डमें कई वाक्य अन्यान्य रीतिसे विशेष उपदेश देते हैं, उनका विचार अब संक्षेपसे करेंगे—

प्रथम सूक्त।

१ उदेहि वाजिन् (१)— हे बलवान्! अभ्युदयको प्राप्त हो। अपना अभ्युदय करो, कदापि अवनत न हो।

२ इदं राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत्— इस सत्यनिष्ठ राष्ट्रमें आवेश उत्पन्न कर, इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट होकर कार्य कर।

३ स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु— वह तुझे अपने राष्ट्रकी उन्नतिके हेतु उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त करे। तू अपने राष्ट्रमें राष्ट्रीय उन्नतिके लिये उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त होकर विराजमान हो।

४ उद्वाज आगन् (२)— अपना बल उन्नतिके लिये प्रकट कर, उन्नतिके ही कार्यमें अपना सामर्थ्य लगा दो।

५ विश आरोह त्वद्योनयो याः— प्रजाजनोंमें उच्च हो, जिनमें तुम्हारी उत्पत्ति है। तू अपनी जातिमें उन्नत हो, उच्च स्थान प्राप्त कर।

६ अप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आवेशयेह— जलस्थानों, औषधियोंके उद्यानों, गौवों, चतुष्पादों और द्विपादोंको यहां अपने देशमें उत्तम रीतिसे रहने दो। वे रहें और उन्नत होवें।

७ यूयमुग्राः पृश्निमातरः (३)— तुम बडे उग्रवीर भूमिको माता माननेवाले हो। शूरवीर सब अपने मातृभूमिका आदर करें।

८ प्रमृणीत शत्रून्— शत्रुओंका नाश करो।

९ रुहो रुरोह (४)— बढनेवाले बढे। जो उन्नति प्राप्त करना चाहते हैं, वे न रुकें उनके मार्गमें रुकावट हो।

१० यातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः— उन्नतिके मार्गको देखता हुआ तू यहां राष्ट्रको उन्नतिके मार्गपर रख।

११ आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीत् (५)— तेरे राष्ट्रको इस (परिस्थितिमें) यहां कौन लाया है, उसीका सम्मान करना तुझे योग्य है।

१२ व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत्— उसने शत्रु दूर भगा दिये और तेरे लिए निर्भयता की है।

१३ सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन (८)— तेरे राष्ट्रमें दूध और घी भरपूर हो, ये पौष्टिक पदार्थ विपुलतामें प्राप्त हों।

१४ ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि (९)— ज्ञान और दूधसे पुष्ट होता हुआ तू अपने प्रजाजनोंमें और राष्ट्रमें जागता रह, कभी न सो जा। राष्ट्रमें जाग्रत रहकर राष्ट्रको उन्नत करनेका यत्न कर।

१५ यास्ते विशस्तपसः संबभूवुः (१०)— जो प्रजाएं तपके लिये संघटित होती हैं (उनकी उन्नति होती है।)

१६ तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन— वे प्रजाजन शुभ मनोभावनाके साथ तेरे साथ सत्कार्यमें प्रविष्ट हों, सब मिलकर शुभ कार्य करें।

१७ विश्वा रूपाणि जनयन्युवा कविः (११)— तरुण कवि अनेक काव्यके रूपक बनाता है, अनेक रूपक निर्माण करता है।

१८ तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति— अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशके साथ प्रकाशता है।

१९ गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१२)— मेरे गौओंका और वीरोंका पोषण होता रहे।

२० वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि (१३)— वाणी, कान और मनके साथ हवन करता हूं, (वाणीसे मंत्रोच्चारण, कानसे मंत्रश्रवण और मनसे मनन करता हुआ हवन करता हूं।)

२१ स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु— वह मुझे उन्नतियोंके साथ समितिके लिए उन्नत बनावे।

२२ तस्मात्तेजांस्युप मेमान्यागुः (१४)— उस (यज्ञ) से अनेक तेज मुझे प्राप्त हो गये हैं। यज्ञसे विविध तेज प्राप्त होते हैं।

२३ आ त्वा रुरोह रेतसा सह (१५)— वीर्यके साथ वह तुझे उन्नत करे, पराक्रमके साथ वह (यज्ञ) तुझे बढावे।

२४ वाचस्पते पृथिवी नः स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा (१७)— हे वाणीके पति! पृथ्वी हमारे लिए कल्याण करनेवाली होवे, घर हमारे लिए सुखदायक होवे, बिछौने हम सबके लिए कल्याणकारी होवें।

२५ इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु— यहां ही प्राण हमारी मित्रतामें रहे, हम दीर्घायु हों।

२६ तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु- हे परमात्मन्! अग्नि तुझे आयु और तेजके साथ युक्त करे।

२७ वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः (१९)— हे वाणीके अधिष्ठाता! मेरा मन सुविचार युक्त हो, गोशालामें गौवें हों और हमारे घरमें संतान हों।

२८ सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहि (२०)— सब शत्रुओंपर चढाई करता हुआ आगे बढ, सब शत्रुओंका नाश कर और उन्नत हो।

२९ इदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत्— इस राष्ट्रको सत्यनिष्ठ तथा आनंदप्रसन्न बनाओ।

३० तया अनुवता रोहिणी सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः (२२)— विदुषी उत्तम वर्णवाली तेजस्विनी बढनेवाली अनुकूल स्त्री वृद्धिका कारण होती है।

३१ तया वाजान् विश्वरूपान् जयेम— वैसी विदुषी अनुकूल स्त्रीके साथ सब प्रकारके अन्न तथा बल प्राप्त करेंगे।

३२ तया विश्वाः पृतना अभिष्याम— उससे सब शत्रुसेनाओंको परास्त करेंगे।

३३ तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (२३)— कविलोग प्रमाद रहित होकर उसकी रक्षा करते हैं।

३४ अश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृता सुखं रथं (२४)— वेगवाले तेजस्वी घोडे सदा उत्तम सुखदायी रथको उत्तम रीतिसे ले चलते हैं।

३५ वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं धेनुरनपस्पृशेषा (२७)— दूध और घी देनेवाली गौको विशेष रीतिसे तैयार कर, यह दोहनेके समय हलचल न करनेवाली उत्तम गौ है।

३६ क्षेमो अस्तु, विमृधो नुदस्व— सबका कल्याण हो, शत्रु दूर हो जाय।

३७ अभीषाड् विश्वाषाड् सपत्नान् हन्तु ये मम (२८)— जो मेरे शत्रु हैं उन सबका नाश विजयी वीर करे।

३८ इन्द्रेणेनान्प्रदहत्वरिर्यो नः पृतन्यति (२९)— जो शत्रु हमपर सेनाके साथ हमला करता है, उसको मारा जावे।

३९ वयं सपत्नान् प्रदहामसि— हम सब शत्रुओंको जलावेंगे।

४० अवाचीनानव जहि अधा सपत्नान्मामकान् (३०)— हमारे शत्रुओंको नीचे करके दबा दे।

४१ सपत्नानधरान्पादयस्वास्मत् (३१)— हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

४२ असहयया सजातमुत्पिपानं— हमारे सजातीय शत्रुको व्यथासे युक्त कर, दुःखी कर।

४३ अधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः (३१)— हमारे शत्रु निष्फलक्रोधवाले होकर नीचे गिर जांय।

४४ सपत्नानव मे जहि, अवेनानश्मना जहि, ते यन्त्वधमं तमः (३२)— मेरे शत्रुओंका नाश कर, शत्रुओंका पत्थरोंसे नाश कर, मेरे शत्रु अंधेरेमें जावें।

४५ वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति (३३)— बच्चेको ज्ञानवान् होते हुए भी ज्ञानके साथ बढाते हैं।

४६ पृथिवीं च रोह, राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह प्रजां च रोह, अमृतं च रोह (३४)— पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा और अमरत्वकी वृद्धि कर।

४७ ये राष्ट्रभृतः, तैष्टे राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानाः (३५)— जो राष्ट्रपोषक वीर हैं, उनके द्वारा तेरे राष्ट्रका उत्तम मनके साथ धारण होवे।

४८ भूमिमब्रवीत्, त्वदीयं सर्वं जायतां यद्भूतं यच्च भाव्यम् (५४)— उसने मातृभूमिसे कहा कि 'जो हुआ और जो होनेवाला है, वह सब तेरे लिये अर्पण हो जाय।'

४९ स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत। तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किंचेदं विरोचते (५५)— वह पहिला बना हुआ और बननेवाला यज्ञ हुआ, उससे बना यह सब जो कुछ चमकता है।

द्वितीय सूक्त।

५० स्तवाम भुवनस्य गोपां (२)— भुवनके रक्षक की प्रशंसा करते हैं।

५१ मा त्वा दभन्परियान्तमाजिं (५)— युद्धमें जानेवाले तुझे शत्रु न दबावें।

५२ स्वस्ति दुर्गां अति याहि शीघ्रं— कुशलतापूर्वक शीघ्र कठिन स्थानोंके परे जा।

५३ रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनं (७)— तेजस्वी, सुखदायी, बलवान्, उत्तम चलनेवाले सुंदर रथपर चढ।

५४ द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः (२६)— एक ही ईश्वरने द्युलोक और भूलोक बनाये हैं।

५५ अतन्द्रो यास्यन् (२८)— आलस्य छोडनेपर ही प्रगति करता है।

इस तरह अनेक उपदेशपरक वाक्य इस काण्डमें हैं, जो मुख्य देवताका वर्णन करते हुए अन्यान्य बोध पाठकोंको देते हैं। पाठक इस रीतिसे इस काण्डका अध्ययन करें।

अध्यात्म-प्रकरण।

(ऋषि- अथर्वा। देवता-अध्यात्मं, मात्या)

(का. १५, सूक्त १)

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत् ॥ २ ॥
तदेकमभवत्तल्ललाममभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद्ब्रह्माभवत्तत्तपो
ऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत ॥ ३ ॥

अर्थ— (१) (व्रात्यः ईयमानः आसीत्) व्रात्य अर्थात् समूहोंका हित करनेवाला समूहपति सबका प्रेरक था, (सः प्रजापतिं सं ऐरयत्) उसने प्रजापालकको उत्तम प्रेरणा की ॥ १ ॥ (सः प्रजापतिः) उस प्रजापतिने (आत्मन् सुवर्णं अपश्यत्) आत्माको उत्तम तेजस्वी वर्णयुक्त देखा। और (तत् प्र अजनयत्) उसने सबको उत्पन्न किया ॥ २ ॥

(तत् एकं अभवत्) वह एक होगया, (तत् ललामं अभवत्) वह विलक्षण हुआ, (तत् महत् अभवत्) वह बडा हुआ, (तत् ज्येष्ठं अभवत्) वह श्रेष्ठ हुआ, (तत् ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म हुआ, (तत् तपः अभवत्) वह तपानेवाला हुआ, (तत् सत्यं अभवत्) वह सत्य हुआ, (तेन प्र अजायत) उसके द्वारा प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

सोऽवर्धत स महानभवत्स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥
स देवानामीशां पर्यैत्स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥
स एकव्रात्योऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ॥ ६ ॥
नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥
नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन
द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

[२]

स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥
बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च
देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥
बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च
देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥ ४ ॥
श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥

(सः अवर्धत) वह बढ गया, (सः महान् अभवत्) वह बडा हुआ, (स महादेवः अभवत्) वह महादेव अर्थात् बडा देव हुआ ॥ ४ ॥ (स ईशां देवानां परि-ऐत्) वह सब छोटे देवोंका अधिष्ठाता हुआ, (सः ईशानः अभवत्) वही ईश्वर हुआ ॥ ५ ॥ (सः एक व्रात्यः अभवत्) वह एकमात्र सब समूहोंका स्वामी हुआ, (सः धनुः आदत्त) उसने धनुष्यको ग्रहण किया, (तत एव इन्द्रधनुः) वही इन्द्रधनुष्य है ॥ ६ ॥ (अस्य उदरं नीलं) इसका पेट नीला है और (पृष्ठं लोहितं) पीठ लाल है ॥ ७ ॥

(नीलेन एव) नीले भागसे वह (अप्रियं भ्रातृव्यं प्र ऊर्णोति) अप्रिय शत्रुको घेरता है और (लोहितेन द्विषन्तं विध्यति) लाल भागसे द्वेष करनेवालेको मारता है, (इति ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ॥८॥

(२) (सः उत् अतिष्ठत्) वह ऊपर उठा । (सः प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पूर्व दिशाकी ओर अनुकूल रीतिसे चला ॥ १ ॥ (तं बृहत् च रथंतरं च आदित्या च विश्वे देवाः च अनुव्यचलन्) उसके बृहत, रथंतर, आदित्य, विश्वे देव अनुकूल हुए ॥ २ ॥ (यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान् व्रतचारीको बुरे शब्द बोलता है वह बृहत, रथन्तर, आदित्य और विश्वेदेवोंका (आ वृश्चते) अपराधी होता है ॥ ३ ॥ (यः एव वेद) जो यह जानता है, वह बृहत, रथन्तर, आदित्य और विश्वेदेवोंका प्रियधाम बनता है ॥ (तस्य प्राच्यां दिशि) उसकी प्राची दिशामें (श्रद्धा पुंश्चली) श्रद्धा स्त्री, (मित्रः मागधः) मित्र सूर्य स्तुति करनेवाला, (विज्ञानं वासः) विज्ञान् वस्त्र, (अहः उष्णीषं) दिन पगडी, (रात्री केशाः) रात्री बाल, (हरितौ प्रवर्तौ) किरण कुंडल (कल्मलिः मणिः) तारे मणिके समान होते हैं ॥ ४-५ ॥ (भूतं च भविष्यत् च परिष्कंदौ) भूतकाल और भविष्यकाल ये दोनों उसके रक्षक होते हैं और (मनः विपथं) मन इसका युद्धरथ होता है ॥ ६ ॥ (मातरिश्वा च पवमान च विपथवाहौ) श्वास और उच्छ्वास उसके

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥
स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥ ९ ॥
तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १० ॥
यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च
पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ११ ॥
यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च
यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥
उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १३ ॥
अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ।
मातरिश्वा० । कीर्तिश्च० ॥ १४ ॥
स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १५ ॥
तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥ १६ ॥
वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ
आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ १७ ॥
वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः
प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥ १८ ॥

रथके घोडे हैं, (वातः सारथी) प्राण उसका सारथी और (रेष्मा प्रतोदः) वायु उसका चाबुक है ॥ ७ ॥ (कीर्तिः च यशः च) कीर्ति और यश उसके (पुरःसरौ) अग्रगामी हैं । (एनं कीर्तिः आगच्छति) इसके पास कीर्ति आ जाती है । इसके पास (यशः आगच्छति) यश आता है ॥ ८ ॥ [१] [स०] वह उठता है और दक्षिण दिशामें अनुकूल होकर संचार करता है ॥ ९ ॥

(तं) उसको यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और (पशवः च अनुव्यचलन्) पशु भी अनुकूल होते हैं ॥ १० ॥ (यः विद्वांसं व्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान् व्रतचारीका उपहास करता है वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंके विषयमें (आवृश्चते) अपराधी होता है ॥ ११ ॥ (यः एवं वेद) जो इस बातको जानता है, वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रियस्थान बनता है । उसको दक्षिण दिशामें (उषाः पुंश्चली) उषा स्त्री, (मन्त्रः मागधः) मंत्र प्रशंसा करनेवाला, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश, किरण कुंडल, तारे मणिके समान होते है ॥ १२-१३ ॥ (अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ) आमावस्या और पूर्णिमा उसके संरक्षक होते हैं, और मन उसका युद्धरथ है । श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे, प्राण सारथी और वायु उसका चाबुक है (आगे पूर्ववत्) ॥१४॥[२]

(सः०) वह उठा और (सः प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पश्चिम दिशाकी ओर अनुकूलताके साथ संचार करने लगा ॥ १५ ॥ तब उसको वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुण अनुकूल हुए ॥ १६ ॥ जो ऐसे विद्वान् व्रतचारीका अपमान करते हैं, वह वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुणके प्रति अपराधी होते हैं ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है वह वैरूप,

इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १९ ॥
अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम् । मातरिश्वा० कीर्तिश्च० ॥ २० ॥
स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ २१ ॥
तं श्येतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन् ॥ २२ ॥
श्यैताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ
आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ २३ ॥
श्यैतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च
राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि ॥ २४ ॥
विद्युत् पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ २५ ॥
श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ २६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ २८ ॥

[३]

स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥
सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥
तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥

वैराज, आप्-जल, और राजा वरुणका प्रिय धाम बनता है। उसके लिये पश्चिम दिशामें (**इरा पुंश्चली**) भूमि स्त्री (**हसः मागधः**) हास्य प्रशंसक, विज्ञान वस्त्र० ॥ १९ ॥ (**अहः च रात्री च परिष्कन्दौ**) दिन और रात्री उसके रक्षक होते हैं (आगे पूर्ववत्) ॥ २० ॥

(**स०**) वह उठा और वह (**उदीचीं दिशं**) उत्तर दिशामें अनुकूल होकर चला ॥२१॥ (**तं श्येतं च नौधसं च सप्तर्षयः च राजा सोमः च अनुव्यचलन्**) उसके अनुकूल श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोम चलने लगे ॥ २२ ॥

जो इस प्रकारके विद्वान् व्रात्यका उपहास करता है वह श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका अपराधी होता है ॥२३॥ जो यह बात जान लेता है वह श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका प्रिय धाम बनता है ॥ २४ ॥ उसके लिये उत्तर दिशामें (**विद्युत् पुंश्चली**) बिजली स्त्री, (**स्तनयित्नुः मागध**) गर्जनेवाला मेघ प्रशंसाकर्ता, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश किरण कुंडल, तारे मणि हैं ॥ २५ ॥ (**श्रुत विश्रुतं च परिष्कंदौ**) ज्ञान विज्ञान ये उसके रक्षक, और मन उसका युद्धरथ है ॥ २६ ॥ श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे० (इत्यादि पूर्ववत्) ॥ २७ २८ ॥ (४)

(३) (**सः संवत्सरं उर्ध्वः अतिष्ठत्**) वह वर्ष भरतक खडा रहा, (**तं देवा अब्रुवन्**) उसे देवोंने कहा, (**व्रात्य, किं नु तिष्ठसि इति**) हे व्रती ! तू क्यों खडा है ? ॥ १ ॥ (**स अब्रवीत्**) उसने कहा, (**मे आसन्दीं सं भरन्तु इति**) मेरे लिये बैठनेकी कुर्सी लाओ ॥ २ ॥ तब (**तस्मै व्रात्याय आसन्दीं समभरन्**) उस व्रतीके लिये बैठ

तस्यां ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥
बृहच्च रथंतरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥ ५ ॥
ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥
वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ ७ ॥
सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥
तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥
तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्या३ विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥
विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥ ११ ॥

[४]

तस्मै प्राच्या दिशः ॥ १ ॥
वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथंतरं चानुष्ठातारौ ॥ २ ॥
वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च
रथंतरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ ॥
तस्मै दक्षिणाया दिशः ॥ ४ ॥
ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥ ५ ॥

नेकी चौकी ले आये ॥ ३ ॥ (तस्याः ग्रीष्म च वसन्तः च) उस चौकीके ग्रीष्म और वसन्त ये (द्वौ पादौ आस्तां) दो पांव थे और (शरत् च वर्षाः च द्वौ) शरत् और वर्षा ये दो पांव थे ॥ ४ ॥ (बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर ये दो (अनूच्ये आस्तां) बाजूके फलक थे और (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो तिरछे फलक थे ॥ ५ ॥ (ऋचः प्राञ्चः तन्तवः) ऋग्वेदके मन्त्र लंबाईके तन्तु थे और (यजूंषि तिर्यञ्चः) यजुर्वेदके मन्त्र तिरछे तन्तु थे ॥ ६ ॥ (वेद आस्तरणं) वेद उसका बिछौना था और (ब्रह्म उपबर्हणं) ब्रह्म-ज्ञान उसका ओढनेका वस्त्र था ॥ ७ ॥ (साम आसादः) साम गदेला था और (उद्गीथः उपश्रय.) उद्गीथ तकिया था ॥ ८ ॥ (तां आसन्दीं व्रात्य. आरोहत) इस प्रकारकी ज्ञानमयी चौकीपर व्रती चढा ॥ ९ ॥ (देवजना तस्य परिष्कन्दा आसन्) देवजन उसके रक्षक हुए, (संकल्पाः प्रहाय्याः) उसके संकल्प उसके दूत और (विश्वानि भूतानि उपसदः भवन्ति एव) सब भूत उसके साथ बैठनेवाले थे ॥ १० ॥

(य एवं वेद) जो यह तत्त्व जानता है (विश्वानि भूतानि अस्य उपसदः भवन्ति एव) सब भूत इसके साथ बैठनेवाले साथी-मित्र होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ११ ॥

(४) (तस्मै प्राच्यः दिशः) उसके लिये पूर्वकी दिशा ॥ १ ॥ (वासन्तौ मासौ गोप्तारौ अकुर्वन्) वसन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, (बृहत् च रथन्तरं च अनुष्ठातारौ) बृहत् और रथन्तर सेवक बनाये ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है उसके प्राची दिशा, वसन्त ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और बृहत तथा रथन्तर सेवक होते हैं ॥ ३ ॥ (१)

उसके लिये दक्षिणकी दिशा ॥ ४ ॥ ग्रीष्म ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य अनुचर हुए

ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च
वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ६ ॥
तस्मै प्रतीच्या दिशः ॥ ७ ॥
वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ ॥ ८ ॥
वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च
वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ९ ॥
तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥
शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ॥ ११ ॥
शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च
नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ ॥
तस्मै ध्रुवायां दिशः ॥ १३ ॥
हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥ १४ ॥
हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो
भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १५ ॥
तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥ १६ ॥
शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥
शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो
द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥

हैं ॥ ५ ॥ जो यह जानता है उसको दक्षिण दिशा, ग्रीष्म ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य अनुचर होते हैं ॥ ६ ॥ (२)

उसके लिये पश्चिमकी दिशा ॥ ७ ॥ वर्षा ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और वैरूप तथा वैराज अनुचर हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ (३)

उसके लिये उत्तरकी दिशा ॥ १० ॥ शरदृतुके दो मास रक्षक बनाये, और श्येत तथा नौधस अनुचर हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है उसके लिये उत्तर दिशा, शरदृतुके दो महिने रक्षक होते हैं और श्येत और नौधस अनुचर होते हैं ॥ १२ ॥ (४)

उसके लिये ध्रुव दिशा ॥ १३ ॥ हेमन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और भूमि तथा अग्नि उसके अनुचर बने ॥ १४ ॥ जो यह जानता है उसको ध्रुवदिशा हेमन्तके दो महिने रक्षक हैं और भूमि तथा अग्नि अनुचर होते हैं ॥ १५ ॥ (५)

उसके लिये ऊर्ध्व दिशा ॥ १६ ॥ शिशिर ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और द्यु तथा आदित्य अनुचर बने ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है उसके लिये ऊर्ध्व दिशा, शिशिर ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और द्युलोक तथा आदित्य अनुगामी होते हैं ॥ १८ ॥ (६)

[५]

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥
भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥
नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥
तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥
शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः । ० ॥ ५ ॥
तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥
पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ७ ॥
तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥
उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ९ ॥
तस्मै ध्रुवायां दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥
रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवायां दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ।०। ॥ ११ ॥

---

(५) (**तस्मै प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्**) उसके लिये पूर्व दिशाके अन्तर्देशसे (**इष्वासं भवं अनुष्ठातारं अकुर्वन्**) धनुर्धारी भवको अनुष्ठाता बनाया ॥ १ ॥ (**यः एवं वेद**) जो इस बातको जानता है (**एनं इष्वासः भवः**) इसका धनुर्धारी भव (**प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्**) प्राची दिशाके अन्तर्देशसे (**अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**) अनुष्ठाता होकर रहता है। और (**न शर्वः न भवः ईशानः एनं**) न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घात करता है ॥ २ ॥ (**न अस्य पशून् समानान् हिनस्ति**) न इसके पशुओं और इसके समान बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ३ ॥ (१)

उसके लिये दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे धनुर्धारी शर्वको अनुष्ठाता बनाया ॥ ४ ॥ जो यह बात जानता है उसका धनुर्धारी शर्व दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घातपात करता है और न पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ५ ॥ (२)

उसके लिये (**प्रतीच्याः दिशः**) पश्चिम दिशाके अन्तर्देशसे (**पशुपतिं इष्वासं०**) पशुपतिको धनुर्धर अनुष्ठाता बनाया ॥ ६ ॥ जो यह जानता है उसका धनुर्धारी पशुपति पश्चिम दिशासे अनुष्ठाता होकर रहता है, और इसका न शर्व, भव अथवा ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवोंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥ (३)

उसके लिये (**उदीच्याः दिशाः**) उत्तर दिशाके अन्तर्देशसे (**उग्रं देवं इष्वासं ०**) उग्र देवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ ८ ॥ जो इस बातको जानता है, उसका धनुर्धारी उग्रदेव उत्तर दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और इसका न शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ९ ॥ (४)

उसके लिये (**ध्रुवायाः दिशः**) ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे (**रुद्रं इष्वासं ०**) रुद्रको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १० ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवोंकी हिंसा करता है ॥ ११ ॥ (५)

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥
महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १३ ॥
तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥
ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ १५ ॥
नास्य पशून न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

[६]

स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन् ॥ २ ॥
भूमेश्च वै स अग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां
च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥
स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥
तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥
ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च
नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥
स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ॥ ८ ॥

उसके लिये (ऊर्ध्वाया दिशः) ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे (महादेवं इष्वास०) महादेवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १२ ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व, भव और ईशान घात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवोंकी हिंसा करता है ॥ १३ ॥ (६)

उसके लिये (सर्वेभ्य अन्तर्देशेभ्यः) सब अन्तर्देशोंसे (ईशानं इष्वास०) ईशानको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १४ ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी ईशान सब दिशाओंके अन्तर्देशोंसे अनुष्ठाता होकर रहता है। न इसका शर्व, भव अथवा ईशान नाश करते हैं और न इसके पशुओं और बन्धुबान्धवोंका हिंसा करते हैं ॥ १५-१६ ॥ (७)

(६) (स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत्) वह ध्रुव दिशाकी ओर अनुकूलतासे चला ॥ १ ॥ इसलिये (तं भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतयः च) उसके अनुकूल भूमि अग्नि औषधि वनस्पति (वानस्पत्याः च वीरुधः च अनुव्यचलन्) छोटे और बडे वृक्ष अनुकूल होकर रहे ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है (सः भूमेः च वै अग्नेः च) वह भूमि और अग्निका (औषधीनां च वनस्पतीनां) औषधि और वनस्पतियोंका (वानस्पत्यानां च वीरुधां) छोटे और बडे वृक्षोंका (प्रिय धाम भवति) प्रिय स्थान होता है ॥ ३ ॥ (१)

(सः ऊर्ध्वां दिश०) वह ऊर्ध्व दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ४ ॥ इसलिये (तं ऋतं च सत्यं च सूर्य च चन्द्रः च नक्षत्राणि च०) उसके अनुकूल ऋत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्र हुए ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह ऋत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्रोंका प्रिय धाम बनता है ॥ ६ ॥ (२)

(सः उत्तमां दिश०) वह उत्तम दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ७ ॥ इसलिये (तं ऋचः च सामानि

ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १० ॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥
स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥
तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च
पशवश्चानुव्य चलन् ॥ १४ ॥
आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च
यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १५ ॥
सोऽनादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥ १६ ॥
तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्ध-मासाश्चाहोरात्रे
चानुव्य चलन् ॥ १७ ॥
ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां
चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥
सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥ १९ ॥
तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् ॥ २० ॥

यजूंषि च ब्रह्म च०) उसके अनुकूल ऋचा, साम यजु और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेद हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है वह ऋचा साम, यजु और ब्रह्ममंत्रोंका प्रिय धाम होता है ॥ ९ ॥ (३)

(सः बृहतीं दिशं०) वह बृहती दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १० ॥ इसलिये उसके अनुकूल (तं इतिहासः च पुराणं च गाथाः च नाराशंसीः च) इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह इतिहास, गाथा और नाराशंसीका प्रिय धाम होता है ॥ १२ ॥ (४)

(सः परमां दिशं) वह परम दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १३ ॥ इसलिये उसके (तं आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणाग्नि. च यज्ञः च यजमानः च पशवः च०) अनुकूल आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, और पशु हो गये ॥ १४ ॥ जो यह जानता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रिय धाम बनता है ॥ १५ ॥ (५)

(सः अनादिष्टां दिशां०) वह अनादिष्ट दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १६ ॥ इसलिये (तं ऋतवः च आर्तवाः च लोकाः च लौक्याः च मासाः च अर्धमासाः च अहोरात्रे च०) इसके अनुकूल ऋतु और ऋतुसंबंधी पदार्थ, लोक और लोकोंके संबंधी पदार्थ, महिने, पक्ष और दिनरात अनुकूल हुए ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह ऋतु, आर्तव, लोक, लौक्य, मास, पक्ष और अहोरात्रका प्रिय धाम होता है ॥ १८ ॥ (६)

(सः अनावृत्तां दिशं०) वह अनावृत्त दिशाके अनुकूल होकर चला और (ततः न अवर्त्स्यन् अमन्यत) वहांसे वापस न होनेका विचार उसने किया ॥ १९ ॥ अत. (तं दितिः च अदितिः इडा च इन्द्राणी च०) उसके अनुकूल

दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २१ ॥
स दिशोऽनु व्यचलत्तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥ २२ ॥
विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २३ ॥
स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ २५ ॥
प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य
च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २६ ॥

[७]

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥ १ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च
वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ २ ॥
ऐनमापो गच्छन्त्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥
तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥
ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं
गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी हो गये ॥ २० ॥ जो यह जानता है वह दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणीका प्रिय धाम बनता है ॥ २१ ॥ (७)

(सः दिशः अनुव्यचलत्) वह सब दिशाओंमें अनुकूल होकर चला, इसलिये (तं विराट् सर्वे॰ देवा च सर्वाः च देवता॰ अ०) उसको विराट और सब देव और देवता अनुकूल होगये ॥ २२ ॥ जो यह जानता है वह विराट् सब देव और देवताओंका प्रिय धाम बनता है ॥ २३ ॥ (८)

(सः सर्वान् अन्तर्देशान् अनु ०) वह सब अन्तर्देशोंमें अनुकूल होकर चला ॥ २४ ॥ अत (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च अनु ०) उसको प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह अनुकूल होकर चले ॥ २५ ॥ जो यह जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामहका प्रिय धाम बनता है ॥ २६ ॥ (९)

(७) (सः महिमा स-द्रुः भूत्वा) वह बड़ा समर्थ गतियुक्त होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथ्वीके अन्ततक गया। और (सः समुद्रः अभवत्) वह समुद्र हुआ ॥ १ ॥ (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च श्रद्धा च वर्षं च भूत्वा अनुव्यवर्तयन्त) उसके अनुकूल प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, श्रद्धा और वृष्टी होकर रहने लगे ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है (एनं आपः आगच्छन्ति) इसको जल प्राप्त होते हैं, (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं वर्षं आगच्छति) इसको वर्षा प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ (तं श्रद्धा च यज्ञः च लोकः च अन्नं च अन्नाद्यं च भूत्वा अभिपर्यावर्तन्त) उसके चारों ओर श्रद्धा, यज्ञ, लोक, अन्न और खानपान रहने लगे ॥ ४ ॥

जो यह जानता है (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं यज्ञः आगच्छति) इसको यज्ञ प्राप्त होता है, (एनं लोकः आगच्छति) इसको लोक प्राप्त होता है, (एनं अन्नं आगच्छति) इसको अन्न प्राप्त होता है, और (एनं अन्नाद्यं आगच्छति) इसको खानपान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

[८]

सोऽरज्यत् ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[९]

स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[१०]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥
अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥ ३ ॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्र विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥ ४ ॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥
इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥ ६ ॥

---

(२) (८) (सः अरज्यत) वह सबका रञ्जन करने लगा, अत वह (राजन्यः अजायत) राजा-क्षत्रिय-हो गया ॥ १ ॥ (सः सबन्धून् विशः अन्नं अन्नाद्यं अभ्युदतिष्ठत्) वह बन्धुगणों समेत सब प्रजाको और अन्न तथा सब खानपानको प्राप्त हुआ ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह बन्धुबान्धवोंके समेत सब प्रजाजनोंका तथा अन्न और सब प्रकारके खानपानका प्रियधाम होता है ॥ ३ ॥

(९) (स विशः अनुव्यचलत्) वह प्रजाओंके अनुकूल होकर चला ॥ १ ॥ अतः (तं सभा च समितिः च) उसको सभा और समिति (सेना च सुरा च अनुव्यचलन्) सैन्य और धनकोश अनुकूल हुए ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह सभा, समिति, सैन्य और धनकोशका प्रियधाम बनता है ॥ ३ ॥

(१०) (तत् यस्य राज्ञः गृहान् एव विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) जिस राजाके घर ऐसा विद्वान् व्रतचारी अतिथि (आगच्छेत्) आवे ॥ १ ॥ (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) इसको अपना कल्याणकर्ता मानकर उसका सन्मान करे । (तथा) ऐसा करनेसे (क्षत्राय न आवृश्चते) क्षात्र वृत्तिसे नहीं हटता और (तथा राष्ट्राय न आवृश्चते) ऐसा करनेपर राष्ट्रका अहितकारी भी नहीं होता ॥ २ ॥ (अतः वै ब्रह्म च क्षत्रं च उदतिष्ठतां) उससे ज्ञान और वीर्य उत्पन्न होता है, (ते अब्रूताम्) वे दोनों कहते हैं कि (कं प्रविशाव इति) हम कहां प्रविष्ट होकर रहें ॥ ३ ॥

(अतः वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्रविशतु) इससे निःसन्देह बृहस्पतिके अन्दर ही ब्रह्मज्ञान प्रविष्ट होवे और (तथा वै इन्द्रं क्षत्रं इति) वैसा ही इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट होवे ॥ ४ ॥ (अतः वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्राविशत् इन्द्रं क्षत्रं) इसीलिये बृहस्पतिमें ज्ञान और इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट हुआ ॥ ५ ॥ (इयं वै उ पृथिवी बृहस्पतिः) निश्चयसे यह पृथ्वी बृहस्पति

अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥
ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥
यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥
ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥
य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

[११]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु
व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य
यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥
यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे ॥ ३ ॥
यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ ५ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

है और (द्यौः एव इन्द्रः) द्युलोक इन्द्र है ॥ ६ ॥ (अयं वै उ अग्निः ब्रह्म) यह अग्नि निःसन्देह ब्रह्म है और (असौ आदित्यः क्षत्र) यह आदित्य क्षत्र है ॥ ७ ॥ (यः पृथिवीं बृहस्पतिं) जो पृथ्वीको बृहस्पति और (अग्निं ब्रह्म वेद) अग्निको ब्रह्म जानता है (एनं ब्रह्म आगच्छति) इसके पास ब्रह्मज्ञान आजाता है और यह (ब्रह्मवर्चसी भवति) ब्रह्मज्ञानसे तेजस्वी होता है ॥ ८-९ ॥ (यः आदित्यं क्षत्रं) जो आदित्यको क्षत्र और (दिवं इन्द्रं वेद) द्युलोकको इन्द्र जानता है (एनं इन्द्रियं आगच्छति) इसके पास इन्द्रकी शक्ति आजाती है और यह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्रकी शक्तिसे युक्त होता है ॥ १०-११ ॥

(११) (तत् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) इस प्रकारका विद्वान् व्रतपालक अतिथि (यस्य गृहान् आगच्छेत्) जिसके घर आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं उसके समीप जाकर बोले कि (व्रात्यः क्व अवात्सीः) हे व्रतधारीजी ! आप कहां रहते हैं ! (व्रात्य, उदकं) हे व्रतधारीजी ! यह जल आपके लिये है । (व्रात्य तर्पयन्तु) हे व्रती ! ये मेरे लोग आपकी तृप्ति करें । (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे व्रतधारीजी ! जो आपको प्रिय हो वही होवे । (व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु) हे व्रतधारीजी ! जो आपकी इच्छा हो वैसा ही बने । (हे व्रात्य, यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) हे व्रती ! जो आपको अभिलाषा हो वैसा ही होवे ॥ २ ॥

(यत् एनं आह व्रात्य क्व अवात्सीः इति) जो इसको कहा जाता है कि हे व्रतपते, आप कहां रहते हैं ! तो (तेन देवयानान् पथः एव अवरुन्द्धे) उस प्रश्नसे वह देवयान मार्गोंको अपने आधीन करता है ॥ ३ ॥ (यत् एनं आह) जो इसको कहता है कि (व्रात्य उदकं इति) हे व्रतधारी, यह जल आपके लिये है, (तेन अपः एव अवरुन्धे) उस वचनसे पर्याप्त जल उसको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (यत् एनं आह, व्रात्य तर्पयन्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! मेरे लोक आपकी तृप्ति करें, तो (तेन प्राणं वर्षीयांसं कुरुते) उस वचनसे वह अपने प्राणको अतिदीर्घ करता है ॥ ५ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! जो तेरे लिये प्रिय हो वही होवे, (तेन प्रियं एव अवरुन्धे) इससे वह प्रिय पदार्थोंको अपने वशमें करता है ॥ ६ ॥

ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥
ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

[१२]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रेऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिं सृज होष्यामीति ॥ २ ॥
स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥
स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥
न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥
पर्यस्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥
अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ८ ॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है, (एनं प्रियं आगच्छति) इसको प्रिय प्राप्त होता है और (प्रियस्य प्रियः भवति) वह प्रियका प्रिय होता है ॥ ७ ॥ (यत् एनं आह, व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! जो तेरी इच्छा हो वैसा ही होवे, (तेन वशं एव अवरुन्द्धे) उससे वह सबको अपने वशमें करता है ॥ ८ ॥ जो यह जानता है (वशः एनं आगच्छति) उसको सब वश होते हैं, और वह (वशिनां वशी भवति) वशी लोगोंको वश करनेवाला होता है ॥ ९ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! जो आपकी अभिलाषा है वह होवे, तो उससे (तेन निकामं एव अवरुन्धे) वह अपनी अभिलाषा प्राप्त करता है ॥ १० ॥ (एनं निकामः आगच्छति) इसकी अभिलाषा पूर्ण होती है, यह जो जानता है उसको (निकामस्य निकामे भवति) अभिलाषाकी पूर्णता होती है ॥ ११ ॥

(१२) (तत् यस्य गृहे) जिसके घरमें (एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि (उद्धृतेषु अग्निषु अग्निहोत्रे अधिश्रिते आगच्छेत्) अग्नि प्रदीप्त होकर अग्निहोत्र होनेके समय आवे ॥ १ ॥ (स्वय एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं इसके सन्मुख जाकर कहे कि (व्रात्य अतिसृज होष्यामि इति) हे व्रती ! मुझे आज्ञा दो, मैं हवन करूंगा ॥ २ ॥ (स. च अतिसृजेत्, जुहुयात्) वह आज्ञा देवे तो हवन करे, (न च अतिसृजेत् न जुहुयात्) यदि न आज्ञा देवे तो न हवन करे ॥ ३ ॥ (स. यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टो जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है, (पितृयाणं देवयानं च पंथां प्रजानाति) वह पितृयाण और देवयान मार्गको जानता ॥ ४-५ ॥

(यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है (अस्य हुतं भवति) उसका अग्निहोत्र सफल होता है और (देवेषु न आवृश्चते) देवोंमें इसका कोई दोष नहीं होता। (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (अस्य आयतनं परिशिष्यते) इसका आश्रय सुरक्षित रहता है ॥ ६-७ ॥

(अथ यः एवं विदुषा व्रात्येन अनतिसृष्टो जुहोति) और जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञाके बिना

न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥
आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥ १० ॥
नास्यास्मिल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ११ ॥

[१३]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ३ ॥
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ५ ॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥
अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ ११ ॥

हवन करता है ॥ ८ ॥ वह (न पितृयाणं न देवयानं पंथां जानाति) न पितृयाण मार्गको और न देवयान मार्गको जानता है ॥ ९ ॥ (अस्य अहुत भवति) इसका हवन विफल होता है ॥ १० ॥ (देवेषु आवृश्चते) देवोंका अपराधी होता है, (अस्मिन् लोके अस्य आयतन शिष्यते) इस लोकमें इसका आधार नहीं रहता (यः) जो ऐसे विद्वान्‌की आज्ञाके बिना हवन करता है ॥ ११ ॥

(१३) (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः एकां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका विद्वान् व्रतधारी अतिथि एक रात्री भर रहता है ॥ १ ॥ (ये पृथिव्यां पुण्या लोकाः) जो पृथ्वीपर पुण्य लोक हैं, (तान् तेन एव अवरुन्धे) उन सबको इससे प्राप्त करता है ॥ २ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका व्रतचारी विद्वान् अतिथि दूसरी रात्री भर रहता है ॥ ३ ॥ (तेन) इससे (ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः) जो अन्तरिक्षमें पुण्य लोक हैं (तान् एव अवरुन्धे) उनको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ (तत् यस्य गृहे एव विद्वान् व्रात्यः अतिथि तृतीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकार विद्वान् व्रतधारी अतिथि तीसरी रात्रीभर रहता है ॥ ५ ॥ (ये दिवि पुण्याः लोकाः) जो द्युलोकमें पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको प्राप्त करता है ॥ ६ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः चतुर्थीं रात्रीं वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान व्रतधारी अतिथि चतुर्थ रात्रीभर रहता है ॥ ७ ॥ (ये पुण्यानां पुण्या लोकाः) जो पुण्यकारकोंके पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ ८ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः अपरिमिताः रात्रीः वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान् व्रतपालक अतिथि अपरिमित रात्रीतक रहता है ॥ ९ ॥ (ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः) जो अपरिमित पुण्य लोक हैं (तान् एव तेन अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(अथ यस्य गृहान् अव्रात्यः व्रात्यब्रुवः नामबिभ्रती अतिथिः आगच्छेत्) जिसके घर व्रताचरण न करने-

कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥
अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां
देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥ १३ ॥
तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

[१४]

स यत्प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो
भूत्वानुव्यचलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥
मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥
स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्यचलद्बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥
बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥
स यत्प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद्वरुणो राजा भूत्वानुव्यचलदपोऽन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥
अद्भिरन्नादिभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥
स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्यचलत्
सप्तर्षिभिर्हुतआहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥ ७ ॥
आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

वाला, केवलनामधारी अविद्वान् अतिथि आवे ॥ ११ ॥ (एनं कर्षेत ?) क्या गृहस्थ उसका तिरस्कार करे ? (एनं न च कर्षेत्) इसका तिरस्कार न करे ॥ १२ ॥ गृहस्थ कहे कि (अस्यै देवतायै उदकं याचामि) इस देवताके लिये उदककी प्रार्थना करता हूं (इमां देवतां वासये) इस देवताका घरमें निवास करता हू, (इमां इमां देवतां परिवेविष्यात्) इस देवताको परोसता हूँ ॥ १३ ॥ (तस्यां एव देवतायां अस्य तत् हुतं भवति) उसी देवतामें उस गृहस्थीका वह हवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह तत्व जानता है ॥ १४ ॥ (अर्थात् नामधारी अतिथि घरमें आनेपर वह अपनी उपास्य देवता है ऐसा मानकर सब भोग अपने उपास्यको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसको देवे। इस प्रकार करनेसे सब दान उसी देवताको पहुचता है।)

(१४) (सः यत् प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह जब पूर्व दिशाकी ओर चलता है तब (मारुतं शर्धं भूत्वा) वायु बल होकर और (मनः अन्नाद् कृत्वा) मनको अन्न खानेवाला करके (अनुव्यचलत्) चले ॥ १ ॥ (यः एव वेद) जो यह जानता है वह (अन्नादेन मनसा अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करनेवाली मनोभावनासे अन्न खाता है ॥ २ ॥ (सः दक्षिणां०) वह जब दाक्षिण दिशाकी ओर चलता है, तब वह (इन्द्र भूत्वाः) इन्द्र अर्थात् प्रभु होकर और (बल अन्नाद कृत्वा) बल अन्नभक्षक बनाकर (अनुव्यचलत्) चला ॥ ३ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादेन बलेन अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक बलसे अन्न खाता है ॥ ४ ॥

(स प्रतीचीं दिश०) जब वह पश्चिम दिशाकी ओर चलता है तब वह (वरुण' राजा भूत्वा) वरुण राजा बनकर और (अपः अन्नादीः कृत्वा) जलको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादिभि अद्भि अन्न अत्ति) अन्नभक्षक बलके साथ अन्नभोग करता है ॥ ६ ॥ (सः उदीचीं दिशं०) वह जब उत्तर दिशाकी ओर चलता है, तब वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा बनकर (अन्नादीं आहुतिं कृत्वा) अन्नभक्षक आहुति करके (सप्तर्षिभिः हुतः) सात ऋषियों सात इंद्रियों द्वारा-हुत होकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ७ ॥ जो यह जानता है वह (आहुत्यां अन्नाद्यां अन्नं अत्ति) आहुतिसे अन्नादीका भोग करता है ॥ ८ ॥

स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्य॒चलद्विराजमन्नादीं कृत्वा ॥ ९ ॥
विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥
स यत् पशूननु व्यचलद्रुद्रो भूत्वानुव्य॒चलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥
ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥
स यत् पितॄननु व्यचलद्यमो राजा भूत्वानुव्य॒चलत्स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १३ ॥
स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १४ ॥
स यन्मनुष्याइननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्य॒चलत्स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥
स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद्बृहस्पतिर्भूत्वानुव्य॒चलद्वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥ १७ ॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १८ ॥
स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्य॒चलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥ १९ ॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥
स यत्प्रजा अनु व्यचलत्प्रजापतिर्भूत्वानुव्य॒चलत्प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥
प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥

(सः ध्रुवां०) वह जब ध्रुव दिशाकी ओर चलता है, तब **(विष्णुः भूत्वा)** विष्णुरूप बनकर **(विराजं अन्नादीं कृत्वा)** विराट् पृथ्वीको अन्नमयी बनाकर **(अनुव्यचलत्)** चलता है ॥ ९ ॥ जो यह जानता है वह **(विराजा अन्नाद्या अन्नं अत्ति)** विराट् रूपी अन्नवाली गौसे अन्न भक्षण करता है ॥ १० ॥ **(सः यत् पशून् अनुव्यचलत्)** वह जब पशुओंके अनुकूल होकर चलता है, तब वह **(रुद्रः भूत्वा)** रुद्र बनकर और **(अन्नादीः ओषधीः कृत्वा)** अन्न भक्षण करने योग्य औषधियां बनाकर **(अनुव्यचलत्)** चलता है ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह **(अन्नादीभिः ओषधीभिः अन्नं अत्ति)** अन्न भक्षण करने योग्य औषधियोंके साथ अन्न खाता है ॥ १२ ॥ **(सः यत् पितॄन् अनु०)** वह जब पितरोंके साथ चलता है तब वह **(यमः राजा भूत्वा)** यम राजा बनकर **(स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा)** स्वधाकारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १३ ॥

जो यह जानता है वह **(अन्नादेन स्वधाकारेण अन्नं अत्ति)** अन्नभक्षण स्वधाकारके साथ करता है ॥ १४ ॥ **(सः यत् मनुष्यान् अनुव्यचलत्)** वह जब मनुष्योंके प्रति चलता है तब वह **(अग्निः भूत्वा)** अग्नि होकर **(स्वाहाकारं अन्नाद कृत्वा०)** स्वाहाकारको अन्नभक्षक करके चलता है ॥ १५ ॥ यह जो जानता है वह **(स्वाहाकारेण०)** स्वाहाकारके साथ अन्नभोग करता है ॥ १६ ॥ **(सः यत् ऊर्ध्वां दिशं०)** वह जब ऊर्ध्व दिशाकी ओर चलता है, तब वह **(बृहस्पतिः भूत्वा)** बृहस्पति होकर **(वषट्कारं अन्नादं कृत्वा)** वषट्कारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह **(वषट्कारेण अन्नादेन०)** वषट्कारसे अन्नका भोग करता है ॥ १८ ॥ **(सः यत् देवान् अनुव्यचलत्)** जब वह देवोंके पास जाता है तब वह **(ईशानः भूत्वा)** ईशान बनकर **(मन्युं अन्नादं कृत्वा)** उत्साहको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ १९ ॥ जो यह जानता है वह **(मन्युना०)** उत्साहके साथ अन्न भोग करता है ॥ २० ॥

(सः यत् प्रजाः अनु०) वह जब प्रजाओंके प्रति जाता है, तब वह **(प्रजापतिः भूत्वा)** प्रजापालक बनकर **(प्राणं अन्नाद कृत्वा)** प्राणको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २१ ॥ जो यह जानता है वह **(प्राणेन अन्नादेन)** प्राणकी

स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत्परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद्ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥ २३ ॥
ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २४ ॥

[१५]

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥
सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ ३ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ ४ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयः प्राणो३ऽभ्यू३ढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥ ५ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ ६ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ ७ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥ ८ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ९ ॥

[१६]

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ २ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावास्या ॥ ३ ॥

शक्तिसे अन्न भोग करता है ॥ २२ ॥ (**सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु०**) जब वह सब अन्तर्देशोंके प्रति जाता है, तब वह (**परमेष्ठी भूत्वा**) परमेष्ठी होकर (**ब्रह्म अन्नादं कृत्वा**) ब्रह्मज्ञानको अन्नाद बनाकर चलाता है ॥ २ ॥ जो यह जानता है वह (**ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नं अत्ति**) वह ब्रह्मज्ञानके साथ अन्नादि भोग करता है ॥ २४ ॥

(१५) (**तस्य व्रात्यस्य**) उस व्रात्यके (**सप्त प्राणाः सप्त अपानाः सप्त व्यानाः**) सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं ॥ १-२ ॥

(**तस्य व्रात्यस्य**) उस व्रात्यका (**यः अस्य प्रथमः प्राणः**) जो इसका पहिला प्राण है वह (**अयं ऊर्ध्वः नाम अग्निः**) यह ऊर्ध्व नामक अग्नि है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय प्राण है (**प्रौढः नाम असौ स आदित्यः**) वह प्रौढ नामक यह आदित्य है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय प्राण है, वह (**अभ्यूढः नाम असौ स चन्द्रमाः**) अभ्यूढ नामक यह चन्द्र है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो यह चतुर्थ प्राण है वह (**विभूः नाम अयं स पवमानः**) विभू नामक यह पवमान वायु है ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम प्राण है वह (**योनिः नाम ता इमा आपः**) योनि नामक आप् है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यका जो छठा प्राण है व (**प्रियः नाम ते इमे पशवः**) प्रिय नामक पशु हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां प्राण है वे (**अपरिमिताः नाम ताः इमाः प्रजाः**) अपरिमित नामक प्रजा हैं ॥ ९ ॥

(१६) (**तस्य व्रात्यस्य**) उस व्रात्यका (**यः प्रथमः अपानः**) जो पहिला अपान है (**सा पौर्णमासी**) वह पौर्णमासी ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय अपान है वह अष्टका है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय अपान है वह अमावास्या

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य च॒तु॒र्थो॑ऽपा॒नः सा श्र॒द्धा ॥ ४ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प॒ञ्च॒मो॑ऽपा॒नः सा दी॒क्षा ॥ ५ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठोऽपा॒नः स य॒ज्ञः ॥ ६ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य स॒प्त॒मो॑ऽपा॒नस्ता इ॒मा दक्षि॑णाः ॥ ७ ॥

[१७]

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प्र॒थ॒मो व्या॒नः सेयं भूमि॑ः ॥ १ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य द्वि॒तीयो॑ व्या॒नस्तद॒न्तरि॑क्षम् ॥ २ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य तृ॒तीयो॑ व्या॒नः सा द्यौः ॥ ३ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य च॒तु॒र्थो व्या॒नस्तानि॒ नक्ष॑त्राणि ॥ ४ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प॒ञ्च॒मो व्या॒नस्त ऋ॒तव॑ः ॥ ५ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो व्या॒नस्त आ॑र्त॒वाः ॥ ६ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य स॒प्त॒मो व्या॒नः स सं॑वत्स॒रः ॥ ७ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । स॒मा॒नमर्थं॒ परि॑ यन्ति दे॒वाः सं॑वत्स॒रं वा
ए॒तदृ॒तवो॑ऽनुप॒रिय॑न्ति॒ व्रात्यं॑ च ॥ ८ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यदा॑दि॒त्यम॑भि॒सं॑वि॒शन्त्य॑मावा॒स्यां॑ चै॒व तत्पौ॑र्णमा॒सीं च॑ ॥ ९ ॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य । एकं॒ तदे॑षाममृत॒त्वमित्याहु॑ति॒रेव ॥ १० ॥

[१८]

तस्य॒ व्रात्य॑स्य ॥ १ ॥
यद॑स्य॒ दक्षि॑ण॒मक्ष्य॒सौ स आ॑दि॒त्यो यद॑स्य स॒व्यमक्ष्य॒सौ स च॒न्द्रमाः॑ ॥ २ ॥

है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ अपान है वह श्रद्धा है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम अपान है वह दीक्षा है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो छठा अपान है वह यज्ञ है ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां अपान है वह दक्षिणा है ॥ ७ ॥

(१७) (**तस्य व्रात्यस्य**) उस व्रात्यका (**यः अस्य**) जो इसका (**प्रथमः व्यानः**) पहिला व्यान है वह (**सा इयं भूमि**) यह पृथ्वी है ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय व्यान है वह अन्तरिक्ष है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय व्यान है वह द्यौ है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ व्यान है (**तानि नक्षत्राणि**) वे नक्षत्र हैं ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पांचवां व्यान है (**ते ऋतवः**) वे ऋतुएं हैं ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो षष्ठ व्यान है वे (**ते आर्तवाः**) ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां व्यान है वह संवत्सर है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यके (**समानं अर्थं**) समान अर्थको (**देवाः परियन्ति**) सब देव घेरते हैं, अनुकूल होते हैं, (**संवत्सरं वै एते ऋतवः अनुपरियन्ति**) संवत्सरको निश्चयसे ये ऋतु अनुकूलतासे व्यापते हैं (**व्रात्यं च**) व्रात्यको भी घेरते हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यके जो भाव (**यत् आदित्यं अभिसंविशन्ति**) आदित्यमें प्रविष्ट होते हैं (**अमावास्यां च एव तत् पौर्णमासीं च**) अमावास्या और पौर्णमासीमें भी वे ही होते हैं ॥ ९ ॥ (**तस्य व्रात्यस्य**) उस व्रात्यका (**तत् एषां एकं अमृतत्वं**) वह इन सबका एक अमरपन (**आहुतिः एव इति**) एक आहुति ही है ॥ १० ॥

(१८) (**तस्य व्रात्यस्य**) उस व्रात्यका (**यत् अस्य दक्षिणं अक्षि असौ सः आदित्यः**) जो दक्षिण नेत्र है

योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पर्वमानः ॥ ३ ॥
अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥ ४ ॥
अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥ ५ ॥

वह सूर्य है (यत् अस्य सव्यं अक्षि असौ सः चन्द्रमाः) जो इसका बाया नेत्र है वह चन्द्र है ॥ १-२ ॥ जो इसका (दक्षिणः कर्णः) दक्षिण कान है (स. अयं अग्निः) वह अग्नि है (यः अस्य सव्यः कर्णः) जो इसका बाया कान है (सः अयं पवमानः) वह यह पवमान है ॥ ३ ॥ (अहोरात्रे नासिके) इसके अहोरात्र ये नाक हैं, (दितिः अदितिः च) दिति और अदिति (शीर्ष कपाले) सिरके दोनों कपाल हैं। और (संवत्सरः शिरः) वर्ष इसका सिर है ॥ ४ ॥ (व्रात्यः अह्ना) यह व्रात्य दिनमें (प्रत्यङ्) पूर्व दिशाकी ओर मुख करके, और (रात्र्या प्राङ्) रात्रीके समय प्राची- दिशाके अनुकूल मुख करके रहता है। ऐसे (व्रात्याय नमः) व्रात्यके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ५ ॥

अथर्ववेदके पंद्रहवें काण्डका विचार

अध्यात्म प्रकरण

व्रात्यका अर्थ।

इस पंद्रहवें काण्डमें ' व्रात्य ' का विचार किया है। अतः इस काण्डमें व्रात्यका अर्थ क्या है इसका निश्चय प्रथम करना चाहिये। इस व्रात्य शब्दके कई अर्थ हैं—

(१) ' व्रात ' का अर्थ है ' समूह, समाज, संघ, मनुष्य, जनता ' उसके लिये जो हितकारी (तेभ्यः हितः) है उसको ' व्रात्य ' कहते हैं;

(२) (व्राते भवः व्रात्यः) समूहमें उत्पन्न, समाजमें जिसका जन्म हुआ है, संघमें रहनेवाला;

(३) समूहका पालक, पति किंवा स्वामी,

(४) व्रतोंके लिये समर्पित, व्रताचरणमें तत्पर, तपस्वी, नियमानुष्ठानमें तत्पर, व्रती ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाला,

(५) (व्रजति इति व्रात्यः अस्य तः) भ्रमण करनेवाला परिव्राजक, संन्यासी, उपदेशक, देशदेशान्तरमें जाकर धर्मोपदेश करनेवाला।

इस तरह इस व्रात्य शब्दके अनेक अर्थ वेदमें हैं। स्मृतियोंमें इस व्रात्य शब्दका अर्थ इसके विरुद्ध है। वेदमर्यादा और आश्रममर्यादाका उल्लंघन करनेवाला व्रात्य है ऐसा स्मृतिग्रंथोंका कथन है। स्मृतिके अनुसार व्रात्य वह होता है कि जो त्रैवर्णिकोंके कर्तव्य न करनेसे पतित होता है। व्रात्यस्तोमसे इसकी शुद्धि करनेसे फिर यह पुनीत होता है और द्विजत्व प्राप्त करता है।

वेदका व्रात्य शब्द और स्मृतिका व्रात्य शब्द इनमें अर्थोंका इतना महत् अन्तर है। वेदमें व्रात्य शब्दका अर्थ उत्तम है और स्मृतिमें उसीका अर्थ अधम है। वेदका व्रात्य जनताका कल्याणकर्ता है, परंतु स्मृतिका व्रात्य बहिष्कार करने योग्य है। इतनी शब्दकी भिन्नता, श्रुति और स्मृतिमें कालका महत् अन्तर व्यतीत हुआ है, इस बातकी साक्षी देती है।

जिस तरह ब्राह्मणब्रुव, क्षत्रियब्रुव ये शब्द अधम ब्राह्मण और अधम क्षत्रियोंके वाचक हैं, उसी प्रकार (अथर्व० १५। १३।११ में आये) ' अव्रात्य, व्रात्यब्रुव, नामबिभ्रती ' ये तीनों शब्द हीन अर्थके हैं। व्रात्य शब्द लगानेवाले, परंतु जो व्रात्य नहीं हैं। जैसे आजकल संन्यासनाम धारण करनेवाले अधमाचारी होते हैं, उसी प्रकार व्रात्य नामधारण करनेवाले परंतु व्रात्योंके श्रेष्ठ गुणोंसे हीन मनुष्य निन्दनीय होते हैं। यह वेदका मंत्र (अ० का० १५।१३।११) स्पष्ट बता रहा है कि यहां व्रात्यका अर्थ बहुत ही पूज्य है।

व्रात्य ईश्वर।

व्रात्य शब्दके जो उत्तम अर्थ ऊपरके स्थानमें दिये हैं, वे पूर्णतासे परमेश्वरमें सार्थ होते हैं। परमेश्वर व्रातों अर्थात् समूहों और गणोंका पति होनेसे व्रात्य है, संपूर्ण नियमों और व्रतोंका

यथायोग्य पालन करनेवाला होनेसे भी वह व्रात्य है, सबका हितकारी होनेसे भी वह व्रात्य है। इस तरह व्रात्य शब्दके सब अर्थ ईश्वरमें पूर्णतया सार्थक होते हैं। इसलिये इस पंद्रहवें काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें इसी परमेश्वरका वर्णन व्रात्य शब्द-से किया है।

ईयमान व्रात्यः प्रजापतिं समैरयत्। १।१

'प्रेरक व्रात्यने प्रजापालक देवको प्रेरित किया,' अर्थात् जगत् निर्माण करनेके लिये प्रेरणा की।

स प्रजापतिः सुवर्णं आत्मानं अपश्यत् तत् प्राजनयत्॥ १।२

'इस प्रजापति देवने उत्तम चमकदार रंगवाले मूल दैवी प्रकृतिरूप प्रकृत्यात्माको देखा, और उसने सब जगत् निर्माण किया।' यहां 'सुवर्ण आत्मा' शब्दसे उत्तम रंगरूपसे चमकनेवाली मूल प्रकृति अथवा दैवी प्रकृतिका वर्णन है। इसमें तेज है। चमक है, और यह त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब जगत्का निर्माण करनेवाली है। इस प्रजनन क्रियासे 'एक, ललाम, महत्, ज्येष्ठ, ब्रह्म, तप, और सत्य' ये सात पदार्थ उत्पन्न हुए। इन सात नामोंके सदृश 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्य' ये सात नाम भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखने योग्य हैं। दोनों स्थानोंमें 'महत्, तप, सत्य' ये तीन शब्द समान हैं। संभव है कि ये दोनों सप्तक एक दूसरेके पर्याय हों, प्रकृतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेसे सात लोक, सात भुवन, सप्तधाम आदि जो उत्पन्न हुए हैं, उनके सूचक ये शब्द हैं, ऐसा यहां प्रतीत होता है। पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार सब भुवन उत्पन्न होनेके पश्चात् उस प्रेरक देवका महत्त्व सबको स्पष्ट हुआ, और इसी कारण (सः महादेवः अभवत्) उसको महादेव कहने लगे। अर्थात् यह 'महादेव' शब्द अन्य छोटे देवोंका भी अधिदेव है, यह बात यहां व्यक्त होती है। यही बात निम्नलिखित मंत्रमें कही है।

स देवानां ईशां पर्यैत्, स ईशानः अभवत्। (१।५)

'यह छोटे अनेक देवोंका अधिपति सिद्ध हुआ अतः उसको ईशान कहने लगे।' यहां देव-महादेव, ईश-ईशान, ईश-ईश्वर आदि शब्दोंके अर्थोंका भाव स्पष्ट हुआ। देव और ईश ये छोटे अधिपति हैं और महादेव तथा ईशान और ईश्वर ये शब्द सर्वोपरि अधिकार चलानेवाले सार्वभौम परमेश्वरके वाचक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द एकरस परमात्माके वाचक हैं। इनमें भी ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा ये शब्द भी पूर्वोक्त रीतिसे छोटे बडेके वाचक निःसन्देह हैं, परंतु ब्रह्म और आत्मा ये शब्द समय समयपर दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त होते हैं।

हमारे शरीरमें यह बात देखिये, यहां कान, आंख, नाक आदि अवयवोंमेंसे प्रत्येकमें हजारों कीटाणु अपनेमें ईश हैं। अपनी प्रकृतिके स्वामी हैं, परंतु उन अनेक कीटाणुओंपर आंख नाक कान आदिमें रहनेवाला एक इंद्रियका अधिष्ठाता देव है, यह उन सूक्ष्म कीटाणुओंकी अपेक्षा बडा ईश्वर है। इसके पश्चात् प्रत्येक इन्द्रियमें एक एक देवताका अंश है और इन अवयवोंमें रहनेवाले देवताओंपर जीवात्माका प्रभुत्व है। इसलिये यहां इंद्रियोंके अधिपति देव हैं और जीवात्मा महादेव है। इसी तरह छोटा और बडा होनेके भेदसे एक देव होता है और दूसरा महादेव होता है, परंतु जो छोटोंकी अपेक्षा महादेव होता है वही उसके ऊपरके देवकी अपेक्षा छोटा देव होता है। इस तरह ऊपर जाते जाते अन्तिम स्थितिमें परमात्मा सबका महादेव है। इस प्रकार देव और महादेवोंका विचार तुलनात्मक दृष्टिसे जानना योग्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करते हैं—

देव		महादेव	
आत्मा		परमात्मा	
ब्रह्म		परब्रह्म	
इन्द्र		महेन्द्र	
ईश		ईश्वर	
कीटाणु	(देव)	इंद्रियाधिपति	(महादेव)
इंद्रियाधिपति	,,	जीवात्मा	,,
जीवात्मा	,,	राजा	,,
राजा	,,	सम्राट्	,,
ग्रामपति	,,	प्रान्तपति	,,
प्रान्तपति	,,	राष्ट्रपति	,,
राष्ट्रपति	,,	जगत्पति	,,
चन्द्रादि ग्रह	,,	सूर्य	,,
तारागण	,,	विराट्	,,

इस रीतिसे पूर्वापर अपेक्षाके संबंधसे एक देव और दूसरा महादेव बनता है। अन्तमें सब चराचरका परमात्मा ही महादेव निश्चयसे है और यहां इस प्रथम पर्याय सूक्तमें सबका प्रेरक करके प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है। यह एक है अतः इसको 'एक व्रात्य' अर्थात् एकमात्र परमेश्वर किंवा सबका एक नियन्ता कहा है। यह सबका शासक है और इसका धनुष्य अप्रतिहत है, यह (इन्द्रधनुः=) प्रभुका धनुष्य ऐसा है कि (द्विषन्तं विध्यति) इस धनुष्यसे विद्वेषी लोगोंका पूर्ण नाश होता है। परमेश्वरका सर्वोपरि शासन है और इस शास-

नसे हिंसकोंका नाश होता है और सज्जनोंकी रक्षा होती है; इसलिये इस एक देवकी उपासना सबको करनी चाहिये। यह उपदेश प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है।

इसके आगे ब्रह्मचारीका वर्णन है, उसका विचार अब हम करते हैं—

ब्राह्मणविभाग।

व्रात्य ब्रह्मचारी।

'ब्रह्मचारी' वह है कि जो 'ब्रह्मके समान आचरण करता है, *अथवा ब्रह्म बननेके लिये व्रतका आचरण करता है।'* ब्रह्मका आचरण कैसा होता है, इस विषयमें प्रारंभके पर्याय सूक्तमें अच्छा वर्णन आया है। ब्रह्मचारी वैसा बनना चाहता है। और जो ब्रह्मचारी वैसा सद्गुणैश्वर्य संपन्न होता है, उसकी योग्यता विशेष ही उच्च होती है।

जब ऐसा *सुयोग्य ब्रह्मचारी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण* और उत्तर दिशाओंके देशदेशान्तरोंमें भ्रमण करता है, जनताको धर्म और सदाचारका सन्देश सुनाता है, लोगोंका भला करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब जगत्‌के संपूर्ण देव सूर्य, चन्द्र, *विश्वेदेव, वरुण, सप्तर्षि आदि सब उसकी सहायता करते हैं,* वेदके रथन्तरादि सब प्रभावशाली मंत्र उसके अन्दर उनके ज्ञानविज्ञानके साथ उपस्थित होते हैं। श्रद्धा उसकी धर्मपत्नी नित्य उसकी आज्ञामें उपस्थित होती है, उषाके समय उस धर्मपत्नी श्रद्धाके साथ उपासनाके कार्य वह करता है, इरा अर्थात् वाणी उसकी श्रद्धाकी अनुसारिणी होती है, जैसे बिजली मेघमें शोभा देती है, इसी प्रकार उसकी सुसंस्कृत वाणी उषाके समय श्रद्धासे युक्त होकर उसकी शोभा बढाती है।

उसका मित्र वेदमंत्ररूपी (मागध) स्तुति पाठक है, *अर्थात् यह यदि किसीकी स्तुति करता है,* तो केवल उसके मित्र रूप परमेश्वरकी स्तुति वेदमंत्रोंसे करता है। किसी भी *लालचमें पडकर वह किसी मर्त्यकी प्रशंसा करनेका कार्य नहीं* करता। वेदमंत्रके उपदेशोंकी सत्यता देखकर ही उसको आश्चर्य दर्शक (हसः) हास्य *आता है, उसी दिव्य हास्यमें वह मस्त* रहता है और जब वह उपदेश देता है, वेदमंत्रोंकी व्याख्या करता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जना (स्तन-यित्नु) होकर अमृत जैसे वेदोपदेशकी वर्षा ही हो रही है॥

वस्त्र (*वासः*) शरीरकी *लज्जानिवारणके लिये* होता है, उसके शरीर, इंद्रियां, मन और बुद्धिकी लज्जा निवारण करनेके लिये उसका वस्त्र (विज्ञान) ज्ञान और विज्ञान, बोध और प्रतिबोध ही होता है। इसी विज्ञानका वस्त्र पहिना हुआ *वह ब्रह्मचारी* वस्त्राभूषणकी अपेक्षासे अधिक ही सुशोभित होता है। क्योंकि ज्ञान विज्ञान ही मनुष्यका उत्तम भूषण है।

दिन उसका शिरोवस्त्र, पगडी अथवा साफा है, *रात्रीका* कृष्ण वर्ण उसके केश हैं, सूर्यकिरण उसके कुण्डल हैं, आकाशके तारागण उसके मणि हैं। अर्थात् ये ही उसकी शोभा बढाने-वाले उसके जेवर है। इस तरह यह ब्रह्मचारी निसर्गको ही *अपना भूषण बनाता है, सोने चांदीके जेवर मनुष्यका भूषण* नहीं बन सकते, जो विज्ञानात्मा पुरुष है उसके ये ही भूषण हैं। निःसर्ग नियमोंसे युक्त जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, अतः निसर्गके पदार्थ ही उसका भूषण बढाते हैं।

भूतकालका इतिहास और भविष्यकालकी उन्नतिकी योजना (भूतं भविष्यत् च) ये दो उसके रक्षक हैं। इनके द्वारा सुरक्षित होता हुआ अपना प्रचारका कार्य करता है। इसी तरह अमावास्या और पौर्णमासी अर्थात् महीनेके शुक्ल और कृष्ण पक्ष, दिन और रात्री ये अहोरात्रके दो विभाग, तथा (श्रुतं विश्रुतं) ज्ञान और विज्ञान, सुना हुआ उपदेश और उसके मननसे प्राप्त हुआ विज्ञान ये भी उसके रक्षक अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले हैं। यह ब्रह्मचारी जो उपदेश करता है उसका आधार 'भूत' कालके इतिहासमें होता है और इसका यह उपदेश श्रवण करनेसे श्रोताओंके मनमें भविष्यकालकी बडी *भारी आशाएं, अपनी उन्नतिकी आकांक्षाएं, उत्पन्न होती हैं,* और इनसे श्रोताओंकी क्रमसे उन्नति होती है और दिन रात्रिका कार्यक्रम, पूर्व और उत्तर पक्षके कार्यक्रम उसके उपदेशके निश्चित होते हैं। इस तरह (श्रुत) ज्ञान और (विश्रुत) *विज्ञानसे यह ब्रह्मचारी सबकी उन्नति करता है।*

मनुष्य '*मनोरथ*' करता रहता है, ये केवल उसके '*मन*' के ही '*रथ*' होते हैं। कई लोग हवामें किले बनाते हैं। वे भी मनोरथ ही होते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मचारी भी (मन - विपथं) मनके रथ उडाता है, मनसे ही रथोंको बनाकर मनसे ही उसमें बैठता है और मनसे ही सैर करता है। इसके मनोरथके (मातरिश्वा पवमानः च) श्वास और उच्छ्‌वास ये दो घोडे हैं। जो पाठक प्राणायाम करते हैं वे जानते हैं कि, प्राणकी स्थिरतापर मनकी स्थिरता अवलंबित है। क्योंकि मनके घोडे प्राण हैं, *अर्थात् मनोरथके घोडे प्राण हैं। ये घोडे* स्थिर रहे तो ही रथ स्थिर रहता है और घोडे चलने लगे तो रथ चलता है। प्राण और मनका संबंध नित्य है यह गुप्त बात यहां इस अलंकारसे बतायी है। प्राणको चंचल रखते हुए कोई *भी मनुष्य अपने मनको शान्त नहीं कर सकता।*

इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीको कीर्ति और यश प्राप्त होता है। कीर्ति और यशकी कुंजी इस सदाचारमें है, इसकी योग्यतामें इसका यश है। जो अपनी योग्यता इस ब्रह्मचारी जैसी बनाता है वह भी कीर्तिमान और यशस्वी हो जाता है। यह सब उपदेश पाठक द्वितीय पर्याय सूक्तमें देख सकते हैं।

ब्रह्मचारीका आसन।

ब्रह्मचारी संवत्सरभर तपस्या करता है, वह खडा रहकर तपस्या करता है। उसकी यह तपस्या देखकर अन्योंको कष्ट होता है। वे उसको बैठनेके लिये चौकी देते हैं। परंतु जिस चौकीपर यह ब्रह्मचारी बैठता है वह ज्ञानकी चौकी होती है। लकडीकी चौकी उसको पसंद नहीं है।

इस ब्रह्मचारीके चौकीके पांव वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरत् ये चार ऋतु हैं। अर्थात् इन ऋतुओंपर यह रहता है। बृहत् रथन्तर आदि साम इस चौकीके फलक होते हैं। इस चौकीपर गद्दी बिछायी होती है, उसके कपडेके लंबाई चौडाईके तन्तु ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मन्त्र होते हैं। अर्थात् वेदके ज्ञानकी गद्दीपर यह आरूढ होता है। इस ज्ञानमय सिंहासनपर यह विराजमान होता है, इस समय सब देव उसके रक्षक बनते हैं और वे अपनी विविध शक्तियोंसे इसके चारों ओर आकर खडे होते हैं।

जो ज्ञानके अटल आधारपर खडा होता है, उसकी ऐसी ही विशेष योग्यता होती है। यह उपदेश तृतीय पर्यायसूक्तमें दिया है।

रक्षक ऋतु और देव।

आगे चतुर्थ पर्याय सूक्तमें कहा है कि, छहों ऋतु और उनके बारहों महीने उसके (गोप्तारौ) रक्षक होते हैं। अर्थात् इन सब महिनोंमें उसकी रक्षा होती है।

इसके अनंतर पंचम पर्याय सूक्तमें कहा है कि सब दिशा और अन्तर्दिशाओंमें भव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, रुद्र, महादेव और ईशान ये सात देव अपने धनुष्यबाण हाथमें धारण करके इसके साथी होते हैं और इसकी रक्षा करते हैं। पाठक यहां यह न समझें कि ये सात देव भिन्न हैं। ये ' ईशान ' के ही नाम हैं। ईशान ही एक देव है जिसके गुणधर्म बोधक ये सात नाम हैं। वह एक देव सबका ईश अथवा स्वामी है इसलिये उसको ' ईशान ' कहते हैं। इसके आधीन अनंत देव हैं उन सब देवोंपर यह मुख्य अधिष्ठाता होनेसे इसको ' महादेव ' कहते हैं। यही ईश्वर सब दुष्ट और पापकर्मियोंको योग्य दण्ड देकर रुलाता है, इसलिये इसको ' रुद्र ' कहते हैं। पापियोंको यही भयंकर ' उग्र ' वीरभद्र प्रतीत होता है। इसके पास अतुल पाशवी शक्ति रहती है, अथवा यह सब जीवोंका पालक है इसलिये इसको ' पशुपति ' कहते हैं। यह अत्यंत गतिमान प्रचण्ड वेगवान् होनेसे इसको " शर्व " (**शर्वति गच्छति**) कहते हैं और सब जगत्को भूति और ऐश्वर्य प्रदान करता है, इसलिये उसको ' भव ' कहते हैं। इस तरह ये सातों शब्द एक ही देवके वाचक हैं। यह एक देव ये सात कर्म करता है, इसलिये ये सात नाम इसको प्राप्त होते हैं। यह सबका देवाधिदेव इस ब्रह्मचारीका साथी, मित्र, रक्षक और अनुगामी होता है।

देवोंकी सहायता।

आगे षष्ठ पर्याय सूक्तमें इस ब्रह्मचारीको सब देवताओंकी सहायता मिलती है, ऐसा वर्णन है। भूमिके अन्दर उसको भूमि अग्नि, औषधियां, वनस्पतियां, वृक्ष आदि सहायक होते हैं। उच्चभागसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघोदक और वायुकी सहायता होती है। उत्तम ज्ञानक्षेत्रमें ऋचा, यजु, साम और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेदके मन्त्र सहायक होते हैं। इतिहासकी बडी दिशामें इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी उसके अनुकूल होते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आहवनीय, गार्हपत्य आदि यज्ञ उसकी सहायता करते कालक्षेत्रमें ऋतु, महीने, पक्ष, अहोरात्र ये उसके सहायक होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह आगे बढता है वहां (**अदिति**) मूल प्रकृति, (**दिति**) प्रकृतिकी विकृति, (**इन्द्राणी**) इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्ति (**इडा**) वाणी आदिकी सहायता होती है। और इस क्षेत्रमें उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उसमें तृप्त होता हुआ यह (**न अवरस्यान् इति अमन्यत**) यहांसे वापस न होऊंगा ऐसा मानता है। इतनी तल्लीनता उसमें इसको प्राप्त होती है। आगे इसको सभी देव सहायता करते हैं और वह उन सबका प्रिय धाम बनता है।

सप्तम पर्याय सूक्तमें कहा है कि ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर उसको उत्तम श्रद्धा स्वानुभवसे प्राप्त होती है। इसके पश्चात् वह इस अनुभवको कभी भूलता नहीं। यही पूर्ण ब्रह्मावस्था इसको प्राप्त हुई होती है। यही सच्चा ब्राह्मण है।

क्षत्रिय विभाग।

वैदिक स्वराज्य।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचर्य पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय होता है। इसको ' राजन्य ' इसलिये कहते हैं कि (**सः अरज्यत**) यह लोगोंका रंजन करता है। जनोंको प्रसन्न रखता है। यह जनताको सुरक्षित रखता है। सब प्रजाजनोंकी रक्षा करनेसे

उसको सब प्रकार खानपान आदि भोग प्राप्त होते हैं और सब लोग उसके अनुयायी होते हैं। इतना विषय अष्टम पर्याय सूक्तमें कहा है और नवम पर्याय सूक्तमें आगे राजप्रकरण ही उपदेश करते हैं—

(**सः विशः अनुव्यचलत्**) वह क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य पालनके पश्चात् राजगद्दीपर आरूढ होकर प्रजाके मतानुसार राज्यशासन चलाने लगा। राजा प्रजामतानुसार होनेसे उस राजाके (**सभा**) ग्रामसभा, (**समिति**) राष्ट्रीय महापरिषद्, (**सेना**) चतुरंग सैन्य और (**सुरा**) ऐश्वर्य, धनकोश अनुकूल होते हैं। अर्थात् जो राजा प्रजामतानुसारी नहीं होता उसको इनकी अनुकूलता प्राप्त नहीं होती। इसका सीधा भाव यह है कि प्रजाकी सभा, सेना और धनकोश इनपर राजाका अधिकार नहीं है। इसलिये प्रजाकी प्रसन्नतासे ही इनकी अनुकूलता राजाको होती है, अन्यथा नहीं।

वैदिक स्वराज्यका यह आदर्श है। पूर्ण स्वराज्य इसीका नाम है। जिस राज्यव्यवस्थामें प्रजाका रंजन करनेवाला राजा ही राजगद्दीपर रह सकता है और प्रजाका भंजन करनेवाला राष्ट्रसे उतारा जाता है और जिस शासनसंस्थामें धनकोश, सेना और राष्ट्रसभा प्रजामतके आधीन होते हैं, उसीको 'वैदिक स्वराज्यशासन' कह सकते हैं। इससे भिन्न अन्य शासन आसुरी शासन समझना उचित है।

इस स्थानपर 'सुरा' शब्द धनकोश वाचक है। 'सुर ऐश्वर्य' धातुसे यह शब्द ऐश्वर्य और धन आदिका वाचक बनता है। 'सुरा' शब्दका आजकल प्रसिद्ध अर्थ 'मद्य' है, यह अर्थ यहां नहीं है।

इस तरह क्षात्रनीतिका वर्णन इस सूक्तमें है और यह आजकलके स्वराज्यवादियोंके लिये भी एक उत्साह जनक वैदिक संदेश है।

अतिथिसत्कार।

आगे दसवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन चार पर्याय सूक्तोंमें अतिथिसत्कारका महत्त्वपूर्ण विषय चला है। यहां कहा है कि जिसके घर अतिथि आवे, वह गृहस्थी समझे कि (**एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्**) यह अपनेसे बहुत श्रेष्ठ है और इसका सत्कार करनेसे अपना परम कल्याण निःसन्देह होगा। अर्थात् इस भावनासे अतिथिका बहुत सत्कार गृहस्थी करे। ब्राह्मण प्रत्यक्ष बृहस्पति है और क्षत्रिय (**आदित्यः**) सूर्य अथवा इन्द्रकी मूर्ति है। यदि इनमेंसे कोई किसी गृहस्थीके घर अतिथि रूपसे आवे, तो उस गृहस्थीका बडा भाग्य है ऐसा समझना चाहिये। अतिथिके घरपर आनेपर इसका आदर सत्कार इस प्रकार किया जावे—

१ (**व्रात्य क्व अवात्सीः**) ब्रह्मचारीजी, आप कहांके रहनेवाले हैं ?

२ (**व्रात्य उदकं**) ब्रह्मचारीजी, आपके लिये यह जल लाता हूं।

३ (**तर्पयन्तु**) हे अतिथिजी, मेरे लोग आपको तृप्त करें।

४ (**व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु**) हे विद्वान्, जो आपके लिये प्रिय हो वही बने, वही किया जायगा।

५ (**यथा ते वशः तथा अस्तु**) जो आपकी इच्छा हो वही होगी।

६ (**यथा ते निकामः, तथा अस्तु**) जो आपकी कामना हो वही हो। उसीके अनुसार हम करेंगे।

इस प्रकार प्रश्न करके और भाषण करके गृहस्थ और उसके घरके मनुष्य अतिथिसेवा करें। और उसकी सेवामें कोई न्यूनता न रखें।

यदि गृहस्थीके अग्निहोत्र करनेके समय अतिथि आजाय, अथवा अतिथि आनेपर अग्निहोत्र करनेका समय होजावे, तो गृहस्थ अतिथिकी आज्ञासे अग्निहोत्र करे। यदि अतिथि आज्ञा देवे तो अग्निहोत्र करे, उसकी आज्ञा न हुई तो न करे। यदि किसी गृहस्थीने अतिथिकी आज्ञाके विरुद्ध हवन किया तो उसका वह हवन व्यर्थ होता है॥ (देखो पर्याय सूक्त १२)

अतिथि अनेक दिन घरमें रहा, और उसकी सेवा अच्छी तरहसे की गयी तो बहुत पुण्यफल प्राप्त होता है।

यदि अतिथिके रूपमें कोई अज्ञानी मनुष्य आजावे, तो भी *उसमें अपने उपास्य देवतकी कल्पना करके सब भाग उस देवताको समर्पण करनेकी मनीषासे उस अतिथिको दिये जावें। इससे उपास्य देवकी पूजा होती है।*

यहां १३ वां पर्यायसूक्त समाप्त होता है।

अतिथिका रूप।

(**शर्धः**) बल रूप, (**इन्द्रः**) शत्रुनिर्दलन करनेवाला (**वरुणः**) वरिष्ठ देव, (**सोमः**) शान्त रूप, (**विष्णुः**) सर्वत्र भ्रमण करनेवाला, (**रुद्रः**) शत्रुओंको रुलानेवाला, (**यमः**) नियामक, प्रजाको नियममें रखनेवाला, (**अग्निः**) तेजस्वी, (**बृहस्पतिः**) ज्ञानवान, (**ईशानः**) स्वामी, (**प्रजापतिः**) प्रजाका पालक, (**परमे-ष्ठी**) परम उच्च पदपर विराजमान होने योग्य अतिथि होता है। सुयोग्य अति-

थिमें ये सब गुण होनेके कारण उसी अतिथिको ये नाम प्राप्त होते हैं। मानो इन सब देवोंके अंश उस अतिथिमें एकत्रित होते हों।

यह वर्णन चतुर्दशवें पर्यायसूक्तमें है, इसके अनंतर पंद्रहवें पर्याय सूक्तमें उसके प्राणोंका वर्णन है। इस अतिथिमें सात प्राण हैं, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वायु, जल, पशु और प्रजा ये सात देवता उसके सात प्राणोंमें निवास करते हैं। सात प्राण ये सात इन्द्रियोंमें रहनेवाली सात महाशक्तियां हैं।

आगे सोलहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके सात अपानोंका वर्णन है। पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणा ये सातों उसके अपानोंमें रहते हैं। मनुष्योंके सब दुःख दूर करनेवाली शक्तिका नाम (**सर्वं दुःखं अपानयति इति अपानः**) अपान है। ये सातों श्रद्धा दीक्षा आदि मनुष्यके दुःखोंको दूर करती हैं इसलिये इनका नाम यहां अपान रखा है।

आगे सत्रहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिका स्थान, भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतु, ऋतूद्भवपदार्थ, संवत्सर रूप है ऐसा वर्णन है और अठारहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके आंखें सूर्य और चन्द्र, कान अग्नि और वायु, नाक अहोरात्र, शीर्षकपाल दिति और अदिति, और संवत्सर उसका सिर है यह बताया है।

इस प्रकारका पूज्य मान्य सबको नमस्कार करने योग्य है।

इस प्रकरणमें जो अतिथिका स्वरूप वर्णन किया है वह ठीक प्रकार ध्यानमें नहीं आता। तथापि इससे इतना ही प्रतीत होता है कि अतिथि सर्व देवतारूप होनेके समान परम पूज्य है।

इस पंद्रहवें काण्डमें अतिथि सत्कारका विषय है। और प्रत्येक गृहस्थीका यह धर्म होनेसे इस काण्डका विचार प्रत्येक गृहस्थीको करना अत्यंत आवश्यक है।

जातवेदाः

(ऋषि.— अथर्वाङ्गिराः । देवता–अग्निः)

(का. १९, सूक्त ३)

दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः पर्य॒न्तरि॑क्षा॒द्वन॒स्पति॑भ्यो॒ अध्योष॑धीभ्यः ।
यत्र॑यत्र॒ विभृ॑तो जा॒तवे॑दा॒स्तत॑ स्तु॒तो जु॒षमा॑णो न॒ एहि॑ ॥ १ ॥
यस्ते॑ अ॒प्सु म॑हि॒मा यो वने॑षु य ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒॑न्तः ।
अग्ने॒ सर्वा॑स्त॒न्व१॒ः सं र॑भस्व॒ ताभि॑र्न॒ एहि॑ द्रविणो॒दा अज॑स्रः ॥ २ ॥
यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑ ।
पु॒ष्टिर्या ते॑ मनु॒ष्ये॑षु पप्र॒थेऽग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ३ ॥

अर्थ— (**दिवः**) द्युलोकसे, (**पृथिव्याः**) पृथिवीसे, (**अन्तरिक्षात् परि**) अन्तरिक्षसे (**वनस्पतिभ्यः ओषधिभ्यः**) वनस्पतियों और ओषधियोंसे (**यत्र यत्र जातवेदाः विभृतः**) जहां जहां अग्नि भरा रहता है, (**ततः स्तुतः**) वहांसे प्रशंसित होकर (**जुषाणः**) सेवन करने योग्य होकर (**नः एहि**) हमारे समीप आवे ॥ १ ॥

हे अग्ने (**यः ते अप्सु महिमा**) जो तेरी जलोंमें महिमा है, (**यः वनेषु**) जो वनोंमें है (**सर्वाः तन्वः संरभस्व**) तुम्हारे इन सब शरीरोंको उत्तम रीतिसे एकत्रित करके (**ताभिः नः एहि**) उनके साथ हमारे पास आओ और हमारे लिये (**द्रविणोदाः अजस्रः**) धन देनेवाला अविनाशी हो ॥ २ ॥

(**यः ते देवेषु स्वर्गः महिमा**) जो तेरी देवोंमें सुखदायी महिमा है। (**या ते तनूः पितृषु आविवेश**) जो तेरा शरीर पितरोंमें, पालकोंमें है, (**या ते पुष्टिः मनुष्येषु पप्रथे**) जो तेरी पोषण शक्ति मानवोंमें फैली हुई है, हे अग्ने! (**तया अस्मासु रयिं देहि**) उससे हमारे अन्दर धन स्थापित कर ॥ ३ ॥

श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुप यामि रातिम् ।
यतो भयमभयं तन्नो अस्त्वव देवानां यज हेडो अग्ने ॥ ४ ॥

अर्थ— (श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय) सुननेवाले कान जिसके हैं, जो कवि और जानने योग्य है उसके पास (वचोभिः वाकैः) वचनों और वाक्योंसे (रातिं उप यामि) दान मांगता हूं । (यतः भयं) जहांसे भय होना संभव हो (तत् नः अभयं अस्तु) वहांसे हमें अभय हो । हे अग्ने ! (देवानां हेडः यज) देवोंके क्रोधको शान्त कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— इन सब स्थानोंमें अग्नि है, द्युलोकमें अग्नि है, द्युलोकमें सूर्य, अन्तरिक्षमें विद्युत्, पृथ्वीपर आगके रूपमें औषधि वनस्पतियोंमें अनेक रूपसे अग्नि रहती है । वह हमारी सहायक बने ।

श्रुत्कर्णः— प्रार्थना करनेवालोंका कहना सुननेवाला । कविः— ज्ञानी । वेद्यः— जानने योग्य । उपासक अपने भाषणसे दान मांगता है । जहांसे भयकी संभावना हो वहांसे निर्भयता प्राप्त हो । वहांसे भय दूर हो । देवोंका क्रोध अपने ऊपर न हो ऐसा अपना आचरण रहना चाहिये ।

जगत्का राजा

(ऋषिः— अथर्वाङ्गिराः । देवता–इन्द्रः)

(का. १९, सूक्त ५)

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति ।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः) इन्द्र, प्रभु (जगतः चर्षणीनां) पशु पक्षी आदि जगतोंका, मनुष्योंका, तथा (अधि क्षमि विषुरूपं यद् अस्ति) पृथ्वीपर जो भी अनेक रंगरूपवाले पदार्थ हैं उन सबका (राजा) एक अद्वितीय राजा है। (ततः दाशुषे वसूनि ददाति) वहांसे वह दाताको अनेक प्रकारके धन देता है । (उपस्तुतः चित्) उसकी स्तुति करनेपर (अर्वाक् राधः चोदत्) वह इधर धन भेजता है ॥ १ ॥

भावार्थ— स्थावर जंगमका एक अद्वितीय राजा परमेश्वर ही है । जो भी यहां वस्तुमात्र है उसपर उसीका अधिकार है । वह दाताको धन देता है । स्तुति करनेवालेके पास वह धन भेजता है । उसके गुणोंको जाननेसे मनुष्य उच्च होता है ।

जगत्का मूल पुरुष

(ऋषिः— नारायण । देवता— पुरुषः)

(काण्ड १९, सूक्त ६)

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

अर्थ— (सहस्रबाहुः) हजारों बाहुवाला (सहस्र-अक्षः) हजारों आंखोंवाला, (सहस्र-पाद्) हजारों पांवोंवाला एक (पुरुषः) पुरुष है, (सः भूमिं विश्वतः वृत्वा) वह भूमिको चारों ओरसे घेरकर (दशांगुलं अत्यतिष्ठत्) दश अंगुल विश्वको व्यापकर रह रहा है ॥ १ ॥

त्रिभिः पुद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येहाभवत्पुनः ।
तथा व्यक्रामद्विष्वङ्शनानशने अनु ॥ २ ॥
तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह ॥ ४ ॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ ५ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ६ ॥

अर्थ— (त्रिभि पाद्भिः द्यां अरोहत्) तीन अशोंसे द्युलोकपर चढा है और (अस्य पात् इह पुनः अभवत्) इसका एक अश यहां पुन पुन होता है। (तथा विष्वङ् अशन-अनशने अनुव्यक्रामत्) तथा चारों ओर खानेवाले और न खानेवाले चेतन और जड रूपसे व्याप रहा है ॥ २ ॥

(तावन्त अस्य महिमानः) इसकी इतनी महिमा है। वह (ततो ज्यायान् च पूरुषः) पुरुष तो उनसे बडा है। (अस्य पाद विश्वा भूतानि) इसका एक अंश ये सब भूत हैं और (अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतं) इसके तीन अंश द्युलोकमें अमर हैं ॥ ३ ॥

(यद् भूतं यत् च भाव्यं) जो बना है और जो बनेगा (इद सर्वं पुरुष एव) वह सब पुरुष ही है (उत अमृतत्वस्य ईश्वरः) और वह अमरपनका स्वामी है (यत् अन्येन सह अभवत्) जो दूसरे-जडके-साथ होता है ॥४॥

(यत् पुरुष व्यदधुः) जो विद्वान् इस पुरुषका वर्णन करते हैं उन्होंने इसको (कतिधा व्यकल्पयन्) कितने प्रकारसे कल्पना की है ? (अस्य मुखं किं) इसका मुख कौन है, (किं बाहू) इसके बाहु कौन हैं (किं ऊरू) जांघें कौन हैं और (पादा उच्येते) पांव कौन कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

(अस्य मुख ब्राह्मणः) इस पुरुषका मुख ब्राह्मण-ज्ञानी है, (राजन्य बाहू अभवत्) क्षत्रिय इसके बाहु हुए हैं। (मध्य तत् अस्य यत् वैश्य) इसका मध्य भाग वैश्य है (पद्भ्यां शूद्र- अजायत) पांवोंसे शूद्र हुआ है ॥ ६ ॥

भावार्थ— सहस्रों मनुष्योंके बाहु आंख पांव आदि अवयव जिसके अवयव हैं ऐसा मानव समाज रूपी विराट् पृथ्वीके चारों ओर है। सब मानवोंके सब अवयव इसके अवयव हैं। दश अंगुल रूप विश्वको धरकर वह रह रहा है। पृथ्वीके चारों ओर जो मानव समाज है वह मिलकर एक पुरुष होता है ॥ १ ॥

उसके तीन अश द्युलोकको व्याप रहे हैं और एक अश यहां जड और चेतन रूपमें दीख रहा है। यहां वह वारवार बनता है ॥ २ ॥

जो भूतकालमें हुआ और जो भविष्यमें होगा वह सब यह पुरुष ही है। यह अमरत्वका स्वामी है जो जडके साथ रहता है ॥ ४ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये इस पुरुषके मुख, बाहु, मध्यभाग और पांव हैं, अर्थात् चार वर्ण ये इस पुरुषके चार अंग हैं ॥ ६ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ ७ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ ८ ॥
विराडग्रे समभवद्विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ९ ॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १० ॥
तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रशः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥ ११ ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १२ ॥

अर्थ— (मनस चन्द्रमाः जातः) उसके मनसे चन्द्रमा हुआ है, (चक्षोः सूर्यः अजायत) आंखसे सूर्य हुआ (मुखात् इन्द्रः च अग्निः च) उसके मुखसे इन्द्र और अग्नि हुये हैं। (प्राणात् वायुः अजायत) उस पुरुषके प्राणसे वायु हुआ है ॥ ७ ॥

उस पुरुषके (नाभ्याः अन्तरिक्षं आसीत्) नाभासे अन्तरिक्ष हुआ (शीर्ष्णं द्यौः सं अवर्तत) सिरसे द्युलोक हुआ (पद्भ्यां भूमिः) पावोंसे भूमि हुई (दिशः श्रोत्रात्) कानसे दिशाए (तथा लोकान् अकल्पयन्) और इस प्रकार अन्य लोकोंकी कल्पना–प्रजापतिके शरीरके अंगोंपर की गई है ॥ ८ ॥

(अग्रे विराट् समभवत्) प्रथम विराट उत्पन्न हुआ, (विराज अधि पूरुषः) विराट्के ऊपर अधिष्ठाता पुरुष हुआ। (सः जातः अति अरिच्यत) वह उत्पन्न होते ही फैल गया, (भूमिं अथो पश्चात् पुरः) प्रथम भूमिपर और पश्चात नाना शरीरोंमें फैल गया ॥ ९ ॥

(यत् पुरुषेण हविषा) जब पुरुषरूप हविसे (देवाः यज्ञ अतन्वत) देवोंने यज्ञ किया, (वसन्तः अस्य आज्य आसीत्) वसन्त ऋतु इसका घी था, (ग्रीष्म. इध्म) ग्रीष्म ऋतु काष्ठ था और (शरत् हविः) शरत् ऋतु हवि था ॥ १० ॥

(तं अग्रशः जात) उस प्रथम उत्पन्न हुए (यज्ञं पुरुषं) यज्ञीय पुरुषको (प्रावृषा प्रोक्षन्) वर्षाके जलसे सिंचन किया, (तेन) उससे (साध्या वसव च ये देवा) साध्य और वसु करके जो देव हैं वे (अयजन्त) यज्ञ करते रहे ॥ ११ ॥

(तस्मात् अश्वाः अजायन्त) उससे घोडे उत्पन्न हुए (ये च के च उभयादतः) जिनके दोनों ओर दांत होते हैं (गाव. ह जज्ञिरे तस्मात्) उससे गौवें उत्पन्न हुईं (तस्मात् अजावयः जाताः) उससे बकरियां और भेडें उत्पन्न हुईं ॥ १२ ॥

देवोंके यज्ञमें इन ऋतुओंमें होनेवाले पदार्थ ही यज्ञकी सामग्री थी ॥ १० ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दों ह जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १३ ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ १४ ॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥
मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः ।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥ १६ ॥

अर्थ—(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वस्वकी आहुति देनेके यज्ञसे (ऋचः सामानि जज्ञिरे) ऋचाएं और सामगान उत्पन्न हुए। (छन्दः ह जज्ञिरे तस्मात्) उस यज्ञसे छन्द अर्थात् अथर्ववेद उत्पन्न हुआ (तस्मात् यजुः अजायत) उस यज्ञसे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्व हवन करनेके यज्ञसे (पृषद्-आज्यं संभृत) दही और घी उत्पन्न हुआ। (तान् वायव्यान् पशून्) उन वायव्य पशुओंसे (आरण्याः ग्राम्याः च ये) आरण्य पशु और ग्राम पशु ऐसे पशु उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥

(देवाः यत् यज्ञ तन्वानाः) देव जो यज्ञ कर रहे थे (अस्य सप्त परिधयः आसन्) उस यज्ञकी सात परिधियां थीं (त्रिः सप्त समिधः कृता) तीन गुणा सात समिधाएं की थीं और (पुरुषं पशुं अबध्नन्) परमेश्वर रूपी पुरुषको ध्यानके लिये चित्तमें बांधा था। उस पर ध्यान वे लगाते थे ॥ १५ ॥

(बृहतः देवस्य) बडे देवके अर्थात् (सोमस्य राज्ञः) सोम राजाके (मूर्ध्नः) सिरसे (सप्ततीः सप्त) सत्तर बार सात (अंशवः) किरणें (अजायन्त) उत्पन्न हुईं (जातस्य पुरुषात् अधि) जब वह पुरुषसे उत्पन्न हुआ ॥१६

भावार्थ— ये किरण सूक्ष्म प्रकाशमय तत्व हैं जिनसे यह सृष्टी बनी है। बडा देव सोम-राजा सर्वाधार शान्त प्रभु है। जिससे ये तत्व प्रकट होकर सब सृष्टी बनी है ॥ १६ ॥

सब मानव समाज जा इस पृथ्वी पर चारों ओर है वह सब मानव समाज इस पुरुषका शरीर है। हजारों मुख, हजारों बाहू, हजारों उदर और हजारों पांव इस पुरुषके हैं यह वर्णन इस तरह देखना और समझना चाहिये।

ब्रह्म

(ऋषि — ब्रह्मा। देवता— ब्रह्म, बहवो देवता।)

(काण्ड १९, सूक्त ४३)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे । अग्नये स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ— (दीक्षया तपसा सह) दीक्षा और तपके साथ। (यत्र ब्रह्मविदः यान्ति) जहां ब्रह्मज्ञानी जाते हैं (अग्नि मा तत्र नयतु) अग्नि मुझे वहां ले जावे। (अग्नि मे मेधां दधातु) अग्नि मुझे मेधा बुद्धि देवे। अग्निके लिये अर्पण हो ॥ १ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान्दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥ २ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥ ३ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ ४ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥ ५ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ ६ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ८ ॥

॥ ० ॥ (वायुः मा तत्र नयतु) वायु मुझे वहां ले जाय (वायुः प्राणान् मे दधातु) वायु मेरे अन्दर प्राणोंको धारण करे ॥ ० ॥ २ ॥

॥ ० ॥ (सूर्यः मा तत्र नयतु) सूर्य मुझे वहां ले जाय और (सूर्य मे चक्षु दधातु) सूर्य मुझमें आंख रखे ॥ ० ॥ ३ ॥

॥ ० ॥ (चन्द्रो मा तत्र नयतु) चन्द्र मुझे वहां ले जाय और (चन्द्र· मे मनः दधातु) चन्द्र मुझमें मन स्थापन करे ॥ ० ॥ ४ ॥

॥ ० ॥ (सोमः मा तत्र नयतु) सोम मुझे वहां ले जाय, और (सोमः मा पयः दधातु) सोम मुझे दूध देवे ॥ ० ॥ ५ ॥

॥ ० ॥ (इन्द्रः मा तत्र नयतु) इन्द्र मुझे वहां ले जाय, और (इन्द्र· मे बलं दधातु) इन्द्र मुझे बल देवे ॥ ० ॥ ६ ॥

॥ ० ॥ (आपः मा तत्र नयन्तु) जलप्रवाह मुझे वहां ले जाय, और (अमृतं मा उपतिष्ठतु) अमृत मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ० ॥ ७ ॥

॥ ० ॥ (ब्रह्मा तत्र नयतु) ब्रह्म मुझे वहां ले जाय, और (ब्रह्मा मे ब्रह्म दधातु) ब्रह्मा मुझे ज्ञान देवे ॥ ० ॥ ८ ॥

आत्मा

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवताः— आत्मा, सविता च ।)

(काण्ड १९, सूक्त ५१)

अयुतोऽहमयुतो मे आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो
मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥ २ ॥

अर्थ—(अहं अयुतः) मैं पूर्ण हूं (मे आत्मा अयुतः) मेरी आत्मा पूर्ण है, (मे चक्षुः अयुतं) मेरा नेत्र पूर्ण है, (मे श्रोत्रं अयुतं) मेरे कान पूर्ण हैं, (मे प्राणः अयुतः) मेरा प्राण पूर्ण है (मे अपानः अयुतः) मेरा अपान पूर्ण है (मे व्यानः अयुतः) मेरा व्यान पूर्ण है, (अहं सर्वः अयुतः) मैं सब पूर्ण हूं ॥ १ ॥

(सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देवकी प्रेरणासे (अश्विनोः बाहुभ्यां) अश्विनोंके बाहुओंसे और (पूष्णः हस्ताभ्यां) पूषाके हाथोंसे (प्रसूतः) उत्पन्न हुआ मैं (आरभे) इस कार्यको आरंभ करता हूं ॥ २ ॥



परमात्मा

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः ब्रह्मा । देवताः— परमात्मा देवाश्च ।)

(काण्ड १९, सूक्त ७२)

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् ।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ १ ॥

अर्थ—(यस्मात् कोशात्) जिस कोशसे (वेदं उदभराम) वेदको हमने निकाला (तस्मिन् अन्तः) उसीमें (एनं अवदध्म) इस वेदको हम पुनः रखते हैं। (ब्रह्मणः वीर्येण इष्टं कृतं) ज्ञानके वीर्यसे जो कर्म करना था वह किया। (तेन तपसा) उस तपसे (देवाः इह अवत) देव यहां हमारी रक्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वेदके लिखित ग्रंथ थे जो संदूकमें रखे जाते थे। समय पर वे ग्रंथ बाहर निकाल कर कार्य किया जाता था और फिर वे संदूकमें रखे जाते थे। इन वेदोंमें परमात्माके संबंधका ज्ञान था ॥ १ ॥



दुःखमोचन और विजयप्राप्ति

(ऋषिः— अथर्वा । देवता — प्रजापतिः)

(का. १६, सू. १)

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥
रुजन्परिरुजन्मृणन्प्रमृणन् ॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥
अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥
योऽप्स्वन्तरग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥
यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद्वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥
अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥
प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥ १२ ॥
शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः ॥ १३ ॥

अर्थ—[१] (अपां वृषभः अतिसृष्टः) जलोंकी वर्षा करनेवाला मुक्त हुआ, (दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः) दिव्य अग्नि मुक्त किये गये ॥ १ ॥ (रुजन् परिरुजन्) तोडता हुआ, सब रीतिसे फोडता, (मृणन् प्रमृणन्) मारता हुआ और नाश करता हुआ ॥ २ ॥ (म्रोकः खनः) घातक और खोदनेवाले (निर्दाहः) दाह करनेवाले (मनो-हा) मनका नाश करनेवाले (आत्मदूषिः) आत्माको दूषण देनेवाले और (तनू-दूषि.) शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥ (इदं तं अतिसृजामि) इस और उस शत्रुको मैं दूर करता हूं (तं मा अभ्यवनिक्षि) उसको मैं कदापि पुनः प्राप्त न होऊं ॥ ४ ॥ (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं, (तं तेन अभि अति सृजामः) उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥ (अपां अग्रं असि) तू जलोंका अग्रभाग है (वः समुद्रं अभि अवसृजामि) तुम्हें समुद्रके प्रति मैं छोड देता हूं ॥ ६ ॥ (यः अप्सु अग्निः) जो जलोंमें अग्नि है (तं अति सृजामि) उसको मैं मुक्त करता हूं । (म्रोकं खनिं तनूदूषिं) घातक खादक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूं ॥ ७ ॥ (यः अग्निः वः आपः आविवेश) जो अग्नि आप जलोंके प्रति प्रविष्ट हुआ है (सः एषः) वह यह है, (यत् वः घोरं तत् एतत्) जो आपके लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥ (इन्द्रस्य इंद्रियेण वः अभिषिञ्चेत्) इन्द्रके इंद्रियसे आपका अभिषेक किया जावे ॥ ९ ॥ (अरिप्राः आपः) निर्दोष जल हैं वे (अस्मत् रिप्रं अप) हमसे मल दूर करें ॥ १० ॥ (अस्मत् एनः प्रवहन्तु) हमसे पाप दूर करें तथा (दुष्वप्न्यं प्र वहन्तु) दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करें ॥ ११ ॥ हे (आपः) जलो ! (मा शिवेन चक्षुषा पश्यत) मुझे कल्याणकारी दृष्टिसे देखो, (मे त्वचं शिवया तन्वा उपस्पृशत) मेरी त्वचाको अपनी शुभ तनूसे स्पर्श करो ॥ १२ ॥ (अप्सुषदः शिवान् अग्नीन् हवामहे) जलमें रहनेवाले शुभ कारी अग्नियोंको हम बुलाते हैं, (देवीः) हे दिव्य जलो ! (मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त) मुझमें क्षात्र बल और तेज धारण कराओ ॥ १३ ॥

आत्मा

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवताः— आत्मा, सविता च ।)

(काण्ड १९, सूक्त ५१)

अयुतोऽहमयुतो मे आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो
मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं अयुतः) मैं पूर्ण हूं (मे आत्मा अयुतः) मेरी आत्मा पूर्ण है, (मे चक्षुः अयुतं) मेरा नेत्र पूर्ण है, (मे श्रोत्रं अयुतं) मेरे कान पूर्ण हैं, (मे प्राणः अयुतः) मेरा प्राण पूर्ण है (मे अपानः आयुतः) मेरा अपान पूर्ण है (मे व्यानः अयुतः) मेरा व्यान पूर्ण है, (अहं सर्वः अयुतः) मैं सब पूर्ण हूं ॥ १ ॥

(सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देवकी प्रेरणासे (अश्विनोः बाहुभ्यां) अश्विनौंके बाहुओंसे और (पूष्णः हस्ताभ्यां) पूषाके हाथोंसे (प्रसूतः) उत्पन्न हुआ मैं (आरभे) इस कार्यको आरंभ करता हूं ॥ २ ॥



परमात्मा

(ऋषि·— भृग्वाङ्गिराः ब्रह्मा । देवताः— परमात्मा देवाश्च ।)

(काण्ड १९, सूक्त ७२)

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् ।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ १ ॥

अर्थ— (यस्मात् कोशात्) जिस कोशसे (वेदं उदभराम) वेदको हमने निकाला (तस्मिन् अन्तः) उसीमें (एनं अवदध्म) इस वेदको हम पुनः रखते हैं। (ब्रह्मणः वीर्येण इष्टं कृतं) ज्ञानके वीर्यसे जो कर्म करना था वह किया। (तेन तपसा) उस तपसे (देवाः इह अवत) देव यहां हमारी रक्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ— वेदके लिखित ग्रंथ थे जो संदूकमें रखे जाते थे। समय पर वे ग्रंथ बहर निकाल कर कार्य किया जाता था और फिर वे संदूकमें रखे जाते थे। इन वेदोंमें परमात्माके संबंधका ज्ञान था ॥ १ ॥



दुःखमोचन और विजयप्राप्ति

(ऋषि — अथर्वा । देवता — प्रजापतिः)

(कां. १६, सू. १)

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः	॥ १ ॥
रुजन्परिरुजन्मृणन्प्रमृणन्	॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः	॥ ३ ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि	॥ ४ ॥
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः	॥ ५ ॥
अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि	॥ ६ ॥
योऽप्स्वग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम्	॥ ७ ॥
यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद्वो घोरं तदेतत्	॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत्	॥ ९ ॥
अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्	॥ १० ॥
प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु	॥ ११ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे	॥ १२ ॥
शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः	॥ १३ ॥

अर्थ—[१] (अपां वृषभः अतिसृष्टः) जलोंकी वर्षा करनेवाला मुक्त हुआ, (दिव्याः अग्नय अतिसृष्टा) दिव्य अग्नि मुक्त किये गये ॥ १ ॥ (रुजन् परिरुजन्) तोडता हुआ सब रीतिसे फोडता, (मृणन् प्रमृणन्) मारता हुआ और नाश करता हुआ ॥ २ ॥ (म्रोक खनः) घातक और खोदनेवाले (निर्दाह) दाह करनेवाले (मनो-हा) मनका नाश करनेवाले (आत्मदूषिः) आत्माको दूषण देनेवाले और (तनू दूषि) शरीरको दूषण करनेवाले ॥ ३ ॥ (इदं तं अति-सृजामि) इस और उस शत्रुको मैं दूर करता हूं (तं मा अभ्यवनिक्षि) उसको मैं कदापि पुनः प्राप्त न होऊं ॥ ४ ॥ (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (य वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं, (तं तेन अभि अति सृजा-मः) उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥ (अपां अग्रं असि) तू जलोंका अग्रभाग है (वः समुद्रं अभि अव-सृजामि) तुम्हें समुद्रके प्रति मैं छोड देता हूं ॥ ६ ॥ (य अप्सु अग्निः) जो जलोंमें अग्नि है (तं अति सृजामि) उसको मैं मुक्त करता हूं। (म्रोक खनिं तनूदूषिं) घातक खोदक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूं ॥ ७ ॥ (य अग्निः व आपः आविवेश) जो अग्नि आप जलोंके प्रति प्रविष्ट हुआ है (सः एषः) वह यह है, (यत् वः घोरं तत् एतत्) जो आपके लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥ (इन्द्रस्य इंद्रियेण वः अभिषिञ्चेत्) इन्द्रके इंद्रियसे आपका अभिषेक किया जावे ॥ ९ ॥ (अरिप्राः आप) निर्दोष जल हैं वे (अस्मत् रिप्रं अप) हमसे मल दूर करें ॥ १० ॥ (अस्मत् एनः प्रवहन्तु) हमसे पाप दूर करें तथा (दुष्वप्न्यं प्र वहन्तु) दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करें ॥ ११ ॥ हे (आपः) जलो! (मा शिवेन चक्षुषा पश्यत) मुझे कल्याणकारी दृष्टिसे देखो, (मे त्वचं शिवया तन्वा उपस्पृशत) मेरी त्वचाको अपनी शुभ तनूसे स्पर्श करो ॥ १२ ॥ (अप्सुषदः शिवान् अग्नीन् हवामहे) जलमें रहनेवाले शुभ कारी अग्नियोंको हम बुलाते हैं, (देवीः) हे दिव्य जलो! (मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त) मुझमें क्षात्र बल और तेज धारण कराओ ॥ १३ ॥

[२]

निर्दुरर्मण्य॑ ऊर्जा मधु॑मती वाक् ॥ १ ॥
मधु॑मती स्थ मधु॑मतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥
उप॑हूतो मे गोपा उप॑हूतो गोपीथः ॥ ३ ॥
सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥
सुश्रु॑तिश्च मोप॑श्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥
ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

[३]

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥
उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥
विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥
बृहस्पतिर्मे आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥
असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥

---

[२] (दु-अर्मण्य नि) दुर्गति दूर हो, (ऊर्जा मधुमती वाक्) बलवाली मीठी वाणी हो ॥ १ ॥ वाणी (मधुमती स्थ) मीठी हो, (मधुमतीं वाच उदेय) मीठा भाषण बोलूं ॥ २ ॥ (मे गोपा उपहूतः) मेरा गोपालक –इंद्रियपालक बुलाया गया, (गोपीथ उपहूत) वाणीका रक्षक, गोरक्षक अथवा इंद्रियरक्षक बुलाया है ॥ ३ ॥ (सु-श्रुतौ कर्णौ) मेरे दोनों कान उत्तम ज्ञान सुननेवाले हों, (भद्रश्रुतौ कर्णौ) कल्याण वचन सुननेवाले मेरे कान हों (भद्रं श्लोकं श्रूयास) कल्याणमयी प्रशंसा मैं सुना करूंगा ॥ ४ ॥ (सुश्रुतिः च उपश्रुतिः च) उत्तम श्रवणशक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति (मा मा हासिष्टां) मुझ कदापि न छोडें । (सौपर्णं ज्योतिः चक्षुः) गरुडके समान तेजस्वी दृष्टि मेरे पास (अजस्रं) सदा रहे ॥ ५ ॥ (ऋषीणां प्रस्तरः असि) तू ऋषियोंका प्रस्तर है, (दैवाय प्रस्तराय नमः अस्तु) देव रूप प्रस्तरको नमस्कार हो ॥ ६ ॥

[३] (रयीणां अहं मूर्धा भूयास) धनोंका मैं मस्तकके समान ऊंचा स्वामी बनूं । तथा (समानानां मूर्धा भूयास) समानोंमें मैं मुखिया बनूं ॥ १ ॥ (रुजः च वेनः च मा मा हासिष्टां) तेज और कान्ति मुझे न छोडें, (मूर्धा च विधर्मा च मा मा हासिष्टां) सिर और विशेष धर्म मुझे न छोडें ॥ २ ॥ (उर्वः च चमसः मा मा हासिष्टां) पकानेके पात्र और चमस मुझे न छोडें । (धर्ता च धरुणः च मा मा हासिष्टां) धारक और आधार देनेवाला मुझे न छोडे ॥ ३ ॥ (विमोकः च आर्द्रपविः च मा मा हासिष्टां) मुक्त करनेवाला और गीला शस्त्र मुझे न छोडे । (आर्द्रदानुः च मातरिश्वा च मा मा हासिष्टां) जल देनेवाला और वायु मुझ न छोडें ॥ ४ ॥ (बृहस्पतिः मे आत्मा) मेरा आत्मा ज्ञानवाला और (नृमणाः नाम हृद्यः) मनुष्योंमें मनन करनेवाला हृदयमें रहनेवाला है ॥ ५ ॥ (मे हृदय अ-संताप) मेरा हृदय संतापरहित हो । (गव्यूतिः उर्वी) मेरे गौवोंकी भूमि बडी हो । (विधर्मणा समुद्रः असि) विशेष धर्मोंसे मैं समुद्रके समान हूं ॥ ६ ॥

[४]

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥
मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥
सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद्यमो
मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥
प्राणापानौ मा मां हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥
स्वस्त्यद्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥
शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

[५]

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ १ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ २ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि ॥ ३ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तको० । तं त्वा० ॥ ४ ॥

---

[४] (अहं रयीणां नाभिः) मैं धनोंका केन्द्र और (समानानां नाभिः भूयासं) समानोंका भी केन्द्र बनूं ॥ १ ॥ (मर्त्येषु अमृतः) मर्त्योंमें अमर (सु-आसत्) उत्तम रीतिसे बैठनेवाला और (सु-उषा) उत्तम तेजवाला तू आत्मा (असि) है। ॥ २ ॥ (प्राणः मां मा हासीत्) मुझे न छोडे। (अपानः अवहाय मा परा गात्) अपान भी छोडकर दूर न चला जावे ॥ ३ ॥ (सूर्यः अह्नः मा पातु) सूर्य दिनमें मेरी रक्षा करे, (अग्निः पृथिव्याः) अग्नि पृथ्वीसे (वायुः अन्तरिक्षात्) वायु अन्तरिक्षसे (यमः मनुष्येभ्यः) यम मनुष्योंसे और (सरस्वती पार्थिवेभ्यः) सरस्वती पृथ्वीसे उत्पन्न पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥ (प्राणापानौ मा मा हासिष्टं) प्राण और अपान मुझे न छोडें, (जने मा प्रमेषि) मनुष्योंमें घातक न हो ॥ ५ ॥ हे (आपः) जलो ! (अद्य स्वस्ति) आज कल्याण हो, (उषसः दोषसः च) दिनों और रात्रियोंसे (सर्वः सर्वगणः) सब और सब गुणोंसे युक्त होकर (अशीय) सुख प्राप्त करूं ॥ ६ ॥ (शक्वरीः स्थ) तुम सामर्थ्यवान् हो, (पशवः मा उपस्थेषुः) पशु मेरे पास रहें, (मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ) मित्र और वरुण मुझे प्राण और अपान तथा (अग्निः मे दक्षं दधातु) अग्नि मुझमें बल धारण करावे ॥ ७ ॥

[५] (स्वप्न ! ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है। तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) तू ग्राह्या का पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ १ ॥ तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्युः असि) मृत्यु है ॥ २ ॥ हे स्वप्न ! (तं त्वा तथा सं विद्म) उस तुमको वैसा हम जानते हैं। हे स्वप्न ! (सः नः दुःष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमें दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥ (स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है तू (निर्ऋत्याः पुत्रः असि) दुर्गतिका पुत्र है और (यमस्य०) यमका साधन है० ॥ ४ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽ० । तं त्वा० ॥ ५ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽ० । तं त्वा० ॥ ६ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तकोऽ० । तं त्वा० ॥ ७ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।
अन्तको० । तं त्वा० ॥ ८ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ ९ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात्पाहि ॥ १० ॥

[६]

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥ १ ॥
उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥
द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥ ३ ॥
यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥
तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥

स्वप्नका हेतु हम जानते हैं तू (अभूत्याः पुत्रः०) अभूतिका पुत्र है० ॥ ५ ॥ तू (निर्भूत्याः पुत्र ०) निर्धनताका पुत्र है० ॥ ६ ॥ तू (पराभूत्याः पुत्र ०) पराभवका पुत्र है० ॥ ७ ॥ तू (देवजामीनां पुत्र ०) इन्द्रियविकृतियोंका पुत्र है० ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्युः असि) तू अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न, तं त्वा तथा सं विद्म) हे स्वप्न, उस तुमको वैसा हम जानते हैं (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमको दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अद्य अजैष्म) आज हमने विजय प्राप्त किया है (अद्य असनाम) हमने प्राप्तव्यको प्राप्त किया है (वयं अनागसः अभूम) हम निष्पाप हुए हैं ॥ १ ॥ हे (उषः) उष काल! हम (यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्मः) जिस दुष्टस्वप्नसे हमें भय होता है, (तत् अप उच्छतु) वह हमसे दूर होवे ॥ २ ॥ (तत् द्विषते परा वह) वह द्वेषीके लिये दूर ले जा (तत् शपते परा वह) वह शाप देनेवालेके लिये दूर ले जा ॥ ३ ॥ (यं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं और (यत् च नः द्वेष्टि) जो हम सबका द्वेष करता है, (तस्मै एनत् गमयाम) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥ (उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वाणीसे संमिलित हो और (वाक् देवी उषसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे संमिलित हो ॥ ५ ॥

(उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उष का पति वाणीके पतिके साथ संमिलित हो, और (वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः) वाणीका पति उषाके साथ मिले ॥ ६ ॥ (ते अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः) वे निर्धनता दुष्टनामवाले दुष्ट और अन्य आपत्तियां (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावें ॥ ७ ॥ (कुम्भीकाः दूषीकाः पीय·

कुम्भीका दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥
जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥
अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥
तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

[७]

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि
पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥
देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥
वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥
एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥
योऽ३स्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥
निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥
सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥
इदमहमामुष्यायणे३मुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥
यददो अदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥

कान्) घटके समान बढनेवाले उदररोगों, शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥ तथा (जाग्रत् दुष्वप्न्यं) जाग्रतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न, और (स्वप्ने दुष्वप्न्य) स्वप्नके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

(अनागमिष्यतः वरान्) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ, (अवित्तेः संकल्पान्) दरिद्रताके संकल्प, (अमुच्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले द्रुहोंके पाशोंको ॥ १० ॥ हे अग्ने ! उन सब विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) सब देव ले चलें । (यथा) जिससे वह शत्रु (वध्रि) निर्बल, (विथुरः) व्यथायुक्त और (साधुः न असत्) बुरा होवे ॥ ११ ॥

[७] (तेन एन विध्यामि) उससे इसका वेध करता हूं, (अभूत्या, निर्भूत्या, ग्राह्या, एनं विध्यामि) दुर्गति दारिद्य और रोगसे इसको विद्ध करता हूं । (पराभूत्या०) पराभवसे इसको पीडित करता हूं (तमसा एनं विध्यामि) अज्ञानसे इसको विद्ध करता हूं ॥ १ ॥ (देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैषैः) देवोंके घोर क्रूर दुःखोंसे (एनं अभिप्रेष्यामि) इसको दुःखी करता हूं ॥ २ ॥ (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दधामि) वैश्वानरकी दाढोंमें इसको धर देता हूं ॥ ३ ॥ (सा एव अनेव) वह आपत्ति इस रीतिसे वा अन्य रीतिसे इस शत्रुको (अवगरत्) निगल जाय ॥ ४ ॥ (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (तं आत्मा द्वेष्टु) उससे आत्मा द्वेष करे । (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह अपने आत्मासे द्वेष करे ॥ ५ ॥

(द्विषन्तं) द्वेष करनेवालेका (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीके स्थानसे (निः भजामः) सामना करते हैं ॥ ६ ॥ हे (सुयामन् चाक्षुष) उत्तम नियामक निरीक्षक ! ॥ ७ ॥ (इदं अहं) यह मैं (अमुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे) इस गोत्रके इसके पुत्रमें (दुष्वप्न्यं मृजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूं ॥ ८ ॥ (यत् अदः अदः) जो यह दोष (अभिगच्छन्) मैं उसमें प्राप्त करता हूं (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं) जो रात्रीमें अथवा पूर्व रात्रीमें ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥
यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥
तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

[८]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वऽरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥
स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥
जितम्०।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ५ ॥
जितम्०।०। सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ६ ॥
जितम्०।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ७ ॥
जितम्०।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ८ ॥
जितम्०।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ ९ ॥
जितम्०।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ १० ॥

(यत् जाग्रत्) जो जागते हुए, (यत् सुप्तः) जो सोये हुए (यत् दिवा यत् नक्तं) जो दिनमें और जो रात्रीमें ॥१०॥ (यत् अहः अहः अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं देखता हूं (तस्मात् एनं अव दये) उस दोषके कारण मैं उसको मारता हूं ॥ ११ ॥ (तं जहि) उसको मार दे, (तेन मन्दस्व) उसके साथ चल, (तस्य पृष्टीः अपि शृणीहि) उसकी पसलियां तोड दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे, (तं प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (अस्माकं ऋतं) हमारा सत्य हो, (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बढे, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बढे, (अस्माकं स्वः) हमारा आत्मप्रकाश बढे, (अस्माकं यज्ञः) हमारा यज्ञ सफल हो, (अस्माकं पशवः) हमारे पास पशु हों, (अस्माकं प्रजाः) हमारी प्रजा-संतान-बढे, (अस्माकं वीराः) हमारे अन्दर वीर हों ॥ १ ॥

(तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस शत्रुपर हमला करते हैं (अमुं आमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं असौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है ॥ २ ॥ (सः ग्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशोंसे न छूटे ॥ ३ ॥ (तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मैं घेरता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूं ॥ ४ ॥ ० ॥ ० (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोंसे न छूटने पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० (सः अभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दारिद्रके पाशोंसे न छूटे । ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० (सः निर्भूत्याः मा मोचि) वह दुरवस्थाके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभवके पाशसे न छूटे ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० (सः देवजामीनां पाशात् मा मोचि) वह इंद्रियदोषोंके पाशोंसे न छूटे ० ॥ ९ ॥ ० । ० ॥ (सः बृहस्पतेः...प्रजापतेः...ऋषीणां...आर्षेयाणां...अगिरसां...आंगिरसानां...अथर्वणां...आथर्वणानां...वनस्पतीनां ..वानस्पत्यानां..ऋतूनां...आर्त

जितम्०।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ११ ॥
जितम्०।०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १२ ॥
जितम्०।०। स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १३ ॥
जितम्०।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १४ ॥
जितम्०।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १५ ॥
जितम्०।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १६ ॥
जितम्०।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १७ ॥
जितम्०।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १८ ॥
जितम्०।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ १९ ॥
जितम्०।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २० ॥
जितम्०।०। स आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २१ ॥
जितम्०।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २२ ॥
जितम्०।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥ २३ ॥
जितम्०।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २४ ॥
जितम्०।०। सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २५ ॥
जितम्०।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २६ ॥
जितम्०। । स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २७ ॥
जितम्०।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥ २८ ॥
जितम्०।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।० ॥ २९ ॥
जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ ३ ॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ ३१ ॥
स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥ ३२ ॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३३ ॥

...नां...मासानां...अर्धमासानां.. अहोरात्रयोः ...अह्नः संयतः ...द्यावापृथिव्योः ...इन्द्राग्न्योः ...मित्रा-
...रुणयोः.. वरुणस्य राज्ञः.. मृत्योः पड्वीशात् मा मोचि) ॥ १०-३२ ॥ वह बृहस्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषि-
...से उत्पन्न, अंगिरस्, अंगिरसोंसे उत्पन्न, अथर्व, अथर्वोंसे उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियोंसे उत्पन्न, ऋतु, ऋतुओंसे उत्पन्न, महीने
...अर्धमास, अहोरात्र, दिन, द्यु, पृथिवी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और मृत्युके पाशोंसे न बचे ॥ १०-३२ ॥ (तस्य
...दं वर्चः०) उसका यह तेज, कान्ति, प्राण, आयु आदिको मैं घेरता हूं और उसको नीचे गिराता हूं ॥ ३३ ॥

[९]

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥
अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

[९] (अस्माकं जित) हमारी विजय हो (अस्माकं उद्भिन्न) हमारा उदय हो, (विश्वाः पृतना अरातीः) सब शत्रुसेनाका निरोध किया है ॥ १ ॥ (अग्निः तत् आह) अग्निने यह कहा है, (सोमः उ तत् आह) सोमने यह कहा है। (पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें स्थापित करे ॥ २ ॥ हम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तजको प्राप्त होते हैं। (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्यकी ज्योतिसे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥ (वस्य भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त हो (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य यज्ञ ही है (वसु वंशिषीय) ऐश्वर्य प्राप्त करूं। (मयि वसु धेहि) मुझमें धनका स्थापन कर ॥ ४ ॥

अथर्ववेदके सोलहवें काण्डका मनन

दुःखमोचन और विजयप्राप्ति

विजयकी प्राप्ति

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजयके लिये यत्न करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता, पराभवकी आशंका हो तो बालक भी रोता है, पीटता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करनेकी इच्छा नहीं होती। सदा अपना विजय हो, अपना यश बढे, अपनी कीर्ति दिगन्तमें फैले, यही इच्छा मनुष्य करता रहता है। अत मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सूक्तके ९ पर्यायसूक्तोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्त्वोंका विचार किया है। अत अपनी विजय चाहनेवाले पाठक इसका मनन करें और लाभ उठावें।

विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरी आधिभौतिक क्षेत्रकी विजय है और तीसरी आधिदैविक क्षेत्रके संबंधकी विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारके विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रके विजयोंके भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहां नहीं किया जासकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका थोडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय

आध्यात्मिक क्षेत्रमें शरीर, इंद्रियां, मन, प्राण, बुद्धि, अहं, चित्त, काम, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति अ... का संबंध है। इनको निर्दोष रखना, इनको अपनी ... शक्तिसे परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिमें निर्विघ्न लगानेसे अध्यात्मिक क्षेत्रकी विजय होती है। यहां प्र... इंद्रियकी प्रकृति, उसकी विकृति, उसमें होनेवाले दोष ... रोग, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो स... वैद्यशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मि... विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास आये ... इसकी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि—

> निर्दाह तनूदूषिः मनो-दा आत्म-दूषिः इद... त अतिसृजामि। (१।३-...

'शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशक ... और आत्माका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मैं

करता हूं।' इन चारोंमें प्रायः आत्माका पराजय होनेके कारण आगये हैं; विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है तब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता होती है और इस सबसे आत्माका अधःपतन होता है। पाठक इन चार शब्दोंका विचार करें और जानें कि इन चारोंसे आध्यात्मिक क्लेश कैसे होते हैं। यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंका व्यापक विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्लेशोंकी ये चार ही जडें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगा। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं—

शमः तनूशुद्धिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः।

ये चार शब्द हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इंद्रियदमन, इंद्रियशमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनूशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी पवित्रतासे मनका बल बढ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि अध्यात्मोन्नतिके ये चार साधन हैं और इसीलिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूक्तमें की है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी उद्देश्यसे कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
(भ. गीता २)

'विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित हैं, वह इंद्रियोंसे कार्य करते हुए भी प्रसन्न रहता है। चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर होते हैं और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है।' इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविजयके विषयका विचार करनेके समय बड बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें होते हैं वे क्या करते हैं देखिये—

रुजन्, प्रमृणन्, श्लोकः, स्तनः।
पर्यायसू. ११२-३)

जहां दोष होते हैं वहां वे 'तोडते हैं, मरोडते हैं, कुचलते हैं, फोडते हैं, काटते हैं, खोदते हैं, नाश करते हैं' इस तरह अनेक रीतिसे नाश करते हैं। पाठक काम और क्रोधके समय अपने अन्दर देखेंगे, तो उनको स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोडने, मरोडने, खोदने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो वीर्य वही नष्ट करता है, क्रोधसे तो शुक्र-जीवनबिंदु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सब विकार तोडने मरोडने और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वयं द्विष्मः, तं अभि अतिसृजाम। (मं. ११५)
श्लोकं स्तनिं तनूदूषिं अतिसृजामि (मं. ११७)

'जिस रोगादिका और विविध दोषोंका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम दूर करते हैं। घातक खोदक और शरीरमें दाह बढानेवाले सब दोषोंको हम दूर करते हैं।' यह दोषोंको दूर करना इसीलिये है कि अध्यात्मक्षेत्रके सब दोष दूर हों और प्रसन्नता विराजे। इसी विषयमें और देखिये—

यत् वः घोरं तत् (अतिसृजामि)। (मं. ११८)
अरिप्राः आपः अस्मत् एनः प्रवहन्तु।
(मं. ११९-१०)

आप शिवया तन्वा मा उपस्पृशत। (म. १।१२)
इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चेत। (म. १।९)

'जो आपके अंदर भयंकर हानिकारक दोष हो उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरोंसे सब दोष और सब पापोंको दूर करे। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है। यह अत्यंत महत्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे उनको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका काम जलसे लिया है।

वा नीच होना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह अपनी मस्तिष्ककी शक्ति बढावे। (विधर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे धर्म तपस्यादिसे अपने अन्दर बढाने चाहिये। (उरुः चमसः) ये यज्ञपात्र हैं, यज्ञके सब साधनोंके उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञरूप जीवन होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। मनुष्य क्रतुरूप होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। मनुष्यको क्रतुरूप होना चाहिये। शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है। (धर्ता) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंको अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है। (धरुणः) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंको दुःख समुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको अपने अन्दर इतनी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

(वि-मोकः) विमोचन करनेवाला, मनुष्योंको मुक्त करनेवाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला, मनुष्योंको स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा, वही सबसे श्रेष्ठ समझना योग्य है। यही लोगोंका परित्राण, सज्जनोंकी रक्षा, दुर्जनोंका निर्दलन और धर्मकी स्थापना करनेका अर्थ है। (आर्द्र-पविः) पविका अर्थ है तलवार, खड्ग किंवा शस्त्र। शत्रुके रक्तसे जिसका शस्त्र गीला होता है अथवा शत्रुका नाश करनेके लिये जिसका शस्त्र आर्द्र अर्थात् गीला होनेके लिये सिद्ध है, उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है उसका यह नाम है। (आर्द्र-दानुः) आर्द्रता, स्नेहसे आर्द्रभावका जो दान करता है, जिसका मन स्नेहसे सदा आर्द्र रहता है, जो दयार्द्र रहता है उसका यह नाम है। (मातरिश्वा) अपनी माताके अन्दर जिसका आश्रय होता है, जो मातृभक्त है, मातृभूमिके अन्दर इसीलिये रहता है कि अपने जीवन समर्पणसे मातृभूमि की सेवा होवे, इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है॥

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंसे और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुष युक्त होते हैं वेही श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं हम इन गुणधर्मोंको धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है यह बात इसी सूक्तके मंत्र स्वयं कहते हैं—

आत्मा बृहस्पतिः नृमणः हृद्यः। (मं. ३।५)
विधर्मणा समुद्रः अस्मि। (मं. ३।६)
मर्त्येषु अमृतः सुधा। (मं. ४।२)

'आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फैला हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।' ये अपनी आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे—

असंतापं हृदयं। उर्वी गव्यूतिः। (मं. ३।६)

'हृदय संताप रहित अर्थात् शान्त होता है और गोनाम इंद्रियोंकी गति बडी विस्तृत होती है।' अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन होजाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह कैसे भी भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर होकर कार्य करता है कभी अशान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं यह उसका विश्वास उसको निडर करता है और महान् सत्कर्म उससे कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं—

सूर्यः ''वायुः'''अग्निः ''यमः'''सरस्वती'''पातु। (मं. ४४)

'सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं।' सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणीके स्थानमें, यम शिस्नस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषको इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आचुका है और वेदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये यह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि—

प्राणः मां मा हासीत्।
अपानः अवहाय मा परागात्। (मं. ४।१)

'मेरा प्राण और अपान मुझे छोडकर न दूर जावे।' यह

ऐसा इसलिये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि—

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। हाकरीः आपः स्वस्ति।
(मं ४।७)

'अपने प्राण और अपान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और जलके अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।' इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह दुष्ट कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उसका देवतारूप स्वरूप बनता है, वह सहजही गतिसे प्रशस्त कार्य करता है, उसको वैसे, कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्योंकि वह विश्वरूप बना होता है; इस समय वह अनुभव करता है कि—

अग्निः मे दक्षं। (मं. ४।७)

'अग्नि मुझमें बल धारण कराता है।' अन्य देव अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसका आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुआ होता है। ऐसा महात्मा धन्य है, वही प्रभावशाली नेता होसकता है और वही लोकसंग्रह करनेमें समर्थ होता है और यही मनुष्य जगत्को सच्चा मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनमें पडकर सडनेवालोंको बन्धननिवृत्तिका मार्ग बताते हैं।

स्वप्न।

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं वे ये हैं—

ग्राह्याः ...निर्ऋत्याः ...अभूत्याः ...निर्भूत्याः ...पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः। (मं. ५।१-८)

'रोग, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। ये दुष्ट स्वप्न मानो मृत्युका संदेश होते हैं। इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज घुसे हों, उनको दूर करनेका यत्न करे। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं उनका भी थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये। (ग्राही) मयानक रोग जो शरीरमें आनेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दुःख देते रहते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं। ऐसे रोग शरीरमें होनेपर बारंबार दुष्ट स्वप्न होते हैं अतः यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और नीरोग करना चाहिये। इस कार्यके लिये इसी काण्डमें पूर्वस्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है। (निर्ऋति) ऋतिका अर्थ है उन्नति, अभ्युदय, समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋतिका है। अवनति, अधःपात, क्षीणता और निर्बलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको कार्यमें लाना चाहिये। (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन और (निर्भूति) महासंकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, परतंत्र, पराधीन और परवश होना, इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रत्येकके लिये विभिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलंबनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी) देव नाम इंद्रियोंका है, अपने शरीरमें उनकी शक्तियां विविध हैं। इनकी न्यूनाधिकता से भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण संयमादिद्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष, निरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है वा रोगी है, सदाचारी है वा दुराचारी है, शुभ विचारवाला है वा अशुभ विचारवाला है इसका निश्चय होता है। मनुष्यको ऐसे स्वप्न आजाय तो अच्छा है— कि "मैं ईश्वर उपासना कर रहा हूं, ऋषिआश्रममें ऋषियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका समागम हो रहा है।" ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा बिलकुल स्वप्न ही न हुए तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिगाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है—

यस्मात् दुःष्वप्न्यात् अभैष्म तत् अप उच्छन्तु।
(मं ६।२)

"जिस दुष्टस्वप्नसे हमें भय होता है वह दुष्टस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे।" वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे। इस प्रकार अपने अन्दरकी निर्दोषता सिद्ध करनेसे ही वह निर्दोष मनुष्य कह सकता है कि—

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम
(मं ६।१)

"आज हमने विजय प्राप्त किया है, आज जो इच्छा मन की था वह प्राप्त किया है क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं।"

निष्पाप होनेसे ही सब प्राशस्त्य प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भास होता है वह केवल भासमात्र है। उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आग सप्तम सूक्तमें द्वेषोंको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। यह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह शत्रु अध्यात्म-भूमिकामें कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकती है।

विजय।

अष्टम सूक्तमें विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिक-धर्मीको कण्ठ करने योग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञ, पशवः, प्रजाः, वीराः ॥ (म. ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(**जितं**) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसे ही हो सकता है (**उद्भिन्नं**) यह अपने सब प्रकारके अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी सुघटना अपना शक्तिविकास, अपने अन्दरकी शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, यह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (**ऋतं**) ऋतका अर्थ है ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें टेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तो ही पूर्वोक्त विजय साध्य होगी। (**तेजः**) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं (**ब्रह्म**) सत्य ज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा। अनृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (**स्वः, स्वर्**) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्य लोक। (**यज्ञः**) देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे ही सबकी स्थिति और उन्नति होती है। (**पशवः**) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (**प्रजाः**) संतती, पुत्रपुत्री आदि, अथवा प्रजाजन। (**वीराः**) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गण हैं। पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस मन्त्रको कण्ठ करें और सायंप्रातः वे इस मंत्रमें ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उस प्रभुके पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चार ही वचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखने योग्य महत्त्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वाः अरातीः पृतनाः। (मं ९।२)

' अपनी विजय, अपने उदय और अपने शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य हम अपने अन्दर बढाते हैं। ' तथा—

पुण्या सुकृतस्य लोके मा धात्। (मं ९।२)

" ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे " ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध पूत और पवित्र बनूं। तथा—

स्व अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म ॥ (मं. ९।३)

" आत्माका तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें। " तथा—

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान् यज्ञः। वसु वंशिषीय (मं. ९।४)

" बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धनसे यज्ञ होता है, इसलिये यज्ञमें व्यय करनेके लिये मुझे धन चाहिये। "

ये सब चारोंक चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब काण्डका सार है। पाठक इनका मनन करेंगे तो उनको भी अत्यंत आनन्द होगा और इनके मननसे उनका भी आत्मा उन्नमित हो होगी।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे इस काण्डका मनन करके इस काण्डका जो उच्च भाव है वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपने, अपने समाजके, अपनी जातिके, और अपने राष्ट्रके विजय संपादनके कार्यमें कृतकृत्य होंगे।

॥ ब्रह्मविद्या-प्रकरण समाप्त ॥



ब्रह्मविद्या-प्रकरणके

सुभाषित

(अथर्व० ४।१)

१ ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् (१)- पूर्व समयमें सबसे प्रथम ब्रह्म प्रकट हुआ।

२ सीमतः सुरुचः वेन आवः- प्रकाशित मर्यादाओंसे ज्ञानीने उसे देखा।

३ सतश्च योनिमसतश्च वि वः- (वह ज्ञानी) सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको प्रकट करता है। सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको बताता है।

४ प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुः विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति (२)- जो विद्वान् इसका भाई है वह सब देवोंके जन्म कहता है।

५ ब्रह्म ब्रह्मणः उज्जभार मध्यात्- ब्रह्मके मध्यसे ब्रह्म प्रकट हुआ है।

६ नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्रतस्थौ- नीचेसे और ऊपरसे परमात्माकी अपनी निज धारक शक्ति प्रकट हुई।

७ स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्थाः (४)- वही द्युलोक और पृथिवीके सत्य नियमोंमें रहता है।

८ मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्- बडे द्युलोक और पृथिवीको उसने घरके समान स्थिर बनाया है।

९ महान् मही अस्कभायद्विजातः- महान् देवने प्रकट होकर बडे द्युलोकको स्थिर किया।

१० द्यां सद्म पार्थिवं रज- द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीको उसने विस्तृत घर जैसा बना दिया है।

११ बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् (५)- ज्ञानका स्वामी परमात्मा उस विश्वका सम्राट् है।

१२ स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं- प्रकट होनेसे पहिले वह चारों ओर व्याप्त हुआ।

१३ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः- ज्ञानी लोग तेजस्वी होकर विशेष रीतिसे निवास करें।

१४ नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम (६)- ज्ञानी निश्चयसे इस प्राचीन देवके महान् स्थानको जानता है।

१५ एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था- यह ज्ञानी इस तरह बहुजनोंके साथ रहता है।

१६ पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु- पूर्व दिशामें (आकाशमें सूर्य) प्रकाशके प्रकट होनेपर भी वे सोते रहे, (वे अज्ञानी पीछे रहेंगे।)

१७ अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात् (७)- अचचल सबके पिता, देवोंके भाई, ज्ञानपति परमेश्वरको प्रणाम करके जानें कि वह सबका पिता है।

१८ त्वं विश्वेषां जनिता असः- तू सबका उत्पादक है।

१९ कविः स्वधावान् देव न दभायत्- ज्ञानी तथा अपनी धारणाशक्तिसे युक्त देव कभी दबाया नहीं जाता।

(अथर्व० ५।६)

१ वीरान्नो अत्र मा दभन् (१)- हमारे वीरों, पुत्रोंको यहां दबाया न जाय।

२ तद्व एतत्पुरो दधे- यह सब तुम्हारे संमुख रखते हैं।

३ तस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णयः पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवे (३)- उस (ईश्वरके) पकडनेवाले पाशलिये हुए दूत आंखें बंद नहीं करते अपितु पद पद पर बांधनेके लिये पाश लेकर खडे रहते हैं।

निष्पाप होनेसे ही सब प्राप्तव्य प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भास होता है वह केवल *भासमात्र है।* उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषादि दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। यह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह शत्रु अध्यात्म-भूमिकामें कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकती है।

विजय।

अष्टम सूक्तमें विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिक-धर्मीको कण्ठ करने योग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञः, प्रशवः, प्रजाः, वीराः ॥ (मं. ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(**जितं**) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसे ही हो सकता है (**उद्भिन्नं**) यह अपने सब प्रकारके अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी संघटना अपना शक्तिविकास, अपने अन्दरकी शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रु पर संपादन किया जाता है, यह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (**ऋतं**) ऋतका अर्थ है ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें टेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तो ही पूर्वोक्त विजय साध्य होगी। (**तेजः**) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं (**ब्रह्म**) सत्य ज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा। अनृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (**स्वः, स्वर्**) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्य लोक। (**यज्ञः**) देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे ही सबकी स्थिति और उन्नति होती है। (**पशवः**) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (**प्रजाः**) संतती, पुत्रपुत्री आदि, अथवा प्रजाजन। (**वीराः**) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब *विजयके सहचारी गण हैं। पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे* इस मंत्रको कण्ठ करें और सायंप्रातः वे इस मंत्रमें ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उस प्रभुके पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चार ही वचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखने योग्य महत्त्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वाः अरातीः पृतनाः। (मं. ९।२)

'*अपनी विजय, अपने उदय और अपने शत्रुकी सब सेना*-ओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य हम अपने अन्दर बढाते हैं।' तथा—

पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्। (मं. ९।२)

"ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे" ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध पूत और पवित्र बनूं। तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म ॥ (मं. ९।३)

"आत्माका तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें।" तथा—

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान् यज्ञः। वसु वंशिषीय (मं. ९।४)

"बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धनसे यज्ञ होता है, इसलिये यज्ञमें व्यय करनेके लिये मुझे धन चाहिये।"

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब काण्डका सार है। पाठक इनका मनन करेंगे तो उनको भी अत्यंत आनंद होगा और इनके मननसे उनका भी आत्मा उन्नोधित ही होगी।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे इस काण्डका मनन करके इस काण्डका जो उच्च भाव है वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपने, अपने समाजके, अपनी जातिके, और अपने राष्ट्रके विजय संपादनके कार्यमें कृतकृत्य होंगे।

॥ ब्रह्मविद्या–प्रकरण समाप्त ॥

१५ दूरे पूर्णेन वसति, दूर ऊनेन हीयते (१५)- पूर्णतासे दूर रहता है, पर वह न्यूनतासे रहित होता है ।

१६ महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति- *बड़ा पूजनीय देव भुवनके मध्यमें है, उसके लिये* राष्ट्रसेवक अपनी बलि अर्पण करते हैं ।

१७ यतः सूर्य उदेति अस्तं यत्र च गच्छति, तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन (१६)- *जहांसे सूर्य उदित होता है और जहां अस्तको चला जाता है,* वही श्रेष्ठ है ऐसा मैं मानता हूं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता ।

१८ ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति (१७)- जो इधरके मध्यके वा पुराने वेदके विद्वानकी चारों ओरसे प्रशंसा गाते हैं ।

१९ स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा- वह सब देवोंको अपनी छातीपर लेकर सब भुवनोंका निरीक्षण करता हुआ संचार करता है ।

२० सत्येन ऊर्ध्वस्तपति, ब्रह्मणाऽर्वाङ् विपश्यति (१९)- सत्यसे ऊपर तपता है, ज्ञानसे नीचे देखता है ।

२१ प्राणेन तिर्यङ् प्राणति, यस्मिन् ज्येष्ठमधिश्रितम्- प्राणसे तिरछा प्राण लेता है जिसमें ज्येष्ठ ब्रह्म रहता है ।

२२ स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत, स विद्याद्ब्राह्मणं महत् (२०)- वह विद्वान् ज्येष्ठ ब्रह्मको जानता है, वह निःसंदेह बडे ब्रह्मको जानता है ।

२३ शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टं (२४)- *सौ, हजार, दस हजार, लाख* अथवा असंख्य स्वप्रकाश इसमें रहते हैं ।

२४ तदस्य घ्नन्ति अभिपश्यत एव, तस्माद्देवो रोचत एष एतत्- इसके देखते देखते ही वह शक्ति आघात करती है, जिससे यह देव इस प्रकाशको प्रकाशित करता है ।

२५ बालादेकमणीयस्कं, उतैकं नैव दृश्यते (२५)- बालसे भी सूक्ष्म एक है, और दूसरा दीखता ही नहीं है ।

२६ ततः परि ष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया- उससे दोनों ओर आलिंगन देनेवाली देवता है, वह मुझे प्रिय है ।

२७ इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे, यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः (२६)- यह कल्याण करनेवाली जरा रहित, मर्त्यके घर अमर शक्ति है, जिसके लिये वह की जाती है वह सोता है, जो करता है वह पूर्ण आयुतक रहता है ।

२८ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी, *त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि* विश्वतो मुखः (२७)- तू स्त्री है और तू पुरुष भी है, तू कुमार है और कुमारी भी है, तू वृद्ध होकर दण्ड हाथमें लेकर जाता है, तू प्रकट होकर सब ओर मुख करनेवाला होता है ।

२९ उतैषां पितोत वा पुत्र एषां, उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः, एको ह देवो मनसि प्रविष्टः, प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः (२८)- *तू उनका पिता है और उनका पुत्र है, उनसे ज्येष्ठ है और कनिष्ठ भी है, मनमें प्रविष्ट* होकर रहनेवाला यह एक देव है, वह प्रथम उत्पन्न हुआ और फिरसे वह गर्भमें आया है ।

३० पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते (२९)- पूर्णसे पूर्णका उदय होता है, पूर्ण ही पूर्णके द्वारा सींचा जाता है ।

३१ उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते- आज हम वह जानें कि जहांसे वह सींचा जाता है ।

३२ *एषा सनत्नी, सनमेव जाता, एषा पुराणी परि सर्वं बभूव* (३०)- *यह सनातन शक्ति सनातन* कालसे है, यह पुरानी शक्ति सबको घेर रही है ।

३३ मही देवी उषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता *विचष्टे*- यह बडी देवी, उषाओंको प्रकाश देती है, और प्रत्येक प्राणीके साथ रहती है ।

३४ अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता, तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः (३१)- रक्षण करनेवाली वह देवता ऋतसे घेरी हुई है उसके रूपसे ये वृक्ष हरे और हरे पत्तोंवाले हुए हैं ।

३५ *अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति,* पश्य देवस्य काव्यं *न ममार न जीर्यति* (३२)- समीप होनेसे वह छोडता नहीं, समीप होनेके कारण वह देखता नहीं, देवका यह काव्य देखो जो नही मरता और न जीर्ण होता है ।

३६ *अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।* वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुः ब्राह्मणं महत् (३३)- जिसके पूर्व कोई नहीं उससे प्रेरित हुई ये वाचाएं हैं, ये यथायोग्य वर्णन करती हैं, बोलती हुई जहां पहुंचती हैं वह बडा ब्रह्म है ऐसा कहते हैं ।

४ द्विषः अर्णवेन अधि ईयसे (४)- रुद्र शत्रुपर समुद्रसे चढाई करते हैं ।

५ सनिष्यसो नामासि- चढाई करनेमें कुशल इस अर्थका नाम तुम्हारा है ।

६ तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशवौ सोमारुद्राविह सुमृडत नः (५)- तीक्ष्ण आयुधवाले, तीक्ष्ण शस्त्रवाले, उत्तम सेवनीय सोम और रुद्र यहां हमें सुखी करें ।

७ मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्यात् (८)- हमें निंद्य पापसे मुक्त करो ।

८ अमृतमस्मासु धत्तं- हमारेमें अमरत्व स्थापित करो ।

९ जुषेथा यज्ञं- यज्ञका सेवन करो । (यज्ञ-ज्ञानियोंका सत्कार, संघटन और दुर्बलोंके लिये सहाय्य करना ये कार्य जिसमें होते हैं ।)

१० अमेनयस्ते सन्तु येऽस्मानभ्यघायन्ति (९)- जो हमें सताते हैं वे शस्त्रहीन हो जांय ।

११ योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च अघायुरभिदासात्, त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु (१०)- जो हमें आंख, मन, चित्त और संकल्पसे दास बनानेका यत्न करता है, हे अग्ने ! तू अपने शस्त्रसे उसे शस्त्रहीन कर ।

१२ इन्द्रस्य गृहोऽसि (११)- तू इन्द्रका घर है ।

१३ इन्द्रस्य शर्मासि (१२)- तू इन्द्रका आश्रय स्थान है ।

१४ इन्द्रस्य वर्मासि (१३)- तू इन्द्रका कवच है ।

१५ इन्द्रस्य वरूथमसि (१४)- तू इन्द्रका रक्षक है ।

१६ तं त्वा प्रपद्ये, तं त्वा प्रविशामि, सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा, सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन- उस तुमको प्राप्त होता हूं, तुममें प्रविष्ट होता हूं, सब गति, सब पुरुष शक्ति, सब आत्मिक और शारीरिक बलके साथ, जो कुछ मेरा है उसके साथ, मैं तुझे प्राप्त होता हूं ।

(अथर्व० १०।८)

१ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति, स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (१)- जो भूत भविष्य सबका अधिष्ठाता है, जिसका प्रकाशमय स्वरूप है उस श्रेष्ठ ब्रह्मको मेरा नमस्कार है ।

२ आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदं, तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत्प्रतिष्ठितम् (६)- गुहामें संचार करनेवाला जो महत् पद है, वह पासमें भी प्रकट है, कांपनेवाला, प्राणवाला जो है, वह सब उसमें प्रतिष्ठित है ।

३ अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यदस्यार्धं क तद्बभूव (७)- अपने आधे भागसे उसने सब भुवनका निर्माण किया, और दूसरा आधा भला कहां रहा ?

४ अयातमस्य दद्दशे न यातं, परं नेदीयोऽवरं दवीयः (८)- इसका न चलना दीखता है, परंतु इसकी गति दीखती नहीं है, इसका दूरका भाग समीप है, पर जो पास है वह बहुत दूर है ।

५ तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपं (९)- तिरछा मुखवाला कलश ऊपरका भाग नीचे करके उलटा रखा हुआ है, उसमें विश्वरूप यश रखा है । (मस्तिष्क = विश्वरूप यश है)

६ तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः - उसमें सात ऋषि साथ साथ रहते हैं जो इस महानके रक्षक होते हैं । (सात ऋषि- दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख)

७ या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः (१०)- जो शक्ति आगे और पीछेसे तथा सब ओरसे चलाती है, वह बडी शक्ति है ।

८ यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत् , तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्सं भूय भवत्येकमेव (११)- जो कांपता, गिरता, स्थिर रहता, जो प्राण धारता है, जो प्राणरहित है जो निमेषोन्मेष करता है जो होता है, उसने पृथिवीको धारण किया, वही विश्व रूप है, वह सब मिलकर एक ही होता है ।

९ अनन्तं विततं पुरुत्रा (१२)- अनन्त चारों ओर फैला है ।

१० अनन्तं अन्तवच्च समन्ते- अनन्त और अन्तवाला ये दोनों मिले हुए हैं ।

११ ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् , विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य- इस भूत भविष्यका ज्ञाता और उसका विचार करनेवाला स्वर्गरक्षक होकर विचरता है ।

१२ प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर् अदृश्यमानो बहुधा विजायते (१३)- अदृश्य प्रजापालक गर्भके अन्दर संचार करता है और बहुत प्रकारसे उत्पन्न होता है ।

१३ अर्धेन विश्वं भुवनं जजान, यदस्यार्धं कतमः स केतुः - आधेसे सब भुवन उत्पन्न किया, और जो इसका आधा भाग रहा उसका क्या चिन्ह है ?

१४ पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा, न सर्वे मनसा विदुः (१४)- सब आंखसे देखते हैं, पर सब मनसे जानते नहीं हैं ।

१५ दूरे पूर्णेन वसति, दूर ऊनेन हीयते (१५)- पूर्णतासे दूर रहता है, पर वह न्यूनतासे रहित होता है।

१६ महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति- बडा पूजनीय देव भुवनके मध्यमें है, उसके लिये राष्ट्रसेवक अपनी बलि अर्पण करते हैं।

१७ यतः सूर्य उदेति अस्तं यत्र च गच्छति, तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन (१६)- जहांसे सूर्य उदित होता है और जहां अस्तको चला जाता है, वही श्रेष्ठ है ऐसा मैं मानता हू, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता।

१८ ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति (१७)- जो इधरके मध्यके वा पुराने वेदके विद्वानकी चारों ओरसे प्रशंसा गाते हैं।

१९ स देवान्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा- वह सब देवोंको अपनी छातीपर लेकर सब भुवनोंका निरीक्षण करता हुआ संचार करता है।

२० सत्येन ऊर्ध्वस्तपति, ब्रह्मणाऽर्वाङ् विपश्यति (१९)- सत्यसे ऊपर तपता है, ज्ञानसे नीचे देखता है।

२१ प्राणेन तिर्यङ् प्राणति, यस्मिन् ज्येष्ठमधिश्रितम्- प्राणसे तिरछा प्राण लेता है जिसमें ज्येष्ठ ब्रह्म रहता है।

२२ स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत, स विद्याद्ब्राह्मणं महत् (२०)- वह विद्वान् ज्येष्ठ ब्रह्मको जानता है, वह निःसंदेह बडे ब्रह्मको जानता है।

२३ शतं सहस्रं अयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वं अस्मिन् निविष्टं (२४)- सौ, हजार, दस हजार, लाख अथवा असंख्य स्वप्रकाश इसमें रहते हैं।

२४ तदस्य घ्नन्ति अभिपश्यत एव, तस्माद्देवो रोचत एष एतत्- इसके देखते देखते ही वह शक्ति आघात करती है, जिससे यह देव इस प्रकाशको प्रकाशित करता है।

२५ बालादेकमणीयस्क, उतैकं नैव दृश्यते (२५)- बालसे भी सूक्ष्म एक है, और दूसरा दीखता ही नहीं है।

२६ ततः परि ष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया- उससे दोनों ओर आलिंगन देनेवाली देवता है, वह मुझे प्रिय है।

२७ इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे, यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः (२६)- यह कल्याण करनेवाली जरा रहित, मर्त्यके घर अमर शक्ति है, जिसके लिये वह की जाती है वह सोता है, जो करता है वह पूर्ण आयुतक रहता है।

२८ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी, त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः (२७)- तू स्त्री है और तू पुरुष भी है, तू कुमार है और कुमारी भी है, तू वृद्ध होकर दण्ड हाथमें लेकर जाता है, तू प्रकट होकर सब ओर मुख करनेवाला होता है।

२९ उतैषां पितोत वा पुत्र एषां, उतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः, एको ह देवो मनसि प्रविष्टः, प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः (२८)- तू उनका पिता है और उनका पुत्र है, उनसे ज्येष्ठ है और कनिष्ठ भी है, मनमें प्रविष्ट होकर रहनेवाला यह एक देव है, वह प्रथम उत्पन्न हुआ और फिरसे वह गर्भमें आया है।

३० पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते (२९)- पूर्णसे पूर्णका उदय होता है, पूर्ण ही पूर्णके द्वारा सींचा जाता है।

३१ उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते- आज हम वह जानें कि जहांसे वह सींचा जाता है।

३२ एषा सनत्नी, सनमेव जाता, एषा पुराणी परि सर्वं बभूव (३०)- यह सनातन शक्ति सनातन कालसे है, यह पुरानी शक्ति सबको घेर रही है।

३३ मही देवी उषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता विचष्टे- यह बडी देवी, उषाओंको प्रकाश देती है, और प्रत्येक प्राणीके साथ रहती है।

३४ अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता, तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः (३१)- रक्षण करनेवाली वह देवता ऋतसे घेरी हुई है उसके रूपसे ये वृक्ष हरे और हरे पत्तोंवाले हुए हैं।

३५ अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति, पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति (३२)- समीप होनेसे वह छोडता नहीं, समीप होनेके कारण वह देखता नहीं, देवका यह काव्य देखो जो नहीं मरता और न जीर्ण होता है।

३६ अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्। वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् (३३)- जिसके पूर्व कोई नहीं उससे प्रेरित हुई ये वाचाएं हैं, ये यथायोग्य वर्णन करती हैं, बोलती हुई जहां पहुंचती हैं वह बडा ब्रह्म है ऐसा कहते हैं।

३७ यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः, अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् (३४)- जहां देव और मनुष्य, नाभिमें आरे जैसे आश्रित रहते हैं, आप तत्वके फूलको मैं पूछता हूं जहां वह मायासे आच्छादित होकर रहता है ।

३८ इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव (३६)- इनमेंसे एक पृथिवीपर रहता है, एक अन्तरिक्षको व्यापता है ।

३९ दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रतिरक्षन्त्येके- इनमें जो विशेष धारक हैं वे द्युलोकको धारण करते हैं, और सब दिशाओंका रक्षण करते हैं ।

४० यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः, सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद्ब्राह्मणं महत् (३७)- जिसमें सब प्रजाएं पिरोयी हैं उस सूत्रको जो जानता है, सूत्रके सूत्रको जो जानता है, वह बडे ब्रह्मको जानता है ।

४१ वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद्ब्राह्मणं महत् (३८)- मैं इस सूत्रको जानता हूं जिसमें सब प्रजाएं पिरोई हुई हैं, सूत्रके सूत्रको भी मैं जानता हूं और बडे ब्रह्मको भी मैं जानता हूं ।

४२ निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा, इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् (४२)- सत्यके धर्मसे युक्त सविता देवके समान सब धनोंका देनेवाला और निवास हेतु जो है, वह धनोंके युद्धमें इन्द्रके समान स्थिर रहता है ।

४३ पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतं, तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः (४३)- नव द्वारोंवाला कमल तीन गुणोंसे घेरा हुआ है, उसमें जो आत्मवान् पूज्य देव है, उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।

४४ अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः (४४)- निष्काम, धीर, अमर स्वयंभू रससे संतुष्ट वह परम रमा है वह कहीं भी न्यून नहीं है ।

४५ तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्- उसको जाननेवाला मृत्युसे डरता नहीं, जो धीर अमर और युवा है ।

(अथर्व० ११।७)

१ उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः (१)- ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट आत्मामें नाम रूप और लोक रह रहे हैं ।

२ उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितं- ऊर्ध्वभागमें अवशिष्ट आत्मामें इन्द्र अग्नि और सब विश्व समाया हुआ है ।

३ उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् (२)- ऊर्ध्वभागमें अवशिष्ट आत्मामें द्यु, पृथिवी सब जो बना है वह समाया हुआ है ।

४ सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ (३)- सत् और असत् दोनों उच्छिष्टमें रहते हैं ।

५ नाभिमिव सर्वतश्चक्रं उच्छिष्टे देवताः श्रिताः (४)- नाभिके आश्रयसे जैसे चक्र रहता है, वैसे उच्छिष्टके आश्रयसे सब देवता रहते हैं ।

६ नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधिश्रिता दिवः (१४)- नव भूमियां, सब समुद्र और द्युलोक भी उच्छिष्टके आश्रयसे रह रहे हैं ।

७ आ सूर्यो भात्युच्छिष्टे- सूर्य उच्छिष्टके आश्रयसे प्रकाशता है ।

८ स क्षियति विश्वस्येशानः- वह विश्वका ईश्वर सर्वत्र निवास करता है ।

९ ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च, भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले (१७)- ऋत सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, कर्म, धर्म, भूत भविष्य, वीर्य, लक्ष्मी बलिष्ठमें रहनेवाला बल यह सब उच्छिष्टमें रहता है ।

१० समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः । संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः (१८)- समृद्धि, शक्ति, संकल्प, क्षात्रबल, राष्ट्र, छः भूमियां, संवत्सर, अन्न, यज्ञ हवि सब उच्छिष्टमें रहते हैं ।

११ अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिताः (२१)- मेघ, विद्युत्, वृष्टि यह सब उच्छिष्टके आश्रयसे हैं ।

१२ राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिः व्याप्तिर्मह एधतुः, अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिः चाहिता निहिता हिता (२२)- सिद्धि, प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्व, वृद्धि, अतिप्राप्ति, ऐश्वर्य यह सब उच्छिष्टमें रहते हैं ।

१३ यश्च प्राणति प्राणेन यश्च पश्यति चक्षुषा, उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः (२३)- जो प्राणसे प्राणव्यापार करता है, जो आंखसे देखता है वे सब द्युलोकके आश्रयमें रहनेवाले देव उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए ।

१४ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह, उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (२४)- ऋचा, साम, छन्द, पुराण यजुके साथ यह सब उच्छिष्टसे उत्पन्न हुआ है।

१५ प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं अक्षितिश्च क्षितिश्च या उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (२५)- प्राण अपान, आंख कान, अभौतिक और भौतिक यह सब उच्छिष्टसे उत्पन्न हुआ है।

१६ आनन्दा मोदाः प्रमुदो अभीमोदमुदश्च ये, उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (२६)- आनन्द, मोद, प्रमोद, प्रलग्न आनंद यह सब उच्छिष्टसे उत्पन्न होता है।

१७ देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः (२७)- देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा यह सब उच्छिष्टसे हुए हैं, तथा जो देव द्युलोकमें रहते हैं वे भी उसीसे प्रकट हुए हैं।

(अथर्व० ७।६६)

१ तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु (१)- वह ब्रह्मज्ञान पुनः हमारे पास आ जाय।

(अथर्व० २।१)

१ वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यत्, यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् (१)- ज्ञानी उसको देखता है, जो गुहामें परम स्थानमें रहता है और जिसमें सब विश्व एक रूप होता है।

२ प्रतद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् (२)- जो हृदयकी गुहामें है उसमें रहनेवाले अमृतके श्रेष्ठ तत्वके विषयमें ज्ञानी ही कह सकता है।

३ त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्- इसके तीन पांव हृदयकी गुहामें हैं वे जो जानता है। वह पिताका पिता होता है।

४ स नः पिता जनिता स उत बन्धुः (३)- वह हमारा पिता है, जनक है और वह बन्धु भी है।

५ धामानि वेद भुवनानि विश्वा - वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है।

६ यो देवानां नामधा एक एव- सब देवोंके नाम धारण करनेवाला वह एक ही है।

७ तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा- उस उत्तम प्रकारसे प्रश्न पूछने योग्य परमात्माके समीप सब भुवन जाते हैं।

८ परिद्यावा पृथिवी सद्य आयं उपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य (४)- सब द्यावापृथिवी घूमकर ऋतके प्रथम प्रवर्तकके पास मैं पहुंचा हूं।

९ भुवनेष्ठा धास्युरेषः- यह भुवनोंमें रहनेवाला सबका आधार है।

१० परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् (५)- सब भुवनोंमें मैं घूमा और सर्वत्र फैला हुआ ऋतका धागा मैंने सुखदायक रूपमें देखा।

११ यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त- सब देव अमृतका स्वीकार करते हुए इस समान उत्पत्ति स्थानमें रहते हैं।

(अथर्व० २।२)

१ दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः (१)- दिव्य आधार भुवनोंका एक स्वामी जगत्में एक ही नमस्कारके योग्य परमेश्वर है।

२ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव, नमस्ते अस्तु, दिवि ते सधस्थ- उस तुझको ज्ञानके द्वारा मैं मिलता हूं, हे दिव्य देव, तुझे नमस्कार हो, तेरा स्थान द्युलोकमें है।

३ दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वक् अवयाता हरसो दैव्यस्य (२)- द्युलोकमें प्राप्त होनेवाला, पूज्य, सूर्यके समान तेजस्वी और दिव्य आपत्तिको दूर करनेवाला वह है।

४ मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पति एक एव नमस्यः सुशेवाः- जो भूमिका आधार, भुवनोंका एक स्वामी, एक ही नमस्कारके योग्य, और उत्तम सेवा करने योग्य है, वह सबको आनंद देवे।

(अथर्व० १।३२)

१ इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति (१)- लोगों ! यह जानो कि वह बडे ब्रह्मके विषयमें कहेगा।

२ न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः- वह पृथिवीपर नहीं, न द्युलोकमें है, जिससे वनस्पतियां प्राण प्राप्त करती हैं।

(अथर्व० ६।१)

१ दोषो गाय, बृहद् गाय, द्युमद्धेहि (१)-रात्रीके समय भजन कर, बहुत भजन कर, तेजस्वी देवकी धारणा कर।

२ आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्- हे आथर्वण ! सविता देवका स्तवन कर। (सविता-अपनेमेंसे सबका प्रसव करनेवाला देव)

३ तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः (२)- उसीकी स्तुति कर जो इस महान् समुद्रमें प्रेरणा देनेवाला देव है।

४ सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्— सत्यके प्रेरक, युवा, उत्तम सेवा करने योग्य द्रोहरहित भाषण करनेवालेकी स्तुति कर।

५ स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि, उभे सुष्टुती सुगातवे (३)- वही सर्व प्रेरक देव, दोनों प्रकारकी स्तुति करने योग्य, उत्तम मार्गपरसे हम जाय इसलिये बहुत अमृत जैसे सुख देता है।

(अथर्व० ७।४०)

१ यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे, यस्य व्रतं उपतिष्ठन्त आपः, यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे (१)- सब पशु जिसके नियमसे चलते हैं, जिसके नियममें जलप्रवाह चल रहे हैं, जिसके नियममें पोषण कर्ता निवास करता है, उस अमृतरसवाले देवकी अपने रक्षणके लिये हम प्रार्थना करते हैं।

२ आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वांसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठां, रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् (२)- दाताको दान देनेवाले, पुष्टि करनेवाले, जीवनरसवाले, ऐश्वर्यवान्, धनसे पोषण करनेवाले, धनोंके आश्रय ऐसे परमात्मा देवकी यहां रहनेवाले हम प्रार्थना करते हैं।

(अथर्व० १।२०)

१ अ-दार-सृद् भवतु देव सोम (१)- हे सोमदेव! आपसमें फूट न हो।

२ अस्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता न - हे मरुतो! इस यज्ञमें हमें सुखी रखो।

३ मा नो विददभिभा मो अशस्तिः- पराभव हमारे पास न आवे और अकीर्ति हमें प्राप्त न हो।

४ मा नो विदद्वृजिना द्वेष्या या- पापी और द्वेष करनेवाले हमें प्राप्त न हों।

५ यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते, युवं तं मित्रावरुणौ, अस्मद्यावयत परि (२)- जो आज पापियोंकी सेनासे वध हो रहा है, हे मित्र और वरुण! तुम उससे हमें दूर रखो।

६ इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय (३)- हे वरुण! यहांसे और वहांसे जो वध हो उसको हमसे दूर कर।

७ वि महच्छर्म यच्छ- बडा सुख हमें दे।

८ वरीयो यावया वधं- शस्त्रको हमसे दूर कर।

९ शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः (४) इस तरह तू महान शासक है, शत्रुओंका पराभव करनेवाला और सदा अपराजित है।

१० न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन- जिसका मित्र कभी मारा नहीं जाता और पराजित भी नहीं होता।

(अथर्व० ६।३६)

१ ऋतावानं वैश्वानरं ऋतस्य ज्योतिषस्पतिं, अजस्रं घर्ममीमहे (१)- सत्ययुक्त सत्य प्रकाशके स्वामी, निरंतर प्रकाशवाले, सब विश्वके नेता यज्ञस्वरूप ईश्वरकी हम प्राप्ति हो ऐसी इच्छा करते हैं।

२ स विश्वा प्रति चाक्लृपे, ऋतूंरुत्सृजते वशी, यज्ञस्य वय उत्तिरन् (२)- वह सबको सामर्थ्यवान् बनाता है, वह वशमें रखनेवाला ऋतुओंको उत्पन्न करता है, और यज्ञके लिये उत्तम अन्न तैयार करता है।

३ अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य सम्राडेको विराजति (३)- भूत भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जगत्की कामना पूर्ण करनेवाला, एक सम्राट् अग्नि, दूर-रके स्थानोंमें विराजता है।

(अथर्व० ७।२४)

१ तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् (१)- सत्य धर्मका पालक, सब जगत्का उत्पन्न करनेवाला, प्रजापति अनुकूल मतिवाला होकर, हमें सुख देवे।

(अथर्व० ७।२५)

१ ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यो वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ...

१ यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः, पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः (१)- दिशा उपदिशाओंमें जो प्रकाशता है, जो प्राण धारण करता है, उस देवके धर्मसे, बलोंसे तथा शक्तियोंसे जो देखा जाता है, उस व्यापक श्रेष्ठ देवको सबसे प्रथम प्रार्थना करनेवाला होकर मैं उसे प्राप्त करता हूं।

(अथर्व० ४।११)

१ अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् (१)- बैलने (सामर्थ्यवान् ईश्वरने) पृथिवी और द्युलोकका धारण किया है।

२ अनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम्- बैलने (समर्थ ईश्वरने) विशाल अन्तरिक्षको धारण किया है।

३ अनड्वान् दाधार प्रदिशःषडुर्वीः - ईश्वरने चारों दिशाओंको धारण किया है।

४ अनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश- ईश्वर सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है।

५ भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति

व्रतानि (२)- भूत भविष्य और वर्तमानकालके सब पदार्थोंका निर्माण करता हुआ वह देवोंके सब व्रतोंको चलाता है।

६ इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तः, घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः (३)- इन्द्र मनुष्योंके अन्दर प्रकट हुआ है, तपनेवाले सूर्यके समान प्रकाशता हुआ वह चलता है।

७ सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयाद-नडुहो विजानन्- इस संचालकको जानता हुआ, जो अपने कामके लिये भोग नहीं भोगता, वह उत्तम प्रजावान् होकर देहपातके पश्चात् इधर उधर नहीं भटकता है।

८ अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोके- यह सर्वाधार ईश्वर पुण्यलोकमें फल देता है।

९ यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञ· (५)- यज्ञपति इसका स्वामी नहीं है न यज्ञ इसका स्वामी है।

१० नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता- दाता अथवा दान लेनेवाला इसका स्वामी नहीं है।

११ यो विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा- वह विश्वधारक, विश्वपोषक, और विश्वकर्मा है।

११ येन देवाः स्वरारुरुहु, हित्वा शरीरं, अमृतस्य नाभिम् (६)- जिसकी सहायतासे देव शरीर त्याग करके अमृतके केन्द्ररूप आत्मीय प्रकाशके स्वर्गीय स्थानपर चढे।

१२ इन्द्रो रूपेणाग्निः, वहेन प्रजापतिः, परमेष्ठी विराट् (७)- इन्द्र अपने रूपसे अग्नि हुआ है, सब विश्वको उठानेसे प्रजापति, परमेष्ठी और विराट् बना है।

१३ सोऽदृंहयत, सोऽधारयत- वह सबको दृढ करता है, वही सबको धारण करता है।

(अथर्व० ४।१६)

१ बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति (१)- इनका बडा अधिष्ठाता समीपसे देखनेके समान सबको देखता है।

२ स तायन्, मन्यते चरन्, सर्वं देवा इदं विदुः वह फैलता है, (पालन करता है,) सब जानता है संचार करता है, देवजन यह सब जानते हैं।

३ यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् (२)- जो खडा रहता है, जो चलता है, जो ठगता है, जो गुप्त रीतिसे व्यवहार करता है, जो खुली रीतिसे कार्य करता है।

४ द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः- दो जन एक साथ बैठकर जो मंत्रणा करते हैं, उन सबको तीसरा वरुण राजा जानता है।

५ उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः, उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता (३)- यह भूमि वरुण राजाकी है और यह सुन्दर द्यु है वह बडा द्यु भी उसीकी है।

६ उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी, उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः— ये समुद्र उस वरुणकी कोखें हैं, पर वह इस अल्प उदकमें निलीन है।

७ उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः (४)- जो इस द्युलोकके परे भी चला जाय, पर वह इस वरुण राजाके शासनसे छूट नहीं सकता।

८ दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति-पश्यन्ति भूमिम्— इस दिव्य देवके दूत इस जगत्में संचार करते हैं, वे हजार आंखोंसे भूमिको देखते हैं।

९ सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् (५)- वरुण राजा इस सबको देखता है जो द्यावाभूमिके अन्दर और परे है।

१० संख्याता अस्य निमिषो जनानां अक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि— लोकोंके निमेष इसने गिने हैं, जैसे जुआडी पासोंको गिनता है।

११ ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः, छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं, यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु (६)- जो सात सात तीन प्रकारसे बांधे हुए तेरे विनाशक पाश हैं, वे असत्यवादीको छिन्नभिन्न करें, जो सत्यवादी है उसको छोड देवें।

१२ शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनम् (७)- हे परमेश्वर! सौ पाशोंसे इसको बांध ले।

१३ मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः— हे मनुष्योंको देखनेवाले! तेरेसे असत्यवादी न छूटें।

१४ आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा, कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः— दुष्ट अपने पेटको गिराकर, न बंधे कोशके समान कटा हुआ पडा रहे।

(अथर्व० ५।२)

१ तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम् (१)- वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म है।

२ सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून्— तत्काल ईश्वर प्रकट होते ही शत्रुका नाश करता है।

३ अनु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः— इसको प्राप्त करके सब संरक्षक हर्षित होते हैं।

४ यातुधानः शवसा भूयोजाः शत्रुः दासाय

भियसं दधाति (२)- बलसे बढनेवाला महाबलवान् शत्रु दासको ही भय दिखाता है।

५ अध्वनश्च व्यनश्च सश्चि- प्राणवाला और प्राण रहित साथ रहता है।

६ सं ते नमन्त प्रभृता मदेषु- वे परिपुष्ट होकर आनन्दसे प्रभुकी स्तुति करते हैं।

७ त्वा घना जयन्तं रणे रणे अनुमदन्ति विप्राः (४)- प्रत्येक युद्धमें धनको जीतनेवाले तुझको प्राप्त करके ज्ञानी अनुमोदित होते हैं।

८ ओजीयः शुष्मिन्स्थिरमा तनुष्व- हे बलवान्! स्थिर बलको फैला।

९ मा त्वा दमन् दुरेवासः कशोकाः- दुराचारी शोक करनेवाले तुझे न दबावें।

१० त्वया वयं शाशद्महे रणेषु (५)- हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका नाश करें।

११ प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि- बहुत युद्धोंको देखते हैं।

१२ चोदयामि त आयुधा वचोभिः- तेरे आयुधोंको वचनोंसे प्रेरित करते हैं।

१३ स ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि- तेरी गतियोंको ज्ञानसे तीक्ष्ण करता हूं।

१४ स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्मानं समृभ्वाणं इनतमं आप्तमं आप्त्यानां (७)- हे बलवान्! बहुत मार्गवाले, बहुत तेजस्वी, श्रेष्ठ और आप्तोंमें आप्तकी स्तुति कर।

१५ आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः- महाबलवान् बलसे आदर्श होता है और भूमिकी समानताको प्राप्त होता है। (भूमिके समान सबका आधार होता है।)

१६ महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चित् विश्वं अर्णवत्तपस्वान् (८)- वह बडे गोरक्षक राष्ट्रका स्वाधीन राजा होकर रहता है, वेगवान्‌ तपस्वी निःसंदेह विश्वमें संचार करता है।

अथर्व (५।११)

१ न कामेन पुनर्मघो भवामि (२)- केवल इच्छासे ही पुनः धनवान् मैं नहीं होता हूं।

२ सत्यमहं गभीरः (३)- मैं गंभीर हूं यह सत्य है।

३ काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः- यह सत्य है कि काव्यके उत्पन्न होनेसे ही मैं जातवेदा कहलाता हूं।

४ न मे दासो नार्यो, महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये- जो नियम मैं महत्वसे धारण करता हूं उसको न आर्य और नाहीं दास तोड सकता है।

५ न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावान् (४)- हे वरुण! तू अपनी धारणा शक्तिसे युक्त है, तुझसे श्रेष्ठ ज्ञानी कोई नहीं है, बुद्धिसे अधिक धीरवीर भी कोई नहीं है।

६ त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ- तू सब भुवनोंको जानता है।

७ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय- वह कपटी मनुष्य ही तुझसे डरता है।

८ त्वं ह्यंग वरुण स्वधावान् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते (५)- हे उत्तम नीतिमान् प्रिय वरुण! तू स्वकीय धारणा शक्तिवाला है, और तू सब जन्मोंको जानता है।

९ किं रजस एना परो अन्यदस्ति- क्या इस प्रकृतिके परे दूसरा कुछ है?

१० एकं रजस एनापरो अन्यदस्ति (६)- इस रजो लोकके परे एक तत्त्व है।

११ एना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक्- इस एकसे परे जो है उसके इधरका पदार्थ दुष्प्राप्य है।

१२ अधोवचसः पणयो भवन्तु- नीचे मुख किये बनिये हों।

१३ नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम्- दास भाववाले भूमिपर नीचेसे चलते रहें।

१४ पुनर्मघेषु अवद्यानि भूरि (७)- पुनः धन प्राप्त करनेमें बहुत निंदा योग्य कर्म करने पडते हैं।

१५ मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः- तुझे लोग धनहीन न कहें।

१६ स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु (८)- सब मानवोंसे युक्त दिशाओंमें शक्तिके साथ मेरे सब स्तोत्र प्रसिद्ध हों।

१७ देहि नु मे यन्मे अदत्तः, असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि (९)- जो नहीं दिया वह धन मुझे दे, क्योंकि तू योग्य सप्तपद मित्र है।

१८ देवो देवाय गृणते वयोधाः (११)- स्तुति करनेवाले देवको अन्न देनेवाला तू है।

१९ विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः- स्तुति करनेवाले ज्ञानीको उत्तम बुद्धि देनेवाला तू है।

१० तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं, सखा नो असि, परमं च बन्धुः- उस स्तुति करनेवालेके लिये प्रशंसित धन दे, क्योंकि तू हमारा मित्र और बडा भाई है।

(अथर्व० ३।१६)

१ प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना (१)- प्रातःकाल अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण और अश्विनौकी हम स्तुति करते हैं।

२ भग प्रणेतः भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः। (३)- हे नेता, हे सत्य सिद्धिके देनेवाले भग देव! इस बुद्धिको देकर हमारी रक्षा कर।

३ भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिः नृवन्तः स्याम- गौओं और अश्वोंसे युक्त सन्तानकी वृद्धि कर, हे भग! हम नेताओंके साथ रहकर नेतावान् बनें।

४ वयं देवानां सुमतौ स्याम (४)- हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें।

५ भग एव भगवाँ अस्तु देवःतेना वयं भगवन्तः स्याम (५)- भगवान् भग देव हो, उससे हम भाग्यवान् हों।

६ तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुर एता भवेह- उस तुझको मैं सब प्रकारसे बुलाता हूं, वह तू हमारा अगुवा बन।

७ अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः (७)- घोडों, गौओं, और पुत्रोंके साथ कल्याणकारिणी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें।

८ घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीनाः- घीका दोहन हो, सब प्रकार हृष्टपुष्टता हो।

(अथर्व० ८।९)

१ माया ह जज्ञे मायया (५)- कपटसे कपट बढता है।

२ त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च (७)- तू युक्त और योग्यको मिलाता है।

३ विराजमाहुः ब्रह्मणः पितरं- ब्रह्माके पिताको विराट् कहते हैं।

४ प्रजामेका जिन्वति, ऊर्जमेका, राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् (१३)- एक प्रजाको तृप्त करती है, एक बलका रक्षण करती है और तीसरी देवके साथ संयुक्त होनेवालोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है।

५ एको गौः, एक एक ऋषिः, एकं धाम, एकधाशिषः, यक्षं पृथिव्यामेकवृत् एकर्तुर्नातिरिच्यते (२६)- एक गौ, एक ऋषि, एक स्थान, एक आशीर्वाद है, पृथिवीमें एक ही पूज्य देव है, उससे बडा कोई नहीं है।

(अथर्व० ६।३५)

१ वैश्वानरो न ऊतये आ प्रयातु परावतः (१)- विश्वका नेता हमारी रक्षा करनेके लिये श्रेष्ठ स्थानसे हमारे पास आजाय।

२ वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप, अग्निरुक्थेष्वंहसु (२)- स्तुति करनेके समय वह तेजस्वी विश्वसंचालक देव इस हमारे यज्ञके समीप आजाय।

(अथर्व० ७।२६)

१ विष्णोर्नु कं प्र वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि (१)- व्यापक ईश्वरके पराक्रमोंका वर्णन करता हूं जो पृथिवी परके लोगोंका विशेष रीतिसे निर्माण करता है।

२ प्र तद् विष्णुस्तवते वीर्याणि (२)- पराक्रमोंके लिये व्यापक देवका स्तवन किया जाता है।

३ मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः- वह ईश्वर भयंकर सिंहके समान सर्वत्र संचार करनेवाला और गुहामें रहनेवाला है।

४ परावत आ जगम्यात् परस्याः- वह दूर स्थानसे समीप आ जाता है।

५ यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (३)- इसके तीन पराक्रमोंमें सब भुवन रहते हैं।

६ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः इतो धर्माणि धारयन् (५)- न दबनेवाला व्यापक देव तीन पांव इस जगत्में रखता है, और यहांसे सब धर्मोंको धारण करता है।

७ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् (७)- उस व्यापक ईश्वरका परम पद ज्ञानी सदा देखते हैं जैसे द्युलोकमें सूर्य दीखता है।

(अथर्व० ७।८७)

१ यो अग्नौ रुद्रः, यो अप्स्व अन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश (१)- जो अग्निमें, जो जलोंमें जो ओषधि वनस्पतियोंमें व्यापता है।

२ य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये- जो सब भुवनोंकी रचना करता है उस तेजस्वी रुद्रदेवके लिये प्रणाम है।

(अथर्व० ९।१०)

१ इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः (१४)- यह वेदी पृथिवीका परला अन्त है।

२ अयं यज्ञः भुवनस्य नाभिः- यह यज्ञ भुवनोंका मध्य है।

३ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः (१८)- ऋचाके अक्षरमें-परम आकाशमें सब देव रहते हैं।

४ यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तद्विदुस्ते अमी समासते- जो यह जानता नहीं मंत्रसे क्या करेगा, परंतु जो यह जानते हैं, वे उत्तम स्थानमें बैठते हैं।

५ ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तः (१९)- ऋचाके पद मात्रासे समर्थ बनते हैं।

६ अर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्- आधे मंत्रसे चलनेवाले विश्वको सामर्थ्यवान करते हैं।

७ त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः- त्रिपाद् ब्रह्म अनेकरूप हो रहा है उससे चारों दिशाएं जीवित हुई हैं।

८ एकं सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (२८)- एक सत् है, ज्ञानी उसका वर्णन अनेक नामोंसे करते हैं, उसीको अग्नि, यम, मातरिश्वा कहते हैं।

(अथर्व० ९।९)

१ त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः (२)- तीन नाभीवाला जरारहित नाशरहित चक्र है जिसमें सब भुवन ठहरे हुए हैं।

२ को ददर्श प्रथमं जायमानं अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति (४)- प्रथम उत्पन्न हुएको किसने देखा, जो अस्थिवालेको अस्थिरहित धारण करता है।

३ भूम्या असुः असृग् आत्मा क्व स्वित् ? - इस मिट्टीके देहमें प्राण, रक्त और आत्मा कहांसे आया ?

४ इह ब्रवीतु य ईं अंग वेद (५)- यहां वह कहे, हे प्रिय ! जो जानता है।

५ पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा (११)- पांच आरोंवाला चक्र घूमनेपर उसमें सब भुवन रहते हैं।

६ तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न छिद्यते सनाभिः- उस चक्रका बहुत भारवाला अक्षदण्ड नहीं तपता, चिरकालसे केन्द्र स्थान होनेपर भी वह छिन्न भिन्न नहीं होता।

७ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते (२०)- दो उत्तम पंखवाले पक्षी साथी मित्र एक वृक्षपर मिलकर रहते हैं।

८ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति- उनमेंसे एक मीठा फल खाता है, दूसरा खाता नहीं पर चमकता है।

(अथर्व० १०।७)

१ यस्मिन्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्, स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (७)- जिसमें ठहर कर प्रजापतिने सब लोकोंको धारण किया उसको सर्वाधार कहते हैं, वह अत्यंत आनन्दपूर्ण है।

२ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् (८)- परम, मध्यम और कनिष्ठ विश्वरूप प्रजापतिने उत्पन्न किया।

३ कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव- सर्वाधार ईश्वर उस विश्वरूपमें कितना प्रविष्ट हुआ है और जिसमें प्रविष्ट नहीं हुआ वह कितना है ?.

४ एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र (९)- अपने एक अंगको सहस्रधा विभक्त करके उसमें सर्वाधार कितना प्रविष्ट हुआ है।

५ यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः, असच्च यत्र सच्चान्तः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१०)- जिसमें सब लोक और कोश रहते हैं, जिसमें जल और ब्रह्म रहता है, सत् और असत् जहां रहते हैं ऐसा लोग जानते हैं, वह आधार स्तंभ है, वही सुखदाता है।

६ यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता, यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (१२)- जिसमें भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक रह रहे हैं, जिसमें अग्नि चन्द्र सूर्य रह रहे हैं, वह सर्वाधार और आनंदमय देव है।

७ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः स्कंभं तं ब्रूहि (१३)- जिसके अंगमें तेतीस देव रहे हैं, वह सर्वाधार है।

८ ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनं, यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिं; ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः ते स्कंभमनुसंविदुः (१७)- जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठीको जानते हैं, जो परमेष्ठीको और प्रजापतिको जानते हैं, और जो ज्येष्ठ ब्रह्मको जानते हैं वे स्कंभको सर्वाधारको जानते हैं।

९ यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्, सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखं स्कंभं तं ब्रूहि (२०)- जिससे ऋचा यजु, साम, और अथर्व निकले वह सर्वाधार देव है।

१० यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः, भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कंभं तं ब्रूहि (२२)- जिसमें आदित्य, रुद्र और वसु रहते हैं, भूत और भव्य जिसमें हैं, सब लोक जहां रह रहे हैं वह सर्वाधार देव है।

११ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा (२३)- तैतीस देव जिसके खजानेकी रक्षा करते हैं।

१२ यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते, यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् (२४) - जहां ब्रह्मज्ञानी ज्येष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं जो उसको प्रत्यक्ष जानता है वह ज्ञानी ब्रह्मा कहा जाता है।

१३ यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे, तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः (२७)- जिसके देहके अंग तैतीस देव बने हैं उन तैतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

१४ नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः, यदजः प्रथमं सं बभूव, स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् (३१)- सूर्योदयके और उषाके पूर्व ईश्वरका नाम लेकर जो प्रथम संघटित होता है, वह उस स्वराज्यको प्राप्त होता है, जिससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

१५ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरं, दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (३२)- भूमि जिसके पांव, अन्तरिक्ष पेट और द्यु जिसने अपना सिर बनाया उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।

१६ यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः, अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (३३)- सूर्य जिसकी एक आंख, दूसरी आंख पुनः नया होनेवाला चन्द्र है, अग्नि जिसका मुख है उस श्रेष्ठ ब्रह्मको मेरा नमस्कार है।

१७ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (३४)- वायु जिसका प्राण और अपान, जिसके चक्षु अग्नि और दिशाएं जिसके कान हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है।

१८ स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे, स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्, स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कंभ इदं विश्वं भुवनमा विवेश (३५)- सर्वाधार ईश्वरने द्यु पृथिवी, विशाल अन्तरिक्ष, छः दिशाएं धारण की हैं वह सब भुवनमें व्याप्त है।

१९ महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे, तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः (३८)- भुवनके मध्यमें बडा पूजनीय देव है, वह तपमें विशेष होकर जलके पृष्ठभाग पर चमकता है, जो अन्य देव हैं वे सब उसके आश्रयसे रह रहे हैं, जैसे वृक्ष और शाखाएं रहती हैं।

२० यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा, यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति, विमिते अमितं स्कंभं तं ब्रूहि (३९)- जिसके लिये हाथों, पावों, वाणी, श्रोत्र चक्षुसे सब देव बलि अर्पण करते हैं वह सर्वाधार ईश्वर है।

(अथर्व० ६।३३)

१ स नो ददातु तां रयिं उरुं पिशंगसंदृशम् (३)- वह ईश्वर सुवर्णके समान उस धनको हमें देवे।

(अथर्व० ६।६१)

१ मह्यमापो मधुमदेरयन्ताम् (१)- जल मेरे लिये मीठा होकर बहे।

२ मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम्- सूर्यने मेरे लिये चारों ओर सुखमय प्रकाश किरण भर दिये हैं।

३ अहं विवेच पृथिवीमुत द्यां अहं ऋतूंरजनयं सप्त साकम् (२)- मैंने पृथिवी और द्युको पृथक् किया, और सात ऋतु मैंने उत्पन्न किये।

४ अहं सत्यमनृतं यद्वदामि, अहं दैवीं परि वाचं विशश्च- मैं सत्य और अनृत जो भी वाणी बोली जाती है, वह और मनुष्योंकी दैवी वाणी मैं ही सब प्रकारसे बोलता हूं।

(अथर्व० ६।३४)

१ प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनां (१)- सब लोकोंके महाबलवान् ईश्वरके लिये स्तुतिरूप वाणीको प्रेरित करो।

२ यो रक्षांसि निजूर्वति अग्निस्तिग्मेन शोचिषा (२)- जो अग्नि अपने तीक्ष्ण प्रकाशसे राक्षसोंको नष्ट करता है।

३ यः परस्याः परावतः तिरो धन्वातिरोचते (३)- जो दूरसे दूरके स्थानको पार करके प्रकाशता है।

४ यो विश्वाभि विपश्यति, भुवना सं च पश्यति (४)- जो सब भुवनोंको अलग देखता और मिलकर भी देखता है।

५ यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत (५)- जो इस अन्तरिक्षके परे तेजस्वी अग्नि प्रकट

६ स नः पर्षदति द्विष - वह हमें शत्रुसे दूर करे और पूर्ण बनावे ।

(अथर्व० ६।१)

१ युवा जेता ईशानः स पुरुष्टुतः (३)- वह ईश्वर तरुण, विजयी, सबका स्वामी और बहुतों द्वारा प्रशंसित है।

(अथर्व० ७।४४)

१ उभा जिग्यथुः, न पराजयेथे (१)- दोनों विजय करते हैं, कभी पराजित नहीं होते ।

२ न पराजिग्ये कतरश्चनैनयो - इनमेंसे एक भी कभी पराजित नहीं होता ।

३ इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्- हे इन्द्र और विष्णु ! जब तुम दोनों स्पर्धावे युद्ध करते हो तब हजारों शत्रुओंको तीन प्रकारसे भगा देते हो।

(अथर्व० ७।७१)

१ परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भगुरावतः (१)- हे बलवान् तेजस्वी देव ! परिपूर्ण ज्ञानी, शत्रुका नाश करनेवाले, विनाशकको मारनेवाले, तुझ ईश्वरकी प्रतिदिन हम सब प्रकारसे स्तुति गाते हैं ।

(अथर्व० ७।६३)

१ पृतनाजितं सहमानमग्निं उक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात् (१)- शत्रुकी सेनाका पराभव करनेवाले, सामर्थ्यवान तेजस्वी देवको हम स्तोत्रोंसे परम स्थानसे बुलाते हैं।

२ स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः- वह हमें सब दुःखोंसे पार ले जावे और वह अग्नि देव सब दुराचरणोंका नाश करे ।

(अथर्व० ७।४१)

१ तरन् विद्वान्यवरा रजांसि, इन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् (१)- सब नीचेके मार्गोंको पार कर, इन्द्रकी मित्रतासे कल्याणरूप बनकर, शुभ अवस्था प्राप्त करेंगे ।

(अथर्व० ७।२१)

१ समेत विश्वे वचसा पतिं दिवः (१)- आप सब लोग स्तुतिसे प्रकाशलोकके स्वामीको प्राप्त करो ।

२ एको विभूरतिथिर्जनानाम्- वह ईश्वर एक सर्वव्यापक और जनोंके लिये अतिथिवत् पूज्य है ।

३ स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्- वह सबसे प्राचीन है परन्तु सब नवीनोंमें भी बसता है ।

४ तं वर्तनिरनु वावृत एकमित्पुरु- उस एकके समीप बहुत प्रकारके मार्ग पहुंचते हैं ।

(अथर्व० ७।१४)

१ अभि त्यं देवं सवितारं ओण्योः कविक्रतुं, अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् (१)- रक्षा करनेवाले, द्यु और पृथिवीके उत्पादक, जो ज्ञानी कर्म कर्ता है, सत्य प्रेरक और रत्न धारक है, उस देवकी मैं उपासना करता हूं ।

१ हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः (२)- सुवर्णके हाथोंवाला उत्तम कर्म करनेवाला स्वशक्तिसे प्रकाश निर्माण करता है ।

(अथर्व० ७।९)

१ प्रपथे पथां अजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः (१)- सबका पोषक देव पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युके मार्गोंमें प्रकट होता है ।

१ उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्- प्रिय स्थानमें सब जानता हुआ पास और दूर सचार करता है ।

१ पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् (२)- पूषा इन सब दिशाओंको जानता है, इस कारण वह हम सबको निर्भय मार्गसे ले जायगा ।

४ स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्- वह कल्याण करनेवाला, तेजस्वी, सब प्रकारसे वीर कभी प्रमाद न करनेवाला हमारा अगुवा होवे ।

(अथर्व १।१३)

१ मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि (२)— हमारे शरीरोंको सुख दो और पुत्रपौत्रोंको सुख दे ।

१ विद्म ते धाम परमं गुहा यत्— तेरा स्थान परम गुहामें-बुद्धिमें है यह हम जानते हैं ।

(अथर्व २।१६)

१ प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं (१)— हे प्राण अपान ! मृत्युसे मेरी रक्षा करो ।

० सूर्य चक्षुषा मा पाहि (२)— हे सूर्य ! आंखसे मेरी रक्षा कर ।

३ अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि— हे विश्वके नेता अग्ने ! सब देवोंसे मेरी रक्षा कर ।

४ विश्वंभर विश्वेन मा भरसा पाहि— हे विश्वभर संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा कर ।

(अथर्व० ४।२)

१ य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (१)— जो आत्म शक्ति-देनेवाला और बल देनेवाला है, सब देव जिसकी आज्ञामें रहते हैं।

२ योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम— जो द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है, उस सुख स्वरूप देवकी हविसे हम उपासना करते हैं।

३ यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव (२)— जो श्वास लेनेवाले और निमेष करनेवाले जगत्का महत्वसे एक राजा हुआ है।

४ यस्य छाया अमृतं, यस्य मृत्युः— जिसके आश्रयमें रहना अमर बनना है और जिसका आश्रय छोडना मृत्यु प्राप्त करना है।

५ यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्वंतरिक्षम्, यस्यासौ सूरो विततो महित्वा (४)— जिसकी यह द्यौ बडी है, यह पृथिवी बडी विस्तृत है, अन्तरिक्ष जिसका यह लंबा चौडा है और जिसमें महिमासे सूर्य प्रकाशता है।

६ इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू (५)— दिशाएं जिसके बाहू हैं।

७ यासु देवीष्वधिदेव आसीत् (६)— जिन देवों परर एक अधिदेव हुआ है।

८ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (७)— सब भूत मात्रका एक स्वामी ऐसा हिरण्यगर्भ प्रथम उत्पन्न हुआ।

९ स दाधार पृथिवीमुत द्यां— उसने पृथिवी और द्युलोक धारण किये हैं।

(अथर्व० १०।२)

१ ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता, ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् (२५)- ब्रह्मने भूमि रखी है, ब्रह्मने द्यौ ऊपर रखी है और ब्रह्मने ही अन्तरिक्ष ऊपर तिरछा फैलाया है।

२ मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्, मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः (२६)- मस्तक और हृदयका अथर्वा सीवे और मस्तकके ऊपर प्राणके, ले जाय।

३ तद्वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः, तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः (२७)- यह अथर्वाका सिर सुरक्षित देवोंका खजाना है। उसका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं।

४ सर्वा दिशः पुरुष आ बभूव (२८)- सब दिशाओंमें पुरुष ही हुआ है।

५ पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते— ब्रह्मकी यह नगरी है, जिसमें रहनेके कारण इस आत्माको पुरुष कहते हैं।

६ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्, तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः (२९)— जो अमृतसे परिपूर्ण इस ब्रह्मकी नगरीको जानता है उसको ब्रह्म और सब देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं।

७ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा, पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते (३०)— उसको चक्षु और प्राण जराके पूर्व नहीं छोडते, जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है, जिस कारण आत्माको पुरुष कहते हैं।

८ अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः (३१)— आठ चक्र और नौ द्वारवाली यह अयोध्या नगरी है, इसमें सुवर्णका कोश है जो तेजसे घिरा स्वर्ग है।

९ तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते, तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः (३२) उस तीन आरों और तीन आधारवाले सुवर्णके कोशमें जो आत्मवान् पूज्य देव है उसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

१० प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृतां, पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् (३३)- तेजस्वी मन हरण करनेवाली, यशसे घिरी, सुवर्णमयी पुरीमें ब्रह्म प्रविष्ट होता है।

(अथर्व० ६।८०)

१ अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूताचचाकशत्, शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम (१)- जो सब भूतोंको प्रकाशित करता है और जो अन्तरिक्षमें चलता है उस द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका जो महत्त्व है, उस हविसे हम तेरी पूजा करते हैं।

(अथर्व० ४।१४)

१ पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहं, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहं, दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् (३)— पृथिवीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे द्युलोक और द्युलोकसे प्रकाश ज्योतिको मैं प्राप्त हुआ हूं।

(अथर्व० ७।१)

१ स इदं विश्वमभवत् स आभवत् (२)— वह यह विश्व बना है, वह सर्वत्र होता है।

(अथर्व० ७।१)

१ त्वया तन्वा तन्वमैरयत् (१)— अपने शरीरसे सूक्ष्म शरीरको प्रेरित करता है।

(अथर्व० ७।१)

१ स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु (२)— वह देवोंका अधिपति हुआ, वह हमें धन देवें।

१ मुग्धा देवा उत शुना यजन्त, उत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त (५)- मूढ याजक कुत्तेके और गौके अंगोंसे यजन करते हैं।

(अथर्व० ५।१)

१ सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरोऽगात् (६)- सात मर्यादाएं कवियोंने कहीं हैं, उनमें एकका भी उल्लंघन करनेसे पापी हो जाता है।

(अथर्व० २।११)

१ दूष्या दूषिरसि- दोषोंको दूर करनेवाला तू (आत्मा) है।

२ हेत्या हेतिरसि— हथियारका हथियार तू है।

३ मेन्या मेनिरसि— वज्रका वज्र तू है।

४ स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि— तू गतिशील, प्रगति करनेवाला है।

५ प्रत्यभिचरणोऽसि- तू दुष्टतापर हमला करनेवाला है।

६ सूरिरसि, वर्चोधा असि— तू ज्ञानी है, तू तेजस्वी है।

७ तनूपानोऽसि— तू शरीरका रक्षक है।

८ शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि, स्वरसि, ज्योतिरसि- तू बलवान, तेजस्वी, आत्मप्रकाश और ज्योति है।

९ आप्नुहि श्रेयांसं, अति समं क्राम— श्रेयको प्राप्त हो, और समानोंके आगे जा।

१० प्रतितमभिचर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः- उसपर आघात कर जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं।

(अथर्व० ५।९-१०)

१ सूर्यो मे चक्षुः, वातः प्राणो, अन्तरिक्षमात्मा, पृथिवी शरीरम् (७)- सूर्य मेरा आंख, वायु प्राण, अन्तरिक्ष आत्मा और पृथिवी शरीर है।

१ अस्तृतो नामाऽहं अयमस्मि— अमर नामवाला मैं हूं।

२ स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय— वह मैं आत्माको द्यु और पृथिवीद्वारा सुरक्षित होनेके लिये रखता हूं।

४ बृहता मन उपह्वये, मातरिश्वना प्राणापानौ, सूर्याच्चक्षुः, अन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं, पृथिव्याः शरीरं, सरस्वत्या वाचं उपह्वयामहे मनोयुजा (८)- ज्ञानके साथ मन, वायुसे प्राण अपान, सूर्यसे आंख, अन्तरिक्षसे कान, पृथिवीसे शरीर, सरस्वतीसे वाणीको मनके संयोगसे प्राप्त करता हूं।

(अथर्व० २।३४)

१ ये बध्यमानमनु दीध्यानाः अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः (३)- जो प्रकाशमान् बंधे हुएको मनसे और आंखसे देखते हैं, जगत्कर्ता प्रजाके साथ रहनेवाला देव उनको प्रथम मुक्त करे।

(अथर्व० ७।८३)

१ उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय (३)- हे वरुण! हमसे श्रेष्ठ मध्यम और कनिष्ठ पाशोंको ढीला कर।

२ अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम- हे आदित्य! तेरे व्रतमें रहते हुए हम स्वतंत्रताके लिये निष्पाप होकर रहें।

(अथर्व० ३।११३)

१ विद्धि पूर्तस्य नो राजन् स देव सुमना भव (५)- हे राजन्! हमारे पूर्णताका मार्ग जान और हे देव! तू उत्तम मनवाला हो।

(अथर्व० ७।१०६)

१ ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः (१)- वहांसे तू उत्तम ज्ञानी हमारी रक्षा कर, हमारे मित्रोंको कल्याण प्राप्त हो और हमें अमरत्व प्राप्त हो।

(अथर्व० १३।१)

१ सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन (८)- तेरा राष्ट्र दूध और घीसे भरपूर रहे।

१ विशि राष्ट्रे जागृहि- प्रजामें तथा राष्ट्रमें जाग्रत रहो।

१ गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१२)- मेरे राज्यमें गौओंका तथा वीरोंका पोषण हो।

४ इदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् (२०)- यह राष्ट्र आनन्दपूर्ण कर।

५ तया धाजान् विश्वरूपां जयेम, तया विश्वाः पृतना अभिष्याम (२२)- उससे अनेक विध अन्न या बल प्राप्त करें, और सब शत्रु सेनाओंका पराभव करें।

६ दिवं च रोह, पृथिवीं च रोह, राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह, प्रजां च रोह, अमृतं च रोह (३४)- द्यु, पृथिवी, राष्ट्र, धन, प्रजा, अमरत्वको तू प्राप्त हो।

७ राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः (३५)- उत्तम मनसे राष्ट्रको धारण करे।

(अथर्व० १३।४-६)

१ स एव एकवृदेक एव (१२)- वह यह एकमात्र व्यापक देव एक है।

२ एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति (१३)- ये सब देव इसमें एकरूप होते हैं।

३ कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च य एतमेकवृतं वेद (१४)- जो इस देवको व्यापक जानता है उसको कीर्ति, यश, देव, जल, स्थान, ज्ञान, अन्न आदि मिलता है।

४ न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते (१६)- वह दूसरा, तीसरा चौथा नहीं कहा जाता।

५ ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च य एतं देवमेकवृतं वेद (२२-२३)- ज्ञान, तप, कीर्ति, यश, स्थान, जल ब्राह्मतेज, अन्न, भूत, भविष्य, श्रद्धा, तेज, स्वर्ग, स्वधा यह सब उसको मिलता है जो इस देवको सर्वव्यापक जानता है।

(अथर्व० १५।१-२)

१ सोऽवर्धत, स महानभवत्, स महादेवोऽभवत् (४)- वह बढने लगा, वह बडा हुआ, वह महादेव हुआ।

२ स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् (५)- वह ईशोंके ऊपर हुआ, वह ईशान हुआ।

३ ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः (६)- वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् (७)- साम आसादः उद्गीथ अपश्रयः (८)- तां आसंदीं प्राप्य आरोहत् (९)- ऋचाएं वस्त्रके लंबे धागे, यजु तिरछे धागे, वेद बिछौना, ब्रह्मज्ञान ओढनेका वस्त्र था, साम गद्देला और उद्गीथ तकिया था। उस चौकीपर व्रती चढकर बैठा।

*

(अथर्व० १५।३)

१ स विशोऽनु व्यचलत्, तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् (१)- वह प्रजाके अनुकूल चला, तब उसको सभा और समिति, सेना और धनकोश अनुकूल हुए।

(अथर्व० १६।२)

१ मधुमती स्थ, मधुमतीं वाचमुदेयम् (२)- तू मीठी है, मैं मीठी वाणी बोलूंगा।

२ नाभिरहं रयीणां, नाभिः समानानां भूयासं (१)- मैं धनोंका मध्य और समानोंका मध्य होऊंगा।

४ मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परागात्- मुझे प्राण न छोडे न अपान छोडकर दूर जाय।

५ प्राणापानौ मा हासिष्टं, मा जने प्रमेषि- प्राण अपान मुझे न छोडें, लोगोंमें मैं घातक न होऊं।

६ अजैष्म, अद्यासनाम, अद्य भूमानागसो वयम्- आज हम जीतते हैं, आज प्राप्त करते हैं, आज हम निष्पाप बनते हैं।

७ जितमस्माकं, उद्भिन्नमस्माकं, ऋतमस्माकं, तेजोऽस्माकं, ब्रह्मास्माकं, स्वरस्माकं, यज्ञोऽस्माकं, पशवोऽस्माकं, प्रजाऽस्माकं, वीरा अस्माकं- विजय, उदय, ऋत, तेज, ज्ञान, आत्मप्रकाश, यज्ञ, प्रजा, वीर हमारे हों।

८ अस्पर्धां विश्वा पृतना अरातीः- शत्रु सेनाका पराजय किया है।

९ पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके- पोषक देव पुण्य लोकमें मुझे रखे।

१० वसुमान् भूयासं, वसु मयि धेहि- मैं धनवान् होऊं, मुझे धन दे।

सुभाषितोंका उपयोग

यहां 'ब्रह्मज्ञान' प्रकरणके कुछ स्पष्ट अर्थवाले सुभाषित दिये हैं। जिनका अर्थ गूढ है ऐसे इससे भी अधिक सुभाषित हैं, वे यहां दिये नहीं हैं। पाठक जब बारंबार मंत्रोंका मनन करेंगे, तब समय वे गूढ सुभाषित स्वयं पाठकोंके सामने आ सकेंगे।

मंत्रका सार सुभाषित है, 'मंत्रः मननात्' मंत्र मनन करनेकी शब्द योजना है। मन जो अपनेमें विचार उत्पन्न रखता है वैसा मनुष्य बनता है। मनुष्यका मन उन्नतिको ओर जानेका ही विचार करे, कभी अवनतिके विचार मनमें न रखे, यह मनुष्यको करनेका अत्यावश्यक अनुष्ठान है। मनुष्यको उन्नतिका यह वेदोक्त मार्ग है। इसलिये सुभाषितोंका मनन मनुष्योंके

विशेष कर करना चाहिये। हरएक मंत्र कुछ न कुछ सुविचार मनुष्यको देता ही रहता है। उसका उपयोग मनुष्य किस तरह करता है यही देखना चाहिये।

मनुष्योंमें चार प्रवृत्तियाँ रहती हैं, (१) कईयोंमें ज्ञान संवर्धनकी प्रवृत्ति है, यह ब्राह्म प्रवृति है। (२) कईयोंमें बलसे कार्य करनेकी प्रवृत्ति है वह क्षात्र प्रवृत्ति है, (३) तीसरी प्रवृत्ति धन कमानेकी है, यह वैश्य प्रवृत्ति है और (४) चौथी कर्म प्रवृत्ति है यह शूद्र प्रवृत्ति है। इन निसर्गसे चली हुई प्रवृत्तियोंको सत्प्रवृत्त करना और उनके द्वारा मानवोंकी उन्नति करना वेदमंत्रोंका उद्देश रहता है। सुभाषित इस दृष्टिसे महत्वके हैं। हरएक सुभाषित हरएक मानवके लिये उपयोगी है ऐसा नहीं समझना चाहिये। वैश्य प्रवृत्तिका मंत्र ब्राह्म प्रवृत्तिवालेको उतनी सहायता नहीं कर सकेगा जैसी वह वैश्य प्रवृत्तिके मनुष्यकी सहायता करेगा। इसी तरह अन्य प्रवृत्तियोंके विषयमें जानना चाहिये और मननके लिये अपनी प्रवृत्ति देखकर अपनी उन्नति किस मंत्रसे हो सकती है इसका निश्चय करके अपनी उन्नति करनेवाला मंत्र मननके लिये लेना चाहिये।

मंत्रका मनन करनेसे ही लाभ होता है। मननका '**तज्जपस्तदर्थ-भावनं**' यह अर्थ है। मंत्रका जप करना हो तो मन्त्रका अर्थ मनमें कुछ समयतक रखना आवश्यक है। मंत्रके अर्थकी भावनासे मन भरपूर भर देना चाहिये। विपरीत विचार मनमें न आया और मंत्रकी ही भावना मनमें अविचलित रही, तो मंत्रकी सफलता मिलनेमें देरी नहीं लगेगी। बीच बीचमें मन चंचल होता रहा, विपरीत भाव मनमें आते रहे, मन अस्थिर होता रहा तो मंत्रका फल मिलना कठिन हो जाता है।

'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो**' मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका हेतु है ऐसा जो कहा है वह नितान्त सत्य है।

इस रीतिसे मन स्थिर करनेका अनुष्ठान प्रथम करना चाहिये। यम नियमसे अपना व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक आचार व्यवहार शुद्ध करना, आसनसे शरीरको स्थिर करना, प्राणायामसे श्वास और उच्छ्वासकी गतिको स्थिर करना, प्रत्याहारसे कछुआ जैसे अंग अपने अन्दर सिकोडता है, वैसे विषयोंसे अपने इन्द्रियोंको अपने अन्दर सिकोडना, स्वाभाविक इंद्रिय प्रवृत्तिको रोककर संयमकी प्रवृत्ति बढानी चाहिये। प्राण स्थिर हुआ तो मन स्थिर होने लगता है। इस तरह ध्यानकी पूर्व तैयारी करके मनको किसी आलंबनपर स्थिर रखना चाहिये। मन इस तरह स्थिर होने लगा तो उसको मंत्रके अर्थकी भावनासे भर देना चाहिये। मनमें दूसरा विचार न रहे, केवल मंत्रका भाव ही मनमें भरा रहे, तो मन बलवान् हो जाता है और मंत्रके भावनाका बल मनमें रहने लगता है। यही होना इष्ट है।

'मैं निर्बल हूं, संपूर्ण जगत् नश्वर है, विश्व दुःखदायी है, मनुष्यका जीवन असार है', इस तरहके विचार अवैदिक हैं। वे आजकल चारों ओर फैले हैं। इनको दूर करके उनके स्थान पर वैदिक मंत्रके भाव लाने चाहिये। मन वेदमंत्रके अर्थकी भावनासे भरपूर भर देना चाहिये।

उदाहरणार्थ देखिये—

द्यौ सद्म पार्थिवं रजः— द्युलोक पृथिवी और अन्तरिक्ष यह परमेश्वरका एक घर है।

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था— वह ईश्वर द्युलोक और पृथिवीपर सत्य नियम चलाता है।

इन्द्रस्य गृहोऽसि— तू इन्द्रका घर है।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये— भुवनोंके मध्यमें वह बडा पूज्य देव है।

स विद्वान् ज्येष्ठं मन्यते— वह विद्वान् श्रेष्ठ ब्रह्मका मनन करता है।

अन्ति सन्तं न पश्यति— पास होनेपर भी वह प्रभु दीखता नहीं।

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ— सत् असत् दोनों उच्छिष्टमें है।

वेनस्तत् पश्यत्परमं गुहा यत्— जो गुहामें है उसको ज्ञानी जानता है।

स्तुहि देवं सवितारं— सबके उत्पादक देवकी स्तुति कर।

मा नो विदद्भिभा— पराभव हमारे पास न आवे।

यो विश्वजित् विश्वभृत्— जो विश्वमें विजयी, विश्वका पोषक है।

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्— वह भुवनोंमें श्रेष्ठ ब्रह्म है।

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ— तू उन भुवनोंको जानता है।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनं— जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं वे परमेष्ठीको जानते हैं।

एको राजा जगतो बभूव— प्रभु जगतका एक राजा है।

सर्वा दिशः पुरुष आ बभूव— सब दिशाओंमें पुरुष भरा है।

शुक्रोऽसि— तू बलवान् हो।

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह— द्युलोकपर और पृथ्वीपर उन्नत हो।

पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके— पोषक देव मुझे पुण्यलोकमें रखे।

ये मंत्र भाग देखिये। एक एक मंत्र भाग मनुष्यके मनमें बल और स्फूर्ति लाता है। ऐसे मन्त्रोंके अर्थकी भावनासे यदि अपना मन हम सदा भर कर रखें, तो कितना इष्ट परिणाम होगा। मनके अन्दर दो प्रकारकी शक्ति है, एक मन अणु है और दूसरा मनका भाग विशाल शक्तिवला है। जो हम जाग्रतिमें बर्तते हैं, वह अणु मन है। यह मन जाग्रतिमें कार्य करता है। ओरका कार्य होनेकी अवस्थामें यह बालका कार्य कर नहीं सकता।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्।

एक समय दो इन्द्रियोंके ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकते, इस कारण मन अणु है ऐसा माना है। इस अणु मनमें भी अपनी भावनाओंका प्रभाव शरीरपर डालनेकी शक्ति रहती है। मनमें जो भावना रहेगी, शरीरपर उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। इसलिये मनमें वेदमंत्रका भाव भर देनेसे शरीरपर उसका उत्तम परिणाम होता है।

जब हमें गाढनिद्रा अथवा समाधिकी अवस्था प्राप्त होगी, तब एक मनका भाग कार्यमें आता है, वह बड़ा शक्तिशाली रहता है। गाढ निद्रामें अथवा समाधिमें ही वह कार्य करता है।

सुषुप्ति-समाधि-मुक्तिषु ब्रह्मरूपता।

'गाढ निद्रा, समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है। मुक्तिका ठीक ठीक पता तो हमें नहीं है, परंतु गाढ निद्राका पता सबको होता है, और समाधिका पता थोडे लोगोंको होगा, इस अवस्थामें मनुष्यका अन्तर्मन ब्रह्मरूप अवस्थामें रहता है। इसलिये वह विशेष प्रभावशाली रहता है। यह मन स्थल मर्यादासे भी परे इस समय होता है—

> यज्जाग्रतो दूरमुदैति दूरं
> तदु सुप्तस्य तथैवैति।
> दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
> तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ वा. य. ३४।१

'जो हमारा मन जागते हुए दूर दूर जाता है, सुप्त अवस्थामें भी वह वैसा ही दूर दूर जाता है, दूर जाना जिसका स्वभाव है, वह तेजस्वियोंमें तेजस्वी है, वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।' यह मन दूर दूर जानेवाला है, अतः यह शुभ संकल्प करनेवाला हो। इससे हम अपना और दूसरोंका लाभ करा सकते हैं। अपना मन वेगवान् है। विश्वव्यापक स्वरवाला यह मन है। क्षण मात्रमें यह दूर जाकर प्रभावशाली कार्य कर सकता है। ऐसी शक्ति इसमें है, इसलिये इसको शिवसंकल्प युक्त बनाना चाहिये। यह मन शिव संकल्प करे। यह मन अशुभ संकल्प करेगा, तो उसका परिणाम बहुत बुरा होगा। और यदि यह मन शिव संकल्प करेगा तो उसका परिणाम अच्छा होगा।

अपना मन यह अपना सेवक है। किसीका सेवक बड़ा सामर्थ्यवान् हो, तो यदि अपने आधीन रहेगा, तब तो ठीक है, पर यदि वह स्वेच्छाचारी होगा तो वह स्वामीका ही घात करेगा। हमारा मन बड़ा सामर्थ्यवान् है, परंतु स्वेच्छाचारी बना है। हमारे आधीन रहता नहीं। मनमाने अविचार करता है, चाहे वहां जाता है, चाहे जो करता है, इस कारण यह अपना सेवक होनेपर भी अपना घात कर रहा है।

इसीलिये इस मनमें मंत्रके भाव भरकर रखनेका यत्न करना चाहिये। इससे मन पवित्र विचार करने लगेगा जिससे अपना हित होगा। मन भटकता रहता है, यदि अपवित्र विचारोंसे यह भटकता रहेगा, तो कितना अनर्थ करेगा, इसका विचार पाठक करें और वेदमंत्रोंकी अर्थ भावनासे इसको भरनेका कारण ठीक तरह समझें।

यहां रहा मनुष्य अपने परिशुद्ध मनकी भावनासे दूर देशमें रहनेवालेके मनपर भी अच्छा असर करता है, जिससे सबको अच्छा लाभ पहुंच सकता है। जब मन अपने आधीन रहेगा और पवित्र विचार ही करेगा, तब यह सामर्थ्य मनुष्यमें आ सकता है। यह सामर्थ्य मनुष्यके मनमें आता है, इसलिये वेदमंत्रोंके शुभ विचारोंके अर्थसे मनको भरनेका अभ्यास करना चाहिये।

यह 'ब्रह्मज्ञान' का प्रकरण है। इसके वर्णनके मंत्र भी इस प्रकरणमें उद्धृत हुए हैं। इनके वर्णन करनेवाले मंत्र सब ही अच्छे होते हैं, परंतु यहां इन सुभाषितोंका उद्धार किया है, कि जो स्पष्ट अर्थवाले हैं। प्रथम इसका स्वयं पाठक करें और पश्चात् पूर्वापरवाले मंत्र भाग लें। जैसे—

यां सद्म पार्थिवं रजः। अथर्व. ४।१।४

'द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और भूलोक मिलकर एक घर है।' यह परमेश्वरका घर है, इस घरमें हम रहते हैं। जिनके घरमें हम रहते हैं उस घरके नियम पालन करना हमारा कर्तव्य है। इसलिये ईश्वरके शुभ आचरण हम यहां इस घरमें रहनेके

समान रहें। किसीके साथ झगडा न करें। सब विश्व एक घर है, सब भाई भाई हैं। ऐसा मानकर परस्पर सहायता करें, परस्पर प्रेम करें, परस्पर एकता रखें और एकभाव बढावें। विश्व शान्तिके लिये इस मंत्र भागसे कितना सुगम मार्ग हो सकता है देखें। परस्पर सब देश विभिन्न है, प्रत्येकका हित भिन्न है ऐसा माननेकी अपेक्षा यदि सब देशके लोग एक घरके भाई भाई हैं, ऐसा मानेंगे, तो आचरणमें कितना इष्ट परिणाम होगा। इसका विचार पाठक करें और सुभाषितोंको अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करें।

तस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णयः।

अथर्व ५।६।३

'ईश्वरके पकडनेवाले पाश कभी अपनी आखें मूंदते नहीं।' उनके दूत आंखें न मूंदते हुए सदा आंखें खोलकर सबके आचरण परखते रहते हैं। इसलिये कोई उनको ठग नहीं सकता। वे सबकी परीक्षा यथायोग्य रीतिसे करते रहते हैं। ऐसा मानकर न चूकते हुए अपना आचरण परिशुद्ध करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये।

इन्द्रस्य गृहोऽसि। अथर्व ५।६।११

'तू इन्द्रका घर है।' तेरे शरीरमें इन्द्र रहता है, इस कारण सब इन्द्रियोंको 'इन्द्र शक्तिके स्थान' कहा है। आंख नाक कान ये सब इंद्रियां हैं अर्थात् ये इन्द्रकी शक्तियां हैं। मेरे अन्दर इन्द्र है, मैं भी आत्मारूपसे इन्द्र ही हूं। मैंने देखनेके लिये आंख, सुननेके लिये कान, और बोलनेके लिये मुख बनाया है। हाथ पांव मेरे कार्य करनेके लिये हैं। मैं इन इन्द्रियोंको अपनी आत्माकी उन्नतिके लिये योग्य कार्यमें लगाऊं। किसी कारण अवनतिके कार्यमें मैं इनका प्रयोग नहीं करूं।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुः।

अथर्व २।१।३

'वह प्रभु हमारा पिता, जनक और भाई है।' वह सब स्थानपर रहकर हमारा रक्षण पालन पोषण करता है। ऐसा जानकर उसको अपने चारों ओर उपस्थित जानकर अपने आपको सुरक्षित अनुभव करना और निर्भय होकर रहना चाहिये।

वेदमें इतने सुभाषित हैं कि उनका यथोचित गुणगान नहीं हो सकता। मनुष्यको अपनी उन्नतिके लिये थोडेसे सुभाषित अपनाने चाहिये। मनुष्य इनमेंसे अपने लिये योग्य सुभाषित पसंद करे और अपना मन उनसे भरपूर भर दे और अपने कल्याणका साधन करे।

यह ब्रह्मज्ञान प्रकरण इस विषयमें सबका सहायक हो यही इच्छा है।

ब्रह्मविद्या--प्रकरणान्तर्गत

कांड--सूक्त--विषय--मंत्रसंख्या--ऋषि और देवताओंकी सूची

काण्ड	सूक्त	विषय	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	पृष्ठ
४	१	ब्रह्मविद्या	७	वेन	बृहस्पति, आदित्य	२१
५	६	ब्रह्म-प्राप्तिका मार्ग	१४	अथर्वा	सोमारुद्रौ	२८
१०	८	ज्येष्ठ ब्रह्मका वर्णन	४४	कुत्सः	आत्मा	३६
११	७	उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त	२७	अथर्वा	अध्यात्म, उच्छिष्ट	४३
७	६६ [६८]	ब्रह्म	१	ब्रह्मा	ब्रह्म	४९
२	१	गुह्य अध्यात्म-विद्या	५	वेनः	ब्रह्म, आत्मा	४९
२	२	एक पूजनीय ईश्वर	५	मातृनामा	गन्धर्वाप्सरसः	५८
१	३२	जीवन-रसका महासागर	४	ब्रह्मा	द्यावापृथिवी	६७
६	१	अमृतदाता ईश्वर	३	अथर्वा	सविता	६९
७	४० [४१]	अमृत रसवाला देव	२	प्रस्कण्वः	सरस्वान्	७१
१	१०	महान् शासक	४	अथर्वा	सोमः	७०
६	३६	जगत्का एक सम्राट्	३	अथर्वा स्वस्त्ययनकाम	अग्नि	७४
७	१४	प्रजापालक	१	ब्रह्मा	सविता	७५
७	१५ [१६]	व्यापक और श्रेष्ठ देव	१	मेधातिथिः	सविता	७६
४	११	विश्वशकटका चालक	१२	मृगवगिरा	अनुड्वान्, इन्द्र	७७
४	१६	सर्वसाक्षी प्रभु	९	ब्रह्मा	वरुणः । सत्यानृतान्वीक्षणम्	८४
५	२	भुवनोंमें ज्येष्ठ देव	९	बृहद्दिवो अथर्वा	वरुणः	८७
५	११	श्रेष्ठ देव	११	अथर्वा	वरुण	९७
३	१६	प्रातःकाल भगवान्की प्रार्थना	७	अथर्वा	बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्	१०३
८	९	एक ही उपास्य देव	२६	अथर्वा, कश्यपः सर्वे वा ऋषयः	विराट्	१०९
६	३५	विश्वका सञ्चालक देव	३	कौशिक	वैश्वानर	११२
७	२६ [२७]	सर्वव्यापक ईश्वर	८	मेधातिथि	विष्णुः	१२१
७	८७ [९१]	व्यापक देव	१	अथर्वा	रुद्रः	१२७
९	१०	एक आत्माके अनेक नाम	२८	ब्रह्मा	गौ, विराट्, अध्यात्मम्	१३५
९	९	एक वृक्षपर दो सुपर्ण	२२	ब्रह्मा	काम, अध्यात्मं, आदित्य	१४१
१०	७	सर्वाधारका वर्णन	४४	अथर्वा	स्कंभ आत्मा वा	१५३
६	३३	ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य	३	जाटिकायनः	इन्द्र	१५४
६	६१	परमेश्वरकी महिमा	३	अथर्वा	रुद्र	१६४
६	३४	तेजस्वी ईश्वर	५	चातन	अग्नि	१६५
६	२	विजयी इन्द्र	३	अथर्वा	सोम, वनस्पति	१६६

काण्ड	सूक्त	विषय	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	पृष्ठ
७	४४ [४५]	विजयी देव	१	प्रस्कण्वः	इन्द्रः विष्णुः	१६७
७	७१ [७४]	प्रभुका ध्यान	१	अथर्वा	अग्निः	१६७
७	६३ [६५]	बचानेवाला देव	१	मारीचः कश्यपः	जातवेदाः	१६८
७	४१ [४२]	मनुष्योंका निरीक्षक देव	२	प्रस्कण्वः	श्येनः	१६८
७	११ [१२]	आत्माकी उपासना	१	ब्रह्मा	आत्मा	१६९
७	१४ [१५]	उपासना	४	अथर्वा	सविता	१७०
७	१५ [१६]	सबका उपासक देव	१	भृगुः	सविता	१७१
६	१२ [१३]	आत्माका प्रकाश	२	ब्रह्मा	अन्नः	१७१
७	९ [१०]	ईश्वरकी भक्ति	४	उपरिबभ्रवः	पूषा	१७१
१	१३	अन्तर्यामी ईश्वरको नमन	४	भृग्वङ्गिराः	विद्युत्	१७३
२	१६	विश्वंभरकी भक्ति	५	ब्रह्मा	प्राणः, अपानः, आयुः	१७६
४	२	किस देवताकी उपासना करें	८	वेनः	आत्मा	१७७
१०	२	केन-सूक्त	३३	नारायणः	पार्ष्णि सूक्तम्, पुरुषः, ब्रह्म-प्रकाशनम्	१८१
६	८०	आत्मसमर्पणसे ईश्वरकी पूजा	३	अथर्वा	चन्द्रमाः	१९१
४	१४	आत्मज्योतिका मार्ग	९	भृगुः	आज्यं, अग्निः	१९९
७	१	आत्मोन्नतिका साधन	२	अथर्वा 'ब्रह्मवर्चस्कामः'	आत्मा	२०६
७	२	जीवात्माका वर्णन	१	अथर्वा 'ब्रह्मवर्चस्कामः'	आत्मा	२०९
७	३	आत्माका परमात्मामें प्रवेश	१	अथर्वा	आत्मा	२११
७	४	प्राणका साधन	१	अथर्वा	वायुः	२१२
७	५	आत्मयज्ञ	५	अथर्वा	आत्मा	२१३
५	१	आत्मोन्नतिकी विद्या	९	बृहद्दिवोऽथर्वा	वरुणः	२१७
७	६७ [६९]	आत्मा	१	ब्रह्मा	आत्मा	२२७
२	११	आत्माके गुण	५	शुक्रः	कृत्यादूषणम्	२२७
४	२०	दिव्यदृष्टि	९	मातृनामा	मातृनामा	२३०
५	८-९	आत्मिक बल	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	२३३
५	१०	आत्मिक बल	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	२३५
२	३४	मुक्तिका सीधा मार्ग	५	अथर्वा	पशुपतिः	२३८
७	८३ [८८]	मुक्ति	४	शुनःशेपः	वरुणः	२४३
६	१२३	मुक्ति	५	भृगुः	विश्वेदेवाः	२४५
६	१११	मुक्तिका अधिकारी	४	अथर्वा	अग्निः	२४६
७	१०६ [१११]	अमृतत्वकी प्राप्ति	१	अथर्वा	जातवेदा वरुणश्च	२४८
७	१०५ [११०]	दिव्य वचन	१	अथर्वा	विश्वेदेवाः	२४९
७	१०२ [१०७]	उच्च बनकर रहना	१	प्रजापतिः	मंत्रोक्ताः, नाना देवताः	२४९
१३	१	अध्यात्म-प्रकरण	६०	ब्रह्मा	अध्यात्मं, रोहितादित्यदैवतं	२५०
१३	२	अध्यात्म-प्रकरण	४६	ब्रह्मा	अध्यात्मं, रोहितादित्यदैवतं	२६१
१३	३	अध्यात्म-प्रकरण	२६	ब्रह्मा	अध्यात्मं, रोहितादित्यदैवतं	२७१

काण्ड	सूक्त	विषय	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	पृष्ठ
१३	४	अध्यात्म-प्रकरण	५६	ब्रह्मा	अध्यात्म, रोहितादित्यदैवत्यं	२७६
१५	१ (पर्याय १)	अध्यात्म-प्रकरण	८	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य:	२८९
१५	१ (२)	अध्यात्म-प्रकरण	२८	अथर्वा	अध्यात्मं, मात्य	२९०
१५	१ (३)	अध्यात्म-प्रकरण	११	अथर्वा	अध्यात्मं, मात्य:	२९०
१५	१ (४)	अध्यात्म-प्रकरण	१८	अथर्वा	अध्यात्मं, मात्य:	२९३
१५	१ (५)	अध्यात्म-प्रकरण	१६	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य:	२९५
१५	१ (६)	अध्यात्म-प्रकरण	२६	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य.	२९६
१५	१ (७)	अध्यात्म-प्रकरण	५	अथर्वा	अध्यात्मं, मात्य	२९८
१५	१ (८)	अध्यात्म-प्रकरण	३	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य	२९९
१५	१ (९)	अध्यात्म-प्रकरण	३	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य	२९९
१५	१ (१०)	अध्यात्म-प्रकरण	११	अथर्वा	अध्यात्मं, मात्य	३००
१५	१ (११)	अध्यात्म-प्रकरण	११	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य:	३०१
१५	१ (१२)	अध्यात्म-प्रकरण	११	अथर्वा	अध्यात्मं, मात्य	३००
१५	१ (१३)	अध्यात्म-प्रकरण	१४	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य:	३०२
१५	१ (१४)	अध्यात्म-प्रकरण	२४	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य	३०३
१५	१ (१५)	अध्यात्म-प्रकरण	९	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य	३०५
१५	१ (१६)	अध्यात्म-प्रकरण	७	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य	३०५
१५	१ (१७)	अध्यात्म-प्रकरण	१०	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य	३०६
१५	१ (१८)	अध्यात्म-प्रकरण	५	अथर्वा	अध्यात्म, मात्य:	३०६
१९	१	जातवेदाः	४	अथर्वाङ्गिरा	अग्निः	३१२
१९	५	जगत्‌का राजा	१	अथर्वाङ्गिरा	इन्द्र	३१३
१९	६	जगत्‌का मूल पुरुष	१६	नारायण	पुरुष	३१३
१९	४३	ब्रह्मा	८	ब्रह्मा	ब्रह्म, बहवो देवता.	३१६
१९	५१	आत्मा	२	ब्रह्मा	आत्मा, सविता च	३१८
१९	७१	परमात्मा	१	भृग्वङ्गिरा ब्रह्मा	परमात्मा, देवाश्च	३१८
१६	१ (पर्याय १)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	१३	अथर्वा	प्रजापतिः	३१९
१६	१ (२)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	६	अथर्वा	प्रजापतिः	३२०
१६	१ (३)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	६	अथर्वा	प्रजापति	३२०
१६	१ (४)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	७	अथर्वा	प्रजापति	३२१
१६	१ (५)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	१०	अथर्वा	प्रजापति	३२२
१६	१ (६)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	११	अथर्वा	प्रजापतिः	३२२
१६	१ (७)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	१३	अथर्वा	प्रजापति	३२३
१६	१ (८)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	१३	अथर्वा	प्रजापति	३२४
१६	१ (९)	दुःखमोचन और विजयप्राप्ति	४	अथर्वा	प्रजापति	३२६

ब्रह्मविद्या-प्रकरणकी विषयानुक्रमणिका



काण्डक्रमानुसार सूक्तोंकी अनुक्रमणिका

काण्ड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ
१	१३	४	१७३
	१०	४	७२
	१२	४	६६
२	१	५	४९
	२	५	५८
	११	५	२२७
	१६	५	१७६
	३४	५	२३८
३	१६	७	१०३
४	१	७	२३
	२	८	१७७
	११	१२	७७
	१४	९	१९९
	१६	९	८४
	२०	९	२३०
५	१	९	२१७
	२	९	८७
	६	१४	९८
	९	८	२३३
	१०	८	२३४
	११	११	९७
६	१	३	६९
	२	३	१६६
	३३	३	१६४
	३४	५	१६५
	३५	३	१९९
	३६	३	७४
६	६१	३	१६१
	८०	३	१९८
	१११	४	२४६
	१२३	५	२४५
७	१	२	२०६
	२	१	२०९
	३	१	२११
	४	१	२१२
	५	५	२१३
	९	४	१७२
	१३	४	१७०
	१५	१	१७१
	२१	१	१६९
	२२	२	१७१
	२४ (२५)	१	७१
	२५ (२६)	२	७६
	२६	८	१०२
	४० (४१)	२	७२
	४१	२	१६८
	४४	१	१६७
	६३	१	१६८
	६६ (६८)	१	६९
	६७	१	२०७
	७१	१	१६७
	८३	४	२४३
	८७	१	२०४
	१०७	१	२४९

काण्ड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ	काण्ड	सूक्त	मंत्र	पृष्ठ
७	१०५	१	२४९	१५	११	११	३००
	१०६	१	२४८		१२	११	३०१
८	१	१६	१०९		१३	१४	३०२
९	९	११	१४१		१४	२४	३०३
	१०	१८	१२५		१५	९	३०५
१०	२	३३	१८१		१६	७	३०५
	७	४४	१५६		१७	१७	३०६
	८	४४	३६		१८	५	३०६
११	७	२७	४३	१६	१	१३	३०९
१२	१	६०	२५०		२	६	३१०
	२	४६	२६१		३	६	३१०
	३	१६	२७१		४	७	३११
	४-९	५६	२७६		५	१०	३११
१५	१	८	२८९		६	११	३१२
	२	१८	२९०		७	१३	३१३
	३	११	२९२		८	३३ (२७)	३१४
	४	१८	२९३		९	४	३१६
	५	१३	२९५	१९	३	४	३१२
	६	२३	२९६		५	१	६१३
	७	५	२९८		६	१६	३१३
	८	३	२९९		४३	८	३१६
	९	३	२९९		५१	२	३१८
	१०	११	२९९		७१	१	३१८



ब्रह्मविद्या–प्रकरणान्तर्गत मन्त्रोंकी

व र्णा नु क्र म सू ची